सन्मार्ग दर्शन

लेखक

वीतराग महात्मा

श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज
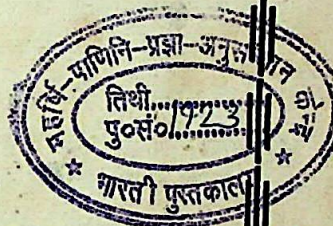
प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

आर्य्य पुस्तकालय

अनारकली, लाहौर

मूल्य ३।।)

ओ३म्

भूमिका

नयेन विनयः इति

(नीति के साथ विनय है)
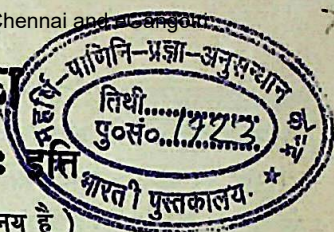
मनुष्य के अन्तःकरण में जब कोई विचार स्थान पकड़ लेता है, तब उस विचार को भाषण या लेख द्वारा प्रकट करना ही पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाए तो मनुष्य के मन में विकलता बनी ही रहती है; इसके दूर करने का उपायान्तर कोई नहीं है। अन्तस्थ विचार मनुष्य को ऐसा करने के लिये बाधित कर ही देते हैं। सर्व प्रकार की विद्याओं के विकास का यही बीज है । मन में किस समय किस विचार का उदय होजावे, इसका ठीक २ पता लगाना कठिन है। इसके उदाहरण संसार में अनेक मिलते हैं। कोई पुरुष प्रथम आयु में भला जाना जाता है और अन्तावस्था में कुपथ-गामी देखने में आता है। किसी पुरुष की प्रवृत्ति एक समय में सुमार्ग में है, तो कालान्तर में वह कुमार्ग में गति करने लग जाता है। एक बालक बड़ा ही चपल और सावधान होता है, परन्तु वही युवावस्था में जाकर मन्द पड़ जाता है। और कहीं इसके विपरीत बोध होता है। इस प्रकार के तारतम्य का होना मन्द विचारों के आश्रित है। परन्तु पूर्व संस्कारजन्य उत्कट विचार मनुष्य को समानावस्था में ले जाते हैं। अल्प हेरफेर होने पर भी वह अपनी अवस्था में जागरूक हो जाते हैं। इससे यह मानना ही पड़ता है, कि मनुष्य की मनोवृत्ति और तदनुकूल प्रवृत्ति विचित्र रूपा है। व्यक्ति भेद से तो इसको अनन्तता है, परन्तु सामान्यरूप से वृत्ति के दो भेद हैं। एक साध्वी दूसरी असाध्वी। इनमें से एक सन्मार्ग और दूसरी मन्द मार्ग की प्रसारिका है। सज्जन पुरुष भाषण या लेख के द्वारा मन्द प्रवृत्ति को जो पुरुषार्थ की विघातिका है, सुलाने और सत्प्रवृत्ति को जो मनुष्य समाज

की हितकारिका है, जगाने का यथाशक्ति यथामति सदैव यत्न करते रहते हैं। वे अपने कार्य को पूरा करके समय आने पर संसार से चल देते हैं। यदि जनता का भाग्य अच्छा हो तो उन के वचन का सहारा लेकर सुख भोग भागी बन जाती है। यदि आलस्य में रहे, प्रमाद करे तो क्लेश पाती है॥

पाठक विचार करें, कि आर्यजाति के पास वेद जो सृष्टि सम-काल से हिताहित दर्शाने का कोष विद्यमान है, उपनिषदें जिनमें अन्तःकरण को पवित्र करने के उपायों और आत्मसाक्षात्कार के साधनों का निरूपण्ड पस्थित है, दर्शनग्रन्थ जिनमें बड़े ही युक्ति-वाद के साथ पदार्थ का विवेचन किया गया है, जो मनुष्य के मन में से संशय और व्यामोह को दूर कर मनुष्य को निर्भय बना देते हैं—देखे जाते हैं। यह सब ग्रन्थ अपनी महिमा में महान् हैं। इन के अनुष्ठान में मनुष्य समाज का कल्याण है। ऐसे महत्त्व पूर्ण उपदेशों के होते हुए भी आर्य जाति कुत्सित मार्ग में कैसे गति करने लग गई? समझ में नहीं आता। सर्व प्रकार का दुःख सामने आने पर भी इस भेद को जानने का इसमें विचार ही उदय नहीं होता। कितनी गहरी भूल है। यथा कोई पुरुष तृषा से व्याकुल हुआ गंगा तट पर सुन्दर जल के समीप बैठा हुआ ऐसा मनोरथ कर रहा है कि कहीं जाकर कूप को खोद, जल निकाल कर तृषा को बुझाए, और कष्ट को मिटाए। इस के समतुल्य आर्य जाति की भूल का निदर्शन है। इस अवस्था को देखकर तो यही कहना पड़ता है, कि आर्यजाति ने प्रमाद और लापरवाही से उन सद्-ग्रन्थों के उपदेशों से अपने ध्यान को हटाकर, मनमानी अधूरी कल्पनाओं से अपने सम्बन्ध को जोड़ लिया है। इसका फल यह हुआ, कि बुद्धिबल, वैभव, ऐश्वर्य सामर्थ्य स्वाधीनतादि उत्तम गुणों ने इसका साथ छोड़ दिया। पदार्थ अब भी विद्यमान हैं, यदि विचारपूर्वक उनका अवलोकन तदनन्तर उनका अनुष्ठान और अपने संभलने का ठीक २ ध्यान हो तो फिर समय के अनुकूल होकर

या उसको अपने अनुकूल बनाकर प्राप्तव्यस्थान प्राप्त हो सकता है।।"

संसार में किसी भी नूतन विचार का (समय के चक्र में जिस का कभी भी आविर्भाव न हुआ हो) उदय नहीं हो सकता है। सृष्टि और इसकी समस्त वस्तुएं परिवर्त्तनशील हैं, इस लिए विचारधारा का रूपान्तर या उदय अस्त होते रहना तो अवश्यम्भावी है। परन्तु संसार में न होने वाली वस्तु का होना, और होने वाली वस्तु का न होना कदापि संभव नहीं है। इतना मानना ठीक ही है, कि अस्तमय हुए सद्विचारों का लुप्त प्राय सम्यक् व्यवहारों का जिस व्यक्ति के द्वारा प्रादुर्भाव होता है, लोगों की दृष्टि में उसका सुयश हो जाता है। और वह कार्य उस के नाम से ख्याति पा जाता है। यह उत्तमाशय महात्माओं की कृति होती है, साधारण पुरुष इतने ऊंचे नहीं जा सकते हैं।

"वेदोद्धार का श्रेय ऋषि दयानन्द को"

यथा संप्रति यथार्थ वेदार्थ लुप्तप्राय हो चुका था, ऋषि दयानन्द जी महाराज के विचार सन्निपात से पुनः उसका प्रकाश और नियामक नियमों के साथ वेदार्थ का यथार्थ कोटि में लाने के लिए विचार संघर्ष होने लगा। यदि विवाद को छोड़ कर प्रेम प्रीति से सज्जनता की रीति से उचितश्रम साधु परिश्रम के साथ, ऋषि मुनियों के अनुभव सिद्ध वेदार्थ हस्तगत हो जावेगा तो इसमें आर्य जाति का बड़ा ही कल्याण और गौरव होगा और इसका श्रेय ऋषि को ही होगा।

ग्रन्थ प्रणयन का प्रेरक हेतु

जैसे समस्त संसार प्रकृति में जा समाता और कुछ काल के पश्चात् फिर दृष्टिपथ में आता है, इसी प्रकार विचारधारा कभी तीव्रता में आती और कभी शान्त हो जाती है। इसी रीति से बाधित होकर मैंने भी इस "सन्मार्ग दर्शन" नामक पुस्तक को

लेखबद्ध किया है। अनेक बार विचार किया कि इस कृति के करने से केवल उपहास ही होगा, अत एव इसका त्यागना ही हितकर है। मैं तो इस विचार से पीछा छुड़ाना चाहता था, परन्तु इस विचार ने मेरा पीछा न छोड़ा और अन्त में यह कार्य कराके ही विचार शान्त हुआ॥

विषय निर्देश

इस ग्रन्थ की शैली इस प्रकार है, कि ऊपर सूत्ररूप संस्कृत वचन हैं और नीचे उनकी विस्तृत व्याख्या है। आरम्भ में संस्कृत वचन "शिव शान्तं अद्वैतम्" और अन्त में "अत्रैव समाप्तिः पुरुषकर्त्तव्यस्येति" यह सूत्ररूप वचन ऋषि कृत वेदभाष्य या उपनिषदों में से लिए गए हैं। और किसी २ का जोड़ मेल भी किया गया है। इस ग्रन्थ में सात गति हैं—

१. नामगति, २. अर्थगति, ३. शरीरगति, ४. जीवगति, ५. संसारगति, ६. सामान्यगति, ७. सरलगति। इनके अवान्तर कई २ भेद हैं, उनका दर्शन सूचीपत्र में करें। इस ग्रन्थ में ईश्वर, जीव, बन्ध, मोक्ष, सृष्टि उत्पत्ति, प्रलय, व्यवहार सम्बन्धी विचार पाठकों को मिलेंगे। हितोपदेश पर अधिक बल दिया गया है॥

उपर्युक्त नीति के साथ इस लिए निवेदन किया गया है कि मुझे न तो भाषा का ठीक ज्ञान है, और न सिद्धान्तों का ही पूरा परिज्ञान है। लेख शैली से भी अपरिचित सा हूं। और पूर्वापर सम्बन्ध विधान से भी यथार्थ परिचित नहीं हूं। अत एव उदार आत्मा सज्जनों से यह प्रार्थना है, कि जहां त्रुटि देखें सुधार लें॥

ब्रह्मार्पण

यदि मनुष्य से जनहित के निमित्त अल्प या बहुकार्य बनता है तो वह सब परमात्मा की दयादृष्टि और कृपावृष्टि का ही फल है। इसलिए उसके ही अर्पण है। जिसकी वस्तु उस को ही समर्पण है॥ शम्॥

सर्वदानन्द

द्वितीय संस्करण

इस में जो कोई छापे की भूल रह गई थी तथा कहीं २ शब्दों में अमेल हो गया था उन का संशोधन कर दिया है । और जो दो एक स्थल अस्पष्ट थे उन को भी यथामति ठीक कर दिया गया है ।

प्रथम संस्करण की अपेक्षा इस संस्करण में सामान्यगति और सरलगति की इयत्ता पूर्वापेक्षया कुछ अधिक हो गई है ।

सर्वदानन्द

नम्र निवेदन

श्री पूज्य स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज द्वारा रचित 'सन्मार्ग दर्शन' का द्वितीय संस्करण आर्य जनता के सम्मुख उपस्थित करते हुए मुझे महान् हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तक का दोहजार का प्रथम संस्करण अजमेर शताब्दी में हाथों हाथ बिक गया था। द्वितीय संस्करण कुछ विलम्ब से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। इस का कारण यह था कि श्री स्वामी जी महाराज ने प्रथम संस्करण से द्वितीय संस्करण को अधिक उपयुक्त बनाने के लिये उस के स्थलों में और भी वृद्धि कर दी तथा जो कुछ त्रुटियां प्रथम संस्करण में रह गईं थीं वे भी ठीक कर दी हैं। इस कार्य्य में विलम्ब होना आवश्यक था। मैं श्री स्वामी जी महाराज का अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्हों ने पुस्तक की श्री वृद्धि के लिये सतत परिश्रम किया। साथ ही श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक महोदय की कृपा का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं जिन्हों ने प्रकाशित होते समय तक पुस्तक की त्रुटियों को दूर करने में मेरी भरपूर सहायता की। मेरे पास शब्दों का अभाव है, मैं उन की कृपा का कुछ भी उल्लेख नहीं कर सकता। पुस्तक प्रकाशित तो मैं ने अवश्य की है पर इसके लोकप्रिय और शुद्ध होने में उपर्युक्त महानुभाव श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक महोदय का बहुत बड़ा हाथ है। मैं पुनः अपने सहायकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश कर 'सन्मार्ग दर्शन' को अपनाने के लिये पाठकों से नम्र निवेदन करता हूं।

—सन्तराम

विषय सूची

विशेष सूचना

आर्य जनता की सूचना के लिए यह लिखा जाता है कि यद्यपि श्री स्वामी सर्वदानन्द जी के नाम पर बाज़ार में कई पुस्तकें बिक रही हैं, परन्तु वह सभी पुस्तकें उनके व्याख्यानों तथा उपदेशों के नोट मात्र हैं जिनको प्रकाशकों ने स्वयमेव ही पुस्तकरूप दे लिया है। वास्तव में वह श्री स्वामी जी की लिखी हुई नहीं हैं। अतः इससे उन पुस्तकों में स्वामी जी के विचारों का पूरा और यथार्थ दिग्दर्शन नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक 'सन्मार्ग दर्शन ही हिन्दी में उनकी एकमात्र रचना है जिसे उन्हों ने स्वयं अपनी लेखनी से लिखा है। पाठक इस बात का ध्यान रखें।

इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने 'राहेरास्त' तथा 'भारत की भूल' नामक दो पुस्तकें उर्दू में भी लिखी हैं जो उर्दू भाषी जनता में सर्वप्रिय हैं। हिन्दी भाषी जनता के आग्रह पर हम उनके हिन्दी अनुवाद करवा रहे हैं जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं। उनके मूल्य लगभग छः छः आने होंगे। आप व्यग्रता से उन पुस्तकों की प्रतीक्षा करें।

नामगति

शिवम् ! शान्तम् !! अद्वैतम् !!!

वेदादि सच्छास्त्रप्रसिद्ध, ऋषि-मुनि-विद्वानों के अनुभवसिद्ध यह "ओम्" परमात्मा का सर्वोत्तम और पवित्र नाम है।

उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से इस का व्याख्यान है। युक्तियुक्त बात को ग्रहण और अयुक्त के परित्याग का आदेश करने वाले दर्शन ग्रन्थों में इस के द्वारा उपासना का विधान है और इस के ही स्मरण की आज्ञा वेदों में विद्यमान है "ओम्" पदवाच्य परमात्मा का साक्षात्कार मनुष्य के कल्याण का निदान है विचार करने से सर्वत्र इस की महिमा का गान है। यह सिद्ध हो रहा है॥

व्याकरण की रीति से "अ–उ–म्" इन तीनों के मेल से "ओम्" शब्द सिद्ध होता है यह अव्युत्पन्न है। द्वितीय 'अव' धातु से औणादिक 'मन्' प्रत्यय के विधान से ओम् बनता है इस को व्युत्पन्न कहते हैं। अतएव "अव" धातु के जितने अर्थ

हैं उन सब का यह बोधक है। 'अव' धातु के अर्थ यह हैं—रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, अवाप्ति, आलिङ्गन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि। यह १६ अर्थ हैं इन का साधारण विवरण यह है—

१. रक्षण—साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से सब का रक्षक। गति के तीन अर्थ हैं "ज्ञान, गमन और प्राप्ति"।

ज्ञान=सर्वदा याथात्म्यभाव से सर्व वस्तु का ज्ञाता।

गमन=सदा स्थिर स्वभाव होने पर भी संसार चक्र के चलाने का हेतु।

प्राप्त=व्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान, सदा सब को प्राप्त। गति शब्द का अर्थ प्रयत्न भी है।

२. गति—ज्ञान पूर्वक संसार मर्यादा को चलाने के लिये सर्वत्र प्रयत्न का प्रसारक।

३. कान्ति—इच्छा रहित होने पर भी जीवों की इच्छापूर्ति का निमित्त।

४. प्रीति—आनन्द स्वरूप होने से सब की प्रीति का स्थान।

५. तृप्ति—स्वयं शान्त स्वरूप होने से सदा भक्तों के लिये हर्षोत्पादक।

६. अवगम—मंगलस्वरूप होने से मोक्ष का दाता।

७. प्रवेश—सूक्ष्मतम होने से सब का अन्तरात्मा।

८. श्रवण—श्रोत्र इन्द्रिय का निर्माता होने से स्थूल, सूक्ष्म, गुप्त और प्रकट शब्दों का श्रावक।

९. स्वाम्यर्थ—सब का स्वयं सिद्ध अधिपति होने से स्वामी।

१०. याचन–सर्वैश्वर्यसम्पन्न होने से सदा सब का सहायक और सब की याचना का स्थान।

११. क्रिया–क्रियमाण जगत् का निर्मापक होने से ज्ञान-पूर्वक क्रिया का संचारक, स्थूल प्रयत्न का नाम ही क्रिया है उपर्युक्त प्रयत्न से ही यह भेद है।

१२. इच्छा–स्वयं इच्छा रहित होने पर भी जीवों के निमित्त शुभ इच्छा का प्रकाशक।

१३. दीप्ति–तेजस्वरूप होने से अविद्या अन्धकार का विनाशक।

१४. अवाप्ति–अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म और अप्रतीयमान होने से भी शुद्धान्तःकरण में स्वस्वरूप प्रदर्शक।

१५. आलिंगन–व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध से सदा सर्वत्र पूर्ण होने से सब का सम्बन्धी।

१६. हिंसा–यथार्थ रूप से वेदमर्यादा को पालन करने वाले पुरुषों के अज्ञान, विपरीतज्ञान वैर विरोधादि दुःखोत्पादक दोषों का ध्वंसक।

१७. दान–सृष्टि समकाल से ही सुख साधन पदार्थों और उन को उपयोग में लाने के निमित्त यथार्थ बोध का दाता।

१८. भाग–प्रलयसमय समस्त संसार का विभाजक अर्थात् दृश्यमान स्थूल जगत् को सूक्ष्म-अदृश्य करने का हेतु।

१९. वृद्धि–उत्पत्ति काल में संसार रचनार्थ सूक्ष्म प्रकृति को बढ़ाने, स्थूलपथ में लाने और जीवों के कर्म-फल भुगाने का निमित्त॥

यदि इन अर्थों का व्याकरण की रीति से विस्तार किया

जावे तो यह "ओम्" शब्द अनन्तार्थ का द्योतक हो सकता है ॥

प्रश्न—यदि कोई पुरुष इन अर्थों का स्वामी हो तो उस का नाम भी ओम् हो सकता है या नहीं ?

उत्तर गौणरूप से हो सकता है किन्तु मुख्यरूप से नहीं। कारण यह है कि किसी भी पुरुष में इन सब अर्थों का समावेश नहीं हो सकता। क्योंकि वह अल्पज्ञ, एकदेशी, न्यूनता सहित और पूर्णता रहित है। अतएव पूर्ण परमात्मा का ही यह मुख्य नाम है। इस 'ओम्' शब्द का विभक्ति से भेद, वचन से व्यत्यय और लिंगसूचक प्रत्यय से परिवर्तन कभी भी नहीं हो सकता है। यह वृद्धिह्रासशून्य, सदा एक रस रहने से अव्यय संज्ञक है। विभक्ति से भेद, इस प्रकार होता है यथा-वृक्ष स्थिर है यहां स्थिति क्रिया का वृक्ष कर्ता है। वृक्ष को स्पर्श करता है यहां स्पर्श क्रिया का वृक्ष कर्म है। वृक्ष पर से चन्द्रमा को देखता है यहां दर्शन क्रिया का वृक्ष करण है। वृक्ष के लिये जल सींचता है यहां सिंचन क्रिया का वृक्ष संप्रदान है। वृक्ष से पत्र गिरते हैं यहां पतन क्रिया का वृक्ष अपादान है। वृक्ष के फल मधुर हैं यहां फल सम्बन्ध से वृक्ष सम्बन्धी है। वृक्ष पर पक्षी निवास करते हैं यहां निवास क्रिया का वृक्ष अधिकरण है। जिस प्रकार एक वृक्ष को विभक्ति ने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण के रूप में विभक्त कर दिया है इस प्रकार "ओम्" में परिवर्तन नहीं हो सकता। इस के आगे विभक्ति आते ही अपने रूप को खो देती है। अत एव यह अभेद्य है, भेद कारक विभक्ति की शक्ति का यह स्थान नहीं है। अग्नि उस ही वस्तु को जला सकती है जो दग्ध होने के योग्य हो,

अदाह्य वस्तु को जलाने अथवा मिटाने की इस में शक्ति ही नहीं है वहां तो अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है। इसी प्रकार यह ओम् शब्द सर्वदा अपनी महिमा में स्थिर रहता है यह इसका स्वभाव है। कोई भी वस्तु अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करती। अपरिवर्तन शील वस्तु को जो बदलने की चेष्टा करता है वह स्वयं ही अबल हो कर विनष्ट हो जाता है॥

वचन से व्यत्यय होना पाठक इस दृष्टान्त से जान सकते हैं-जैसे पुरुष शब्द एक वचन, द्विवचन और बहुवचन प्रत्यय के विधान से "पुरुषः पुरुषौ पुरुषाः" ऐसे रूपों को धारण कर लेता है और उच्चारण में भेद पा कर पुरुष एक है दो हैं और बहुत हैं इन अर्थों का द्योतक बन जाता है। इस प्रकार "ओम्" शब्द में दर्शन, उच्चारण और वचन भेद कदापि नहीं हो सकता वचन विधायक प्रत्यय की प्रतीति, उस की नीति और प्रीति का यह स्थान ही नहीं है। जैसे और शब्दों पर यह अपना बल बढ़ा कर उन को अपने वश में लाता है वह "ओम्" शब्द को निहार कर अपनी बलहीनता का अनुभव करता हुआ लज्जा से दूर ही हट जाता है यह प्रसिद्ध हो रहा है॥

लिंग सूचक प्रत्यय जैसे शब्द को पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग के स्वरूप में बदल देते हैं वैसे "ओम्' शब्द में किसी प्रकार का भी परिवर्तन स्वरूपभेद नहीं हो सकता। सदा समान रूप में रहना इस का स्वभाव है॥

शंका-जिस प्रकार ओम् शब्द के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार ऐसे तो अनेक अव्यय हैं जो सर्वदा समान रूप में रहते हैं। कभी भी विकार को प्राप्त

नहीं होते तो फिर ओम् में ही क्या विशेषता है ?

उत्तर—तुल्य गुण होने से भी यह ओम् शब्द सर्वदा सर्वथा उसी अर्थ का (जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय-विधान में बड़ा ही चतुर है जिस से यह सब प्रपञ्च प्रत्यक्ष होता है स्वयं कभी दृष्टिपथ में नहीं आता और अपने कार्य करने में जिस को किसी सहायक की आवश्यकता नहीं, जो अतुलबल प्रचण्डतेज, अनन्त सामर्थ्यशाली है) बोधक है । कथंचित् क्वचित् कदाचिदपि अन्यार्थ का वाचक नहीं होता। अतएव यह "ओम्" पद परमात्मा का स्वाभाविक नाम है। परमेश्वर से भिन्नार्थ का सूचक होना इस का स्वभाव ही नहीं है । इस से अतिरिक्त जितने अव्यय पद हैं वह सब भिन्न २ अर्थों के सूचक हैं यदि कोई परमेश्वर का बोधक है तो वह प्रकारभेद से अर्थान्तर का ज्ञापक भी हो जाता है। यह न्यूनता "ओम्" पद में कभी भी नहीं आ सकती । जिस प्रकार "ओम्" शब्द में परमात्मा के अनेक नामों का समावेश हो गया है और पुनः उन नामों से अनेकविध अर्थगौरव की प्रतीति होती है, अन्य किसी भी अव्यय पद से ऐसे अर्थों का प्रकाश नहीं होता ॥

व्याकरण की रीति से "ओम्" शब्द सिद्ध होकर १९ उन्नीस अर्थों का द्योतक है यह पूर्व कह दिया है। गणित विद्या के ज्ञाता इस नियम को भली भांति जानते हैं कि एक का जो अङ्क है वह अपने में पूर्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। अतएव इसकी सत्ता का सद्भाव सर्व अङ्कों में समान और सर्व अङ्कों की सत्ता इस एक में विद्यमान है। (९ का जो अङ्क है वह सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र तो नहीं परन्तु पूर्ण अवश्य है। पूर्ण वह है जो

अपने में न्यूनता को न आने दे। यह ही कारण है कि संख्या एक से आरम्भ होकर नौ पर समाप्त हो जाती है शेष इन्हीं अङ्कों का विस्तार है। एक का अङ्क सब के आदि, मध्य और अन्त में प्रकट हो रहा है। जैसे एक दो में तो है किन्तु दो एक में नहीं है। इसी प्रकार छोटी संख्या की सत्ता बड़ी संख्या में पाई जाती है। एक का अङ्क सूक्ष्म है शेष सब अङ्क स्थूल हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म का समावेश स्थूल में हो जाता है उस प्रकार स्थूल का प्रवेश सूक्ष्म में नहीं हो सकता। नौ पूर्ण संख्या है यह ही कारण है कि इस के आगे संख्या का विधान नहीं है। जिस प्रकार एक के साथ एक मिलने से दो हो जाते हैं। दो के साथ जब एक मिलता है तो तीन कहलाते हैं। इसी प्रकार एक की वृद्धि से संख्या में वृद्धि और हानि से ह्रास होता है। यह वृद्धि और ह्रास का स्वरूप नौ तक बढ़ता है और एकान्त घटता रहता है। नव अङ्क की व्यवस्था अन्य अङ्कों से भिन्न है। जब एक का अङ्क इस में मिलने के लिये समीप आता है तब वह वृद्धि को न प्राप्त कर विन्दु के रूप में बदल जाता है परन्तु अपने गौरव को नहीं घटाता है। यह सर्वदा पूर्णता का पक्षपाती है यही कारण है कि इस विन्दु ने ही उत्पन्न होकर गणित विद्या को पूर्ण बना दिया है। यदि इस को पृथक् कर दिया जावे तो पुनः गणित विद्या की परिस्थिति कुछ भी नहीं रहती और न इसको विद्या का स्थान ही मिल सकता है॥

विन्दु और नव अङ्क में स्वरूप भेद के बिना अन्य कुछ भी अन्तर नहीं, यह दोनों परस्पर समान ही हैं। यह स्थिर सिद्धान्त इस नियम से प्रकट हो रहा है कि यदि किसी भी

अङ्क के आगे से विन्दु को हटाएंगे तो निश्चित वहां से नव को ही मिटायेंगे। पाठक इसे दृष्टान्त से समझें:—

दश के आगे से यदि विन्दु को दूर करें तो नव ही लुप्त होता है और यदि (१०१) एक सौ एक के मध्य से विन्दु को पृथक् करें तो ९० नव्वे दूर होंगे। ९० नव्वे में नव तो विद्यमान ही है। पुनः नव के आगे से विन्दु हटाया जाय तो ८१ इकासी जाते हैं। आठ और एक मिल कर पुनः नव ही हो जाता है इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये। किसी भी अङ्क के आगे विन्दु लाने या हटाने से नव ही आते अथवा जाते हैं। अतएव यह इस प्रकार अपनी पूर्णता का पूरा परिचय दे रहा है। जिस प्रकार अन्य अङ्कों को परस्पर गुणा करने से न्यूनाधिक लाभ होता है, नव को गणा करने से समानता ही रहती है कोई भेद नहीं आता है॥

पाठक विचारें कि 'अव' धातु के अर्थ उन्नीस हैं। इस में नव और एक दोनों अङ्क विद्यमान हैं। एक स्वरूप से पूर्ण स्वतन्त्र है और नव में न्यूनता कदापि नहीं आती यह सर्वदा पूर्णता का पक्षपाती समान रूप में ही रहता है। एक से आरम्भ होता है और नव पर समाप्त होता है। 'अव' धातु से ओम् शब्द सिद्ध होकर पूर्ण परमात्मा और उस के सर्व गुणों का बोधक हो रहा है॥

नव अङ्क में जब अन्य अङ्कों के समान एक का मेल होता है तो नव का अङ्क अन्य सर्व अङ्कों को अपने गर्भ में लेकर विन्दु के रूप में बदल जाता है। अब दश का अङ्क इस विषय को प्रकट कर रहा है। एक का अङ्क तो पूर्ण परमात्मा का (जो सब के आदि, मध्य और अवसान में स्वरूप से विराज-

मान है) सूचक है और विन्दु प्रकृति के तुल्य है। जैसे बीज वृक्ष को अपने गर्भ में लेकर एक रूप हो जाता है किसी प्रकार का भेद भाव दृष्टि में नहीं आता, वैसे ही विलयावस्था में सर्व संसार चक्र नष्ट भ्रष्ट होकर सूक्ष्म मार्ग में गति करता हुआ प्रकृति के रूप में जा समाता है (यह अवस्था सर्वथा अप्रतर्क्य अचिन्त्य है। सुषुप्ति ही इसका यथार्थ उदाहरण है। यही तो कारण है कि निद्रा अवस्था का सहस्रवर्ष और एक घटिका समान है और सब के लिये समवर्त्ति है। प्रत्येक प्राणी अपने स्वरूप को भूल कर मग्न हो जाता है और जागृत दशा में पुनः तारतम्य की उलझनों में फंस जाता है) और फिर सृष्टि समय ज्ञान पूर्वक परमात्मा के प्रयत्न से स्थूल होकर दृष्टि पथ में आता है। मुक्त जीव जो विद्या और तप के प्रभाव से अविद्या के बन्धन से पृथक् होकर पूर्ण परमात्मा के विचार और स्वात्मसाक्षात्कार से न्यूनता रहित अपने में पूर्ण हो जाते हैं वे नव अङ्क के समान हैं। शेष जीव कारणशरीर जिसको अज्ञान अथवा प्रकृति भी कहते हैं तत्सहित और आत्मज्ञान रहित बन्धन से युक्त सुषुप्ति अवस्था में विद्यमान हैं वह दो से लेकर आठ तक के अङ्कों के समान हैं और इन अङ्कों में गुणा या मेल करने से जो इन में न्यूनाधिक भाव उत्पन्न होते हैं वे अज्ञानाधीन जीवों के कर्म हैं जो संसार में लाकर जन्म और मरण के निमित्त न्यूनाधिक सुख और दुःख के भोगभागी बनाते हैं जब ईश्वर की न्यायव्यवस्था का सहारा पाते हैं। जो इनमें से पुनः प्रभु भक्ति के योग से पूर्णता में आता है वह मोक्षपद को पाता है॥

इस कथन से यह सिद्ध हो रहा है कि परमात्मा परिणाम-विकारशून्य एक अद्वितीय असहाय है। विन्दुसम अनादि प्रकृति का उस के साथ सहचार नित्य है और जीवों की अवस्था बन्ध मुक्त भेद से दो प्रकार की है जो पूर्ण प्रकाश में आते हैं वे मुक्त कहलाते हैं और जो अन्धकाराधीन अज्ञानावृत होते हैं वे बन्धन में आते हैं। नव अङ्क के समान मुक्त और अन्य अङ्कों के समान बद्ध हैं। एक और नव के अङ्क को छोड़ कर शेष अङ्कों में जो तारतम्यसत्ता है वह अविद्याजन्य जीवों के कर्म हैं जीवों के नित्य होने से कर्मव्यवस्था भी प्रवाह से नित्य है। सारांश यह है कि एक अङ्क के समान परमेश्वर, विन्दुसमप्रकृति, नव अङ्क के तुल्य मुक्त जीव और शेष अङ्कों के सदृश बद्ध जीव हैं। इन अङ्कों की तारतम्यता जीवों के कर्मों को जतलाती है। कर्म और संसार प्रवाह से नित्य हैं स्वरूप से नहीं। इस कथन का यह आशय है कि मुक्तावस्था में कर्मप्रवाह रुक जाता है और प्रलयावस्था में संसार दृष्टि पथ में नहीं आता है॥

गणित विद्या भी इस वैदिक सिद्धान्त को बड़ी सुन्दरता से प्रकट कर रही है। यद्यपि गणित विद्या का प्रयोजन कुछ अन्य ही है तथापि जब कि सर्वविद्याओं का विकास सृष्टि-समकाल से ही है तो प्रत्येक विद्या गौण मुख्य भाव से अपने २ विषय को प्रकट करती हुई सर्व संसार के निर्माता, सर्व विद्याओं के विधाता परमात्मा की साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से सूचक हो ही जाती है तो गणित विद्या से भी लाभ उठाना युक्तियुक्त ही है॥

'अव' धातु से व्युत्पन्न जो "ओम्" शब्द सिद्ध होता है उस का ऊपर कथन किया गया अब अव्युत्पन्न जो "ओम्" शब्द है उस का वर्णन किया जाता है। अकार–उकार और मकार जब इन तीनों को व्याकरण की रीति से मिलाते हैं तब "ओम्" शब्द बनता है। यह अव्युत्पन्न कहलाता है। अकार और उकार ह्रस्व तथा दीर्घ एवं प्लुत भेद से तीन २ प्रकार के हैं। मकार भी हल्, अनुस्वार और अनुनासिक भेद से तीन प्रकार का है। "अ" से विराट्, अग्नि और विश्व का ज्ञान, "उ" से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस का बोध, "म्" से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञ का परिज्ञान होता है, यह परमात्मा के पवित्र नाम 'ओम्' में विद्यमान हैं। इन शब्दों की व्याख्या ऋषि ने पञ्चमहायज्ञविधि नामक पुस्तक में भली भांति की है वहां ही अवलोकन करना ठीक है॥

अकार, उकार और मकार से इन नामों का ग्रहण कहां से हुआ और कैसे हुआ इसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं मिला है। संभव है कि संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इनका उल्लेख ऋषि की दृष्टि में आया हो परन्तु भिन्न भिन्न स्थलों में अनेक स्थानों पर इन शब्दों की व्याख्या वेदों में तो देखने में आती है। शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। "ओम्" शब्द वाचक है और उसका वाच्यार्थ सर्व जगत् का स्वामी, सब का अन्तर्यामी परमात्मा है। इस में अनन्तार्थ विद्यमान होने से यदि ऋषि ने "ओम्" के विभागों से इन नामों का संग्रह किया है तो व्याख्यान श्रद्धास्पद तथा सुन्दर ही हो गया है आक्षेप का स्थान नहीं है॥

कृष्णचन्द्र जी महाराज गीता में बता रहे हैं कि मैं वर्णों के मध्य में अकार हूं अर्थात् प्रभु की विभूति को यदि वर्णों में देखना हो तो अकार में देखो। सर्व अक्षरों में इस की श्रेष्ठता इस कथन से प्रकट हो रही है। अन्य वर्णों में इस का आदि होना, यह इस की ज्येष्ठता को सिद्ध कर रहा है। यह सर्वथा स्वाधीन स्वर है इस का उच्चारण स्वयं सिद्ध है। अपने उच्चारण में इस को किसी सहायक की आवश्यकता नहीं है। अन्य हल्—व्यञ्जन अक्षर अपने उच्चारण में पराधीन हैं। जब तक उन के साथ किसी स्वर का संयोग नहीं होता तब तक उन के उच्चारण में सरलता नहीं आती। हलों के उच्चारण करने में स्वर ही सहकारी कारण हैं। इस से यह सिद्ध हो रहा है कि स्वाधीनता ही पूर्णरूप से श्रेष्ठता और ज्येष्ठता का चिह्न है। प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य इस की प्राप्ति के लिए ही यत्नवान् देखा जाता है॥

शंका जब इकार, उकार आदि अन्य भी अनेक स्वर विद्यमान हैं तो अकार में ही क्या विशेषता है?

उत्तर- विचार करने से पता चलता है कि जब यह अकार किसी हल् अक्षर से मिलता है तब उस की ध्वनि को स्पष्ट तथा सरल तो बनाता ही है परन्तु अपने को छिपाता और उस वर्ण के उच्चारण में भेद नहीं आने देता है। परमात्मा ने सर्व संसार को बनाया और अपने को छिपाया है। वह सबका आधार है फिर भी निराकार है। प्रभु के इस एक गुण के साथ अकार का सहचार है यह ही इस में विशेषता है। परोपकारी पुरुष का भी यह ही स्वभाव होता है कि वह दूसरे के कार्य को तो

बनाता है किन्तु अभिमान में नहीं आता प्रत्युत भूल जाता है। इस अकार को परोपकार से प्यार है यह ही इस में उत्तमता है। इकार और उकार आदि स्वरों में यह गुण नहीं। वह जिस हल् अक्षर के साथ मिलते हैं वहां अपने को दर्शाते हैं और उस की ध्वनि को अपने अनुकूल बनाते हैं। इकार और उकार आद स्वर कभी कभी हल् के स्वरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। स्वर होने पर भी यह दोष इन में विद्यमान है परन्तु अकार कदापि इस दोष से दूषित नहीं होता, यह सर्वदा स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का पक्षपाती है। स्वरूप का परित्याग करना इस के स्वभाव में ही नहीं। जब कभी अकार स्वर से मिलता है तब इस के स्वरूप और ध्वनि में तो भेद आ जाता है जैसे अ + इ मिलकर 'ए', अ + उ मिल कर 'ओ' हो जाता है परन्तु 'अ' का सहचार उन के साथ तब तक ही है जब तक वे स्वर के रूप में रहते हैं। 'ए' और 'ओ' में मिले हुए 'इ' और 'उ' जब स्वर को आगे निहार अपने स्वरूप को त्याग कर व्यञ्जन की अवस्था 'य' और 'व्' में आ जाते हैं तब 'अ' उन से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है यह दूसरी विशेषता है। आत्मा के प्रयत्न से जब अन्तःस्थ वायु को आघात होता है तो वह वायु कण्ठादि स्थानों में होकर पुनः जिह्वा के प्रयत्न से अक्षर, शब्द और वाक्य के रूप में बन जाता है। जिन स्थानों से अक्षरों का उच्चारण होता है उन सब में प्रथम स्थान कण्ठ है और जिन अक्षरों का कण्ठ स्थान है उन सब में अकार प्रथम अक्षर है इस से यह सिद्ध हो रहा है कि सृष्टिसमकाल से परमात्मा के ज्ञान पूर्वक प्रयत्न से जब अक्षरोच्चारण विद्या

का विधान हुआ तो सब से पूर्व 'अ' की ही ध्वनि होने लगी; इस को ही नाद कहते हैं। यह अव्यक्त स्वर सर्व प्रकार के उच्चारण की आधारभूमि है, शब्द-वाक्य रचना इस का ही परिणाम है। जिस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति का इतिहास संकल्प में आर्य लोग नित्य पढ़ते हैं ठीक इसी प्रकार चतुर गायक सृष्टि-समकाल में होने वाले 'अ' इस अव्यक्त स्वर को ही पहले आलाप में लाते हैं और पश्चात् गाते हैं। संसार भर में यह ही प्रकार है, वेद और नाद का नित्य सम्बन्ध है। अत एव यह सर्वोत्तम स्वर है और इस का उच्चारण बहुत ही सरल है, अभि-नवजात बालक अपने साथ स्वयं सिद्ध इस ही भाषा को लाता है, पश्चात् अन्य भाषाओं का चित्र इस पर ही आता है, जैसे अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त संसार उत्पन्न होता है वैसे ही अव्यक्त भाषा से व्यक्त भाषाओं का अभ्यासबलात् उत्थान होता है। यदि लघु बालक किसी व्यक्त वाणी को अपने साथ लाता तो पुनः किसी अन्य भाषा का शिक्षण असाध्य हो जाता। अब आप लघु बालक के पास बैठ कर यदि ध्यान से सुनेंगे तो वह 'अ' का ही अनुकरण करता हुआ प्रतीत होगा। अभी स्थान और प्रयत्न जिन की सहायता से अन्य अक्षरों का उच्चा-रण होता है दुर्बल हैं परन्तु अनायास होने वाली ध्वनि का 'अ' से समानाधिकरण हो रहा है। शयन काल में परमात्मा के प्रबन्ध से प्रयत्नपूर्वक श्वास का आयान निर्यान जो हो रहा है उस से भी दीर्घ' ह्रस्व 'अ' की प्रतिध्वनि का बोध होता है। प्राण प्राणीमात्र के जीवन का आधार है गुप्त प्रकट रूप यह व्यापार प्राण के उत्थान में समान है; यह नियम परमात्मा की

विचित्र माया का सूचक है। किस प्रकार प्राणवायु शरीर में स्थिर होकर जीवन का निमित्त हो रहा है, कैसे आता है किधर से निकल जाता है यह मनुष्य के विचार का विषय ही नहीं। बड़े बड़े विद्वान् विचारशील देखते हुए न देखने वालों के तुल्य, वाग्मी वाचाल मूकसम हो रहे हैं। प्रत्यक्ष है पता नहीं मिलता, स्थिर नियम है विचार के आघात से नहीं हिलता। निर्धन हो अथवा धनवान्, निर्बल हो या बलवान्, मूर्ख हो या विद्वान्, बालक हो या जवान, रोगी हो या योगी सुखी हो या दुःख-भोगी, आलसी हो या पुरुषार्थी, स्वार्थी हो या परमार्थी, उदार हो या कंजूस, दाता हो या मक्खीचूस, सकल हो या विकल, बेकार हो या बाकार, यह नियम सदा सर्वत्र समान विद्यमान है। समय समय पर विचारकों ने विचार कर के तीव्रगति से अन्वेषण तो किया किन्तु थकावट ने आ गिराया। निराशा ने सताया शोक ने घेरा पाया, जब कुछ बोध हुआ तो सर उठाया तब यह वचन मुख से कह सुनाया—

यह सौदा अकल के तराजू में तोला न गया।
खामोश हो गए फिर बोला न गया॥

जिन स्थानों से अक्षरों का उच्चारण होता है उन सब में कण्ठ-स्थान आदि है और ओष्ठस्थान अन्तिम है शेष स्थान मध्यवर्त्ती हैं। अकार परमात्मा के तुल्य, परिणाम विकारशून्य सर्वावस्था में समान है। उकार जब स्वर के रूप में विद्यमान है तब मोक्ष-पदप्राप्त जीव के समान है। और जब हल् के स्वरूप को धारण करता है तब स्वतन्त्र मोक्षपद से पृथक् होकर जन्म मरण के बन्धन में गिरता है। मकार का उच्चारण ओष्ठों के परस्पर

मिलाने या हटाने से नहीं होता प्रत्युत मिला कर खोलने से होता है यह प्रकृति की दो अवस्थायें हैं। कभी संसार सूक्ष्मता की ओर गति करता हुआ प्रकृति के रूप में जा समाता है और कभी प्रकृति स्थूलावस्था को प्राप्त करती हुई दृश्यमान संसार के स्वरूप में आजाती है। जीवों की बद्ध, मुक्त और प्रकृति की सूक्ष्म-स्थूल भेद से दो अवस्थायें प्रवाह से अनादि हैं। इनके परिवर्तन में परमात्मा का ईक्षण अर्थात् ज्ञानपूर्वक संसार का निर्माण और न्याय व्यवस्था से कर्मफल का विधान ही निमित्त कारण है। अन्यथा (न हम न तुम यह दफ़्तर ही गुम) संसारावस्था को देख कर यह कल्पना साध्वी ही है॥

प्रकृति का संकोच और विकास तो प्रत्यक्ष ही है परन्तु 'म्' का दूसरा रूप अनुस्वार-बिन्दु है इसका सर्वदा सहचार स्वाधीन स्वर से ही होता है। जो अक्षर हल् हैं उन के साथ इसका कदापि मेल नहीं होता। इसका यह कारण है कि कर्मफलाधीन बद्धजीव प्रकृति को विकृति में लाने या विकृति को प्रकृति में ले जाने की सामर्थ्य से सर्वथा विहीन और मुक्त आत्मा इस इच्छा से पृथक् स्वच्छन्द 'आनन्द में लीन होते हैं। प्रकृतिबद्ध के साथ सम्बन्ध को छोड़ती और मुक्त के साथ जोड़ती नहीं, पुनः सहयोग व्यर्थ है। अतएव शास्त्रों में इस परमात्मा की शक्ति को प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त और माया आदि नामों से स्मरण किया है इन में भेद कुछ नहीं। व्यर्थ विवाद को उठा कर मनुष्यसमाज ने कलह को जगाया और क्लेश को बढ़ाया है विचार करने से प्रतीत होता है कि 'ओम्' शब्द की व्याप्ति सर्वत्र है॥

अब इस बात पर विचार किया जाता है कि वेदादि सच्छास्त्रों में ब्रह्म पद वाचक 'ओम्' शब्द का निर्देश कहां कहां पर किया गया है उस के स्मरणभूत प्रमाणों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

ओ३म् स्मर ॥१॥

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के १५ वें मन्त्र का अंश है जिसका यह आशय है कि जैसे पिता पुत्र को और गुरु शिष्य को उसके कल्याणार्थ सन्मार्ग का उपदेश करता है ठीक इसी प्रकार परमात्मा सब का रक्षक होने से पिता और अनुशासक होने से सब का परमगुरु है। अतएव वह आत्मा के हितार्थ यह संदेश दे रहा है कि मृत्युसमय जब आत्मा का शरीर से वियोग होने लगता है तब मनुष्य पूर्वानुभूत विषय वासनाओं के आधीन होकर पुनः पुनः उन वस्तुओं के चित्र को सामने लाता, वासना रज्जु से जकड़ा हुआ अपने को असहाय जान कर नयनों से नीर बहाता और क्लेश पाता है यह विकट समय सब के लिए समान है। उपरोक्त वेदवचन आत्मा को सम्बोधन करके यह सुना रहा है कि यह बड़ा ही विषम समय है संसार यात्रा से अपनी मनोवृत्तियों को हटाकर चित्त से ममता को मिटाकर, मोह जाल से अपने को बचाकर सावधान होकर 'ओम्' पदवाच्य जगदीश्वर के ध्यान में मग्न और उसके ही ज्ञान में संलग्न हो ? रोने धोने का अवसर नहीं है मार्ग किधर है, तू किधर को जा रहा है ? प्रवाह सीधा और सरल है तू मोहावर्त में भ्रम से गोते खा रहा है यह विकट काल है समय का परीक्षण और अपनी शक्ति का निरीक्षण कर, उत्साह और

साहस से उठ, प्राप्तव्य स्थान सन्मुख है। उस ओर गति को बढ़ा धैर्य को धार बाज़ी जीती हुई है प्रमाद से मत हार, संसार के प्रलोभन जो मित्रवत् प्रतीत हो रहे हैं वास्तव में शत्रु हैं, छल है इन के धोखे में मत आ, इन का साथ छोड़ने में ही तेरा कल्याण है मेरे मित्र ! भुक्तविषय-वासनाओं के विष से उदास हो जा और उत्साह करके स्थिरस्वभाव होकर प्रभु चरणों के पास होजा। कितना सुन्दर उपदेश उपरोक्त वेद वचन के गर्भ में विद्यमान है परन्तु यह बात लगातार अभ्यास से सिद्ध होगी अन्यथा नहीं ॥

ओ३म् इत्येतत् ॥२॥

यह कठोपनिषद् का वचन है। यम के प्रति नचिकेता का तृतीय प्रश्न है। भगवन् ! धर्म सुख और अधर्म दुःख का कारण है। यह स्थिर सिद्धान्त है। परन्तु इन से संसार यात्रा समाप्त नहीं होती। संसार का सुख कितना ही उज्ज्वल क्यों न हो क्लेश लेश से सर्वथा पृथक् नहीं होता यह दृष्टिगोचर हो रहा है। भेद केवल इतना ही है कि धर्म यदि स्वर्णशृंखला है तो अधर्म लोहमयी बेड़ी है दोनों का फल संसार का बंधन ही है। कर्मवासना रज्जु से जकड़ा हुआ आत्मा संसार यात्रा में गति करता ही रहता है। इस प्रवाह से हटाने और स्वच्छन्दगति में लाने का निमित्त यदि कोई वस्तु है तो कृपया आप मुझे उसका बोध करावें। इष्टानिष्ट कर्मों का फल सुख दुःख किसके आधीन है ? पुरुष सुख की अभिलाषा करता हुआ दुःख पाता है अतएव पराधीन जान पड़ता है। शुभाशुभ कर्म जड़ होने से स्वयमेव फल के उद्भावक नहीं हो सकते हैं। जो इस चक्र का

संचालक है मुझे केवल उसी की जिज्ञासा है ॥

संसार कार्य है अतएव अनित्य है इसका कारण प्रकृति नित्य है तथापि यह संसार के रूप में स्वयं कभी भी परिणत नहीं हो सकती और संसार कभी विलयावस्था में नहीं जा सकता। अतः प्रकृति को संसार दशा में लाने और पुनः संसार को प्रकृति में ले जाने का जो नियम है इस का नियामक कौन है ? जड़ वस्तु में ज्ञान नहीं होता उस में विषयता सम्बन्ध से तो ज्ञान रहता है अधिकरण या स्वरूप सम्बन्ध से नहीं रहता। गमनशील संसार किसी स्थिरस्वभाव वस्तु के आधीन होना चाहिए। मेरी इच्छा उस वंस्तु के जानने की है कृपया उसे बतायें ॥

भूत-भविष्यत् और वर्तमान काल का अधिकार उन ही वस्तुओं पर होता है जो उत्पन्नशील होती हैं उत्पद्यमान वस्तु वर्तमान काल को तीन भागों में विभक्त कर देती है अत एव काल की शक्ति समयान्तर में उस वस्तु के नाम को मिटाती है। नित्य वस्तुओं में काल का प्रचार, समान सहचार से है विषमता से नहीं। इस काल चक्र का स्वामी सर्वान्तर्यामी है आप उसको जानते हैं मुझे उपदेश दें ॥

सारांश यह है कि नचिकेता यम से पूछता है कि भगवन्! धर्म और अधर्म, कार्य-कारण और भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल के व्यापार से पृथक् भूत जो वस्तु है मैं उसका जिज्ञासु हूं। यम ने उत्तर में कहा कि ओम् इत्येतत् वह "ओम्" नाम का नामी है ॥

तत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति ॥३॥

हे नचिकेता ! ओम् पद वाच्य परमात्मा की प्राप्ति में ही सब वेदों का साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से तात्पर्य है। यज्ञ, तप, दान, शुभ कर्मों का अनुष्ठान, सत्संग, स्वाध्याय सृष्टिक्रम का ज्ञान, परकीय कष्ट निवारण में मन की लगन, धर्मात्मा साधु, सन्त, महात्मा के दर्शन से मन मगन, सद्विचारों का आविर्भाव, सुन्दर स्वभाव, कर्तव्यपालन में रुचि, अतिथिसेवा में अन्तः शुचि, परस्पर में प्रेम, न्यायानुसार योगक्षेम इत्यादि उत्तम कर्म परमेश्वर की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं यह वेदों का संकेत है। वेदादि सच्छास्त्रों के पठन का मुख्य फल यह ही है यहां पर ही मनुष्य कर्तव्य की परिसमाप्ति है।

एतस्यैव शरणं वरं, अविद्यादि क्लेशनिवारणाय ॥४॥

अविद्या, विपरीतज्ञान, संशयज्ञान और अज्ञान यह सब एक दूसरे के साथ मिलते जुलते शब्द हैं इन के अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं। यह ही सब दुःखों की आधार भूमि है। इसका निवारण ही संसार के विच्छेद का कारण है सब प्रकार के अनर्थों की प्रवृत्ति का मारण अर्थ ज्ञान पूर्वक 'ओम्' शब्द का उच्चारण, अर्थ विचारानुकूल व्यवहार का धारण ही अविद्यादि क्लेशों के दूर करने का हेतु और संसार सागर सेपार होने का दृढ़ सेतु है। नचिकेता के प्रति यम का यह उपदेश है॥

ओम् उद्गीथः प्रणवश्चेति ॥५॥

ओम्—उद्गीथ और प्रणव यह तीनों समानार्थक हैं इन का वाच्यार्थ एक जगदीश्वर ही है। ओम् शब्द तो प्रसिद्ध ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में इस को उद्गीथ कहा है।

कारण यह है कि प्लुत ध्वनि से 'ओम्' के उच्चारण के पश्चात् ही वेद मन्त्रों को पढ़ते हैं। अतएव ओम् का नाम उद्गीथ है। इस के उद्, गी, थ, यह तीन अवयव हैं। उपनिषद् में इस की व्याप्ति को ब्रह्माण्ड भर में दर्शाया है। इसका व्याख्यान वहां ही देखना चाहिए। ओम् का ही अभिधान प्रणव है। इस में परमात्मा के गुणों का उत्कर्ष और उस की स्तुति का प्रकर्ष है। अतएव उद्गीथ और प्रणव उपचार से ओम् के ही नाम हैं। भेद बोधक नहीं॥

ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म ॥६॥

यह गीता का वचन है इस में ओम् को एक ही अक्षर बताया है। उपनिषदों में भी अनेक स्थलों में ऐसा ही विधान आया है। जो पुरुष मृत्यु समय अर्थ विचार पूर्वक ओम् शब्द का उच्चारण करता हुआ शरीर का परित्याग करता है वह परमगति-मोक्षपद को प्राप्त करता है यह फल बताया है। परन्तु मृत्यु के आघात से मनुष्य व्याकुल हो जाता है सावधान नहीं रहता ऐसी स्थिरमति का होना अनेक जन्मकृत-पुण्यकर्मों का फल है अतः इस पद की प्राप्ति के लिये मनुष्य को पूरी लगन से यत्न करना चाहिए। यहां पर ही मनुष्य कर्तव्य की परिसमाप्ति है॥

वर्णात् कारः ॥७॥

वर्ण—अक्षर से कार प्रत्यय का विधान है। माण्डूक्य उपनिषद् में अनेक बार ओङ्कार ऐसा पाठ आता है इस सिद्धान्त के आधार पर तो यह सिद्ध हो जाता है कि 'ओम्' स्वयंसिद्ध स्वरूप से ही एक अक्षर है। अन्यथा 'कार' प्रत्यय की योजना

ही व्यर्थ हो जाती है। 'अव' धातु से जो ओम् शब्द सिद्ध होता है वह व्युत्पत्ति सहित और अ-उ-म् के मेल से त्रिवर्णात्मक जो ओम् बनता है वह व्युत्पत्ति रहित है। यह दोनों एकाक्षर ओम् की ही अनुकृति या प्रतिकृति हैं। यह विवाद का विषय नहीं है प्रत्युत व्याख्यान को सरल बनाने की सुन्दर रीति है। शास्त्रों ने इस अक्षर को ही अविनश्वर कहा है। अन्य अक्षरों को उपचार से तो अविनाशी कह सकते हैं स्वरूप से नहीं। इसका यह कारण है कि जिस प्रकार ओम् सर्वदा स्वार्थ के सहित है अन्य अक्षर कोई भी अर्थ अपने साथ नहीं रखते हैं। यथा—'ज' और 'ल' इन दोनों अक्षरों का यदि कुछ भी अर्थ नहीं तो पुनः इन के मेल से जब जल शब्द बन जाता है तो तृषानिवृत्तिकारक पदार्थ का उससे ज्ञान कैसे होता है और पुनः इन के विभाग से अर्थ विलोप क्यों हो जाता है? और यदि यह अक्षर नियतार्थ के बोधक होते तो "प" के साथ "ल" का योग होने से "पल" शब्द काल के सूक्ष्म विभाग के अर्थ का सूचक न होता। इस से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक अक्षर परस्पर के मेल जोल से शब्दात्मक होकर भिन्न २ अर्थों का द्योतक और विधातक बन जाता है अतएव किसी भी अक्षर का नियतार्थ के साथ विनियोग नहीं। एक 'ओम्' अक्षर ही है जिस की सर्वनियन्ता जगदीश्वर के साथ अविनाभाव व्याप्ति है। अतएव शास्त्र इसको ही नित्य बताते हैं॥

ओ३म् इति ब्रह्म ॥८॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा अध्याय के अष्टम अनुवाक का ८वां मन्त्र है। इस में यह निरूपण किया है कि मनुष्यों को

शुभकर्मों का अनुष्ठान 'ओम्' के उच्चारणानन्तर और उसके वाच्यार्थ परमात्मा का ध्यान करके ही करना चाहिए। इस अनुवाक में दस बार 'ओम्' शब्द का उल्लेख करके सत्कर्मों के अनुष्ठान का विधान है। दश पर्यन्त ही संख्या की अवधि है इन दस कर्मों के अन्तर्गत ही सब शुभ कर्मों का समावेश हो जाता है और परमेश्वर की उपासना 'ओम्' शब्द के ही द्वारा करनी चाहिये यह शिक्षा है अधिक वहां ही देखो ॥

ओ३म् इति सर्वम् ॥६॥

यह वचन, वाच्य और वाचक में अभेद अन्वय करके सर्व परिदृश्यमान जगत् को 'ओम्' दर्शा रहा है। ओम्' शब्द वाचक और ब्रह्म इसका वाच्य है। इतरेतराध्यास से 'ओम्' ब्रह्म की प्रतिकृति, अनुकृति अथवा प्रतिमा बता रहा है इसका नाम प्रतीकोपासना है। यह उपनिषद् का विषय है पौराणिक पद्धति में परमेश्वरबुद्धि से प्रतिमा पूजन प्रतीकोपासना मानी जाती है। मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार पुनः पुनः के अभ्यास से यह निश्चय कर लेना "अहंग्रहा" उपासना कहलाती है। प्रतीक और अहंग्रहा भेद से उपासना दो प्रकार की हुई। युक्तिहीन होने से वैदिक सिद्धान्त में इसका आदर नहीं हो सकता। स्वरूप और अर्थ भेद से प्रतीक दो प्रकार की होती है। जब परमात्मा नीरूप, सूक्ष्मतम और व्यापक पदार्थ है तो उस की प्रतिमा बनाना अथवा बताना केवल बालबुद्धि का ही परिचय देना है। विपरीत ज्ञान इस का ही नाम है। यह सर्व अनर्थों का बीज है अतः सर्वथा त्याज्य है। स्वरूप और प्रतीक का उपयोग रूपवान् पदार्थों में होगा। जैसे हस्ति के चित्र को देख

कर हस्ति का, गौ के चित्र को देखने से गौ का, पुरुष के चित्र को देखने से पुरुष का ही बोध होता है अन्यार्थ का नहीं। जब मूर्तिमान् पदार्थों में भी यह नियम काम करता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है कि चित्र स्वार्थ को छोड़ कर अन्यार्थ का कभी भी सूचक नहीं हो सकता, तो नीरूप पदार्थों की ऐसी कल्पना सर्वथा व्यर्थ है। विपरीत कल्पना से किसी भी पदार्थ के स्वरूप में तो भेद नहीं हो सकता, हां कल्पक को अवश्य ही हानि उठानी पड़ती है। 'ओम्' यह अक्षर सर्वदा सर्वथा सदा जगत्स्वामी सर्वान्तर्यामी का ही प्रत्यायक सूचक और बोधक होता है इस से भिन्नार्थ की ओर झुकना इसका स्वभाव ही नहीं इसका नाम अर्थप्रतीक है। ओम् अक्षर ब्रह्म नहीं है इस संज्ञा का जो संज्ञी है वह पूर्ण होने से सर्वत्र विद्यमान है यह ध्वनि हो रही है। जब ओम् शब्द को सुनेंगे या इस अक्षर को लिपि में देखेंगे तब यह अपने अर्थ की ओर ही संकेत करेगा॥

"अहंग्रहा" उपासना अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूं' यह कथन युक्ति संगत न होने से विपर्ययज्ञान का सूचक और लोक व्यवहार से विरुद्ध है। यह यथार्थ प्रतीत हो रहा है कि जब जिज्ञासु का अन्तःकरण पवित्र होकर प्रकृति से मुक्त और ब्रह्मानन्द से युक्त हो जाता है। तब प्रेम से कृतकार्य होकर यह शब्द उच्चारण करता है कि अहो! जिसके वियोग में भटक रहा था और यथार्थ मार्ग न मिलने से कुपथ में ही अटक रहा था अब उसका अपने अन्तःकरण में ही दर्शन कर रहा हूं। ऐसी अवस्था में जिज्ञासु और जिज्ञास्य की दूरी दूर होकर अभेद हो जाता है। अतएव मैं 'ब्रह्म में हूं' 'मुझ में ब्रह्म है' यह आशय

प्रकट कर रहा है वास्तव में नहीं ॥

अन्यदपि दर्शनात् ॥१०॥

ऐसे ही अनेक स्थलों में 'ओम् की महिमा का निरूपण भिन्न २ प्रकार से किया गया है। कठोपनिषद् में प्रणव को धनुः, समाहित अन्तःकरण को शर=बाण और ब्रह्म को लक्ष्य कहा है। प्रमाद रहित, विचार सहित सावधान हो इस लक्ष्य को वेधने का तू ही अधिकारी है। लौकिक विषयासक्त अन्तः-करण की प्रवृत्ति इधर नहीं होती। इस पद की प्राप्ति के लिये निवृत्ति मार्ग की शरण ही एकमात्र सहारा है लोकयात्रा में सत्प्रवृत्ति ही निवृत्तिमार्ग का द्वार है, इस निश्चित नियम को जान मान कर संसार सागर से पार होना है। योगदर्शन में अर्थ विचार पूर्वक 'ओम्' का जप ही परमेश्वर भक्ति का मुख्य रूप है समाधि सिद्धि इसका फल स्वरूप बताया है। कहां तक लिखें प्राचीन सच्छास्त्रों के अवलोकन से और आर्यों की जीवन यात्रा (जितनी सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों से मिलती है) के आलोचन से निर्विवाद सिद्ध हो रहा है कि आर्यों का उपास्यदेव एक परमेश्वर था और वे 'ओम्' के द्वारा उसकी ही उपासना करते थे। वर्तमान कालीन आर्यों को यदि अपने विस्मरण हुए नाम का ध्यान आया है तो ऋषि ने 'ओम्' नाम से प्रभु भक्ति करना ही कल्याण का मार्ग बताया है। इसका ही सहारा श्रेयस्कर है। यह प्राचीन विद्वानों की मर्यादा थी इस में शिथिलता आने का क्या कारण हुआ ?

विपरीतप्रत्ययदर्शनात् कुत्सितभावभावनाच्च ॥११॥

विपरीत विचारों के उदय होने से (सत्कर्मों का परित्याग

पुरुषार्थ का संकोच, और आलस्य में अनुराग, स्वार्थ की वृद्धि और उदारता का विलोप, परस्पर प्रेम की न्यूनता और द्वेष का प्रकोप, न्यायनीति का तिरस्कार और अन्यायनीति का विस्तार, सहनशीलता से घबराना और विलासिता में मनो-वृत्ति का बढ़ते जाना, न हिताहित का ज्ञान न लाभ हानि की पहिचान, सुख साधनों का निकास और इच्छाविघातादि दोषों का विकास, वीरतादि गुणों से दूर और कठोरक्रूरतादि दोषों से भरपूर, व्यर्थ विवाद में प्रवीण, कर्तव्यपालन से विहीन, शनैः शनैः गुणों की बरबादी और दोषों की आबादी) मनुष्य अपने गौरव को खोकर तिरस्कार का पात्र बन ही जाता है। इस को अज्ञान की महिमा या दैवाघात अथवा अदृष्ट की मन्दता जो आप के विचार में आवे कहें। ठीक २ इस के परि-णाम तक पहुंचना मनुष्य-मति से बाहर है। ऐसी दशा में पर-स्पर के मेल से व्यर्थ के झगड़ों को मिटा कर जल्प वितण्डा-वाद को हटा कर, अपनी दुरवस्था को ध्यान में लाकर और पुरुषार्थ को बढ़ा कर संभलना ही उचित है॥

वेदों का प्रचार संस्कृत भाषा का प्रसार, सृष्टि समकाल से है वैदिक साहित्य के देखने से ज्ञात होता है कि आर्यों की रीति, संस्कृत भाषा के विद्वानों की प्रीति उपासना के विधान में परमात्मा के स्वाभाविक नाम 'ओम्' में ही रही है। यह निर्विवाद सिद्ध हो रहा है इस में सन्देह को अवकाश ही नहीं। सृष्टि की आयु बहुत ही दीर्घ है इस में अनेक बार उत्कर्ष उन्नति का सुनियमों के साथ उत्थान और कभी अवनति अप-कर्ष का प्रस्थान होता ही रहा है। उत्पत्ति का प्रतियोगी

विनाश. सुख का विरोधी दुःख. विकास का प्रतिद्वन्द्वी ह्रास प्रत्यक्ष दृष्टि में आ रहा है। यह प्रकृति का नियम देश, जाति, समाज और भाषा पर समान लागू है। संसार की प्रत्येक वस्तु पर उसका अधिकार है इस का यह स्वभाव अनिवार्य है। संस्कृत भाषा की उन्नति, इस की पवित्रता, इस की ऊर्ध्व-गति और विचित्रता का कोई समय तो था। यह विचार पथ में तो ठीक आ रहा है। परन्तु सम्प्रति यह भाषा अपने अन्दर गुण गौरव को रखती हुई भी अधोगति को प्राप्त हो रही है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः संस्कृत भाषा की प्रशंसा करने में कुछ संकोच ही होता है (सत्य होकर मिथ्या प्रतीत हो रहा है मेरे मित्र! यह ठीक ही है कि जब मनुष्य समाज ही अच्छी अवस्था में न रहे दुरवस्था को प्राप्त हो जावे तो उस के साथ सम्बन्ध रखने वाली भाषा और उस को नियम में लाने वाली परिभाषा, उसका ज्ञान और इसको यथार्थ कर दिखाने वाला विज्ञान. परमेश्वरोपासना का प्रकार, लौकिक व्यवहार, देशानु-राग और इसके हितार्थ स्वार्थ का त्याग, परस्पर मेल मिलाप, संयोग सम्बन्ध से एक आलाप, उस के धन, बल और विद्या कभी भी सुदशा में नहीं रह सकते। इन में दुर्बलता का आना, व्यर्थ नीति का बढ़ते जाना, हर समय चिन्ता के चक्र में फंस कर अन्तर ज्वाला विकल वेदना से क्लेश पाना होता ही है। भारतवर्ष इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है विचार हीनता की परा-काष्ठा है सुअवसर पाकर भी अपने को संभालने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। जो ग्लानि और उत्तरोत्तर हानिकर है) तथापि संस्कृत भाषा के प्राचीन होने में तो संदेह हो ही नहीं

सकता। इस के नियमों के देखने से यह ज्ञान तो अवश्य ही हो जाता है कि संसार में जब किसी भी भाषा के भाषण का प्रकार यथार्थ पथ में नहीं आया था, उस समय यह भाषा सरल सुन्दर नियमों के सहित अन्य भाषाओं में होने वाले दोषों से रहित संस्कृत के नाम से सुप्रसिद्ध थी। उस काल के बोध की इयत्ता का विचारने से भी कोई पता नहीं चलता, तो यह कहना कि इसका विकास सृष्टि समकाल से है युक्त ही प्रतीत होता है। पाठक विचारें कि संसार के इतिहास की दृष्टि पांच सहस्र वर्ष से आगे नहीं बढ़ती, उस समय की व्यस्था उस के विचार का विषय ही नहीं है, मूक के समान कुछ पता नहीं देता। इधर पांच सहस्र वर्ष से कुछ काल पूर्व भारतवर्ष के आर्यों ने परस्पर वैमनस्य से अपनी गति को अवनति की ओर बढ़ाया। आलस्य और प्रमाद के आधीन होकर अपने स्वरूप को ऐसा भुलाया कि फिर कभी भी उन्नति का ध्यान न आया। इस देश का अधः पतन में जाना और शनैः शनैः अन्य देशों का ऊर्ध्वगमन में आना प्रत्यक्ष ही है। इस से यह प्रकट होता है कि जब भारतवर्ष अपनी सुदशा में था तब सम्पूर्ण देश इस के प्रभाव से प्रभावित थे परन्तु आधुनिक इतिहासवेत्ता इस काल को कुछ इधर उधर लाना चाहते हैं जो युक्त प्रतीत नहीं होता इस का अधिक व्याख्यान आगे होगा॥

प्रियनामग्रहण इव लोके ॥१२॥

छान्दोग्य उपनिषद् में महानुभाव शंकर ने ऐसा उल्लेख किया है कि 'ओम्' नाम के उच्चारण करने से परमात्मा प्रसन्न

होता है। उस में यह हेतु देते हैं कि संसार में जिस पुरुष को जो नाम प्रिय होता है वह उस के श्रवण से प्रसन्न होता है यह देखने में आता है। यदि ऐसा स्वीकार किया जावे तो प्रत्येक पुरुष को परमात्मा की प्रसन्नता तो अभिमत ही है और इस का सुगम उपाय भी विद्यमान है। परन्तु वैदिक धर्म से यह कल्पना कुछ दूर हो जाती है। इस का कारण यह है कि परमात्मा के आनन्दस्वरूप होने से उस में प्रसन्नता का होना या न होना यह बताना उचित नहीं जान पड़ता। लोक प्रसिद्ध बात के सहारे परमात्मा की तुलना नहीं हो सकती। फिर उपरोक्त वचन का तात्पर्य क्या होगा?

वक्तुर्वक्तुमिच्छातात्पर्यमिति ॥१३॥

इति शब्द सन्देह निवृत्यर्थं है। वक्ता जिस अभिप्राय से वचन को कहता है वह ही उसका तात्पर्य होता है। शंकर महानुभाव का इस कथन से यह आशय प्रतीत होता है कि परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम 'ओम्' सर्व शास्त्र प्रसिद्ध ही है यह पूर्व कहा गया है कि अर्थ विचार पूर्वक बार बार के अभ्यास से जब जिज्ञासु का अन्तःकरण उज्ज्वल होकर आत्म-स्वरूप से निश्चल हो जाता है तब राग द्वेष से वियुक्त, अविद्यादि दोषों से मुक्त अपने को जान कर प्रसन्न हो जाता है। परमेश्वर तो सर्वदा आनन्दस्वरूप, अद्भुत अनूप ही है उसकी भक्ति और कृपा से जब जीवात्मा में आनन्द का प्रादुर्भाव होता है तब काम कामी, कामस्वभाव जीवात्मा की जिज्ञासा की परिसमाप्ति हो जाती है ऐसी अवस्था का आना "ओम्" के ध्यान और उस के यथार्थ ज्ञान से ही होता है। अतएव उप-

चार से अपनी कृतकार्यता और परमात्मा की प्रसन्नता दोनों की एकता को "ओम्" में देख रहा है। परमेश्वर सब का अन्तरात्मा है इसी लिये ज्ञानी पुरुष को अभेदान्वय से तत् तुल्य कहा है। ऐसे भाव को मान कर भाष्यकार ने यह कहा है कि 'ओम्' के उच्चारण से परमात्मा प्रसन्न होता है। जैसे पिता पुत्र को सन्मार्ग में प्रवृत्त देख कर प्रसन्न होता है वैसे परमात्मा जीवों को सत्पथ में वर्तमान जान कर प्रसन्नतम होता है॥

प्रणवष्टेः ॥१४॥

यह महात्मा पाणिनि जी का वचन है कि यज्ञकर्म में वेद मन्त्रों के "टि" संज्ञक भाग को ओम् का विधान है अर्थात् वहां ओम् का हीउच्चारण करना चाहिए। परमात्मा, प्रशस्त कर्मों तथा समस्त संसार का नाम यज्ञ है। एवं यज्ञ-देव पूजा, परस्पर मेल, मिलाप और शुभ कर्मों में दान देने का है। इस से यह जाना जाता है कि प्रत्येक शुभ कर्म निरभिमान होकर ईश्वर आज्ञा पालनार्थ ही है॥

यहां पर अनेक शब्द प्रमाण और युक्तिवाद से दर्शाया गया है कि प्राचीन ऋषि, मुनि, योगी और विद्वान् आर्यों की उपासना का प्रकार यह ही था। 'ओम्' अभिधान से अभिधेय परमेश्वर ही उन का उपास्य देव था। समय के हेर फेर से वेदों को सर्वोत्तम जानते हुए भी अर्थ ज्ञान पूर्वक पठन पाठन की व्यवस्था को छोड़ बैठे। दर्शनग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन की रीति को नूतन ग्रन्थों ने दबा दिया। सम्प्रदायों की बहुलता ने ईश्वर भक्ति के यथार्थ स्वरूप पर आघात किया।

यथार्थ वैदिक धर्म हाथ से जाता रहा अनेक भेद भिन्न साम्प्रदायिक कल्पित धर्म उस के स्थान में आते रहे विपरीत ज्ञान का परिणाम दुःख ही होता है वह हुआ ॥

प्रश्न—क्या राम कृष्णादि नामों के द्वारा परमेश्वर की उपासना नहीं हो सकती ?

उत्तर--कदापि नहीं । मेरे मित्र ! मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र रामायण, योगीराज कृष्णचन्द्रजी की गीता के उपदेश का सन्देश कुछ भागों को (जिस में सम्प्रदाय की झलक है जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती) छोड़ कर शेष बड़ा ही सुन्दर और सरल है। यदि उस को श्रवण कर के ग्रहण किया जावे तो वह मनुष्य समाज के उत्थान का कारण हो सकता है। मनुष्य को गुणग्राही और प्रेम का पात्र होना चाहिए। यह गुणवान्, बलवान् और विद्वान् होने की आधार भूमि है परन्तु सैंकड़ों बार रामायण और गीता की कथा को आर्य जनता सुनती हुई भी भूल से श्रवणमात्र को ही पुनीतकर्म मान बैठी है। श्रवण अनुष्ठान के लिये होता है यह ध्यान में न आया। यह ही कारण था कि पवित्र रामचरित्र सुनता हुआ भाई से भाई लड़ने, परस्पर छल-कपट करने गीता को सुन कर कायर और उत्साहहीन होकर कर्तव्यपालन में डरने लगा। इस ही से पांच सहस्र वर्ष से ऊपर बीत गये संभलने में नहीं आता है। स्थान स्थान पर समय समय में भूल ही करता जाता है ॥

प्रश्न—क्या राम कृष्णादि परमेश्वर के नाम नहीं हैं ? यदि हैं तो इन के द्वारा भी परमेश्वर की उपासना हो सकती है। जो सब में रम रहा है और जिस में योगी लोग रमण

करते हैं इस लिये राम परमेश्वर का नाम है। जो संसार को उत्पन्न करके प्रलय काल में छिन्न भिन्न कर देता है वह कृष्ण परमेश्वर का अभिधान हो सकता है?

उत्तर—वेदेषु अप्रतिपादनात् कल्पनाबाहुल्याच्च ॥१५॥

पाठक गण! राम कृष्ण ही नहीं अपितु संसार के समस्त घट-पटादि पदार्थ परमेश्वर के वाचक हो सकते हैं। परन्तु वेदादि सच्छास्त्रों में ऐसे नामों का कहीं भी विधान नहीं है। तत्कालीन विद्वान् महानुभावों ने कहीं भी इस को स्वीकार नहीं किया। वह लोग तो वेद मर्यादा को जानते थे कि 'ओम्' वाचक है और इस का वाच्य परमेश्वर है। इन दोनों का नित्य सम्बन्ध है इस लिये ऐसा ही मानते थे। कल्पना अधिक होने से भी यह मार्ग त्याज्य ही है। पाठक विचार करें कि भारत देश में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं जिन की वृद्धि से जन समाज की शक्ति तितर वितर हो गई है। सन्मति के विच्छेद से उत्तरोत्तर खेद बढ़ने लगा। सुधार का समय आने पर भी परस्पर का भेद मार्ग में अड़ने लगा। इधर झगड़ा है तो उधर झगेड़ा है, यहां टंटा है तो वहां बखेड़ा बढ़ता ही गया। भारतवर्ष का दुर्विपाक सम्प्रदाय मूलक ही है। सम्प्रदाय शब्द तो अच्छा है परन्तु इस का दुर्व्यवहार होने से सम्प्रति ग्लानि और हानिकर हो रहा है। जिन महात्माओं के नाम से जो जो मत विख्यात हैं उन उत्तमाशय पुरुषों ने तो लोगों को परमेश्वर का ही पूजन सिखाया परन्तु स्वार्थ वा प्रेमवश होकर उन के अनुगामी जनों ने भूल से परमात्मा के स्थान पर उन महात्माओं को ला बिठाया। यह ही सम्प्रदाय शब्द का

दुरुपयोग है। गुरु आज्ञा का भंग किया, सुख के बदले दुःख लिया। वास्तव में जो साधु महात्मा और गुरुजन हों उन की सेवा करना, नम्रता से उन के बचनों को श्रवण करना, अन्तः-करण में उन के लिये श्रद्धा का होना तो ठीक ही है परन्तु मनुष्य को परमात्मा का स्थान कदापि नहीं मिल सकता। मूर्ति को देख कर मूर्तिमान् की कीर्ति का ध्यान. चित्र दर्शन से तद्वान् के चरित्र का ज्ञान और प्रतिमा के अवलोकन से तद्वान् की महिमा का व्याख्यान तो अवश्य होना ही चाहिए इस से मनुष्य समाज का हित ही है। इस सुनियम को विचार में न लाकर मूर्ति का पूजन होने लगा और इसी के सहारे परमेश्वर का ध्यान होने लगा। कैसी गहरी भूल है ऐसे अधूरे कामों का परिणाम कभी भी पूरा नहीं हो सकता। यथार्थ उपासना की रीति क्या है ? उत्तरः—

परमेश्वरपूजनमेव श्रेयस्करम् ॥१६॥

परमेश्वर की उपासना करने से ही मनुष्य का कल्याण होता है। यह मनुष्य का दैनिक कर्म है इस के न करने से पुरुष अपराधी हो जाता है, अपराध को दूर करना ही बुद्धि-मत्ता है गायत्री मन्त्र द्वारा प्रभु पूजन करना सदा आर्यों की रीति रही है। ऋषि ने भी उस ही शैली का अनुसरण करके संध्या का विधान यथाशक्ति सार्थक व्याख्यान वेदों के स्वा-ध्याय में यत्न करना बताया है। ऐसा करने से अन्तःकरण की शुद्धि निर्मल बुद्धि होकर मनुष्य जीवन अपने और दूसरों के लिये हितकर हो जाता है। जितनी इस शुभ कर्म में श्रद्धा और विश्वास उतना ही अविद्यादि क्लेशों का ह्रास फिर विद्या

के प्रकाश में प्रभु के आस पास हो जाता है। गायत्री शब्द का अर्थ क्या है ?

गातुस्त्राणहेतुः ॥१७॥

जो जिज्ञासु अर्थ विचार पूर्वक इस मन्त्र का प्रेम नेम से उच्चारण करता है उस के लिये यह संसार-सागर-संतरण की तरणी और आत्मप्रसाद प्राप्ति की सरणी है ॥

प्रश्न—गायत्री तो एक छन्द का नाम है उस में अनेक मन्त्र हैं तो यथा रुचि उन में से किसी मन्त्र से परमेश्वर की उपासना क्यों न करें?

उत्तर—इस में हानि तो कुछ नहीं है परन्तु एकता का भंग होकर भेद से खेद बढ़ने लगेगा। अतएव ऋषियों ने जप के विधान में इस ही एक मन्त्र को गायत्री का नाम दिया है जिस से उपासना का प्रकार समान रहे।

गायत्री मन्त्र का उच्चारण यदि इस रीति से किया जाय तो विशेष लाभ होगा 'ओं भूः ओं भुवः, ओं स्वः ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओम्'' मन्त्र के साथ एक बार 'ओं' शब्द आता है। इस में चार बार अधिक आया है। केवल ''ओं'' शब्द से ही परमात्मा का ध्यान करना सर्वसाधारण की योग्यता से बाहर है। यह क्रम उच्चाशय अभ्यासी पुरुषों के लिये ही है परन्तु उपरोक्त मन्त्र जप के अधिकारी सर्व जन ही हो सकते हैं। पवित्र होकर प्रेम से शनैः शनैः इस मन्त्र को १०० बार उच्चारण करने में २० मिनट लगते हैं। यदि नियम से किया जावे तो यह कर्म उत्तरोतर चित्त की प्रसन्नता का कारण बनता

जावेगा। ओं" के उच्चारण में परमेश्वर के नव नामों का ग्रहण होता है। एक बार मन्त्र उच्चारण में ४५ नामों और १०० बार के उच्चारण में ४५०० परमात्मा के नामों का आप के मुख से उच्चारण होगा। २० मिनट में इस निज कर्त्तव्य का पालन करके विद्यार्थी विद्यालय में पढ़ें, न्यायाधीश न्यायालय में न्याय करें, व्यापारी शुद्ध भाव से व्यापार कृषक अपने क्षेत्रों का सुधार करें। स्त्रियां गृह कार्यों में सदैव तत्पर, गृह को शुद्ध-स्वच्छ करने में अग्रसर, भोजन बनाने में उन को अच्छा ज्ञान हो, बालकों की शिक्षा में उनका पूरा ध्यान हो, व्यर्थ झगड़ों का परित्याग, स्वयं कार्य करने में अनुराग हो। परन्तु उपर्युक्त यह नित्य कर्म करने के पश्चात् ही हो। गायत्री मन्त्र का अर्थ ऋषि ने पंचमहायज्ञविधि में लिख दिया है वहां ही देखना चाहिए॥
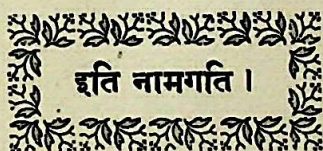
अर्थगति

मङ्गलस्वरूपत्वात् मङ्गलकारी ॥१८॥

शिव, मंगल, कल्याण यह तीनों शब्द समानार्थक हैं। परमेश्वर मंगलमयदेव मंगलस्वरूप है। जो अनन्य भाव से उस की उपासना करता है वह अभयपद-परागति को प्राप्त होता है। यथा क्षुधा का खेद भोजन से ही जाता है, तृषाजन्य-पीड़ा को जल ही मिटाता है और ध्वान्तावरण को आलोक ही हटाता है एवं अमंगल को दूर करने के लिए कल्याणस्वरूप परमात्मा की भक्ति ही अपेक्षित है कोई उपायान्तर नहीं। यह विद्वान् महात्माओं के ही विचार का विषय है। साधारण जन तो इस से विमुख ही देखे जाते हैं। मनुष्य का जीवन अनेकविध बाधाओं से घिरा हुआ है, संसार के मायामोह के अधीन होकर इस का विचार इधर से फिरा हुआ है। दुर्विपाक कर्मों के आघात से जब मनुष्य की इच्छा का विघात होता है तब प्रत्येक पुरुष की बुद्धि में यह बात आती है कि मनुष्य का जीवन अमंगलमय है, अतएव संलग्न होकर अमंगल को दूर करने का प्रत्येक पुरुष पूर्ण प्रयत्न करता है। यह लोक-प्रसिद्ध है कि सेवक के सदन में स्वामी का आगमन मंगलोत्पादक और अमंगल का दमन करने वाला होता है। एवं परमात्मा सब का अन्तरात्मा, सर्वान्तर्यामी और सब का स्वामी है, हम सब उसके सेवक हैं, वही एक उपास्य है, हम सब उसके उपासक हैं, वह ही भजनीय है, हम सब उसके भक्त हैं। जब

पुरुष नित्यानित्य हिताहित और यथार्थ वस्तुस्वरूप को जान कर, अपने लिये सन्मार्ग को पहिचान कर, छल छद्म को हटा कर, संसार की ममता को घटा कर, अन्तःकरण को शुद्ध, पवित्र, निर्मल बना कर आनन्दस्वरूप अद्भुत अनूप सर्वव्यापक परमात्मा का अपने निवास-स्थान में ही साक्षात्कार करता है तब संसार चक्र में परिभ्रमण पुनः पुनः जन्म मरण की थकावट से दूर होकर आत्मा आनन्द से भरपूर हो जाता है। उस अवस्था का निरूपण नहीं हो सकता, अचिन्तनीय है, हमारे विचार का विषय नहीं, अनिर्वचनीय है, इसका निर्वचन नहीं हो सकता, यह गूंगे का गुड़ है जो खाया तो जाता है किन्तु कथन में नहीं आता। मूक का स्वप्न है, दर्शन तो होता है किन्तु वर्णन नहीं हो सकता। मेरे मित्र! जन्म-मरण, जरा-व्याधि, अनिष्टसंयोग, इष्टवियोगादि अमंगल कार्यों का संसार-मार्ग में गति करते हुए जीव के साथ रहना अवश्यम्भावी है। इनके दूर करने का यत्न करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। इस अकथनीय अवस्था का उद्बोधक दृष्टान्त यह है कि एक सुन्दर, सुडौल, गुणवान् और विद्वान् नग्नपादचारी युवा पुरुष मन्दकर्म-विपाक या पूर्वसंचित पाप से आषाढ़ मास के मध्याह्न में ऐसे मार्ग से गति कर रहा है कि जहां न कोई छाया का सहारा है, न कोई जलाशय है और न भोजन की सामग्री ही मिलती है। तप्तभूमि पाओं को जलाती है, दिनकर की कठोर किरणें शिर को सताती हैं, तृषा की पीड़ा से पीड़ित होकर चित्तवृत्ति खिन्न है, क्षुधा के खेद से अन्तःकरण की प्रवृत्ति छिन्न भिन्न, संतप्त वाय के आघात से म्लानमुख होकर हर प्रकार से

निराश, जीवन से हताश हो चुका था कि इतने में सन्मुख अल्प दूरी पर महाकाय घनीभूतछाय एक वृक्ष दृष्टिपथ में आया। चपला चमक के समान जीवन दृश्य ने उत्साह दिलाया; आशा ने सहारा दिया, गति ने उस ओर का रुख़ किया, पक्षियों के कोलाहल ने नेतृत्व का कार्य किया। वहां जाकर देखा तो विमल स्थल, मनोरम सरोवर का शीतल स्वादु जल, वृक्ष के मधुर, सुन्दर-सरस फल, इन सब को एकत्रित पाकर प्रसन्नता से हे दयामय भगवन्! तेरी अपार माया का कोई पार नहीं पा सकता!! कहां हर प्रकार के कष्टों का समवाय, कहां उसकी निवृत्ति का एकसाथ उपाय, यह कह कर सरोवर में डुबकी लगा शीतल हो जाता है। जलपान करके पिपासा के कष्ट को मिटाता है और स्वादु-मधुर फलों को खाकर क्षुधा की पीड़ा को हटाता है। अब इस पुरुष को जो सुख उपलब्ध हुआ है, यदि आप के ध्यान में आता है तो जान लें कि उस निरालम्ब पवित्र सुख का यह चित्र है, अथवा उस असल सुख की यह नकल है, इसका कारण यह है कि यह सुख आगमापायी है, सर्वदा एक रस नहीं रहता। कालान्तर में उस पुरुष के भी अनुभव का विषय नहीं बन सकता और परमेश्वर प्राप्ति का जो सुख है वह सर्वथा सर्वदा समान अनुभावक के अनुभव का विषय बना ही रहता है। सत्य है पर सब की समझ में आने वाली बात नहीं है अतएव—

सर्वोपद्रवशून्यत्वात् शान्तमिति ॥१६॥

इति शब्द पूर्वोक्त विषय के निश्चयार्थ है। सर्व प्रकार के उपद्रवों से पृथग्भूत शान्त अचलप्रतिष्ठ, स्थिरस्वभाव और

सुखस्वरूप परमात्मा है। उपद्रवों से घिर जाना और उनके प्रभाव से प्रभावित होना अल्पज्ञ का धर्म तो हो सकता है सर्वज्ञ का नहीं। अन्यथा सर्वज्ञता की हानि होगी जो सर्वज्ञ होगा वह व्यापक होगा। यह एकदेशी नियम इस बात का नियामक है कि व्यापक होने से सर्वज्ञता का ग्रहण नहीं हो सकता, इसका दृष्टान्त आकाश है। जब आकाश भी अनेक प्रबल वातावरण से मलिन, वारि धाराओं से आर्द्र, सूर्य किरणों से संतप्त और अनेक सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि के परि-भ्रमण से कदापि संकोच और विकास को प्राप्त नहीं होता, तो सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमात्मा में प्रकृतिजन्य उपद्रवों की सम्भावना ही नहीं हो सकती, वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। अतएव सब वस्तुओं में विद्यमान होकर भी सब से न्यारा है। यह वेदों का संकेत और वेदान्त का इशारा है, इस लिये वह मंगलमय, शान्तस्वरूप और शान्तिप्रद है॥

जीवात्मा शान्ति को चाहता है। वहां ही जाता है जहां इसका सहारा पाता है। शान्ति के लिये ही क्रान्ति और कभी कभी भूल से भ्रान्ति करता है, शान्ति से इस को प्यार है। इसकी उपलब्धि में ही इसका उद्धार है, जिसको यह शान्ति का साधन जानता है उस में ही अपना हित मानता है, शान्ति के निमित्त ही इसका यत्न है, इस के लिये ही सब प्रयत्न है। यद्यपि प्रत्येक पुरुष इसी मार्ग में गति करता है तो भी सूक्ष्म होने से यह सब के विचार का विषय नहीं, हर एक को अवकाश कहां जो इसका विचार करे। प्रति पुरुष इस भोग का भागी कहां जो अपना उद्धार करे। बाल्यपन में यदि चिन्ता

नहीं तो विचार का वियोग है, युवावस्था में यदि विचार का उदय होता है तो हर समय विषयभोग से कभी हर्ष और कभी शोक है, वृद्धावस्था में शक्तिहानि से व्यर्थ चिन्ता और रोग है। हर समय प्रकृतिजन्य उपद्रव कोई न कोई इसका साथ देता ही रहता है, इस से जिज्ञासु जीवात्मा की जिज्ञासा की समाप्ति उस शान्तिस्वरूप शान्ति के केन्द्र परमेश्वर की प्राप्ति में ही है। कोई उपायान्तर नहीं है। वह अद्वैत है—

अद्वैतमेकमेव सजातीयविजातीयस्वगतभेदविवर्जित्वात् ॥२०॥

जिस में दूसरी सत्ता विद्यमान नहीं है उसको अद्वैत कहते हैं। यह परमात्मा का विशेषण है अर्थात् वह एक है। यथा तीन, चार, पांच आदि अंकों में दो की सत्ता का सद्भाव है, इस प्रकार एक में दो की सत्ता का स्थान नहीं। उपनिषदों में परमात्मा को अद्वैत, अद्वितीय शब्द से कहा है और कहीं २ सूर्यादि प्राकृतिक पदार्थों में आने वाले भ्रम को दूर करने के निमित्त "नेति नेति" "नेदं नेदं" इन शब्दों का उच्चारण करके शेष में परमात्मा का संकेत किया है॥ सजातीयभेद–परमात्मा जिन गुणों का गुणी है तत्तुल्य गुणवान् तत्समान दूसरा कोई पदार्थ नहीं। विजातीयभेद–परमेश्वर से अधिक विशिष्टगुणों से युक्त कोई पदार्थान्तर हो ऐसा भी नहीं माना जाता। सजातीय और विजातीय शब्द साम्य और अतिशय के द्योतक हैं। योगदर्शन में बताया गया है कि परमेश्वर एक, साम्यातिशय से विनिर्मुक्त है। उसके समान और उससे अधिक होने में न कोई युक्ति है और न कोई प्रमाण ही है। हां अर्थापत्ति से न्यूनता का तो विधान है। स्वगतभेद-यथा वृक्ष

में शाखा का भेद-विभाग है एवं अतिसूक्ष्म, निरवयव, व्यापक होने से परमेश्वर में यह विभाग नहीं हो सकता। अतएव सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद सावयव-स्थूल पदार्थों में ही चरितार्थ हो सकता है। परमात्मा सर्वथा, सर्वदा इन भेदों से पृथक् है॥

यदि यह स्वीकार किया जावे कि उपर्युक्त वचन में परमात्मा के अतिरिक्त न्यूनाधिक तत्समान का विधान ही नहीं है, तो यह दोष उपस्थित हो जाता है कि 'अद्वैत' यह समस्तपद है। द्वैत शब्द के साथ निषेध वाचक 'अ' का संयोग है। यदि द्वैत पद और इस का वाच्यार्थ विद्यमान ही नहीं तो पुनः समास किस के साथ हुआ? आश्रित पदार्थ स्वाश्रय का विघातक कभी नहीं हो सकता, दृष्ट और श्रुत विरोध न्याय से यह मानना ही पड़ता है कि प्रतिषेधक 'अ' का आश्रय द्वैत शब्द है। उस का विघात करके पुनः 'अ' की सत्ता का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा। यह बात विचारतुला पर पूरी नहीं उतरती। प्रत्येक वस्तु की तुलना समान और न्यूनाधिक भाव से ही हो सकती है। यथा-अमुक वस्तु के न कोई समान है और न न्यूनाधिक ही विद्यमान है। एवं अद्वैत शब्द से यह सिद्ध नहीं होता। इस का कारण यह है कि द्वैत शब्द दो की सत्ता को प्रकट कर रहा है। इसका निषेध करने वाला पूर्व में 'अ' विद्यमान है। वह समानाधिक में चरितार्थ हो जाता है। न्यूनता की ओर तो 'अ' की दृष्टि ही नहीं जाती अन्यथा अन-धिकारचेष्टा का दोष लागू होगा। अतएव अद्वैत शब्द परमात्मा का वाचक है। उस के समान या उस से अधिक होने में वेदों

का कोई प्रमाण नहीं। वह एक, स्वरूप से सदा विराजमान है। कहीं एक शब्द से ही परमात्मा का निरूपण किया है—

स एष एक एक वृदेक एव सर्वेऽस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥

ऋ०भा०भू०॥२१॥

'स' शब्द दूर का और 'एष' सन्निकट का बोधक है अज्ञानावृत्तान्तःकरणविशिष्ट पुरुषों के लिए परमात्मा अति दूर है। बार २ के अभ्यास से समाहितान्तःकरण विचारशील पुरुषों के लिए वह अति समीप है। वह अपने अन्तरात्मा में ही परमात्मा के दर्शन करते हैं। ईशावास्योपनिषद् के ५वें मन्त्र में इस की व्याख्या को देखें। इस दूरी को दूर करने के निमित्त मनुष्य को उचित है कि वह अपने मन में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षादि योगदर्शन प्रतिपादित सद्भावनाओं को जगावे और छल कपट, आत्मश्लाघा और स्वार्थादि दोषों को भुलावे। दोषों में स्वार्थ मुख्य है। इस के उदय होने से शेष सब दोष अपना बल बढ़ाने लगते हैं और इसके निर्बल होने से सब शिथिल हो जाते हैं। गुणों में मैत्री सर्वोत्तम है इस के स्थिर होने से शेष गुण इसकी छाया में सहारा पाते हैं। प्रेम प्रकाश है, स्वार्थ अन्धकार है, प्रेम उदार है और स्वार्थ धोखे का बाज़ार है। प्रेम सन्मार्ग को बनाता है और स्वार्थ मार्ग में कांटे फैलाता है, प्रेम से संसार का सुधार है और स्वार्थ से व्यर्थ की तकरार है, प्रेम से मन में प्रसन्नता आती है और स्वार्थ से बुद्धि मलिन हो जाती है। प्रेम प्रत्येक वस्तु को यथार्थ रूप में दिखाता है और स्वार्थ से मनुष्य अन्धा हो जाता है, प्रेम ने जगत् को सुधारा है और स्वार्थ ने संसार को बिगाड़ा है, प्रेम परमात्मा

की ओर ले जाता है और स्वार्थ संसार बन्धन में साता है, प्रेम दूसरे के सुख दुःख का सहचारी है और स्वार्थ की दृष्टि में यह बेकारी है, प्रेम प्रभु की भक्ति का पुजारी है और स्वार्थ के विचार में यह बीमारी है, अन्त में प्रेम का बोल बाला है और स्वार्थ का दिवाला है। मनुष्य स्वाध्याय, सत्संग, सरल स्वभाव से अपने अन्तःकरण को पवित्र बनावे। परमात्मा व्यापक होने से सदा सब को प्राप्त है। परमेश्वर की प्राप्ति अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं, अपितु शास्त्र इसको प्राप्त की ही प्राप्ति बता रहा है। ज्ञाननेत्र से वह देखा जाता है, चर्मचक्षु से वह दृष्टि में नहीं आता। ज्ञाननेत्र अभ्यन्तर है चर्मचक्षु बाह्य है। बाहर प्रकृति का विकार फैला हुआ है। वह परमात्मा इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा के अनुभव का विषय नहीं हो सकता। मल विक्षेप आवरण रहित, ज्ञान सहित केवल जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करता है, इस में इन्द्रियादि सम्बन्ध अपेक्षित नहीं। अनेक जन्म-परम्परा से विषयभोग की वासनायें दृढ़ बद्धमूल हो रही हैं। उनकी विद्यमानता में परमेश्वर की उपलब्धि, आत्मदर्शन इतना ही असम्भव है जितना आम के वृक्ष पर कुठारप्रहार से वटवृक्ष का कटना। यदि कोमल तृणाग्रभाग से कठोर पाषाण में छिद्र हो सकता है तो दोषों के रहते हुए परमेश्वरदर्शन भी हो सकता है। यदि नेत्र से शब्द श्रवण और श्रोत्र से रूपदर्शन नहीं हो सकता तो दोषदूषित अन्तःकरण भी आत्मा के लिये परमेश्वर की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता। मन को विमल बनाओ, अज्ञान को हटाओ, स्वार्थ को छोड़ो, यह बीमारी है। उदारता से

सम्बन्ध जोड़ो, यह स्वास्थ्य की बाड़ी है। बाहर मत भटक, तेरे अन्दर ही तेरा प्यारा है, ज्ञाननेत्र को खोल कर देख कैसा सुन्दर नज़ारा है। दर्शनों का यह संकेत है और वेदों का यह इशारा है॥

पूर्वोक्त वेद वचन में एक को ३ वार कहने से क्या सिद्ध होता है?—

उत्पत्तिस्थितिभङ्गविधाने निपुणत्वात् ॥२२॥

परमात्मा इस प्रत्यक्षीभूत, आश्चर्यस्वरूप संसार को उत्पन्न, पालन और समय आने पर विनाश करने में बड़ा ही चतुर है। वह एक है उपर्युक्त कार्य करने में उस को किसी अन्य सहायक की सहायता अपेक्षित नहीं है, अत एव शास्त्र उस को असहाय बता रहा है। ज्ञानपूर्वक सृष्टि की रचना, धारण और विनाश में जो नियम सदैव काम करता है उस को उपनिषदों में ईक्षण कहा है। यह परमेश्वर में स्थिर रूप से विद्यमान है। वही इस नियम का नियामक है। तीन प्रकार की कृति एक ही कर्त्ता के आधीन है, इस नियम को जतलाने के लिए वेद वचन में 'एक' को तीन वार कहा है। जगत् में किसी वचन को तीन बार कहना स्थिर नियम का द्योतक और सत्य का प्रकाशक माना जाता है। नीलामी की वस्तु तीसरे वचन पर समाप्त हो जाती है, फिर आगे बढ़ने का किसी को साहस नहीं होता, इस नियम का स्रोत यह वेद-वचन ही प्रतीत होता है॥

एकवृत्—यह समस्त संसार प्रलयावस्था में सूक्ष्मता की ओर चक्र काटता हुआ एकाकार-एकाधिकरण-एकाधार हो

जाता है। वह अवस्था केवल परमात्मा के ही ज्ञान का विषय है। अप्रतर्क्य है तर्कतुला पर तोली नहीं जा सकती, अविज्ञेय हैं, विचारपथ में नहीं आती, अचिन्तनीय है, चिन्ता की गति नहीं; अनिर्वचनीय है, निर्वचन की मति नहीं; तमोऽभिभूत प्रसुप्त के समान केवल व्याख्यान है, यदि आपके अनुभव में आता है तो जान लो। प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में जाते और जागृत में आते हो, यह मनु महाराज की उक्ति है॥

परमात्मा सर्वज्ञ है यथार्थरूप से याथात्म्यभाव से उस को प्रत्येक वस्तु का ज्ञान है, वह प्राकृतिक जगत् के समान कदापि प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु प्रकृति का संसार के रूप में आना और फिर जगत् का प्रकृति में जा समाना उसके ही अधीन है। सूक्ष्म को स्थूल बनाने, प्रत्यक्ष पथ में लाने और कालान्तर में समस्त प्रपञ्च को मिटाने और परोक्षता की ओर ले जाने में बड़ा ही प्रवीण है। यह मनुष्य के विचार का विषय ही नही है। एक मनुष्य तो क्या संसार के समस्त विद्वान्, भूमण्डल के सब ज्ञानवान्, अतिचतुर अतीव सावधान परस्पर मिल कर भी सम्यक् प्रकार से इस मायामय जगत् को जानने और सृष्टि क्रम को पहिचानने में अबोध बालक के समान असमर्थ, युक्तिहीन वचन के सदृश व्यर्थ, क्षुधातुर पुरुष के तुल्य निर्बल और लुब्ध पुरुष के समान व्याकुल ही प्रतीत होंगे। जैसे सबल पक्षी का यह संकल्प कि "मैं आज उड़ता हुआ आकाश की सीमा तक जाकर लौटूंगा" असत् है वैसे ही सर्वज्ञ की कृति की पूर्णरूप से जांच पड़ताल करने का अभिमान मनुष्य के लिये अनुचित एवं अयुक्त है॥

संसार की रचना मनुष्य के हितार्थ है यह यथार्थ है। वह सम्यक् विचार से, सत्संग सत्कार से, स्वाध्याय-सदाचार से, यत्न लगातार से, प्रेम-प्रीति के आधार से और सच्ची लगन में मगन होकर जितना परमेश्वरदत्त पदार्थों के गुणों को समझ कर अपने अनुकूल बनावेगा उतना ही अभ्युदय फल सामने आवेगा। यह एक मनुष्य के या मनुष्य-समाज के अधिकार में है। मनुष्य के पुरुषार्थ के साथ प्रभु-कृपा का संयोग जनसमाज के सुखभोग का कारण है। जो उस की आज्ञा का पालन करता है वह अनुचित कार्यों से डरता है, उस पर ही प्रभु की दया है, वही उस की कृपा का पात्र है। ईश्वर की आज्ञा यह है कि अन्यायपूर्वक कोई भी किसी दूसरे के दुःख का कारण न बने किन्तु अपना हित जान कर पर के सुधारने के निमित्त शासन करे। स्वयं सुखी होकर दूसरों को सुखी बनावे और स्वयं दुःख से बचने के लिए औरों को दुःख से बचावे, स्वयं सन्मार्ग में चलकर दूसरों को सत्पथ में चलावे, दूसरों के साथ उपकार करने को अपना उपकार और अपकार करने को अपना अपकार जाने और माने। दृष्टि सृष्टिवाद, महात्माओं के सम्वाद और अन्तरात्मा के नाद से प्रभुप्रजा की प्रसन्नता और आह्लाद से इन नियमों का पालन करे, इस में ही जनसमुदाय का हित है। वह ही पुरुष विचारवान् है, उस ही का नाम विद्वान् है जो इस चलाचली के राह में परस्पर प्रीति सुनीति, और उत्तम रीति का अनुसरण करता है। यह ब्रह्माण्ड उस पूर्ण पुरुष की महिमा है, इस को सांगोपांग जान लेना अपूर्ण पुरुष

का काम नहीं है यदि यत्न करे तो सुनियमों के पालन करने से पूर्ण पुरुष के दर्शन हो सकते हैं यह विचित्रता है। माया के जाल को हटाने और इस से पीछा छुड़ाने का आत्मसाक्षात्कार ही एकमात्र उपाय है। अनेक जन्मकृत शुभकर्मों के उदय होने से मनुष्य को इसकी जिज्ञासा होती है कि वह कैसा है?—

आश्चर्यं गुणकर्मस्वभाववत्वात् ॥२३॥

परमेश्वर के गुण-कर्म और स्वभाव आश्चर्यमय अद्भुत और अदृष्टपूर्व हैं। विचार करें तो सहस्रों पुरुष यह कहते हुए देखे जाते हैं कि परमेश्वर नहीं है और हज़ारों मृत्, काष्ठ और पाषाणमयी प्रतिमा बना कर उसे परमेश्वर मान श्रद्धा से अपने मस्तक को झुकाते हैं। अनेक मनुष्य यह बताते हैं कि हम परमात्मा के दास हैं वह हमारा स्वामी है। कुछ अपने को ही ब्रह्म बताते हैं, हम से भिन्न दूसरा कोई परमेश्वर नहीं यह लोगों को सुनाते हैं। परन्तु उसकी ओर से "यह सत्य कहता है, यह मिथ्यावादी है, उसका विचार पूरा है या इसका अधूरा है" किसी प्रकार का भी उत्तर नहीं आता, जिस से साधारण मनुष्यों को सन्देह होता है। यह मनुष्यों की विचारधारा सृष्टिसमकाल से लेकर अन्त तक न्यूनाधिक भाव से ऐसी ही रहेगी। यह कैसी अनोखी बात है बुद्धिमानों की बुद्धि यहां पर मात है॥

प्रथम समुदाय—यह कहता है कि परमेश्वर तो प्रेमास्पद है जब उस के नाम पर ही परस्पर वैमनस्य बढ़ कर मनुष्य समाज दुःख से पीड़ित हो जावे तो ऐसे परमेश्वर की आवश्यकता ही नहीं है॥

द्वितीय समुदाय–जो प्रतिमा का पुजारी है, उसमें यह भूल है कि वह स्वयमेव मूर्त्ति को बनाता है और आप ही उसके आधीन हो जाता है। व्यापक पदार्थ मूर्तिमान् नहीं होता, यह उसके विचार में ही नहीं आता। यह मतभेद भी जनता के खेद का ही कारण है। साम्प्रदायिकभेद मनुष्य समाज में खेद को बढ़ाकर अनुदार बना देते हैं। भारत वर्ष इस का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है॥

तृतीय समुदाय–स्वामी सेवक भाव तो मानता है परन्तु उस के स्वरूप को न जान कर सेवा प्रकार को नहीं जानता। स्वामी को आज्ञा पालन करना सेवक का काम है। ज्ञान पूर्वक निष्काम भाव से सामान्यतया प्राणिमात्र का और विशेषतया मनुष्यसमाज का हित करना प्रभुभक्ति और उसकी आज्ञा का पालन है। वह सदा तृप्त है, अन्य कोई प्रकार उसकी सेवा का नहीं। अनुष्ठान तो करते नहीं केवल वाणी से कहते हैं यह उनकी भी त्रुटि है॥

चतुर्थ समुदाय–अपने को ब्रह्म बतलाता है परन्तु यह उस की समझ में नहीं आता कि ब्रह्म सर्वज्ञ है और यह अल्पज्ञ, वह सर्व व्यापक है और यह एक देशी, यह अशान्त है और वह सदा आप्तकाम, यह जन्म मरण के बन्धन से युक्त है और वह सदा स्वभावमुक्त है। इन भेदों के रहते हुए 'मैं ब्रह्म हूं' यह कहना मनोमोदकोपभोगमात्र ही है जिससे तृप्ति नहीं हो सकती। इतना तो ठीक है कि अन्तःकरण की पवित्रता से ब्रह्म का साक्षात्कार कर के ब्रह्म के समान हो जाता है। ऐसी अवस्था में भी यदि वाणी से कहता है, तो उतनी ही न्यूनता

में रहता है ॥

आश्चर्यगुण-परमेश्वर सर्वज्ञ है एक काल में यथार्थ रूप से उस को सर्ववस्तु का ज्ञान है। वह सब के अन्दर विराजमान है पर उस को कोइ नहीं जानता, सामने उपस्थित है परन्तु कोई नहीं पहिचानता। सुचारुवाणी कितना ही उस के गुणों का निरूपण करे, वह सब व्याख्यान सिन्धु में विन्दु के समान होगा। उसकी महान् महिमा का ध्यान बुद्धि में नहीं आता समुद्र है कूजे में नहीं समाता ॥

आश्चर्यकर्म विश्वकर्मा प्रभु का नाम है समस्त विश्व उस ही का कर्म है। कहां तक इसका विस्तार है? इस रचना का कैसा प्रकार है? यह कौन जाने? संसार की बनावट को देखकर मनुष्य की बुद्धि थकावट में आजाती है। पाठक विचार तो करें कि परस्पर विरोधी एक दूसरे के प्रतियोगी पदार्थों के मेल से कैसा अद्भुत खेल रचा है। जीवात्मा शरीर में कैसे आता है? और फिर किधर से निकल जाता है? यह सब प्रत्यक्ष है, पर समझमें नहीं आता, जीवात्मा सूक्ष्म, निरवयव और चेतन है, जड़ पञ्चभूतों के संघात ने इसको दुर्बल बना कर कैसे बन्धन में डाला है? किस बुद्धिमान् की बुद्धि ने, ज्ञानी के ज्ञान ने जीवात्मा को फंसाने के लिये यह निराला ढंग निकाला है। बताएं कि आपके विचार मार्ग के आगे अन्धकार है या उजाला? जीवात्मा तो शुभाशुभ कर्मों को जिनको यह आदर या भूल से करता रहा, विस्मरण कर चुका है। उसके विचार का विषय तो नहीं रहा परन्तु वह किस के ज्ञान में विद्यमान, अपनी सत्ता में समान थे, जो इसको सुख दुःख का

अनुभव कराते हैं। कभी हंसाते और कभी रुलाते हैं। वेदादि सच्छास्त्र इस विषय का उपदेश तो सुनाते हैं परन्तु कुछ इधर ही रहते हैं। यथाभूत बात तक नहीं जाते। अनुभव का विषय है वाणी से कैसे अदा हो ? सब उस महात्मा विश्वकर्मा का ही कर्म है ॥

अदृष्टपूर्व स्वभाव–सब में विराजमान होता हुआ भी सब से न्यारा है, इस महान् और महत्त्वपूर्ण संसार का उसी से पसारा है । सब कुछ बनाता है परन्तु स्वयं बनावट में नहीं आता, समस्त प्राणियों के कर्मानुकूल जन्म मरण का निमित्त है, परन्तु स्वयं न कभी जन्म ही लेता है और न कभी मरता है। छोटे से छोटा और महान् से महान् है । न्याय के करने में सर्वदा सावधान है । यदि किसी को कर्मानुसार कष्ट देता है तो उस में उस का सुधार है, और यदि किसी को सुख मिलता है तो उस में भी उस का प्यार है। यह कैसा सद्विचार है, यदि मनुष्य की बुद्धि में आ जावे तो इस का बेड़ा संसार-सागर से पार है, परन्तु मोह ममता की अशुद्धि के कारण साधारण पुरुषों की बुद्धि इस उलझन के सुलझाने, इस बिगड़ी हुई बात के बनाने में लाचार है । सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वर से प्रेम और उदारतादि गुणों के उदय होने से ही इस का उद्धार है। वह सितार कैसे बजेगी जो बेतार है, वह औरों का उपकार कैसे करेगा जो स्वयं बीमार है। अतः सितार पर तार चढ़ाओ फिर बजाओ, प्रथम स्वयं औषध का सेवन कर के अपने को नीरोग बनाओ फिर उपकार करने में मन को लगाओ । यह राजमार्ग है इस में भूलने का भय नहीं है, कैसी विचित्र बात

है, यदि कोई पुरुष ईश्वर से इन्कार करता है तो इस में भी वह चमकता है। यदि कोई इकरार करता है तो इस में भी दमकता है। समस्त प्रपञ्च की रचना करने पर भी अकर्त्ता और स्वयं निराधार हो कर भी विश्व का धर्त्ता है। सदा एक रस है परिवर्तन में नहीं आता। इस का ही यथार्थ ज्ञान जीवात्मा को बन्धन से छुड़ाता है। सकल विश्व का स्वामी है, इस का ही नाम अन्तर्यामी है। सब ब्रह्माण्ड को नियम में चलाता है और स्वयं अचल है, इस नियामक का जो नियम है वह सब अटल है। नीचे, ऊपर मध्यभाग की मर्यादा से बाहर जाता है। कैसी वस्तु है समझ में नहीं आता ? वह निराकार है परन्तु विश्व-प्रेम का भण्डार है। आदि और अन्त से दूर, सर्व विश्व में भरपूर। यदि कोई प्रेमनेत्र से उसकी ओर देखता है तो वह सहस्रों नेत्रों से उस को निहारता है। यदि कोई प्रीति की रीति को जगाकर एक अंगुली को उठाता है तो वह प्रेमपूरित सहस्रों हाथों को फैलाता है। किञ्चित् ज्ञानदृष्टि को खोल नज़र आता है। वह तेरे प्रेम से अधिक प्रेम दिखाता है, पर भूल से तेरी बुद्धि में नहीं आता। अल्पवयस्क लघु बालक पिता से रूठ कर इधर उधर को जाता है। अप्रसन्नता के कारण वह पिता को देखना भी नहीं चाहता परन्तु पिता करुणामयी दृष्टि से देखता हुआ उसके ही इर्द गिर्द चक्कर लगाता है। कभी कभी माता दुग्धपान करने वाले शिशु को रोष से दूर त्याग देती है तो भी वह बालक माता की ओर ही निहारता है और रुदन करता हुआ उस के चरणों की तरफ़ ही भागता है। क्या करे दुर्बल है। माता को अपने प्रेममय हाथों में लेकर अन्त में उसका

इच्छा को पूरा करना ही होता है। क्या विचित्रता है, कहीं पिता प्रेमवश पुत्र की ओर जाता है, और कहीं बालक प्रेम से माता के चरणों में आता है। यह परमात्मा का स्वभाव है, सत्य है या ख्वाब है वही जाने ॥

परमात्मा के स्वरूपलक्षण का निरूपण—

सच्चित्सुखात्मको हि सः ॥२४॥

'सः' शब्द परमात्मा की ओर संकेत कर रहा है। वह सत्-चित् और आनन्दस्वरूप है, परमात्मा की सत्ता व्यापक है और उस सत्ता में ज्ञान और आनन्द स्वरूप से समान रूप से विद्यमान हैं। इस में कदापि किसी काल में भी वृद्धि ह्रास नहीं होता, अतएव यह परमात्मा का स्वरूपलक्षण कहा है। अर्थात् जिस रूप से जिस वस्तु का निरूपण किया जावे वह उसका स्वरूपलक्षण कहलाता है। तटस्थलक्षण इस से भिन्न होता है, वह कभी अपनी परिस्थिति को त्याग देता है। सत् चित् अगर परमेश्वर का लक्षण करें तो यह परिणामशील सत्ता और अल्पज्ञ चेतन का सहचारी होकर परमात्मा का तटस्थलक्षण बन जाता है। आनन्द के समावेश ने व्यापक सत्ता और पूर्ण ज्ञान के विधान से इस को स्वरूपलक्षण बना दिया है। विशेषण जो सजातीय का व्यावर्तक होता है, उस को भी तटस्थ-लक्षण कहना ठीक है। सजातीय और विजातीय के व्यावर्तक को लक्षण या स्वरूपलक्षण कहते हैं। आनन्द से परमात्मा का और ज्ञान से जीवात्मा का बोध तो हो सकता है परन्तु सुख और ज्ञान दोनों गुण हैं इनको किसी द्रव्य के आश्रित ही होना चाहिये। अतएव सत् शब्द का ग्रहण किया गया। सत् प्रकृति,

सच्चित् जीवात्मा, और सच्चिदानन्द परमात्मा हैं। यह तीन विशेषण किस लिये हैं ?

संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत् ॥२५॥

विशेषण सार्थक वहां ही होता है जहां सम्भव और व्यभिचार हो। अन्यत्र इस की व्यर्थापत्ति है। जब वस्तु एक ही है तब विशेषण किस का व्यावर्तक होगा। व्यावर्तकता के अभाव से स्वयमेव समर्थकता की हानि होगी। अतएव विशेषण समर्थ होना चाहिए ॥

दृष्टान्त–कोई स्वामी अपने द्वादशवर्शीय भृत्य बालक को यह कहे कि तुम बाज़ार से दुग्ध लाओ। चलते समय यह बता दे कि गौ का दूध लाना, इस कथन से बकरी और भैंस आदि के दूध की व्यावृत्ति और गौ के दुग्ध में प्रवृत्ति होती है। यहां संभव और व्यभिचार दोनों विद्यमान हैं। परन्तु किसी दिवस उस भृत्य को स्वामी यह कहे कि जाओ तुम बाज़ार से श्वेत दूध लाओ, इस कथन को श्रवण कर वह अल्पवयस्क भृत्य उपहास से कहेगा कि भगवन्! दुग्ध तो श्वेत (सफेद) ही होता है। लाल, काला और पीला होने की सम्भावना ही नहीं तो यह श्वेत विशेषण बन ही नहीं सकता। यह आप का अयुक्त वचन, युक्तिविरुद्ध कथन मान्य नहीं। अतएव स्वरूप से यदि एक ही वस्तु हो तो विशेषण वहां उपयोगी नहीं हो सकता। जब अन्य की प्रवृत्ति ही नहीं तो विशेषण व्यावृत्ति किस की करेगा। अतएव लक्षण ठीक होना चाहिए—

अतिव्याप्ति-अव्याप्ति-असम्भवदोषशून्यं यत्तदेव लक्षणम् ॥२६॥

उस लक्षण के द्वारा ही लक्ष्य वस्तु का यथार्थ बोध होता

है जो लक्षण उपरोक्त तीन दोषों से रहित हो—

प्रथम दोष अतिव्याप्ति है—जो लक्षण लक्ष्य वस्तु में विद्यमान होकर वस्त्वन्तर में भी दिखाई देता है वह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित होता है। यथा—यदि गौ का लक्षण ऐसा किया जावे कि "सींग वाले पशु को गौ कहते हैं" तो यह लक्षण गौ में तो विद्यमान है किन्तु भैंस और बकरी में भी देखा जाता है, अतएव उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है ॥

द्वितीय अव्याप्ति दोष है—लक्ष्य के एक देश में जिस लक्षण की सत्ता का सद्भाव हो वह अव्याप्ति दोष कहलाता है। जैसे 'गौ कृष्ण होती है' यह लक्षण लक्ष्य के एक देश में देखा जाता है क्योंकि गौ रक्त, श्वेत और पीत भी देखी जाती है, अतएव लक्षण अव्याप्त है ॥

तृतीय असंभव दोष है—जिस लक्षण का लक्ष्यवस्तु में समावेश ही न हो वह लक्षण असंभव दोष युक्त है। यथा 'गौ एक खुर वाली होती है' गौ में इस लक्षण की सम्भावना ही नहीं। यह तीनों दोष लक्षण में नहीं होने चाहिएं। केवल लक्ष्य में ही लक्षण का अन्वय होने से लक्षण निर्दोष होता है। इस को ही व्याप्ति कहते हैं। यथा 'सास्ना वाले पशु को गौ कहते हैं।' यह लक्षण अन्य किसी पशु में न जाकर केवल गौ में ही संघटित होता है। अतएव यह सल्लक्षण है। एवं सच्चिदानन्द ब्रह्म का लक्षण है। यदि 'सद् ब्रह्म' इतना ही ब्रह्म का लक्षण करते तो यह ब्रह्म में व्याप्त होकर प्रकृति में भी संगत हो जाता। यदि 'सच्चित् ब्रह्म है' ऐसा लक्षण करते तो प्रकृति से व्यावृत्त होकर जीवात्मा में इसकी अनुवृत्ति हो जाती। इसलिये आनन्द

का समावेश करने से सत् प्रकृति और सच्चित् जीवात्मा से पृथक होकर केवल ब्रह्म ही इसका लक्ष्य बनता है॥

ब्रह्म के लक्षण में जो सच्छब्द है उसका क्या अर्थ है?

त्रैकालाबाध्यत्वं सत्यत्वम् ॥२७॥

तीन काल में जो सत्ता समानरूप से रहती है, उपचय अपचय से जो सर्वदा पृथक है उसको सत् कहते हैं। त्रैकाल का उल्लेख उत्पद्यमान वस्तु की अपेक्षाकृत है वास्तव में नहीं। बाध्य शब्द मिथ्यात्व का प्रत्यायक है। अतएव उपरोक्त वचन में अबाध्य शब्द आया है जो सर्वदा सत् का पक्षपाती है। चित्-चेतन शब्द एकार्थ वाची हैं अतएव—

एक कालावच्छेदेन समीचीनतया सर्ववस्तुबोधकत्वं
चेतनत्वं सर्वज्ञत्वात् ॥२८॥

एक काल में यथार्थरूप से समस्त वस्तु का ज्ञाता है। सर्वज्ञ, सर्वगत और सर्वान्तर्यामी होने से उसके ज्ञान में कोई वस्तु भी आवृत नहीं हो सकती। सर्वज्ञ सर्ववित् ही होता है यह उपनिषदों का सिद्ध सिद्धान्त है। अतएव परमात्मा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान का प्रकाश उसकी सत्ता के अनुरूप है। इस ज्ञान के प्रकाश से जब मनुष्य का अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है, तब वह संशय-विपर्यय ज्ञान की कालिमा से मुक्त होकर अभ्युदय निःश्रेयस सुख के भोग से युक्त हो जाता है। उपनिषदों में ऐसा व्याख्यान है कि इस ज्ञान प्रकाश से ही सर्व सूर्य चन्द्रादि चमकीले पदार्थ प्रकाशमान और इस की सत्ता से ही समस्त ब्रह्माण्ड और इसके परार्थ विद्यमान हैं। कैसी विचित्र महिमा है, जिस के अन्तःकरण में इस विचार का उदय

हो जाता है वही पुरुष बुद्धिमान् है। पुनः संशय को स्थान, न अभिमान, न शोक ही है न अज्ञान, न मोह का जाल, न राग द्वेष का जंजाल, न लोकैषणायें सताती हैं न कुवासनायें ही सामने आती हैं। यह यथार्थ ज्ञान का बल या उस परमात्मा सर्वान्तरात्मा की कृपा का फल है॥

आनन्द का विवेचन—

समाधिकाले समाहितचेतसां यदनुभवविषयः स आनन्दः ॥२६॥

समाधिकाल में जब मनुष्य की वृत्ति एकाकार हो जाती है तब उस समय जो उसके अनुभव का विषय होता है वह निरालम्ब आनन्द है। बड़ा ही सुन्दर है मधुर है और अति पवित्र है। यद्यपि लौकिक विषयानन्द भी उस परमानन्द सुख का ही आभास है तथापि साधारण पुरुषों को इस का यथार्थ बोध नहीं होता। अनुभव तो प्रतिदिन करते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि सुख का प्रादुर्भाव कैसे होता है, फिर उसका तिरोभाव क्यों हो जाता है? किसी वस्तु के जान लेने या न जानने से वस्तु के स्वरूप या उसके आकार में तो कोई भेद नहीं आ सकता। इस में कारण यह है कि ज्ञान वस्तु के आधीन होता है। मनुष्य के विचाराधीन होकर किसी भी वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन नहीं हो सकता है। यथार्थ बोध से मनुष्य को लाभ, विपरीत ज्ञान या अज्ञान से हानि होती है भेद केवल इतना ही है। वास्तव में यह योगी के अनुभव का विषय है। मनुष्यों में योगी का पद सब से ऊंचा है, वह किसी भाग्यवान् को अन्तिम जन्म में प्राप्त होता है। परन्तु सम्प्रति यह उपहास का ही स्थान बन रहा है, जिधर जाओ उधर ही योगी मिलते हैं।

संसार के लिए तो उपयोगी नहीं, परमार्थ के सहयोगी हों वही जानें, किसी के विषय में कुछ ननु नच करना तो ठीक नहीं जान पड़ता। परन्तु यह ठीक है कि भारतवर्ष सत्पथ को भूला हुआ है, यहां प्रपञ्च अपना बल बहुत शीघ्र बढ़ा लेता है॥

वह आनन्द कैसे आता है?—

आनन्दं प्राप्य आनन्दी भवतीति ॥३०॥

इति शब्द हेत्वर्थ है। उपनिषदों में ऐसा विधान है। यह यथार्थ ज्ञान है कि ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके यह जीवात्मा आनंद वाला होता है। पाठक विचार करें। ब्रह्म, जीवात्मा, प्रकृति और इनका कार्य यह स्वरूप से पृथक होने पर भी संघात या ब्रह्माण्ड के नाम से कहा जाता है। इस में चेतन जीवात्मा सुख प्राप्ति का अधिकारी है। सुख की लिप्सा इसको हर समय बनी रहती है। यथा मधुकर भ्रमर रस को उपलब्ध करने के लिए एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर पुनः तीसरे पर जाता ही रहता है। मधु प्राप्ति के प्रेम में भूमता हुआ इधर उधर घूमता है। जिसको जिस से हित है वह उसके वियोग में अति चञ्चल चित्त है, वह उधर को ही जायगा जहां अपने प्रेमी को पायेगा। एवं जीवात्मा जिस को अपने अनुकूल मानता है, जिस को अपने सुख का साधन जानता है उस को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। प्रतिकूलता से दुःख पहचान कर बचता है। या उस के दूर करने का प्रयत्न करता है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि जीवात्मा सुख से तो वंचित है इस के स्वरूप में तो सुख नहीं है इस की प्राप्ति के लिए सर्वदा यत्नवान् है और इस को प्राप्त भी कर सकता है, जिस से सुख प्राप्ति का

पात्र जाना जाता है। जीवात्मा सुख का अभिलाषी है, इस में सुख विद्यमान नहीं है। प्रकृति और तत्कार्य सब जड़ वर्ग है, इस में सुख दुःख दोनों ही नहीं हैं, और यह चेतन के ज्ञान का विषय है, अतएव विषयतासम्बन्ध से इस में ज्ञान रहता है, स्वरूप या अधिकरण सम्बन्ध से नहीं रहता। अब आप ध्यान दें कि जीवात्मा विषय-इन्द्रिय-संयोग-जन्य जिस सुख का अनुभव करता है उस का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? इस का प्रकार और निमित्त क्या है? जब कोई पुरुष एकान्त जङ्गल में आसीन हो उस समय उस पर दो चार बिन्दु शीतल जल के गिरें तब उस के विचार में यह तो अवश्य ही आता है कि ये जल कण न तो अग्नि का अंश हैं, और न वायु का ही भाग हैं। कैसे गिरे कहां से आए? इस का ज्ञान हो या न हो, किन्तु ये बिंदु जल का ही अंश हैं, किसी सरोवर से ही आये हैं, यह सामान्य बोध तो हो ही जाता है। यह एकदेशी उदाहरण है। सुख की अपेक्षा जीवात्मा को दुःख अधिक देखा जाता है, और जितनी इयत्ता में सुख है वह भी दुःख से मिश्रित है। यह गुण प्रकृति में विद्यमान नहीं तो यह सुख कैसे प्रकट होता है? इस का ठीक उत्तर यही हो सकता है, कि यह सुखस्वरूप ब्रह्म की ही चमक थी जो इस के अन्तःकरण में किसी निमित्त से दमक गई। यह ही प्रकार है परन्तु सर्वसाधारण को इस पर कहां एतबार है, यह विचारशीलों का ही व्यापार है॥

जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये मनुष्य को उत्कट इच्छा होती है वह उस के लाभार्थ लगातार यत्न करता और उस की प्राप्ति में सदा चंचलचित्त और व्याकुल-मन बना रहता है,

कभी कभी जीवन में भी सन्देह हो जाता है । तीव्र इच्छा का चित्र सामने आते ही अन्य संकल्प मन्द पड़ जाते हैं, ऐसी अवस्था में विचारशक्ति अपना काम करना छोड़ देती है। समझदार मनुष्य की मनोवृत्ति भी तत्काल किसी समझ का सहारा नहीं लेती । इच्छा का जितना प्राबल्य होगा उस की पूर्त्ति में उतने ही अधिक सुख का अनुभव होगा, यह सर्वजन प्रत्यक्ष है । इच्छित वस्तु की अप्राप्ति से मनुष्य के अन्तःकरण में हल चल अपना बल बढ़ाती जाती है, अन्य कोई वस्तु इस दोष को दूर नहीं हटाती । इच्छुक पुरुष की मनोवृत्ति संवेग-धारा से इच्छित वस्तु की ओर गति करती रहती है, यह लगातार इधर से उधर को जाती और उधर से इधर को आती ही रहती है। वस्तु दूर है समीप जानी जाती है, समीप है दूर नज़र आती है । पाठक ! विचार करें कि यह एक नाटक है जिस में समस्त जगत् अटक रहा है । आबाल वृद्ध इस ही मार्ग में भटक रहा है। यह खटका है जो हर एक के अन्तःकरण में खटक रहा है । जीवात्मा को न उधर जाने की शक्ति, न इधर आने की गति है, विपरीत बन्धन के समान केवल इस मायाजाल में फंस कर मध्य में ही लटक रहा है। अब विचार यह करना है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति से मनुष्य को सुख का जो अनुभव होता है उस का कारण क्या है ? मनुष्य की मनोवृत्ति जिस वस्तु की ओर झुकती रहती थी उसकी प्राप्ति से वृत्ति का मन में लय हो गया, तत्काल वृत्ति का किसी अन्य वस्तु की ओर उत्थान नहीं है, ऐसी अवस्था में तृष्णा का क्षय हो कर अन्तःकरण समाहित हो जाता है। सुख-स्वरूप परमात्मा

जो सर्वत्र विराजमान होने से अन्तःकरण में भी विद्यमान था, वह जीवात्मा के ज्ञान का विषय हो गया। सुख के प्रकाश का निमित्त तो आत्मसाक्षात्कार और परमात्मदर्शन था, परन्तु यह भूल से कहता है कि अमुक वस्तु की प्राप्ति में मुझे सुख मिला है। यह इस की अल्पज्ञता और यथार्थ ज्ञान की न्यूनता है। यदि उस वस्तु की प्राप्ति में ही सुख था तो जब तक वह वस्तु पास रहे तब तक सुख समान रहना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस का कारण यह है कि मनोवृत्ति उस को छोड़ कर वस्त्वन्तर में चली जाती है, फिर अन्तःकरण पर आवरण आ जाता है। कल्पना करें कि एक छात्र परीक्षा के निमित्त बड़ा परिश्रम कर रहा है, परीक्षा-परिणाम में वह उत्तम कक्षा में उत्तीर्ण हो गया, प्रमाणपत्र मिलने पर उसको बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु कुछ समय के बाद ही वह सुख जाता रहा, जिस ने सुख बोध कराया था और सुखी बनाया था वह प्रमाणपत्र तो उस के पास ही है किसी ने छीन तो नहीं लिया। अब भी पास ही है और अनुत्तीर्ण भी नहीं हुआ। अब उस सुख को जो अपना दर्शन करा कर मुग्ध बना कर भाग गया, अन्य परीक्षा में ढूंढता है, तलाश करता है। मधुकर भ्रमर की उपमा ठीक ही है। यह सर्वदा सुख के लिये आकुल है। प्राप्त हो कर कैसे वह स्थिर रहे जब यह भूल कर प्रकृति के विकार में सुख को उपलब्ध करना चाहता है। यह नाटक का परदा है सुख सामने आता है और छिप जाता है। जब परदा हटकर फिर सामने न आयगा तब सुख स्थिर हो जायगा। वीतराग योगी पुरुष अपनी विवेक-शक्ति द्वारा सुख के स्थान में सुख को मानता

है । अतएव इस के लिये तो स्थिर हो कर फिर नहीं जाता । परन्तु साधारण पुरुष प्राकृतिक वस्तुओं में सुख को मानता है उस के लिये क्षणिक हो जाता है। संसार के पदार्थ तो सब ही परिणामशील हैं । उन के द्वारा जो सुख उपलब्ध होगा वह स्थायी कैसे हो सकता है ?

उपरोक्त कथन से तो एक परमात्मा की ही सत्ता का अस्तित्व प्रतीत होता है—

आद्यन्तरहितं अनाद्यन्तसहितं यत्तदेव सत् ॥३१॥

वास्तव में सत् का यह लक्षण है जिसका आदि नहीं होता वह अनादि माना जाता है और जिस का अन्त नहीं होता वह अनन्त कहलाता है । यह नियम सृष्टिक्रम से पहचाना जाता है। प्रकृति परिणामशीला है एक स्वरूप में कदापि नहीं रहती । परिवर्तित होना इस का स्वभाव है । कोई भी पदार्थ निज स्वभाव को त्याग नहीं सकता और जिस का त्याग हो जाता है वह उस का स्वभाव नहीं कहलाता । जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण अध्यासाधीन हो कर अपने स्वरूप को भूल जाता है। कर्मबन्धन में बंधा हुआ मुक्त होने की योग्यता से युक्त चेतन-स्वभाव से अलुप्त, अविद्या से प्रसुप्त इव हो कर, संसार सुख की लग्न में मग्न हो कर, स्वयं किसी के स्नेह में जकड़ा हुआ, किसी ने अपने प्रेम में इस को पकड़ा हुआ, किसी के राग में रंगीला और किसी के द्वेष से विषैला बन कर छुटकारा नहीं पाता । यह सत्य है तो भी इन दोनों पदार्थों को 'आदि अन्त न होने से' सत् ही मानना पड़ेगा । जो वस्तु स्वरूप से नाश नहीं होती वह सत् है, यह निष्कर्ष है ॥

प्रश्न–एक परमात्मा की सत्ता को यथार्थ मान कर शेष को अनादि सान्त स्वीकार करना ठीक होगा। ऐसे पदार्थ भी देखे जाते हैं जो अनादि होकर अन्त और आदि होकर अनन्त-भाव को रखते हैं। प्रागभाव अनादि तो है परन्तु कार्य उत्पत्ति के पश्चात् उस का नाश हो जाता है। कार्य अपने कारण में विद्यमान होता है यह सिद्ध सिद्धान्त है। मृत्पिण्ड में घट का, तन्तुओं में पट का प्राग् अभाव अनादि काल से चला आता है तो भी घट और पट के उत्पन्न होने से उन का प्रागभाव नष्ट हो जाता है यह अनादि सान्त का दृष्टान्त है। प्रध्वंसाभाव आदि अनन्त है। जब घट का अथवा पट का नाश हो जाता है तब वह प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होकर आदिमान् अर्थात् सादि तो है परन्तु अनन्त हो जाता है। इस का कारण यह है कि वह घट अथवा पट तो नष्ट हो चुका है वह स्वरूप से कदापि दृष्टिपथ में नहीं आता। ऐसा नैयायिक मानते हैं॥

उत्तर–भाव पदार्थों का विवेचन करते समय अभाव पदार्थों का दृष्टान्त युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। मधु की मिठास को जानने के निमित्त मिश्री अथवा चीनी का दृष्टान्त तो युक्तियुक्त है परन्तु मिर्च का दृष्टान्त सर्वथा विरुद्ध होने से किसी प्रकार भी लागू नहीं हो सकता। विद्युत्प्रकाश की जांच के लिये गैस का दृष्टान्त तो ठीक हो सकता है, किन्तु अन्धकार का दृष्टान्त तो कदापि अनुकूल नहीं जाना जाता। द्वितीय—अभाव पदार्थ वास्तव में नहीं है। इस कारण से वैशेषिकदर्शन में अभाव की पदार्थों में गणना नहीं है। किसी भी भावपदार्थ के निषेध का नाम ही अभाव है, इसको स्वीकार करने में पदार्थ

संख्या में कोई भी नियम नहीं रहता। समस्त पदार्थ निषेध वाची 'अ' के संयोग से अभाव कोटि में आ सकते हैं जिस से व्यवस्था की हानि हो जाती है। अतएव कणाद ऋषि ने स्थानान्तर में भिन्न प्रकार से अभाव की परीक्षा की है वहीं अवलोकन करें। अनादि अनन्त और आदि-अन्त इन का तो परस्पर सहचार है। अनादि सान्त अथवा सादि अनन्त का दृष्टान्त भाव पदार्थों में कहीं भी नहीं मिलता। अभाव का उदाहरण इस को सिद्ध नहीं कर सकता। अतएव ब्रह्म, जीवात्मा, प्रकृति तीनों पदार्थ सत् हैं ॥

तीनों की सत्ता यदि समान है तो सब ब्रह्म हुए ?—

तुल्यत्वेऽपि न समानं विशेषदर्शनम् ॥३२॥

विशेष-भेद दर्शन से तुल्य होने पर भी इन तीनों में परस्पर समानता नहीं है। समान नियम को साधर्म्य और विशेष नियम को वैधर्म्य कहते हैं। साधर्म्य और वैधर्म्य की सहायता से ही समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थों की परीक्षा होती है। यह यथार्थ परीक्षक के ही विचार का विषय है। साधारण पुरुषों की मति की यहां गति नहीं। साधर्म्य (समान नियम) पदार्थों को मिलाता एक कर दिखाता है। वैधर्म्य (विशेष-नियम) भेद कारक होने से पदार्थों को अलग अलग दर्शाता है। सत्ता (उपलब्धि) सर्व पदार्थों में विद्यमान होने से समान ही है साधर्म्य इस को ही कहते हैं । यह कभी विशेष नहीं होता । और विशेष-भेद विधायक होने से परमाणवादि सूक्ष्म द्रव्यों में रहता है यह कभी समानपथ में नहीं आता। शेष पदार्थ साधर्म्य वैधर्म्य से अथवा समान विशेष नियम से संयोगी और

वियोगी हैं इस की परीक्षा का प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म है। तथापि विशेष नियम के आधीन हो कर जल से अग्नि और अग्नि से जल भिन्न हो जाता है। ऐसे ही सर्वत्र जानना और मानना चाहिए। प्राणित्व की समानता से समस्त प्राणियों का ज्ञान होगा। मनुष्यत्व के विधान से केवल मनुष्य का ग्रहण होगा, अन्य प्राणियों का नहीं। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन इन नव द्रव्यों में द्रव्यत्व समान धर्म एक ही है, तथापि विशेष नियम आत्मा के चेतन और शेष के जड़ होने का द्योतक है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, अनित्य द्रव्य विनश्वर हैं। आकाशादि सूक्ष्म व्यापक होने से नित्य हैं। इसी प्रकार अपेक्षाकृत समान और कोई विशेष है। इस नियम का बड़ा ही विस्तार और प्रसार है॥

अब पाठक विचार करें कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों सत्—समान होने पर भी एक कैसे हो जायेंगे? जब उन में विशेष—भेदकारक नियम विद्यमान है। परमात्मा सत् होने पर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और समस्त संसार का निर्माता है तथापि कर्मबन्धन में नहीं आता। जीवात्मा अल्पज्ञ, एकदेशी, कर्मकर्त्ता और बन्धन में आता है। प्रकृति सर्व कार्यजगत् का उपादान-कारण होने से अपरिछिन्न तो है परन्तु जड़ है चेतनता रहित। यह इन में परस्पर भेद है। यदि सर्वथा सर्वांश में यह समान ही हैं, तो पुनः एक ही होगा तीन का होना सम्भव ही नहीं। अतएव यह तीन हो कर एक और एक हो कर तीन हैं। यथा एक की संख्या एक है उस संख्या का संख्येय पदार्थ भी एक ही होगा और तीन का अङ्क भी तो एक ही है परन्तु इस संख्या

का संख्येय तीन पदार्थ होंगे। एक अङ्क के समान तो परमेश्वर ही है, जिस की संख्या और संख्येय में कोई भेद नहीं आता। यदि साधर्म्य से इन तीनों को वादितोष-न्याय से एक कर भी देंगे तो भी इन के संख्येय पदार्थ तीन ही रहेंगे। इस का निवारण किसी प्रकार से कोई भी नहीं कर सकता। यथा तीन, चार, पांच का अंक एक होने पर भी अपने संख्येय से भेद को प्राप्त हो जाता है, एवं ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों का साधर्म्य समान रूप एकता का और वैधर्म्य विशेष स्वरूप अनेकता को जताता है। कार्यजगत् को देख कर प्रकृति का, कर्म करने और फल भोगने से जीवात्मा का बोध तो होता है परन्तु ईश्वर सत्ता सद्भाव में तो सन्देह ही है॥

क्वचित् कदाचिन्नोपलब्धेरसत् ॥३३॥

किसी स्थान और किसी काल में परमात्मा की सत्ता की उपलब्धि न होने से असत् ही कहना ठीक प्रतीत होता है।

ननु--परमात्मा का शश-विषाण, आकाशपुष्प के समान अस्तित्व ही नहीं है ; अथवा उस की सत्ता का सद्भाव तो है परन्तु हमारे ज्ञान का प्रतिबन्धक बाधकान्तर विद्यमान है। अत एव उस का यथार्थ बोध हम को नहीं हो सकता। केवल प्रतीति का विषय न होने से किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार न करना तो बुद्धिमत्ता नहीं। शशविषाण और आकाश पुष्प का दृष्टान्त तो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह तो केवल समानाधिकरण का भेद और व्यधिकरण में अभेद अन्वय किया है। यह किसी सत्ता के निषेध का पक्षपाती नहीं। शश और शृङ्ग दोनों विद्यमान हैं, एकाधिकरण में इन का होना असंभव

है। आकाश और पुष्प दोनों देखे जाते हैं। परन्तु ऐसा कोई पुष्प (जो भूमि-आधार के बिना केवल आकाश में ही हो) दृष्टि में नहीं आता। अत एव विदेशी दृष्टान्त स्वदेशी पर आघात कर ही नहीं सकता है वह तो स्वयं असिद्ध है। वस्तु सत्ता के ज्ञान न होने में कई एक बाधक हैं, जिन को पाठक दृष्टान्त से समझें-

प्रथम दोष अतिदूरत्व है—आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अति दूर होने के कारण दृष्टि में नहीं आता॥

द्वितीय दोष अति सन्निकट है—नेत्रस्थ अञ्जन अति निकट होने से नहीं जाना जाता॥

तृतीय दोष आवरण है—भित्ति के व्यवधान से दूसरी ओर की वस्तु का ज्ञान नहीं होता॥

चतुर्थ दोष इन्द्रिय है—यथा अन्ध बधिर पुरुष समीपस्थ वस्तु को देख और शब्दों को सुन नहीं सकता॥

पञ्चम दोष मन का अनवस्थित्व है—किसी वस्तु में मन के अति संलग्न होने से निकटवर्त्ती वस्तु के जानने में पुरुष असमर्थ हो जाता है॥

षष्ठ दोष सजातीय सम्वलन है—यथा गौ के दूध में भैंस का दूध मिला दिया जावे तो दोनों में भेद का बोध नहीं होता है।

सप्तम दोष समानाभिहार है—बीज का अंकुरादि में परिणाम पाने से बीज का अपरिज्ञान होता है॥

अष्टम दोष सूक्ष्मता है—पृथिव्यादि स्थूल पदार्थों के सूक्ष्मावयव सर्वत्र विद्यमान तो हैं परन्तु सूक्ष्मता के कारण बोध के विषय नहीं हो सकते। इन रुकावटों से वस्तुसत्तासद्भाव की प्रतीति नहीं होती। परमात्मा स्थूल पदार्थों की अपेक्षा से

सूक्ष्म है और सूक्ष्म पदार्थों से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है । यह स्वरूप से समानरूप से विद्यमान है, ज्ञान नेत्र से उस का साक्षात्कार होता है । उपरोक्त रुकावटें ज्ञान की प्रतिबन्धक नहीं हो सकतीं, वह अतीन्द्रिय होने से किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं । ऐसा कोई भी तो दृष्टान्त होना चाहिए जो इस पर लागू हो सके, केवल कथन मात्र से तो किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती ॥

वर्तमानवद् वर्तमानत्वान्नासत् ॥३४॥

पूर्वसूत्र में यह कहा गया है कि परमात्मा की किसी स्थान में और किसी काल में भी उपलब्धि न होने से सत् नहीं है । इसका उत्तर यह है कि वर्तमान काल के समान सदा सर्वत्र विद्यमान होने से अवश्य सत् है, विचार करने से पता लगेगा कि उत्पद्यमान वस्तु की अपेक्षा से काल का तीन प्रकार से विभाग हो जाता है । यह सर्वजन प्रत्यक्ष है । उत्पद्यमान वस्तु समान रूप से स्थिर काल शक्ति को विभक्त कर दिखाती है, वह कालान्तर में स्वयमेव नष्ट हो जाती है, अतएव नित्य पदार्थों में वर्तमानकाल का सर्वदा सहचार है, उन में भूत और भविष्यत् की प्रतीति ही नहीं, और न काल का उन पर अत्याचार ही है। कार्यजगत् में भूत और भविष्यत् के समान वर्तमान का ज्ञान नहीं होता। काल अतिसूक्ष्म वस्तु है। वह नित्य पदार्थों में भाव से और अनित्य पदार्थों में अभाव से परिवर्तित हो जाता है । काल का यह परिवर्तन औपचारिक है वास्तविक नहीं। यह वैशेषिकदर्शन में विचार किया गया है, वर्तमान काल विचार से ध्यान में आता है और परमेश्वर सिद्धि में हेतु

बन जाता है ॥

पाठक विचार करें कि जब यह कहा जावे कि अमुक पुरुष की आयु बीस वर्ष की है, यह सब भूतकाल होगा और इस क्षण से आगामी समय भविष्यत् होगा। ऐसी अवस्था में माध्यमिक वर्तमान की इयत्ता क्या होगी ? जितने समय की वर्तमान कहोगे वह भूत और भविष्यत् में बट जावेगा । मेरे मित्र ! एकाग्र हो कर विचार करो–समाहित हो कर ध्यान धरो और सत्य कहो कि वर्तमान स्वरूप आप के ध्यान में आता है, विचार करने से बुद्धि रुकती है, और उस के आगे (जो स्थूल-सूक्ष्म कार्यकारण जगत् का स्वामी है) गर्दन झुकती है ॥

द्वितीय विचार यह है कि वर्तमान काल में बुद्धि का व्यापार नहीं और भूत तथा भविष्यत् के समान प्रत्यक्ष का व्यवहार नहीं तो इस का परित्याग ही अच्छा है। वर्तमान काल ही नहीं तो परीक्षा किस बात की। यह कहना ठीक है आप ने सरल मार्ग स्वीकार किया, परन्तु इस कथन में जो उलझन आती है उस का सुलझाना कठिन होगा । भूत और भविष्यत् काल के मध्य में यदि कोई विभाजक शक्ति नहीं है तो फिर काल एक होगा । उस का नाम भूत रक्खो अथवा उस को भविष्यत् कहो, परन्तु जो भूत को भविष्यत् से हटाता और भविष्यत् को भूत से पृथक् कर दिखाता है वह कोई वस्तु तो है, ध्यान में आवे या न आवे ॥

तृतीय विचार यह है—वर्तमान काल वर्तमान है सर्वांश में भूत काल पर इस का निशान है । वर्त्तमान में भविष्यत् का आयान और भूत का निर्यान है परन्तु वह मध्य में दोनों से

पृथक् स्थिर सावधान है क्या विचित्र बात है कि भविष्यत् काल को वर्तमान में आना पड़ता है और भूत काल के मैदान में जाना पड़ता है। आज प्रातःकाल रविवार का दिन है बारह घण्टे भविष्यत् में विद्यमान है, उसी दिन सायंकाल को इस का समावेश भूत कोटि में हो जावेगा । क्या कोई बता सकता है कि यह समय वर्तमान के मार्ग से न होकर भूतकाल का सहचर बना है। कदापि कोई अन्य मार्ग नहीं है । जो प्रातः भविष्यत् माना जाता था वही सायंकाल को भूत में परिणत हो जाता है। भूत और भविष्यत् को कार्य जगत् का सहारा है, इस लिये वर्तमान अपनी महिमा को महान् जान कर इन दोनों से न्यारा है। आगत और अनागत भेद से ही वर्तमान प्रसिद्धि को पाता है। परन्तु विचार में नहीं आता, इस कारण सूक्ष्म कहलाता है, अत एव इस का अभाव नहीं हो सकता, मानना ही पड़ेगा। भूतकाल का मनुष्य के जीवन के साथ साक्षात् के विना अन्य कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किसी ने आराम पाया, दूसरे ने दुःख उठाया, एक ने अच्छे वस्त्र पहिन कर अपने सौन्दर्य को दिखाया और दूसरे ने मलिन, जीर्ण कपड़ों से अपने को छिपाया। किसी ने अच्छा भोजन खाया किसी ने कन्द मूल से अपनी क्षुधा को मिटाया। जो समय बीत ही गया उस पर क्या अभिमान हो सकता है। अभिमानी केवल अपनी बेसमझी का ही परिचय देता है। किसी ने हंस कर दूसरों को हंसाया और दूसरे ने रो कर औरों को रुलाया। जैसे सुषुप्तिकाल सब के लिये समान है वैसे ही भूत काल के सुख दुःख का विधान है। भविष्यत् काल का मनुष्य के जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, यदि जीवन

रहे, अन्यथा भविष्यत् काल का जाल उस के लिये कोई भी फल नहीं ला सकता। अतीत काल तो वर्तमान का सहयोगी बन अनुकूल या प्रतिकूल वेदनीय द्वारा फलप्रद हो चुका है। भविष्यत् वर्तमान का वियोगी है उस का फलाभिमुख होना जीवन के सहारे ही होगा, जीवन के वियोग से उस का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। अब आप विचार करें कि वर्तमान काल का अन्वय सब के साथ सदा एक रस बना ही रहता है कि नहीं? यदि कोई पढ़ता है या पढ़ाता हैं, कोई उपदेश सुनता या सुनाता हैं, एक आसीन है दूसरा भागता है, अन्य कोई सुषुप्त है दूसरा जागता है, कोई समाधि लगाता है, किसी के वह विषय विचार में नहीं आता, किसी को मूर्खता ने सताया है दूसरे ने बुद्धिमत्ता में नाम पाया है, एक अपने जीवन को सुख से बिताता है दूसरा जीवन भर कष्ट उठाता है, कोई संसार को लाभ पहुंचाता है कोई अपने स्वार्थ में डूबा जाता है, किसी स्थान में किसी अवस्था में रहो समस्त जगत् वर्तमान में विद्यमान होगा। न तो वर्तमान जगत् को छोड़ सकता है न जगत् उस से सम्बन्ध तोड़ सकता है। इस से यह सिद्ध हो जाता है कि भूत और भावी की सत्ता काल्पनिक या व्यावहारिक है, केवल वर्तमान ही अपनी सत्ता में समान है। यह सूक्ष्मतम तत्त्व सर्वदा सब के साथ है परन्तु जानते नहीं। एवं तत्सदृश परमात्मा के साथ और सब परमात्मा के साथ हैं किन्तु इस को पहचानते नहीं। जिस को वर्तमान काल का ज्ञान होगा उस जिज्ञासु को परमेश्वर की पहिचान होगी। वर्तमान की दूसरे रूप में परिस्थिति—

विकलत्रिभागकलेति यावत् ॥३५॥

कालवित् पुरुषों ने काल के उस भाग को जिस का फिर कोई विभाग ही नहीं हो सकता क्षण कहा है। काल के इस सूक्ष्म अंश को वह नित्य कहते हैं। इस लिये समस्त संसार को जो रचना में आया है क्षणविध्वंसी कहा है, इस क्षण की मर्यादा में समस्त वस्तु परिणाम को पाती रहती है। यह क्षणभंग क्रम सर्वोत्पद्यमान वस्तुओं पर लागू तो है परन्तु सब की समझ में नहीं आता। प्रथम क्षण से वस्तु उत्पन्न, द्वितीय क्षण में स्थिर और तृतीय क्षण में आजीवन ह्रास को प्राप्त होती जाती है। इसी प्रकार ह्रास का उत्पत्ति में, उत्पत्ति का स्थिति में और पुनः स्थिति का ह्रास में परिवर्तन होते रहना अनिवार्य है। और अन्त में यह ह्रास उत्पत्ति में परिवर्त्तित न होकर विनाश के आधीन हो जाता है। अल्प वस्तु से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड इस क्षण मर्यादा की चाल में चल रहा है। धूम्रयान (रेलगाड़ी) में बैठे हुए मनुष्य उधर को ही जाते हैं जिधर को गाड़ी चलती है, एवं काल के इस क्रम का प्रत्येक वस्तु पर आतंक है। मिनिट, घंटा, रात्रि, दिवस, मास और साल काल के स्थूल भाग तो सब को प्रत्यक्ष हैं। क्षण का ज्ञान सूक्ष्म है इसका ही दूसरा नाम वर्त्तमान है। कार्यारम्भ से लेकर जब तक यह परिसमाप्त न हो उस समस्त कालपुञ्ज को वर्त्तमान ही कहते हैं, यथा वर्त्तमाम सृष्टि। यह पूर्वापर सृष्टि की अपेक्षा से वर्त्तमान मानी जाती है। वास्तव में इसमें भी वही क्रम काम करता हुआ दिखाई देता है जो मिनिट और घंटा में प्रतीत होता है। पृथिव्यादि चार पदार्थों के उस भाग को जो फिर

विभक्त नहीं हो सकता परमाणु कहा है। यह सर्वथा अंश है अंशी नहीं, यह स्वरूप सिद्ध है। परन्तु काल नित्य पदार्थ है, इसका सूक्ष्म भाग क्षण उपाधिकृत है वास्तविक नहीं ॥

अब परमेश्वर वर्त्तमान है—

परमात्मा सर्वेषामन्तरात्मा ॥३६॥

परमात्मा सबका अन्तरात्मा है। जो इसको जानता है जिसे इसका यथार्थ ज्ञान है वह महात्मा है। इस की प्राप्ति ही मनुष्यजीवन का मुख्य उद्देश्य है। यहां पर ही मनुष्य के पुरुषार्थ की परिसमाप्ति होती है। वेदादि सच्छास्त्रों का यह ही लक्ष्य है, उपनिषदों का यह ही संकेत है, दर्शन ग्रन्थ इसके ही दर्शन करा रहे हैं, विद्वान् इसके ही लाभार्थ सदुपदेश सुना रहे हैं। परन्तु जो सन्मार्ग को छोड़ कर उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करता है उसे वह प्राप्त नहीं होता। परमेश्वर सब जीवों का एकात्मा है। एकात्मवाद का सिद्धान्त इस नियम के आश्रित होकर चरितार्थ हो जाता है। एक आत्मा ही है अन्य कोई वस्तु नहीं यह नियम सन्देह को उठाता और संशय को बढ़ाता है। एकात्मा की स्तुति जो उपनिषदों में आई है इसकी महत्ता जो वेदों ने सुनाई है उसका तात्पर्य यही है कि आत्मा ही स्तुति करने के योग्य और मान का स्थान है, इसकी ही उपासना करने से जीवों का कल्याण है, इसकी यथार्थ पहचान से ही अभ्युदय का उत्थान है। यही पूज्य है और यह ही महान् है। इसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना मनुष्य का असली काम है, यह सब की परागति और परम धाम है। यह ही एक स्थिर स्वभाव, अविचल और अविकारी है इसकी शक्ति, इसकी

महिमा समस्त संसार से न्यारी है। यह स्वरूप से पवित्र और सदा सब का मित्र, इसकी न कोई मूर्त्ति ही है और न कोई चित्र। व्यापक होकर सर्वान्तर्यामी है। सब विश्व का यह ही एक स्वामी है। जगत् परिणामशील है यह ही एक अपरिणामी है। सब संसार का आधार है इसके प्रेम से ही सर्व वस्तु में प्यार है। जो इसको जानकर साक्षात् मान कर शरीर को छोड़ता है वह ही संसार से सम्बन्ध को तोड़ता है। यह जिस के विचार का विषय है वह उदार है दूसरा कृपण है, उसका जीवन संसार के लिए भार है। इसकी प्राप्ति के लिये जिन नियमों का विधान है उन के अनुष्ठान से मनुष्य समाज नीरोग, बलवान् और ज्ञानवान् हो जाता है। दरिद्रता से दूर, उचित सुख साधनों से भरपूर, पारस्परिक कलह के परित्याग और सद्व्यवहार से सब को अनुराग बढ़ जाता है। व्यर्थ राग द्वेश से मुक्त, न्याय-व्यापार से युक्त होकर सुख का प्रादुर्भाव और दुःख का तिरोभाव होकर मनुष्य का सदा प्रसन्न रहने का स्वभाव हो जाता है। मनुष्य समाज में बल, परमात्मा की ही कृपा का फल है। इस विचार से अभिमान की निवृत्ति और परोपकार करने में प्रवृत्ति हो जाती है॥

यदि वास्तव में एक आत्मा ही है तो शास्त्र किस के हितार्थ उपदेश दे रहे हैं। आत्मा तो अविद्यादि क्लेशों से रहित सर्वदा यथार्थ ज्ञान सहित है उस के लिये तो उपदेश उपयोगी नहीं। और अन्य कोई पदार्थ (जो उपदेश का अधिकारी हो) है ही नहीं अतएव सब उपदेश विफल और शास्त्र का विधान निष्फल है। जब उपासक ही नहीं है तब उपास्य हो ही नहीं

सकता। बिना वृक्ष के फल कभी नहीं होता। शास्त्र तो उपासना की रीति को सिखाता है शुभ कर्मों की नीति को बताता है। उपास्य और उपासक के भेद से तो यह उपासना की विधि चरितार्थ और कर्म फल की नीति यथार्थ हो जाती है, अन्यथा व्यर्थापत्ति दोष सामने आता और शास्त्र के शासन को मिटाता है। अनेक परिश्रम-साध्य संसार की रचना का ध्यान अति चतुर, बड़े बुद्धिमान्, व्यवहारकुशल पुरुषों की समझ में न आने वाले पदार्थों का निर्माण मनुष्य के अन्तःकरण में परमेश्वर के लिए सम्मान तो उत्पन्न करता है परन्तु एकात्मा की सत्ता का सद्भाव सत्तान्तर के सर्वथा अभाव से मन में सन्देह बढ़ाता है। उपास्य-उपासक और उपासना का भेद जगत् में प्रत्यक्ष है, एक के अभाव से अन्य का अभाव और एक के भाव में दूसरे का भाव तो स्वयं सिद्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष का विरोध करने में न शास्त्र की ही गति है और न बुद्धिमानों की मति है परन्तु कर्म कर्तृ विरोध सामने आकर यह समझाता है कि कर्म कभी कर्त्ता नहीं होगा और न कर्त्ता कभी कर्म हो सकता है, प्रत्युत कर्त्ता के आधीन कर्म और तदाश्रित फल को दिखाता है। आप विचार करें कि जिसने संसार को बनाया है क्या वह स्वयमेव संसार के रूप में आया है? वही एक शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और उनके फल स्वरूप सुख दुःख का भोक्ता है? स्वरूप से अविकारी होकर विकार में आना, अपरिणामी हो कर परिणाम में जाना, अविनाशी का विनाश, सर्वज्ञ के ज्ञान का ह्रास और व्यापक का ऐक देश में निवासादि उलझनों का सुलझाना अतीव कठिन होगा। सन्मार्गप्रदर्शकत्व-

शास्त्र का सिद्धान्त जाता रहेगा, मनुष्य समाज मनमानी कल्पनाओं के मैदान में गति बढ़ाता रहेगा। कौन बंधा हुआ है जो मुक्त होना चाहता है? इस को किसने सताया है? यह विचार में नहीं आता। नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव का स्वयं बन्धन में फंस जाना उस की अल्पज्ञता को जताता है। इस विरोधि बन्धन का परिहार कदापि नहीं हो सकता। यदि स्वभाव है तब तो उसका अभाव नहीं हो सकता। और यदि वह दूर हो जाता है तो वह स्वभाव नहीं बनता॥

ननु–पदार्थों के परस्पर मेल से किसी गुण का प्रादुर्भाव और दूसरे गुण का तिरोभाव तो देखा जाता है। यथा हल्दी और चूने के मेल से रक्तवर्ण उत्पन्न हो जाता है चूने ने अपने श्वेत वर्ण को और हल्दी ने अपने पीत वर्ण को त्याग कर रक्त-वर्ण को स्वीकार कर लिया है। एवं आत्मा भी अपने स्वभाव को छोड़ कर संसार के स्वरूप में आ जाता है यह प्रत्यक्ष दृष्टांत है—

समाधान–संयोगी पदार्थों का तो यह ही स्वभाव है कि वह परस्पर के मेल से रूपान्तर में हो जायें। यदि हो जाते हैं तो वह उनका स्वभाव होगा और यदि कोई अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता तो वह उसका स्वभाव होगा। ऐसा मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है जैसे प्रकृति का परिणाम में आकर संसार के रूप में हो जाना, और संसार का परिणाम में जाकर प्रकृति कहलाना उस का स्वभाव ही है। यह दोनों उदाहरण संयोगज और परिणामी पदार्थों की व्यवस्था में चरितार्थ होंगे। आत्मा तो एक है सर्वदा सर्वथा संयोग और

वियोग से रहित है पुनः उस में विकार की उत्पति कैसे हुई ? इस में कोई नियामक युक्ति चाहिए। अविकारी का विकार में आना, असंगी का संगी हो जाना, व्यापक का एकदेशी कहलाना, सर्वज्ञता में अल्पज्ञता का विधान, अतीन्द्रिय पदार्थ में विषयों का अनुसन्धान, निराकार में साकारता, ज्ञान स्वरूप में असमीक्ष्यकारिता, सर्वशक्तिमान् में बलहीनता, सर्वदा तृप्त आप्तकाम में दीनता, आनन्दस्वरूप में दुःखोत्पत्ति, सर्वोपद्रव रहित में विपत्ति, शुद्ध चेतन में ज्ञान का ह्रास, जड़ता का प्रकाश, और स्वयमेव जन्ममरण के बन्धन में आना अनेक प्रकार के कष्ट उठाना पुनः २ उस से छुटकारा पाना यह कैसी उधेड़-बुन है जिसका न कोई फल और न कोई गुण है ॥

ननु—अविद्याश्रित ब्रह्म का यह सब पसारा है।

ब्रह्मणि विद्याविधानात् अविद्या तत्र न वर्तते ॥२७॥

उपरोक्त कथन अयुक्त होने से ग्राह्य नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में सर्वदा विद्या का विधान है। उसके साथ अविद्या का योग कदापि नहीं हो सकता, यह वैदिकी मर्यादा है। आदित्य प्रकाश में अन्धकार का मानना अपनी अल्पज्ञता का ही परिचय देना है। अविद्या-अज्ञान-माया यह सब शब्द समानार्थक हैं। वैदिक सिद्धान्त में तो इन के अर्थों में बड़ा ही सौन्दर्य है। 'अविद्या' जो विद्या का स्थान नहीं। 'अज्ञान' जिस में ज्ञान का विधान नहीं—वह प्रकृति जगत् का उपदान कारण है उस में विषयतासम्बन्ध से तो ज्ञान रहता है, स्वरूप या अधिकरण सम्बन्ध से नहीं। 'माया' जिससे विविध पदार्थों का निर्माण किया जाता है वह माया प्रकृति है। उपनिषदों में परमात्मा

का मायी कहा है और वेदों में भी आया है। ऐसा मानने से यह शब्द समानार्थक हैं इन में कोई विरोध नहीं यदि माया-अविद्या-अज्ञान का अर्थ विपरीतज्ञान स्वीकार करें तो अनर्थापत्ति होगी। शुद्धनिर्मल ज्ञानप्रकाशस्वरूप ब्रह्म में अविद्या का योग कैसे हुआ ?

प्रथम विकल्प—अविद्या द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है तो पदार्थान्तर विद्यमान होने से एकात्मवाद सिद्धान्त की हानि होगी। यदि गुण है तो इस को किसी द्रव्य के आश्रित होना चाहिए। ब्रह्म के अतिरिक्त आप के सिद्धान्त में अन्य पदार्थ कोई नहीं है। अविद्या–विपरीतज्ञान सर्वदा ब्रह्म का तो गुण हो नहीं सकता, इस का आश्रय दूसरा द्रव्य आप स्वीकार नहीं करते, अतएव आप का सिद्धान्त ही स्थिर नहीं हो सकता और प्रत्यक्ष संसार का आप अपलाप कर ही नहीं सकते॥

द्वितीय विकल्प-ब्रह्म का संसार के रूप में परिवर्तन अविद्या के योग से हुआ अथवा परिवर्तन के पश्चात् अविद्या का योग हुआ ? भ्रम भूल से रहित शुद्ध सर्वज्ञ ब्रह्म में एकाकी अविद्या की उत्पत्ति या योग तो हो नहीं सकता। अल्पज्ञ के धर्म का सर्वज्ञ में कैसे समावेश होगा ! यदि ब्रह्म के स्वरूप में परिवर्तन होने के पश्चात् अविद्या का योग हुआ तो निष्फलत्वापत्ति की आपत्ति सामने आती है, अविद्या के योग से जो कार्य होना था वह उसके पूर्व से ही विद्यमान है॥

तृतीय विकल्प—अविद्या को यदि विद्याविरोधी पदार्थांतर कर्म स्वीकार करें जैसा श्री स्वामी शंकराचार्य्यजी ने ईशावास्योपनिषद् के व्याख्यान में विद्या को ज्ञान और अविद्या को कर्म

माना है, इस सिद्धान्त के आधार पर कर्म यथाशक्ति कर्त्ता के आधीन और फल भोगने में कर्त्ता पराधीन होता है यह निश्चित वाद है। यह तो हो सकता है कि परमात्मा संसार का कर्त्ता है परन्तु सर्वज्ञ होने से वह कर्मफल से सर्वदा मुक्त है। अतएव कर्त्ता होने से भी वह अकर्त्ता है। एकात्मवाद के सिद्धान्त में यह दोष आता है कि अनन्त प्राणी, सुख दुःख भोग भागी देखे जाते हैं और उनको सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक ही है। आप विचार करें–कि दुःख से कौन मुक्त होना चाहता है और सुख की लिप्सा में इधर उधर कौन जाता है? यदि यह मान लें कि वह ही एक आत्मा जो सर्वज्ञ था मायावश अपने स्वरूप को भूल कर सुख दुःख पाता है तो सर्वज्ञता की हानि और अल्पज्ञता की स्वयं प्राप्ति होती है। संसार में यह दृष्टचर नहीं है कि कोई साधारण शिल्पी शृंखला–हथकड़ी अथवा बेड़ी बना कर अपने ही हाथ पांव में डाल ले। स्वच्छ वस्त्र को स्वयं मलिन करके पुनः उस मलिनता को दूर करने का यत्न करे। कांटे को स्वयमेव लगा कर दुःख उठा कर पुनः उसे कांटे से निकाल कर सुख माने और अपने को पुरुषार्थी जाने। जब लौकिक पुरुषों में भी ऐसी व्यवस्था नहीं देखी जाती, तो पूर्णपुरुष सर्वज्ञ में ऐसी घटना का घटित होना तो ठीक प्रतीत नहीं होता। जो कर्म करता है वही फल भोगता है। संसारिक सुख तो दुःख से मिश्रित है और दुःख स्वरूप से दुःख ही है, अतएव मनुष्य का जीवन अनेक बाधाओं से घिरा हुआ है, यह जान कर जो दुःख से बचने का उपाय सोचता है वह सर्वज्ञ आत्मा से भिन्न वस्तु है। यही मानने में संसार के

स्वरूप का यथार्थ निरूपण हो सकता है अन्यथा नहीं ॥

चतुर्थ विकल्प—अविद्या ब्रह्म के किसी अंश में विद्यमान थी या सर्वांश में? अथवा वह अविद्या को स्वयं उत्पन्न करता है या इसकी इच्छा के विपरीत स्वयं उत्पन्न हो जाती है? यद्यपि ब्रह्म अखण्डव्यापक है उस में अंश मानना उपयुक्त नहीं तथापि किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए यह कल्पनामात्र है। अखण्ड एकरस ब्रह्म के किसी अंश में अविद्या के सद्भाव से उस की समानता की हानि होगी। सर्वांश में अविद्या की सत्ता को स्वीकार करने में विद्या के अभाव से ब्रह्म में जड़त्वापत्ति माननी पड़ेगी। अथवा विद्या और अविद्या दो विरोधिगुणों का एकाधिकरण समकाल में तो हो ही नहीं सकता इस का निवारण कैसे होगा? यदि ब्रह्म स्वयं अविद्या को उत्पन्न करता है तो इस में उसका कोई प्रयोजन होगा। साधारण पुरुष भी उद्देश्य को सामने लाए बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। ब्रह्म को आप्तकाम बताना और फिर उस में प्रयोजन को लाना सर्वथा विषम है। ब्रह्म विद्या का स्थान है, विद्या से अविद्या का निर्माण, प्रकाश से अन्धकार को बनाने के समान है, इस से ब्रह्म की महत्ता जाती रहती है, अतः अविद्या को उत्पन्न तो नहीं कर सकता, अब आप को कोई कारणान्तर बताना होगा। यदि अविद्या स्वयं किसी समय प्रकट हो कर ब्रह्म को भुलाती है तो दीनता दोष से ब्रह्म दूषित हो जाता है। इच्छा के विरुद्ध होना बलहीनता तथा पराधीनता को दर्शाता है ॥

पञ्चम विकल्प—यदि विद्या के अभाव को अविद्या कहें

तो किसी वस्तु के अभाव से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। क्या सर्प के अभाव ने किसी को काटा है? मास्टर का अभाव भी कभी किसी को पाठ पढ़ाता है? गायक या फोनोग्राफ के अभाव से कभी किसी ने गाना सुना है? तन्तुओं के अभाव से कभी किसी ने ताना बुना है? भोजन के अभाव से कभी कोई तृप्त हुआ है? अभिमत वस्तु के बिना कभी कोई किसी में लिप्त हुआ है? कदापि नहीं, यही उत्तर ठीक होगा। सर्वथा सर्वदा वस्तु सद्भाव से ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। कथंचित् कदाचित् कुत्रचिदपि अभाव से भावोत्पत्ति नहीं हो सकती॥

माया को सद् असद् और उभयविलक्षण मानने से तो कोई हानि नहीं है—

न वस्तुप्रत्ययाभावात् ॥३८॥

माया को सद् इस कारण से कहते हैं कि उस से संसार उत्पन्न होता है और ज्ञान के उदय होने से वह नष्ट हो जाती है अत एव असत् भी मानते हैं। ऐसी वस्तु की प्रतीति न होने से यह कथन आदरणीय नहीं। मेरे मित्र! वस्तुगत भ्रम, भूल, भ्रांति, सन्देह और संशय तो ज्ञान प्रकाश से दूर हो जाता है। क्या ज्ञान के सद्भाव में वस्तुसत्ता का भी अभाव हो सकता है? कदापि नहीं। विचार करें किसी पुरुष को अन्धतम में रज्जू में सर्प की भ्रान्ति, अन्य को तीव्र प्रकाश में शुक्ति स्थानीय रजत् की प्रतीति हुई। अधिष्ठानविशेष के ज्ञान से वस्तु आश्रित भ्रांति की निवृत्ति तो होगी, क्या वस्तु सद्भाव का भी अभाव हो जायगा? जिस प्रकार ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है उसी प्रकार भ्रम भी किसी वस्तु के ही आश्रित होगा अन्यथा नहीं। यथार्थ

बोध भ्रम-अज्ञान का तो शत्रु है उसको मिटा देता है, वस्तु को बिगाड़ने की उस में सामर्थ्य नहीं। भ्रान्ति से कोई वस्तु अन्यथा नहीं हो सकती, केवल भ्रान्त को उस से लाभ नहीं होता। अतएव अज्ञान दुःखोत्पादक और ज्ञान सुखवर्धक है। यदि माया ज्ञान से दूर हो जाती है तो उसका दूसरा नाम भ्रम या अज्ञान होगा और यदि उस से संसार की उत्पत्ति होती है तो वह द्रव्य हो सकता है। एक शब्द अनेकार्थ वाची. प्रकरण भेद से भिन्नार्थ का प्रतिपादक हो जाता है परन्तु आप जो माया का लक्षण करते हैं वह विलक्षण है, केवल आप के ही विचार का विषय बन सकता है, विचारशीलों को तो उसके मानने में कुछ संकोच ही होगा ॥

सत् और असत् इन दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय जिसकी निरुक्ति नहीं हो सकती ऐसा पदार्थ माया है ॥ ऐसा विलक्षणार्थ करने से आप का तात्पर्य क्या है? पता नहीं चलता। पूर्व सत् और असत् इन से निर्वचन किया पश्चात् अनिर्वचनीय कथन पूर्वापर विरोध से असंगत प्रतीत होता है। दो या अनेक वस्तुओं के मेल से जो वस्तु प्रकट होगी जिस शब्द से वह व्यवहार सिद्धि का हेतु बनेगी वही उसका निर्वचन होगा। जैसे ताम्र और त्रपु (जस्त) के परस्पर मेल से पीतल का व्यवहार होता है। अतएव माया का उपर्युक्त लक्षण ठीक नहीं जान पड़ता ॥

पाठक विचार करें कि वैदिकधर्म इस उलझन को किस प्रकार सुलझाता है। वेदों में परमात्मा का नाम मायावी अर्थात् माया का स्वामी है, माया और मायी इन दोनों का नित्य

सम्बन्ध है। इन्द्र सर्वैश्वर्य का स्वामी परमात्मा अपनी माया से पुरुरूप संसार का निर्माण करता है, इस स्थल में माया नाम प्रकृति का है, ज्ञानपूर्वक जिस विचारशक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उस प्रज्ञा का नाम भी माया है, और माया नाम छल कपट का भी है, अतएव जिस स्थान पर जो अर्थ उपयुक्त हो उसी अर्थ को वहां प्रयुक्त कर सकते हैं। निष्कर्ष–यदि माया संसार का उपादान कारण है तो इस से प्रकृति का बोध होगा, और यदि ज्ञान से वह दूर हो जाती है तो अज्ञान सहचारी छल कपट का नाम होगा। यदि किसी समय कोई कहे कि माया से कार्य सम्पादन करना चाहिए तो वहां माया नाम प्रज्ञा या बुद्धि का होगा। ऐसे सरल मार्ग को त्याग कर विपरीत मार्ग में जाना अच्छा नहीं॥

यह समस्त संसार वास्तव में नहीं है मिथ्या प्रतीति मात्र है, अतएव विवाद का स्थान ही नहीं॥

युक्तिविरोधात् कथनमग्राह्यम् ॥३६॥

यह संसार मिथ्या है—

प्रथम विचार– इस कथन में (संसार के अन्तर्गत होने से) सत्यता नहीं है। पुनः मिथ्या कथन से किसी वस्तु के अस्तित्व को प्रकट करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। यहां पर मिथ्या विशेषण और संसार विशेष्य पदार्थ है, जब स्वरूप से कोई पदार्थ ही नहीं है, तो उन दोनों का सम्बन्ध कैसे होगा और बिना इसके कौन किसका विशेषण और विशेष्य बनेगा यथार्थ बोध नहीं हो सकता। वस्तु सद्भाव में सम्बन्ध हो सकता है, अभाव में नहीं हो सकता यह जगत् प्रसिद्ध बात है॥

द्वितीय विचार-क्या आप मिथ्या विशेषण से प्रत्यक्षी-भूत संसार का निराकरण करते हैं अथवा उसके अस्तित्व का? यदि समस्त प्रपञ्च को मिथ्या कहते हैं तो प्रपञ्च उस का नाम है, जो पांचों इन्द्रियों से ग्रहण किया जावे। गुण गुणी के अभेद से जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस अर्थ का ग्रहण किया जाता है तद्वान् का भी उसी से प्रत्यक्ष होता है। अतएव द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों को महात्मा कणाद अर्थ ही मानते हैं। आपका वचन वाणी से प्रकट हुआ और दूसरे ने श्रोत्र द्वारा श्रवण किया। वादीतोषन्याय से यदि प्रपञ्च को मिथ्या भी मान लें तो आपका वचन सत्य हो जायगा, तब तो संसार के एकांश को सत्य मानने में (स्थालीपुलाकन्याय से) सर्वांश में सत्य को स्वीकार करना ही होगा, यदि आपका कथन मिथ्या है तो संसार मिथ्या नहीं हो सकता। यदि संसार के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करते हैं तो समस्त प्रपञ्च को अनित्य स्वीकार करना होगा मिथ्या नहीं। इस का कारण यह है कि मिथ्या नाम तो विपरीत ज्ञान का है। यथार्थ वस्तु स्वरूप को न जान कर वस्त्वन्तर का उस में भान होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है।

तृतीय विचार-क्या आप बता सकते हैं कि मिथ्या में रहने वाला मिथ्यात्व धर्म सत्य है अथवा मिथ्या? यदि मिथ्यात्व धर्म को सत्य मानें तो जिस का धर्म सत्य है वह धर्मी मिथ्या कब हो सकता है। कुछ विचार से काम लें। विदुषां वाग् विलासोऽपि जनता के लिए हितकर होना चाहिए। यदि मिथ्या विशेषण में मिथ्यात्व भी मिथ्या ही है तो विशेषण स्वयं असिद्ध हो जाता है। क्या कोई भ्रांत भी किसी के भ्रम का

निवारक हो सकता है ? कभी कोई बुद्धिमान् कीनाश (कृषक) उत्तम बीज को ऊषर भूमि में बो सकता है ? कदापि नहीं। एवं सत्ताशून्य विशेषण किसी भी विशेष्य को सत् या असत् सिद्ध नहीं कर सकता ॥

चतुर्थ विचार–विशेषण सजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति करने वाला होता है। समस्त प्रपञ्च मिथ्या है यह आप की प्रतिज्ञा है, इसको मिथ्या जान कर कोई प्रपञ्चान्तर (जो सत्य हो) मानना ही पड़ेगा। जब आप प्रत्यक्ष को ही असत्य बता रहे हैं तब तो अतीत और भावी जगत् आप के विचार का विषय बन ही नहीं सकता, विशेषण व्यर्थ हो जाता है प्रतिज्ञा स्थिर नहीं रह सकती। श्वेत रेवतीगुलाब का फूल गन्ध शून्य होता है। इस प्रतिज्ञा से यह सिद्ध हो जाता है कि इस से भिन्न रक्त पुष्प गन्धयुक्त होता है। ऐसे स्थल में विशेषण प्रतिज्ञा की रक्षा करता है। संसार मिथ्या है यह विषशेण प्रतिज्ञा का रक्षक नहीं, अतएव निरर्थक है, विशेषण विशेष्य विद्या अत्यन्त सूक्ष्म है, प्रत्येक वस्तु की यथार्थ परीक्षा इस से ही होती है ॥

यदि संसार मिथ्या नहीं है तो सत्य होगा ?

मिथ्यामननात् पुरुषार्थहानिः ॥४०॥

यदि संसार मिथ्या नहीं है तो क्या उस को सत्य कहना ठीक होगा ? नहीं । शास्त्र इस को सत्य नहीं कहता, मिथ्या स्वीकार करने में पुरुषार्थ की हानि होती है। वेदादि सच्छास्त्र अभ्युदय और मोक्ष प्राप्ति के निमित्त पुरुष को पुरुषार्थ करने की आज्ञा दे रहे हैं। पुरुषार्थ से कष्ट की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होती है। यह लोकसिद्ध बात है प्रत्यक्ष का अपवाद नहीं

हो सकता है। संसार को मिथ्या मान कर मन्ता की पुरुषार्थ करने में अरुचि हो जायगी, और इस के बिना जीवन नीरस हो कर कष्ट उठावेगा। मिथ्या मान लेने से भी क्षुधा से खिन्न मन भोजन से ही शान्त होगा, और दृष्टि के नष्ट हो जाने से गमन दूसरे के सहारे होगा। अतः जीवन में आने वाली असुविधाओं को पुरुषार्थ से दूर हटाना चाहिए। मिथ्या मान लेने से ही केवल काम नहीं चलता, जब तक इस कथन के अनुकूल व्यापार न हो। इस का होना अति दुर्घट है, यह कभी भी पूरा नहीं हो सकता। शरीर के साथ इस का धर्म रहेगा, इसको सहयोग देने वाले उपायों को हस्तगत करना ही होगा। मिथ्या मानने पर भी न्यूनाधिक भाव से भोगलिप्सा बनी ही रहती है। इस नियम के आधीन हो कर मनुष्यसमाज का जीवन पराधीन हो जाता है, पुरुषार्थहानि से संकट उठाता है॥

शास्त्र की दृष्टि में समस्त प्रपञ्च न मिथ्या ही है और न सत्य ही। मिथ्या मानने में शशशृङ्गवत् अवस्तु होना चाहिए और नित्य जानने में आत्मवत् सत् वस्तु स्वीकार करनी होगी। इन दोषों को दूर करने के लिए शास्त्र मिथ्या और सत् से पृथग्-भूत संसार को अनित्य बता रहा है। अनित्य उस को कहते हैं जो वस्तु एक समय में उत्पन्न हो कर कालान्तर में न रहे जैसे—जो फल वृक्ष में लगता है उस का कालान्तर में पतन होना अवश्यंभावी है। जो दीपक प्रज्वलित होता है उस को कभी शान्त होना ही होगा। जो पथिक जिस यात्रा का आरम्भ करता है उस की कभी समाप्ति होगी। यह नियम है कि जो कार्य वस्तु बनेगी वह बिगड़ने की शर्त्त पर ही बनेगी, उस को अल्प

काल की आवश्यकता हो या अधिक की, स्थायी कभी नहीं रह सकती। अतएव कार्य जगत् भी अनित्य है। यह स्थिर स्वभाव नहीं है॥

क्या संसार का अभाव हो जाता है ?

दृष्टनष्टस्वभावत्वात् ॥४१॥

जो कार्य दृष्टि में आता है वह कालान्तर में नष्ट हो जाता है। नष्ट अदर्शन को कहते हैं। किसी भी वस्तु का स्वरूप से अत्यन्ताभाव नहीं होता। इस का कारण यह है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह किसी न किसी रूप में अपने कारण में विद्यमान ही थी केवल अनुकूल सामग्री को पा कर वस्तु का प्रादुर्भाव या तिरोभाव ही होता रहता है, इस को ही उत्पत्ति या विनाश कहते हैं। इन में कोई विवादास्पद अधिक भेद नहीं है। कार्य जगत् कभी भी अपने इस स्वभाव को नहीं त्यागता, जो वस्तु स्वरूप से अनित्य होती है, उस को प्रवाह से नित्य होना ही चाहिए। हो कर न होना और न हो कर होने का नाम प्रवाह है। अत एव वैदिक सिद्धान्त में संसार को स्वरूप से अनित्य और प्रवाह से नित्य कहा है। कैसा सरल पथ है, इस पर न चल कर कण्टकाकीर्ण मार्ग में गति को बढ़ाना ठीक नहीं है। समय के परिवर्तन से मनुष्य समाज के विचारों में भी परिवर्तन होता रहता है, वह विचार कभी एकत्रित हो कर सिद्धान्त का स्वरूप स्वीकार कर लेते हैं। उन में कभी कोई संसार के लिये हितकर होते हैं और कालान्तर में फिर वह हानिकारक देखे जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र में तरंगों का आवेग बना रहता है उसी प्रकार मनुष्यसमाज में भी विचारों का उत्थान होता ही

रहता है । विरोधी तीव्र तरंगों के परस्पर आघात से भयंकर तूफान बन जाता है । एवं विरुद्ध विचारों के अभिघाताख्य संयोग से मनुष्यसमाज बड़ा ही कष्ट पाता है । संसार की बनावट से यह नियम अनिवार्य प्रतीत होता है। संसार का इतिहास इस का साक्षी है । व्यवसायात्मिक बुद्धिमान् पुरुषों (वह चाहे किसी देश या काल विशेष में क्यों न हों का लक्ष्यविन्दु एक ही होता है। उन का अभिमत विषय संसार का हित और मनुष्य समाज का सुख ही होता है। परन्तु ऐसे लोग अल्प ही होते हैं । अतएव फिर सिंहावलोकन न्याय से प्रकृत विषय का अनुसरण करना चाहिए ॥

पूर्व कहा गया है कि परमात्मा सब का अन्तरात्मा है—

स्वात्मन्येव परमात्मानं पश्यन्ति योगिनः ॥४२॥

परमात्मा व्यापक होने से सर्वत्र है, परन्तु उसकी उपलब्धि का स्थान अन्यत्र कहीं नहीं । अपने में योगी पुरुष परमेश्वर का दर्शन करता है। अन्तःकरण की पवित्रता मुख्य साधन है। मनुष्यों में योगी का स्थान सर्वोपरि है। इस से आगे मनुष्य का कोई कार्य शेष नहीं रहता । योग में चरितार्थ पुरुष कृतार्थ हो जाता है । जिस को प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति, दर्शनीय वस्तु के दर्शन हो जाते हैं उस को ही कृतार्थ कहते हैं। यह अलभ्य लाभ मनुष्य को तब ही होता है जब वर्तमान कालिक सुपुरुषार्थ, पूर्व शुभ संचित कर्म सहायक और परमेश्वर की कृपा होती है अन्यथा नहीं । अब विचारना यह है कि परमात्मा स्वरूप से कृपा का स्थान है, उस की कृपा सब पर समान है। मनुष्य उस के बनाने और बिगाड़ने में सर्वथा असमर्थ है। संचितकर्मों को

अदृष्ट कहते हैं वह दृष्टिपथ में कभी नहीं आते, मनुष्य नहीं जानता कि वह किस समय मेरी सहायता करने के लिये उद्यत हैं । अब इस के वश की बात (जिस में यह स्वच्छन्द और स्वाधीन हैं) पुरुषार्थ ही है, विचार पूर्वक निर्दोष पुरुषार्थ ही इस को करना चाहिये। परमात्मा ने जब पुरुषार्थ करने के सब साधन (जिन के बनाने में यह सर्वथा असमर्थ और अयोग्य था) दिये हैं तो उन को उपयोग में लाना इस का मुख्य काम है और स्वामी की आज्ञा का पालन करना इस ही का नाम है। पुरुषार्थ से संसार के सारे कार्य सुधर जाते हैं और कालान्तर में शुभ फल लाते हैं । आलस्य में जीवन बिताना उसे नीरस और फीका बनाना है, आलस्य सब दुःखों का मूल है, यह दरिद्रता के अनुकूल और ऐश्वर्य के प्रतिकूल है । ईश्वर प्राप्ति के लिये जो यत्न किया जाता है शास्त्र उस को परम पुरुषार्थ बताता है, पुरुष का जो अर्थ उस का नाम ही पुरुषार्थ है। यह लौकिक और पारलौकिक सुख का साधन है, इस के मन्द पड़ जाने से मनुष्य अनर्थ में ग्रस्त हो जाता है अत एव मनुष्य को पुरुषार्थी, उद्योगी और यत्नशील होना चाहिए ॥

पुरुष के अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण तीन दोष न्यूनाधिक भाव से बने ही रहते हैं। इन के दूर करने का उपाय शास्त्रों में विस्तार से कहा गया है। यद्यपि परमात्मा सब का अन्तरात्मा है यह वैदिक सिद्धान्त है, तथापि उपर्युक्त दोषों से दूषित मन के मेल से जीवात्मा उस का दर्शन नहीं कर सकता। इस विषय में भ्रम और भ्रान्ति बढ़ती ही जाती है। कोई निश्चित मार्ग हाथ में नहीं आता । जब काशी देश निवासी, गंगोतरी

दर्शनाभिलाषी पूर्वाभिमुख हो कर गमन कर रहा है तो यह उस का मनोरथ कैसे पूरा हो सकता है । विमल परमात्मा समल अन्तःकरण, से स्थिरस्वभाव ब्रह्म चंचल चित्त से, प्रकाशस्वरूप परमेश्वर अविद्यावृत मन से कैसे जाना जा सकता है ? यह अधिकारी तो है परन्तु अनधिकार चेष्टा कर रहा है । जब अधिकार लिप्सा गुणों के बिना हो रही है तो कार्य हानि में सन्देह ही क्या ?

मेरे मित्र ! आप को अन्तःकरण शुद्ध बनाने का यत्न करना चाहिए । पुनः आत्मा, और परमात्मा में दूरी नहीं । अशुभ कर्मों के करने और अनिष्ट चिन्ता के बढ़ने से मनुष्य के मन में मल की वृद्धि हो जाती है । जब अन्याय पूर्वक किसी का कर्म दूसरे के दुःख का कारण हो जाता है तो वह सब अशुभ कर्म कहलाता है। साधनहीन इच्छा के अधिक होने और व्यर्थ बातों में समय खोने से मनुष्य के अन्तःकरण में विक्षेप बढ़ जाता है। कुसंग के प्रभाव तथा सत्संग स्वाध्याय के तिरोभाव से मनुष्य में आवरण-अज्ञान अपना बल बढ़ाता है। इन तीन दोषों से दूषित मनुष्य परमेश्वर प्राप्ति से वंचित रहता है। अन्त में पश्चात्ताप करता हुआ परमेश्वर के न्याय से डरता हुआ असमय में मोह माया के जाल में फंसता हुआ प्राप्त शरीर को छोड़ कर शरीरान्तर धारण करता है। इस ब्रह्म-चक्र के आधीन समस्त प्राणी हैं कोई भाग्यवान् ही इस से मुक्त होता है ॥

इस के दूर होने का उपाय क्या है ?

नियतकारणादुच्छेदो दोषाणां ध्वान्त इव आलोकात् ॥४३॥

यथा अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश ही नियत कारण है। उपायान्तर कोई नहीं है, वह प्रकाश आदित्य का हो या विद्युत् का, दीपक को जलाओ अथवा गैस को लाओ, यह सिद्ध नियम है कि अन्धकार को हटाने के लिये प्रकाश का सहारा लेना ही पड़ेगा। एवं मल, विक्षेप और आवरण ये दोष हैं इनको दूर करने के लिए भी कोई नियत कारण होना चाहिए। अशुभ कर्मों के करने से मनुष्य के अन्तःकरण में मल की वृद्धि हो जाती है। कृत अनिष्ट कर्मों के लिए पश्चात्ताप-पूर्वक प्रतिपत्ती शुभ कर्मों का करना ही शास्त्र उपाय बता रहा है। जैसे कोष्ठ शुद्धि रसायन के पश्चात् ही प्रत्येक औषध रोग को दबाने और नीरोगता को लाने में समर्थ होती है अन्यथा नहीं, अत एव पूर्व अन्तस्थ मल को दूर करने से ही उपासना वलवती और फलवती होती है। इच्छा बाहुल्य से मन विक्षिप्त हो कर मनोराज को बढ़ाता रहता है। मन का स्थिर न होना, चंचलता का बढ़ते जाना आत्मदर्शन और परमेश्वर प्राप्ति में बाधक है। अत एव मनुष्य को दिन रात में न्यून से न्यून एक घण्टा चित्त-वृत्ति निरोध के अनुष्ठान और मन के एकाग्र करने में सावधान होना चाहिए। समाहित होना ही आत्मा के कल्याण का कारण है यह प्रेम से जानना और मानना ही चाहिए। इसका नाम ही उपासना है। यह विक्षेप दोष को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अब मल और विक्षेप के दूर होने से प्रभुभक्ति की लिप्सा उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। ऐसी अवस्था में जिज्ञासु उत्तम अधिकारी होकर अनेक पुरुषार्थों से अज्ञाना-

करण को (जो सब अनर्थों का बीज है) दूर हटाता है और कृत-कृत्य हो जाता है। ऐसे उत्तमाशय महाशय का जीवन प्राणिमात्र के हितार्थ होता है। अमुक वस्तु मुझे चाहिए ऐसी आशा निराशा में बदल जाती है। जब सब के सुख में अपना सुख मान लिया और समस्त को अपनी सत्ता के समान जान लिया, तो पुनः वहां अनिष्ट चिन्ता का काम ही क्या? अनिष्ट तो वहां होता है जहां स्वार्थ पंक का कलंक होता है, जिस का अन्तःकरण इस दोष से दूषित नहीं उस का सारा यत्न परार्थ ही होता है। समस्त जगत् ऐसे पुरुषों के लिए शुभागमन करता है, ऐसे ही महात्मा मनुष्य समाज को दुःख से बचाने और सन्मार्ग दिखाने के लिये आते हैं। जीवन भर सदुपदेश सुनाते और देहावसान में निर्वाणपद को पाते हैं॥

यह आलाप सुनने में तो सरल जान पड़ता है परन्तु दुर्गम है साधारण नहीं। विद्वानों ने इसको बड़ा ही तीक्ष्ण कहा है। अनुभवी पुरुषों ने भयप्रद बताया है। शास्त्र उपदेश सुनाता है कि मनुष्यो! उठो पुरुषार्थ करो, आलस्य में मत फंसो, जागो, निद्रा को त्यागो, समय अनुकूल है, माया का जाल, कुवासनाओं का जंजाल इदानीं यदि पूरी लग्न से मग्न होकर उद्योग करोगे तो वह निर्मूल है, चूक जाने पर फिर विधाता प्रतिकूल है॥

ज्ञान से अज्ञान दूर हो जाता है यदि उस को उपासना सहायक हो। उस उपासना से विक्षेप नष्ट हो जाता है यदि उस के शुभ कर्म सहकारी कारण हों। इनके सन्नियोग में सफलता और विप्रतियोग में विफलता है। इन नियमों के साथ ही

मनुष्यसमाज का उत्थान और कल्याण होता है जो इस के विपरीत जाता है वह अपमान सहता हुआ रोता है ॥

शुभाशुभ कर्मों का विवरण क्या है ?

इष्टानिष्टकर्मणां विभागो विचारार्थम् ॥४४॥

वेद प्रतिपादित कर्मों के सामान्यतया दो भेद हैं। एक को विधि और दूसरे को निषेध कहते हैं, विहित कर्मों के पालन करने से मनुष्य सुख को प्राप्त करता है, और निषिद्ध के त्याग से दुःख से बचता है। कभी दुःख को दूर हटाने और कभी सुख को हाथ में लाने के लिए ही प्राणीमात्र का पुरुषार्थ देखा जाता है। यह उधेड़बुन और खेंचतान सृष्टि काल से आरम्भ होकर अन्त तक चली जाती है। सुख की इच्छा करते हुए प्राणी दुःख पाते हैं। स्वाधीन होने की इच्छा से बन्धन में आते हैं। सत्पथ में जाने की लिप्सा है परन्तु भूल जाते हैं। यह सब अज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा संशय ज्ञान की महिमा है इस ने ही इस को भुलाया है, यह ही इस को बन्धन में लाया, थोड़ा सा हंसा कर बहुत रुलाया, यह शत्रु है मित्रवत् दिखाई देता है। छल है सरल जान पड़ता है, तस्कर है, साधु जाना जाता है, असभ्य है सभ्य समान माना जाता है, यह शुभ कर्मों से हटाता और अशुभ कर्मों में लगाता है, यह निर्लज्ज प्रत्येक स्थान में अपना बल बढ़ाता है परन्तु ज्ञान के आते ही मुरझा कर भाग जाता है यथा–किसी पर्वत की गुफा में सहस्रों वर्षों से अन्धकार विद्यमान हो वहां प्रकाश के होने पर (वह यह नहीं कहता कि मैं बहुत समय से यहां रहता हूं कुछ काल के पश्चात् जाऊंगा) तत्काल ही दूर हो जाता है। एवं ज्ञान के

उदय होने से अज्ञान अपनी सत्ता को खो देता है। ऐसा होना ही चाहिए, इस का कारण यह है कि ज्ञान सामग्री सहित है और वह इस से रहित, इस को शास्त्र का बल है वह निर्बल है, वह प्रकाश है और यह अन्धकार। अज्ञान लोगों को धोके में लाता है और ज्ञान इस से बचाता है। अज्ञान दानादि शुभ कर्म करने से नहीं जाता और न पढ़ने पढ़ाने से ही दूर होता है, इन का फल भिन्न होगा। कितना भी शुभ कर्म करो अज्ञान अपनी परिस्थिति को नहीं बदलता, इस के दूर करने के लिए तत्वज्ञान का सहारा लेना ही सर्वोत्तम है॥

कर्मों की विशेष व्याख्या आगे की जावेगी—

दूरात् सुदूरे अज्ञानिनां ज्ञानवतां सन्निकटमेव ॥४५॥

परमात्मा व्यापक है सदा सब को प्राप्त है कोई वस्तु उस से, अथवा किसी वस्तु से वह किसी काल में भी पृथक् नहीं हो सकता। व्याप्य और व्यापक भावसम्बन्ध या साधर्म्य से जीवात्मा या कार्यकारण जगत् से उसका अभेद है। स्वरूप सम्बन्ध या वैधर्म्य से उसका भेद है। शास्त्र ऐसा बताता है और विचारने से यह ही बुद्धि में आता है। एकदेशी वस्तु में देश की दूरी और उत्पद्यमान वस्तु में काल की दूरी सार्थक होती है। व्यापक वस्तु देश, काल परिच्छेद से रहित और अयुत सम्बन्ध के सहित होती है, व्यापक वस्तु के नित्य होने से देश और काल के विभाग का प्रचार उसमें नहीं हो सकता। केवल उत्पद्यमान वस्तु में देश काल का बल व्यक्त होता है। व्यापक वस्तु सब का आधार होती है। समस्त आधेयवर्ग उसके ही गर्भ में रहता है अत एव आधाराधेय भाव सम्बन्ध

नित्य है। वह सब में है और सब उस में हैं, सृष्टिक्रम के विचारने से यह सिद्ध हो जाता है कि कोई पदार्थ किसी की अपेक्षा स्थूल और किसी की अपेक्षा सूक्ष्म है, परन्तु जहां सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है वह सूक्ष्मतम है इसके गुण सब पदार्थों में अनुगत होते हैं। स्थूल पदार्थ सूक्ष्म की गति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। उस के गमन के लिए वहां अवकाश है। आकाश व्यापक और सूक्ष्म पदार्थ है, उस के शब्द गुण का समावेश सर्व पदार्थों में अशेष रूप से समान विद्यमान है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु में जो शब्दस्वरूप में कुछ भेद प्रतीत होता है वह पदार्थान्तर के मेल जोल से उपाधिकृत है, वास्तविक नहीं ॥

प्रश्न—उपनिषदों में आत्मा से आकाश की उत्पत्ति मानी है। पुनः आकाश व्यापक है इस प्रतिज्ञा की तो हानि हो जाती है। इस का कारण यह है कि उत्पद्यमान वस्तु व्यापक नहीं हो सकती। यह शास्त्र का सिद्धान्त है ॥

उत्तर—नहीं, आकाश की उत्पत्ति औपचारिक है वास्तविक नहीं। प्रलयावस्था में जब समस्त स्थूल पदार्थों के परमाणु हो जाते हैं, वह परिमण्डल अर्थात् गोलाकार होते हैं। चार परमाणुओं की परिस्थिति में एक परमाणु के समान अवकाश होता है। जैसे चार राई के दानों को जब चतुष्कोण मिलाओगे तो एक राई के दाने के समान अवकाश पाओगे, जैसे चलनी के छिद्र होते हैं उसी प्रकार सर्वत्र अवकाश जो आकाश का ही सूक्ष्म स्वरूप है प्रतीत होता है वास्तव में नहीं, स्थूल पदार्थों के मध्य में अवकाश स्थूल सा और सूक्ष्मपदार्थों के

मध्य में सूक्ष्म सा प्रतीत होता है, असल में नहीं है। अवकाश दातृत्व आकाश का धर्म दोनों अवस्थाओं में तुल्य ही है। ऐसी अवस्था में आकाश की यथार्थ उत्पत्ति मानना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। इसे दृष्टान्त से समझें–यथा–किसी अल्प स्थान में अधिक पुरुष संकोच से उपस्थित हों इतने में वहां कोई सभ्य पुरुष आकर स्थानाभाव से खड़ा ही रहे तो यह देख कर कुछ लोगों ने सरकना शुरु किया और कहा कि महाशय! आइए स्थान निकल आया है, वह वहां जाकर बैठ जाता है। अब आप विचार करें कि स्थान तो विद्यमान ही था केवल इधर उधर सरकने से उस की उत्पत्ति सी मानी जाती है वास्तव में नहीं। ऐसा ही आकाश के विषय में जानना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि अनेक पदार्थों की सत्ता से एक आकाश में अनन्त अवकाश देखें तो आकाश अनन्त प्रदेशी भी उपचार से ही कहा जाता है वास्तव में नहीं। व्यापक वस्तु में कोई वास्तविक प्रदेश नहीं होता। परमात्मा की व्यापकता और सूक्ष्मता ध्यान में आ जावे इस लिए यह उल्लेख किया॥

अब प्रकृति विषय का उल्लेख किया जाता है। अज्ञानी पुरुष परमात्मा के स्वार्थ स्वरूप को न जान कर बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उस को बाह्य देखना चाहता है, इस प्रकार का विपरीत प्रयत्न उत्तरोत्तर उसके मन में भ्रम को ही बढ़ाता है। भ्रम ही संसार का मूल है, यह जन्म मरण के जाल को दृढ़ बनाता है, ऐसे पुरुष के लिए वह दूर से दूर हो जाता है, अर्थात् कदापि उसको प्राप्त नहीं होता। बाह्य प्राकृतिक जगत् को जीवात्मा इन्द्रिय और मन के योग से अनुभव करता है जब परमात्मा

किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है तो उसके जानने का कोई उपायान्तर अपेक्षित होगा। विपरीत मार्ग में गमन करने वाला मनुष्य थक जाता है और उस के हाथ कुछ नहीं आता। वह परमात्मा विचारशील जिज्ञासु-जनों के लिए समीप से समीप अर्थात् सन्निकट है। वह उसको यथार्थ रूप में जहां उसकी उपलब्धि होती है वहां ही जानने का यत्न करता है। यथार्थ मार्ग में आगे बढ़ना, विचार से कार्य करना, मनुष्य को समर्थ बनाता और लक्ष्य तक पहुंचाता है। परमात्मा को इन्द्रियातीत कहा है, जब जीवात्मा इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध को त्याग कर केवल एकाग्रवृत्ति से अन्तर्मुख हो जाता है तब परमात्मा का साक्षात्कार करता है, और जब मन बाह्य विषय-संग-रहित होकर स्थिर स्वभाव हो जाता है तो अपने स्वरूप को अनुभव में लाता है। तत्काल समस्त पंच प्रपञ्च का जाल जो विकराल रूप से खड़ा था उसके लिए नष्ट भ्रष्ट होकर दग्धरज्जु के आकार के समान निःसार हो जाता है। दृष्टिपथ में तो आता है परन्तु कुछ काल के पश्चात् वह भी अदृश्य हो जाता है। यहां पर सारांश यह निकलता है कि मनुष्य को यह स्थान ज्ञान की शरण लेने से ही मिलता है अन्यथा नहीं। अतएव यह कहना कि वह ज्ञानियों के समीप है और अज्ञानियों के लिए दूर है ठीक ही जान पड़ता है। दूसरी बात यह ध्यान में लाने योग्य है कि आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर परमात्मा का दर्शन होता है। उपायान्तर कोई नहीं। वैदिक मर्यादा इसी मार्ग को ही दर्शाती है। उपनिषद् शैली इस उपदेश को सुझाती है। दार्शनिक विचारकों ने यही मार्ग बताया है और प्रकृत साधुपद

वाच्य सन्तों ने यह ही उपदेश सुनाया है कि परमात्मा सब का अन्तरात्मा है यह निश्चित सिद्धान्त ठहराया है ॥

प्रतिमापूजन के पक्षपाती ऐसा कहते हैं कि बिना किसी सहारे के ध्यान कैसे होगा ?—

बाह्याभ्यन्तरभेदात् ध्यानं द्विविधम् ॥४६॥

प्रथम विचार—जब तक कोई लक्ष्य सामने नहीं आता तब तक ध्यान नहीं हो सकता इसी कारण पुराकाल से प्रतिमा की स्थापना हुई ।

द्वितीय विचार—परमात्मा नीरूप पदार्थ होने से ध्यान का विषय नहीं हो सकता । यदि प्रतिमा का सहारा न लिया जावे तो परमेश्वर-प्राप्ति जो मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य है उस से मनुष्यमात्र वंचित रहेगा और यदि कोई उपायान्तर सामने लाया जावे तो प्रतिमापूजन में ही क्या हानि है ?

तृतीय विचार—यदि मनुष्य सांसारिक कार्यों में कुछ अनिष्ट चिन्ता करता भी है तो देव स्थान या मन्दिरों में जाने से उसका मन कुछ काल के लिए पवित्र होता ही है ।

चतुर्थ विचार—जब सायं प्रातः अपने कार्य से निवृत्त होकर जनसमुदाय मन्दिरों में जाता है तो यदि किसी पुरुष का किसी से वैमनस्य हो गया हो तो दूसरे उसको दूर करने और मेल बढ़ाने का यत्न करते हैं । यह कितना लाभ है ॥

पञ्चम विचार—जब परमात्मा सर्वत्र विराजमान है तो जिस में इसका प्रेम है यदि उसी को लक्ष्य बना कर ध्यान में लावेगा तो वह इस को परमेश्वर तक पहुंचावेगा । कारण कि परमात्मा अनायास स्वयं सिद्ध तो वहां विद्यमान हो है । अत

एव ध्यान का सहारा प्रतिमापूजन है ॥

प्रथम विचार का उत्तर—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से ध्यान दो प्रकार का है। प्रथम यह कि यह समस्त संसार एक चित्र है इसका निर्माता परमात्मा पवित्र और बड़ा ही विचित्र है। चित्र और चित्रकार का उत्पाद्योत्पादक भाव सम्बन्ध है, चित्र सर्वदैव अपने मौन स्वभाव से चित्रकार की ओर संकेत करता है। यह संसार जो बना हुआ है इसके दर्शन से मनुष्य के विचार में बनाने वाले का ही ध्यान आता है। यदि यह प्रश्न हो कि इस संसार की रचना किस ने की है ? तो इसके उत्तर साधारणतया यह ही हो सकते हैं ॥

प्रथम—यह संसार स्वतः सिद्ध है इसका बनाने वाला कोई नहीं ॥

द्वितीय—सूक्ष्मभूत परमाणु आदि पदार्थ एक दूसरे से मिल कर संसार के रूप में आजाते हैं और कभी पृथक् होकर उस परिदृश्यमान जगत् को मिटाते हैं ॥

तृतीय—अनन्त ब्रह्माण्ड में ज्ञानपूर्वक रचना के देखने से ऐसे ज्ञाता विधाता का बोध होता है जिसका ज्ञान सदा एकरस पूर्ण है। "सावयव वस्तु स्वयं सिद्ध होती है" यह कथन सृष्टि-क्रम के नियम का विरोध करता है अतएव अमान्य है। परस्पर विपरीत धर्मवान् परमाणु मिल कर संसार के निर्माण का कारण हैं, यह युक्ति विचारतुला पर पूरी नहीं उतरती। आप विचार करें क्या परमाणुओं में संसार बनाने की इच्छा हुई थी ? यदि ऐसा है तो इच्छा का सहचार ज्ञान के साथ होने से वह जड़ नहीं रहते, ज्ञाता बन जाते हैं, ऐसी अवस्था में नाम

भेद से तो कोई विरोध नहीं है। तुम उसको परमाणु कहते हो, कोई उन को चेतन कहता है अविरोध ही है। यदि वह सर्वथा चेतनतारहित जड़ ही हैं तो आप बताएं कि कोई भी जड़ वस्तु मिल कर विना चेतन की सहायता के चेतन के बन्धन का कारण बन सकती है? एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिलता। हां चेतन की सत्ता के साथ मिल कर प्रपञ्च को खड़ा करके इस के सुख दुःख का कारण तो हो सकती है। अत एव युक्तिहीन उक्ति, कि जड़परमाणु मिल कर संसारनिर्माण के हेतु हैं आदरणीय नहीं। अब शेष यह ही रह जाता है कि निर्मित वस्तु का निर्माता, समकाल में समस्त सूक्ष्म, स्थूल पदार्थों का ज्ञाता ही संसार का बनाने वाला सिद्ध होता है। अतः संसार की रचना को देख कर उस के रचयिता का साधारण बोध होना बाह्य या स्थूल ध्यान कहलाता है, प्रतिमा को सामने किसी स्थान में धर कर यदि ध्यान करेंगे तो वह चित्र जिस ने उसकी रचना की है उस कारीगर की कारीगरी को ही प्रकट करेगा यतः उसके साथ ही उस का सम्बन्ध है। इस लिए तो लोग यह प्रश्न करते हैं कि यह मूर्त्ति बड़ी सुन्दर है कहां से मंगाई है? वह पुरुष बड़ा ही बुद्धिमान् है जिसने इस को बनाया। यह चर्चा सिद्ध करती है कि कोई भी मूर्त्ति ध्यान का साधन नहीं हो सकती। यदि हठ से करोगे तो तुम्हारी वृत्ति का सम्बन्ध उस मनुष्य से होगा जिसने उसको बनाया है जिस से किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता, केवल मिथ्या विश्वास का बल बढ़ेगा और पुरुषार्थ की हानि होगी। भारत-वर्ष इस का उज्ज्वल दृष्टान्त है॥

शंका—संसार के दर्शन से भी तो मनुष्य को परमात्मा का ध्यान नहीं आता। सदा ही मनुष्य इस को देखते हैं पुनरपि इस लाभ से वंचित ही रहते हैं। इस से यह कथन मिथ्या प्रतीत होता है।

समाधान- बनी हुई वस्तु बनाने वाले को जताती है यह सिद्ध हो चुका है। संसार का निर्माता मनुष्य तो कोई हो नहीं सकता यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। परन्तु संसार के विचार से परमेश्वर का ध्यान नहीं आता इसका कारण है। जो कोई वस्तु या चित्र बेडौल बेढब और बेढंगा वा निकम्मा है जिस में रचना और सौंदर्य की कोई भी आभा नहीं है वह अपने बनाने वाले की मुर्खता अयोग्यता और विचारहीनता को तुरन्त ही प्रकट कर देता है। द्वादशवर्षीय बालक भी उसका अवलोकन करके यह कह देता है कि किस बेसमझ ने इसको बनाया है? इसकी रचना से तो उसकी अज्ञानता ही सिद्ध हो रही है। परन्तु यदि चित्र विचित्र, सौन्दर्य पूर्ण, मनोहारी हो तो वह दर्शक की मनोवृत्ति को रचना के प्रकार में ही घेर लेता है बाहर जाने नहीं देता। मनुष्य का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध है और उन के विषयों का संसार में बड़ा ही प्रसार है, विषय और इन्द्रिय के संयोग से मनुष्य का मन व्याकुल हो जाता है। बुद्धिमान् भी अबोध बालक के समान कभी हंसता और कभी रोता है। यह दोष उस की दर्शनशैली में है। संसार की रचना तो उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा को सर्वदा सिद्ध कर रही है। दृष्टान्त से आप समझें—किसी जंगल में तीन पुरुष उपस्थित हैं। उन के सामने एक मृग बड़ा ही सुन्दर उछल कूद करता

हुआ निकला, एक के मन में उस के मांस को खाने की रुचि उत्पन्न हुई। दूसरे को यह लिप्सा हुई कि यदि उस के सींग मिलें तो अपने कमरे की खूटियों के स्थान में लगावें, मृग चर्म को वहां बिछावें अथवा हैण्डबैग बनावें। इस का चर्म ही सुन्दर है। तीसरा कहने लगा परमेश्वर! तेरी महिमा महान् है आप को रचना का पूर्ण ज्ञान है, कैसे सुन्दर सुडौल दर्शनीय मृग को बनाया है कि जिसकी शोभा से जंगल भी शोभा का स्थान बन गया है॥

मित्र! विषय वासनाओं का जाल बड़ा ही विकराल है, इसके बन्धन में बंधा हुआ पुरुष सदा ही बेहाल है, इस कारण इस की मनोवृत्ति परमेश्वर को नहीं पहचानती। संसार की रचना तो परमात्मा को सदा ही प्रकट कर रही है। इन तीनों पुरुषों में से एक ने संसार की वस्तु को यथारूप में देखा है और दो ने विषयाधीन होकर वस्तु को परखा है। इतना ही भेद है। सिंह और श्वान का दृष्टान्त है—सिंह को यदि कोई गोली लगाता है तो वह झपट कर गोली चलाने वाले पर आक्रमण करता है और श्वान का यह स्वभाव है कि यदि कोई उस पर ईंट या पाषाण चलाता है तो वह मुख फाड़ कर ईंट की ओर दौड़ जाता है। ज्ञानवान् पुरुष संसार रचना को देख कर परमात्मा का ध्यान करता है और अज्ञानी मनुष्य आजीवन सांसारिक विषयवासनाओं में डूबा रहता है। मूर्त्ति न तो ध्यान का साधन ही है और न उस से कभी यह लाभ ही हो सकता है, इसको स्थूल या बाह्य ध्यान कहते हैं। जगत् की रचना मनुष्य को हर समय उपदेश देकर सन्मार्ग में चलना ही

सिखाती है। यदि इसका नेत्र कुछ खुला हो इस में ध्याता, ध्यान, और ध्येय बने रहते हैं। द्वितीय ध्यान–सूक्ष्म या आभ्यन्तर कहलाता है। मनुष्य का अन्तःकरण जब सर्वथा वृत्तिशून्य हो जाता है उसको ध्यान कहते हैं। उस काल में एकाग्रवृत्ति द्वारा सांसारिक विषयातीत परमात्मा के ही दर्शन होते हैं। ऐसी दशा में संसार की कोई भी वस्तु परिणामी होने से चित्तवृत्ति को एकाग्र नहीं कर सकती। परमात्मा एक है केवल वही जिस वृत्ति का विषय हो उसको एकाग्र कहते हैं, और जितने समय तक वह दशा बनी रहे उस का नाम ध्यान है। दोनों प्रकार का ध्यान प्रतिमापूजन से सिद्ध नहीं हो सकता। मनुष्य समाज ने सच्ची साध्वी वैदिक मर्यादा को भुला कर केवल मिथ्या कल्पना करके हानि ही उठाई है॥

दृष्टान्त से समझें–सम्प्रति विज्ञान का बल है। भारतवर्ष इस में कुछ पीछे है अतएव निर्बल है, विज्ञान में दिनोदिन वृद्धि हो रही है इस के चमत्कारों ने संसार को चकित कर दिया है। सागर में बड़े २ विशालकाय स्टीमर सदैव यात्रा करते रहते हैं। वैज्ञानिकों ने यात्रा को सरल और सुगम बनाने के लिये अनेक प्रकार के यन्त्रों का निर्माण किया है। उन में से एक कम्पास (कुतुब नुमा) या मार्ग-प्रदर्शक यन्त्र बना हुआ है, उस की सुई हर समय ध्रुव तारे की ओर स्थिर बनी रहती है। यदि उस सुई को एक दूसरी ओर घुमा दिया जावे तो वह गति करती हुई ध्रुव की ओर जा कर फिर ठहर जाती है। शुक्र, मंगल आदि ग्रह तो अनेक थे फिर विज्ञान ने इस यन्त्र का सम्बन्ध ध्रुव से ही क्यों जोड़ा? इस का कारण यह है कि जितने ग्रह

हैं वह सब गति में रहते हैं। केवल ध्रुव ही एक स्थान में स्थिर हो कर गति करता है शेष सब ग्रह स्थान को छोड़ देते हैं। यदि ध्रुव से अतिरिक्त किसी अन्य ग्रह से उस यन्त्र का सम्बन्ध होता तो सूई कदापि स्थिरता न होती ॥

पुनः रात्रि में गति करने वाले जहाजों को मार्ग का ज्ञान कैसे होता ? अत एव यन्त्र की सुई को स्थिर करने के लिये स्थिर मरकज़ की ही आवश्यकता हुई। आप दृष्टांत से दार्ष्टांत पर विचार करें कि मनुष्य का शरीर तो एक घटी यन्त्र और उस में मनोवृत्ति सुई के समान है। परमात्मा स्थिर स्वभाव ध्रुव के तुल्य है । अब मनोवृत्ति का जब अचल परमात्मा के साथ अन्वय होता है तब ही वह स्थिर हो जाती है शेष समस्त संसार चलायमान है, इस की किसी भी वस्तु के साथ सम्बन्ध करने से वृत्ति चंचल ही रहती है, वह कभी भी स्थिर नहीं हो सकती । अत एव मूर्त्तिपूजन ध्यान करने का साधन किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

द्वितीय प्रकार का विचार—परमात्मा रूपरहित होने से इन्द्रियों का विषय तो हो ही नहीं सका । यह सत्य ही है। साध्य वस्तु को सिद्ध करने के लिये अनुकूल साधन की आवश्यकता होती है । विपरीत या प्रतिकूल उपाय साध्य-सिद्धि का हेतु नहीं बन सकता। अनुभावक तो चेतन आत्मा ही है । उस को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि स्थूल विषय और तज्जन्य सुख को अनुभव करने के लिये मन और इन्द्रियों की सहायता लेनी ही पड़ती है अन्यथा किसी वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता । नेत्रहीन को रूप का, बधिर को शब्द का

इन्द्रिय-विकलता के कारण बोध नहीं होता । प्रत्यक्ष देखने में आता है कि यह व्यवस्था स्थूल जगत् की है। यदि जीवात्मा को स्थूल पदार्थों के गुणों या इस जगत् के कारण (सूक्ष्म भूतादि पदार्थों) का बोध करना हो तो इन्द्रिय सम्बन्ध रहित आत्मा का कारण मन ही होगा । अन्तःकरण में इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति विद्यमान ही होती है। स्वप्न इसका साक्षी है। अब यदि आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार करना हो तो इस अवस्था में मन के योग की भी कोई आवश्यकता नहीं, केवल शुद्ध पवित्र आत्मा को ही उस महान् प्रभु का ज्ञान होता है। आप ने देखा होगा कि घटिका यन्त्र बनाने वाला उस के स्थूल पुर्जों को हाथ से पृथक कर देता है, और जो सूक्ष्म होते हैं उन को किसी करण (औज़ार) से पृथक करता है और जो कोई पुर्ज़ा घड़ी का उस से भी बारीक होता है उस को नेत्र पर गिलास लगा कर देखता और स्वच्छ करता है । ठीक इसी प्रकार स्थूल जगत् इन्द्रिय और जगत् का सूक्ष्म कारण मन के द्वारा जाना जाता है, अब नीरूप परमात्मा का जिज्ञासु जीवात्मा स्वयं नीरूप है दोनों का अति सांनिध्य है मध्य में कोई आवरण नहीं। ऐसी दशा में मूर्त्ति को ध्यान का साधन बताना सर्वदा सर्वथा सदा मिथ्या व्यापार है। इस पद की प्राप्ति के लिये प्रथम-विचार से इन्द्रियों को सन्मार्ग में चलाना तदनन्तर मन को सत्संग से उज्ज्वल और पवित्र बनाना पश्चात् स्वाध्याय और परमेश्वर प्रेम की लग्न में मग्न हो कर आत्मिक बल को बढ़ाना होता है । इस सत्पथ को त्याग कर मूर्त्तिपूजन का विपरीत मार्ग अङ्गीकार कर के आर्य जाति ने जो हानि उठाई है वह अकथनीय है।

भारतीयप्रजा ने मिथ्या विश्वास के आधीन होकर जगन्नियन्ता परमात्मा को विस्मरण कर के मनमानी अधूरी कल्पनाओं को अन्तःकरण में धर, समस्त जगत् के आगे पूज्य बुद्धि से अपने सर को झुकाया। इससे उत्तरोत्तर खेद बढ़ता ही गया छुटकारा नहीं पाया। भूल से जो कार्य किया जावेगा उस का परिणाम अच्छा कैसे होगा? विपरीतकारिता से आत्म बल का, विचार हीनता से सामाजिक शक्ति का इतना ह्रास हो चुका है कि उन अनुचित प्रचलित नियमों को, अयुक्त रीति रिवाजों को जो प्रतिदिन क्लेशप्रद सिद्ध हो रहे हैं नहीं त्याग सकते। जानते हैं प्रत्यक्ष देखते हैं फिर भी लापरवा हैं यह सब अज्ञान का महात्म्य है॥

तृतीय प्रकार की परीक्षा—अनिष्ट चिन्ता करना उचित ही नहीं। यदि स्वभाववश हो जावे तो उस का निवारण भविष्यत् के लिये पश्चात्ताप करने से तो हो सकता है। मन्दिर बनवाना, वहां सायं प्रातः जाना तो इस का कोई उपाय नहीं हो सकता। ऐसे विपरीत विचारों से तो अशुभ कर्मों के करने में अधिक प्रवृत्ति हो जाती है, यह शरीर के ऊपर की मलिनता नहीं जो जल स्नान से दूर हो जावे। अशुभ विचारों से तो मनुष्य का अन्तःकरण दूषित हो जाता है वह ऐसे व्यर्थ बाह्य और अधूरे उपायों से कैसे शुद्ध होगा। सब देवों का देव होने से परमात्मा का नाम महादेव है। यह सब ब्रह्माण्ड उस की रचना और निवासस्थान है इस लिये यह उस के महत्त्व का सूचक है। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्ववित् होने से प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण की व्यवस्था को भली प्रकार जानता है। उस से

तो कोई भी अपना भेद छिपा नहीं सकता ॥

जिस पुरुष ने कोई भी इष्टानिष्ट चिन्ता की है वह स्वयमेव उसको जान कर हर्ष विषाद को प्राप्त होता है। सन्मार्ग प्रदर्शक होने से विद्वानों का नाम भी देव हो सकता है। यदि किसी ने यथार्थ में दोष किया हो तो उसके प्रकट होने पर (सामाजिक व्यवस्था के बिगड़ने से) उन विद्वानों को ग्लानि, और करने वाले के लिए लज्जाजनक और उसको दुःखोत्पादक हो सकता है, अत एव उक्त तीन नियमों को समक्ष रखकर शुभ कर्मों का अनुष्ठान और अनिष्ट कर्मों का त्याग ही साधु है। प्रकृत विद्वानों के हितोपदेश से मनुष्य समाज अहित मार्ग को छोड़ देता है अत एव जिस स्थान में विचारशील पुरुष उपस्थित होकर जनता के हित की चिन्ता करते हैं वही यथार्थ में देवस्थान हैं। इसके विस्तृत होजाने में बड़ा ही लाभ होता है। नगरों के नगर देशों के देश देवस्थान संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं। यथार्थ मर्यादा में जनता का गमन सांसारिक सुख का एक मात्र कारण है, किसी स्थान का निर्माण कर के उस में प्रतिमा की स्थापना से कोई भी देवस्थान नहीं हो सकता। यह साधारण पुरुषों के विचार का विषय तो हो सकता है। वह स्वयं प्रज्ञ नहीं होते, दूसरों की वार्त्ता को श्रवण कर के कहते हैं चलने वालों के पीछे चलना उनका स्वभाव होता है किन्तु अमितमति विचारशील मनीषी मनुष्य कभी भी अन्याययुत कर्म का पक्षपाती नहीं हो सकता। वह सदैव यथार्थ मार्ग का ही अनुसरण करता है। अतएव जिन स्थानों में प्रतिमा स्थिर की गई है वह वास्तव में देवस्थान नहीं केवल रूढ़िवाद है। ऐसी विपरीत

गति से जो दुर्दशा भारतवर्ष की है उसका अपवाद कोई भी समझदार नहीं कर सकता। अनिष्टचिन्ता उसको ही कहते हैं जो अपना बल बढ़ा कर मनुष्य को अनुचित कर्म में प्रवृत्त करा देवे और अनुचित कर्म उसका नाम है जिस से अन्याय पूर्वक परकीय हानि हो। ऐसी अशुभ प्रवृत्ति जो दूसरे के खेद का कारण हो जावे कल्पित देवमंदिर में जाने से कैसे दूर हो जावेगी और उसका मन कैसे पवित्र हो जावेगा, किसी प्रकार भी विचारपथ में नहीं आता। हां वह पुरुष जिसकी हानि हुई है प्रार्थना करने से (यदि वह समझदार है तो) क्षमा कर सकता है जो उसके अधिकार में है। परन्तु जो परमेश्वर के अधिकार में है वह उसकी न्यायव्यवस्था के आधीन है उसको वह भी क्षमा नहीं कर सकता, उस का फल तो भोगना ही होगा। मिथ्या बोलना, कम तोलना, व्यर्थ मार्ग में डोलना और फिर कुछ काल के लिए मन्दिर में जाकर मनको पवित्र करना ऐसी अधूरी बात का उत्तर पूरा कैसे मिले?

मेरे मित्र! कभी विचार भी किया है कि पवित्र मन से भी कभी अपुण्यकर्म हुआ है? यह ठीक है कि अल्प काल के लिए मन्दिर में जाकर भी यह विचार कर आए कि मेरे देव! कल को कोई अकल का अन्धा और गांठ का पूरा भेजना जिस से तेरे भक्त को लाभ हो। लोगों की दृष्टि में अच्छे भी रहे और अपना कार्य भी करते गए। जिस देश में ऐसे अनर्थ की वृद्धि हो जावे तो वहां अर्थगौरव की हानि में सन्देह ही क्या है? दर्पण सामने है अपने मुख को देखो॥

चतुर्थ प्रकार का विचार—मनुष्य का स्वभाव है कि कभी

परस्पर मनोमालिन्य होकर वैमनस्य बढ़ जाता है इस का नेतृत्व स्वार्थ के आधीन रहता है, इसके आते ही झगड़ा बखेड़ा अपना नाटक करने लगता है। पुरुषार्थ सोता और प्रमाद जागता है, दारिद्र्य का उदय होता है और ऐश्वर्य दबता है। शत्रुता बल बढ़ाती और प्रेम भागता है। ऐसी अवस्था में अपना ही अपनों को ठगता है। यह प्रत्यक्ष प्रपञ्च का स्वरूप ऐसा ही है इस में कोई क्या करे? तथापि बुद्धिमानों का काम है कि परस्पर के झगड़े को मिटायें और मेल को बढ़ायें, मन्दमति झगड़ों को अकारण उठाते और समझदार हटाते हैं। सायं प्रातः मंदिर में जाने से जिनका आपस में कुछ बिगाड़ हो रहा है अन्य सज्जन पुरुष उसके दूर करने का यत्न करते तो ठीक था किंतु यह तो किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि अनेक प्रकार के देवस्थान हैं उन में भिन्न २ प्रकार की मूर्तियों का विधान है। एक का किसी के लिए मान है तो दूसरे का दूसरे के लिए सन्मान है, कोई इधर से जाता है तो कोई उधर से आता है, कोई किसी के आगे सिर झुकाता है, तो दूसरा वहां से भाग जाता है। किसी ने किसी को अपनाया है, तो दूसरे ने अन्य को देव बनाया है। इस प्रकार की प्रक्रिया को देखकर तो यह प्रतीत होता है कि मनोमालिन्य दूर करने के स्थान में परस्पर वैरभाव ही अधिक हो गया है। सांप्रदायिक भेद से सदैव ही क्लेश की वृद्धि दृष्टिगोचर हो रही है। एकता का भंग आपस के जंग का कारण बन ही जाता है विरोधवृत्ति किसी के सुख का निदान नहीं हो सकती। शतशः भेद भिन्न देवस्थानों का सहस्रों की संख्या में होना यदि

परस्पर के विरोध को दूर करने का उपाय होता तो भारतीय जनता मानसिक व्यथा से इतनी पीड़ित न होती। सम्प्रति जनता बुद्धिबल से दूर, सामाजिकबल से चकनाचूर, अदूरदर्शिता में भरपूर देखी जाती है। न यथार्थ में हानि लाभ का ज्ञान ही है और न अपने उत्थान का पूरा पूरा ध्यान ही है, न समझाने से इसको ठीक समझ ही आती है, और न सन्मार्ग दर्शाने से उसकी ओर अपनी गति को ही बढ़ाती है। ऐसी अवस्था के देखने से तो यह जाना जाता है कि साम्प्रदायिक भेद ने इसकी विचारशक्ति पर ऐसी गहरी चोट लगाई है, कि जिस से इसने हर प्रकार के सुधार से लौकिक हो या पारमार्थिक, व्यापारिक हो या व्यावहारिक, राजनीति हो या धर्मनीति, अपनी सुध बुध भुला दी है। कर्मानुसार परमात्मा के दिये हुए अन्न जल के सहारे जीवन को तो बिताता ही है, परन्तु पुरुषार्थहीन नीरस जीवन को बना कर क्लेश में ही समय जाता है। वैदिकसिद्धान्त वर्तमान प्रचलित मूर्त्तिपूजन का तो सर्वथा निषेध करता है। यदि एक स्वरूप की ही प्रतिमा का समस्त मन्दिरों में दर्शन होता तब किसी अंश में वादितोष-न्याय से स्वीकार हो सकता था कि वहां जाने से भद्रपुरुषों के द्वारा आपस का झगड़ा शांत हो जाता है॥

मेरे मित्र! यह तो न हुआ इसके विपरीत इन मन्दिरों के आडम्बर से भेद के साथ जनता में खेद की, द्वेष के साथ क्लेश की, ग्लानि के साथ सामर्थ्यहानि की वृद्धि ही होती गई। यह बात निर्विवाद सर्वजन प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म ध्वनि हो रही है। मन में ऐसे विचारों का उदय होता है कि जब तक इस साम्प्र-

दायिक भेद का समूलोच्छेद न होगा, तब तक मनुष्यसमाज में बल और प्रेम का प्रादुर्भाव न होगा। यह सत्य विचारशीलों को अभिमत ही है। यथार्थ में सम्प्रदाय वह मार्ग कहला सकता है जो सृष्टिक्रम (कानून कुदरत) के अनुकूल, बल वृद्धि का हेतु, परस्पर प्रेम प्रकाश का केतु, परमेश्वर प्राप्ति, सत्य की व्याप्ति का आश्रय और संसार सागर से पार होने का सेतु हो। वह एक ही होगा अनेकता का उस में अंश नहीं है। यदि एक पुरुष एक से लड़ेगा तो लड़ाई भी दुर्बल होगी और यदि अनेक पुरुष मिल कर अनेक से लड़ेंगे तो लड़ाई उतनी ही प्रचण्ड हो जाएगी यह सिद्ध ही है। उत्तम सुन्दर पुनीत देश में जब एक सम्प्रदायाधीन अनेक मनुष्य मिलकर अन्य सम्प्रदायाश्रित मनुष्य समाज को आघात और हानि पहुंचाने की चेष्टा करने लगे तब से देश का स्वरूप बिगड़ गया। जब तक इस बखेड़े का नवेड़ा न होगा तब तक सन्मार्ग हस्तगत न होगा। मन्दिरों में जाने से झगड़े मिट जाते हैं आप के इस कथन में कुछ सार नहीं है॥

पञ्चम प्रकार का विचार—परमात्मा की सत्ता का सद्भाव जब सर्वत्र समान ही है तब फिर आपत्ति क्या हो सकती है? जिज्ञासु की इच्छा पर ही निर्भर है कि वह किसी भी वस्तु का सहारा लेकर उसे ईश्वर प्राप्ति का साधन बनावे। इस प्रचलित बात का अपवाद नहीं हो सकता, महाजनों का यह मार्ग देखने में आता है। यह समस्त जगत् प्रकृति का प्रपञ्च है सृष्टि के रूप में स्थूलावस्था को प्राप्त हो कर दृष्टिगोचर होता है। आद्यन्त इस की सूक्ष्मावस्था परमात्मा के बिना अन्य किसी भी

पुरुष के विचार का विषय नहीं हो सकती। व्यावहारिक दशा में भी मनुष्य अपनी बुद्धि से विचार कर जितना उपयोग में लावेगा उतना ही लाभ उठावेगा। सर्वांश में इस का ज्ञान किसी को भी नहीं हो सकता। स्थूल संसार सर्व प्रकार से चेतनता-रहित जड़ है इस लिए इस का उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति भी जड़ सिद्ध होती है। जड़ वस्तु उपासना का विषय नहीं हो सकती, पूज्य बुद्धि से इस को व्यवहार में लाने का वेद सर्वथा निषेध करता है, अतः जड़ की पूजा अयुक्त प्रतीत होती है। अयुक्त बात को मानना बालक और उन्मत्त पुरुषों का तो काम हो सकता है बुद्धिमानों का नहीं। जड़ वस्तु जिस की रचना में कुछ मनुष्य का भी भाग हो परमेश्वर-प्राप्ति का उपाय हो ही नहीं सकती। यदि आप के कथनानुसार अल्प समय के लिये मान भी लें तो पुनः विपरीत ज्ञान, मिथ्या विधान, संशय स्थान किस का नाम होगा ? शास्त्र तो विपरीत ज्ञान को संसार सुख का नाशक और परमेश्वर प्राप्ति का बाधक बता रहा है क्या इस का सहचारी बन कर किसी ने सत्य को उपलब्ध किया है ? क्या कभी किसी ने देखा है कि वटवृक्ष के सिंचन करने से आम्र वृक्ष प्रफुल्लत हुआ हो ? क्या किसी के विचार में यह बात ठीक आ सकती है कि आम्रवृक्ष के मूल पर कुल्हाड़े का आघात हो और नीम का वृक्ष कट जावे ? क्या कोई विचारशील इस बात को श्रवण करके विश्वास करेगा कि कोमल तृण के अग्रभाग से कठोर पाषाण में छिद्र हुआ हो ? क्या किसी की यह बात मानने के योग्य हो सकती है कि हाथ की अंगुली में सैकड़ों हाथी बांधे गये हों ? क्या यह बात युक्ति-

संगत मानी जावेगी कि अमुक पुरुष नेत्रों से सुनता और श्रोत्र से दर्शन का कार्य करता था। जिस प्रकार यह सर्वथा अनुचित है ठीक इसी प्रकार जड़ जगत् की किसी वस्तु को लेकर उस से ध्यान को जोड़ परमेश्वर प्राप्ति का साधन बनाना मिथ्या विश्वास है। सत्य न इसके आस और न पास है। यह विपरीत ज्ञान मनुष्य को किसी प्रकार भी प्राप्तव्य स्थान तक नहीं पहुंचा सकता। आप विचार करें कि परमात्मा की सत्ता सर्वत्र होने से मूर्ति में भी है फिर जिस पाषाणादि पदार्थ से मूर्त्ति की रचना की गई है जब उस में व्यापक परमात्मा की सत्ता का सद्भाव था तो मूर्ति बना कर ही उस में पूज्य बुद्धि करना मिथ्या ज्ञान नहीं है तो इसको और क्या कहना चाहिए? अथवा आप को ऐसा स्वीकार करना होगा कि परमेश्वर रचित मृद् पाषाण काष्ठादि जब तक मनुष्य के हाथ की चोट खाकर किसी दूसरे रूप में न आजावें तब तक उन में परमात्मा की सत्ता नहीं आ सकती। ऐसा जानने से परमेश्वर एकदेशी अथवा मनुष्य के हाथ का खिलौना हो जाता है। समझदार इस अधूरी कल्पना को कब मानेगा। अत एव मूर्ति से जो लाभ हो सकता है वह आपकी कल्पना से भिन्न है और जो लाभ आप उस से मान रहे हैं वह उस में विद्यमान ही नहीं। इस कारण उभयथा हानि ही है। क्या आप बता सकते हैं कि जब कोई पुरुष मूर्ति को ध्यान का साधन बनाता है या पूज्यमति से उसको अपनाता है या उस में ब्रह्मसत्ता को मानकर उसके आगे मस्तिष्क को झुकाता है तो क्या वह इस सद्विचार से दूर नहीं हो जाता है कि उस सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की

सत्ता मुझ में भी विद्यमान है? इस अज्ञानता के रहते हुए कोई भी जिज्ञास्य को नहीं जान सकता। विपरीतकारिता के कारण जिज्ञासु का पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है। यदि वह मूर्ति में उसकी सत्ता को जानता हुआ अपने में उस सत्ता को मानता है तो ऐसी अवस्था में उसको बाधितन्याय से बाध्य होना ही पड़ेगा। यदि कोई पुरुष जिसको किसी वस्तु की लिप्सा हो और वह उसके घर में ही विद्यमान हो वहां उसको उपलब्ध करने का यत्न न करके बाह्य प्रदेश में अन्वेषण करता है। इस का नाम ही बाधितन्याय है। वेदादि सच्छास्त्र बलपूर्वक यह बता रहे हैं कि मनुष्य का अन्तःकरण यदि मलविक्षेप आवरण से रहित पवित्र हो जावे तो परमेश्वरप्राप्ति का स्थान वही है अन्य कोई नहीं॥

मूर्त्तिपूजन परमेश्वर-प्राप्ति की सोपान की प्रथम सीढ़ी है, यह मानना भी सर्वथा ठीक नहीं। यथा-जिसको सूक्ष्मलक्ष्य पर ध्यान लगाने की इच्छा हो तो वह प्रथम स्थूल लक्ष्य पर बाण लगाने का अभ्यास करेगा। कर्त्तव्य कौशल-अभ्यासप्राबल्य से वह लक्ष्यवेधन में चतुर हो जावेगा यह ठीक है। परन्तु यदि कोई मृत्तिका को एक पात्र में भर कर किसी गर्त में डालता है और पूछने से यह बताता है कि मैं लक्ष्यवेधन विद्या की योग्यता के लिए प्रथम अभ्यास करता हूं तो उसका यह कथन विचार-हीन होगा। इस का कारण यह है जिसका जिसके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है उस से वह वस्तु कैसे प्राप्त होगी। इसी प्रकार मूर्त्तिपूजन का परमेश्वर-प्राप्ति के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं। क्या मूर्त्ति निर्माण का कोई भी लाभ नहीं? लाभ तो है

परन्तु मनुष्य उस से जो लाभ लेना चाहता है वह तो उसे मिलता नहीं और जो लाभ प्राप्त हो सकता है उस पर मनुष्य का ध्यान नहीं। जिस से उभयथा हानि होती है—

यत्र यदस्ति तत्र तदनुभवस्तत्त्वम् ॥४७॥

जो वस्तु जिस रूप, गुण या प्रकार से युक्त हो उस को यथार्थ रीति से वैसे ही जान लेने का नाम तत्त्व है। इसके बल से ही मनुष्यसमाज उन्नति की ओर जाता है। ज्ञान के दूषित हो जाने से इस के समस्त कार्यों में दोष आजाता है। अत एव इसकी रक्षा यत्न से करनी चाहिए। परन्तु यह ध्यान रहे कि तत्त्वज्ञान के अनन्तर तदनुकूल अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। इस से शून्य केवल ज्ञान ही मनुष्यसमाज के उत्थान का कारण नहीं बन सकता और कर्म या अनुष्ठान ज्ञानहीन होकर जनता को लाभ के स्थान में हानि पहुंचाने में निमित्त हो जाता है। अन्य वस्तु में अन्य का बोध होना मिथ्याज्ञान कहलाता है यह जनसमुदाय का बड़ा प्रबल शत्रु है। इस ने ही मूर्त्ति-विधान, चित्र निर्माण में जो गुण थे और जो मनुष्य की उन्नति में बड़े भारी सहायक थे, उनको न जता कर मनुष्यमति को दूसरी ओर फेर दिया, जिस से मनुष्यसमाज को अनेक दुर्बल-ताओं और विपत्तियों ने घेर लिया है। अत एव यथार्थ विचार से तो यही जाना जाता है कि चित्रविद्या संरक्षणार्थ यथार्थ चित्रकला प्रदर्शनार्थ प्रतिमा का निर्माण ही वैदिकविज्ञान है और यह चित्रमय जगत् विचित्र परमात्मा की महिमा का स्थान है, इस चित्र विद्या का विपरीत बोध उन्नति में बड़ा ही बाधक है और यथार्थज्ञान अवनति को हटाकर ऐश्वर्य का साधक

होता है ॥

जिस पुरुष ने स्वार्थ को छोड़ श्रम से कष्ट उठाकर भी अपना समय जनता के हित में लगाया हो और सब के सुख में अपना सुख माना और दुःख में क्लेश उठाया हो, ऐसी अवस्था में जनता का यह कर्तव्य हो जाता है कि उस महापुरुष की कीर्त्ति और यश को चिरस्थायी बनाने और भविष्यत् में आने वाली सन्तान को लाभ पहुंचाने का कोई यथार्थ उपाय करे। इसके दो ही प्रकार हो सकते हैं। एक तो उसके सदुपदेशों में परहित चिन्ता के विचारों, प्रचलित लोकमत के सुधारों और अनेक कष्टों के आने पर भी उत्साह के उभारों को ग्रन्थाकार सुलेखबद्ध करावे। इस के स्वाध्याय से जनता में जागृति बनी रहेगी और बार २ अपने मुख से उस के सुयश को कहेगी। इस प्रीति की रीति से भावशुद्धि, शुद्धबुद्धि, प्रेम प्रचार और निर्मल संस्कारों का उदय होकर स्वच्छता के साथ स्वच्छन्दता, विचारप्रवीणता के साथ स्वाधीनता की वृद्धि, हीनता और पराधीनता की हानि हो जाती है। यह सब तब ही होता है जब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा होती है। परन्तु ऐसी पुस्तकों को अध्ययन करने में जिन को रुचि और प्रेम हो ऐसे विरले ही पुरुष होते हैं और सब की समझ भी इस मार्ग में काम नहीं करती ॥

दूसरा प्रकार यह है कि जनता के आने जाने के मार्ग में किसी स्थान पर उस महानुभाव का चित्र सर्वांग विचित्र हर प्रकार यथार्थाकार उचित सन्मान के साथ स्थिर किया जावे और उसके उभय पार्श्व में ऊपर या नीचे जहां ठीक प्रतीत हो

उसके व्याख्यानों में से अल्पाक्षर सारभूत सूत्ररूप कृति की स्वक्षरों में लिपि हो। परन्तु वह स्थान पवित्र रहे किसी प्रकार भी मलीन न होने पावे। प्रत्येक पुरुष के मन में इन स्थानों का आदर हो। यथासमय हर एक नर नारी की वहां जाने की रुचि हो। देश विदेश से आने वाले लोग भूतपूर्व प्रतिमाकार पुरुष का दर्शन और लिपिबद्ध उसके महत्त्वपूर्ण कार्यों के पठन से ऐसे भावों में अपनी कृतज्ञता को प्रकट करते रहें। और जो बालक बालिका इस से अपरिचित हों उन को साधारण शब्दों में और सरल भाषा में बोध कराने का यत्न करें जिससे बालकों के शरीर, बल और बुद्धि के साथ यह सद्विचार उन के मन में स्थिर हो जावें। युवा स्त्री पुरुष, देशकालवित् अनुभवी वृद्ध इस बात को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें। यह मार्ग उन्नति का है यह सत्पथ है इस पर गमन करने से मनुष्यसमाज सुखी और यश का भागी बन जाता है। वहां जाकर ध्यान से, चित्त समाधान से उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर, पूर्ण परमेश्वर, निराकार, निर्विकार, सर्वाधार, व्यापक, विधाता, न्यायानुकूल यथार्थरूप से कर्मफलप्रदाता, सच्चिदानन्दस्वरूप, अद्भुत अनूप, सर्ववित्, सर्वज्ञाता, जो समस्त ब्रह्माण्ड को बनाने वाला परन्तु स्वयं रचना में न आने वाला, एतद्विशेषण विशिष्ट जान कर, सब का अन्तरात्मा मान कर, विश्वप्रेम के साथ शनैः मस्तिष्क को झुका कर प्रार्थना करें कि हे प्रभो! जिस देश में ऐसे उदार, सद्विचार और सब के हित में प्यार रखने वाले पुरुष उत्पन्न हों, वह देश या जाति आप की कृपा की पात्र है उस पर ही आप की महान् दया है, जब तक आप की

सहायता न हो तब तक मनुष्य का कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता, अत एव हम यत्न के साथ ऐसा बनने और सन्तान को बनाने का प्रयत्न करें, इस में आप हमारी सहायता करें। जो अपने इस विचार के अनुकूल पुरुषार्थ नहीं करता वह परमेश्वर की सहायता का अधिकारी नहीं होता, जो पुरुषार्थवान् हैं पुरुष उनका ही नाम है, जिसकी उक्ति और कृति में भेद है उसको सदा ही खेद है, वह दम्भ करता है जिससे जनता में क्लेश बढ़ता है। मन्दिरों में जो चित्र पुरुषों या स्त्रियों के स्थापित हों वह उन्हीं उत्तमाशय सज्जनों के हों जिन्हीं ने लोकोपकार में अपनी जीवन शक्ति को लगाया हो। जैसे किसी ने रागद्वेश को मन से हटा कर, छल छद्म को मिटाकर, ममता को घटा कर आत्मवशी होकर जनता को यथार्थ ईश्वरभक्ति का मार्ग बताया और उसका ही पूजन करना सिखाया हो॥

दूसरे ने विद्या को प्राप्त करके सृष्टिक्रम को पहचान, लगातार एकाकार ध्यान, ज्ञान के सहित विज्ञान के नियमों को विचार कर मनुष्यसमाज का उपकार किया हो॥

तीसरे ने व्यापारिक बुद्धि और व्यावहारिक शुद्धि से धन को उपार्जन करके समस्त या अधिकांश में गुणों की प्रवृत्ति और दोषों की निवृत्ति में लगा कर जनता को लाभ पहुंचाया हो॥

चतुर्थ ने वीर्यरक्षा के विचार से बलवर्धक शुद्धाहार से, ठीक व्यायाम के प्रकार से अपने को बलवान् सुन्दर सुडौल जवान बना कर युद्ध-कौशल से अपने देश का मान बढ़ाया और बलवृद्धि की ओर लोगों का ध्यान दिलाया हो॥

पांचवें किसी अन्य ने बिखरी हुई जाति को अपने सदुपदेशों से संगठन के नियमों को बता कर समाज के महत्त्व को सुना कर, परस्पर के झगड़ों को मिटा कर सुख, दुःख, हानि, लाभ में समानता के भावों को बढ़ाया हो ॥

छठे जिस ने इस नियम को दर्शाया हो कि जाति का सर्वस्व अल्पवयस्क सन्तान ही होती है, देश और जाति का उत्थान इस पर ही निर्भर होता है इस के सुधार में ही देश का सुधार और बिगाड़ में बिगाड़ है। यह जान कर शिशु समाज को इस पद्धति से पाला हो कि जिस के विद्या और गुणों से देश में उजाला हो ॥

सातवें जिस ने सेवाभाव को मुख्य कर्त्तव्य जान कर अपना जीवन लोकहित में ही लगाया और अनेक प्रकार के कष्ट आने पर भी अपने उद्देश्य को मन से न भुलाया हो और प्रसन्नता से इस को निभाया हो। यह काम जितने महत्त्व का है उतना ही अगाध सा है ॥

आठवें जिस ने अपनी वाणी से जो कुछ कहा उसको पूरा कर दिखाया, प्रतिज्ञारक्षण ही जिस ने अपना स्वभाव बनाया हो वही पुरुष सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी होता है। यह आत्मा का सर्वोत्तम गुण है ॥

नवें जिस ने अपनी विद्या के प्रभाव से स्वार्थ के तिरोभाव से अपने सद्विचारों को जो लोकहित के लिए उपयोगी और अहित के प्रतियोगी हों ग्रन्थित करके जनता को लाभ पहुंचाया हो। यह कार्य चिरस्थायी होता है और लोक में यथार्थ कीर्त्ति का बीज बोता है ॥

दसवें जिस ने विद्या के प्रकाश से समय के गौरव को जान कर काल की सहायता से प्रत्येक कार्य ठीक हो जाता है, यह पहचान कर अपने सब कार्यों को अनुकूल बनाकर दिखाया हो और मनुष्य समुदाय को यथासमय कार्य करना सिखाया हो। समय की परीक्षा बड़ी ही सूक्ष्म है॥

यह सब लोकोत्तम पुरुष कहलाते हैं इन के सदुपदेशों को श्रवण करके बहुत लोग इनके अनुगामी बन जाते हैं। परन्तु आरम्भ में बिगड़ी हुई बात को यह ही महात्मा बनाते हैं विद्या इन सब का न्यूनाधिक भाव से साथ देती है, अनुभव सबका कल्याणकारी होता है। यह उपरोक्त कार्य तभी पूरे होते हैं जब इस में मातृशक्ति की सहायता होती है अन्यथा अधूरे ही रहते हैं। देश के उत्थान में, जाति के गौरव गुमान में, मनुष्यों की अपेक्षा स्त्री जाति का अधिकांश हाथ होता है। जब स्त्रीसमाज को यह पता लग जाये, उस के विचार इस प्रकार के हो जाएं कि हमारे देश के लिये कैसे पुरुषों की आवश्यकता है। इस संकल्प के पश्चात् पञ्च दश वर्ष बीतने पर वैसे ही पुरुष दिखाई देने लगेंगे। मनुष्यसमाज इनकी सहायता से ही सबल और इनकी दुर्बलता से दुर्बल हो जाता है। देशोन्नति का बीज स्त्रियों के विचारों में छिपा हुआ होता है। यदि इनके विचारों में वीरता के भाव होंगे तो सन्तान कभी भी कायर नहीं हो सकती। यदि इन के मन में भीरुपन होगा तो सन्तान में कभी भी निर्भयता नहीं आ सकती। इनकी उदारता से सन्तान में उदारपन और कायरता से कायरपन आ जाता है। कहां तक कहें उपनिषदों में मातृशक्ति का बड़ा ही आदर किया है। ऐसी गाथायें तो

आती हैं जहां स्त्रियों ने विद्वानों की सभा में बड़ा सुन्दर विचार किया है, परन्तु यह भी दृष्टिगोचर है कि विद्वत्सभा में अनेक विद्वानों ने मिल कर विचार करने के लिये अपना प्रतिनिधित्व किसी विदुषी स्त्री के अधिकार में दिया है। यह कितने गौरव की बात है अब उस काल की महत्ता की इयत्ता का ध्यान भी नहीं आ सकता। जितने बड़े २ कार्य करने वाले पुरुषों के नाम विख्यात हैं उतने ही विदुषी, सुशीला, धार्मिका, बलवती, गुणवती, लोकहित में अग्रगामिनी, शुद्धविद्याविशारदा ब्रह्मवादिनी इत्यादि स्त्रियों के नाम भी प्रसिद्ध हैं। बस इनके ही चित्र मन्दिरों और उत्तम स्थानों में होते थे। चित्रविद्या से यह ही लाभ देश और जाति के उत्थान का निमित्त था। परन्तु आज मूर्त्तिपूजा के ध्यान से इसका असली स्वरूप जाता रहा। किस असल की यह नकल है पता नहीं चलता। भारतवर्ष इस से अनभिज्ञ हो चुका है। इसी कारण अपनी मानमर्यादा को खो चुका है और सुधार करने के उत्साह से हाथ धो चुका है। चित्रनिर्माण विद्या में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ा ही कौशल दर्शाया और कई प्रकार से इसको बनाया है। धन कमाया और नाम पाया है, चित्रविद्या उन्नति के साधनों में एक बड़ा भारी अङ्ग है। जो लाभ इस से होना था उसकी ओर तो ध्यान न आया और जो गुण उस में नहीं है उसकी उपलब्धि का साधन बनाया, जिस से उभयथा हानि हो रही है। विदेशों की परिस्थिति को अवलोकन करके भी भारतीय पुरुषों की विचारशक्ति काम नहीं करती यह कितनी ग्लानि की बात है॥

द्वितीय चित्र निर्माण से यह लाभ है कि कभी २ भयानक

भूकम्पादि से, अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण आहार के अभाव से, और कभी राष्ट्रों के परस्पर विग्रह से, कभी मारक रोगों की वृद्धि से वह पशु जिन का मनुष्य-जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है गौ, अश्व आदि नष्ट हो जाते हैं। पुनः उन की जाति के बढ़ाने का चित्र दर्शन और ज्ञान के बिना दूसरा कोई भी उपाय नहीं। सुन्दर सुशील अधिक दुग्ध देने वाली गौ की ऊञ्चाई कितनी थी, फैलाव कैसा था, सींग किस प्रकार के थे, पूँछ का क्या आकार था, सर्वांग सुचित्र का निर्माण कर के किसी स्थान विशेष में उस की स्थापना करते थे। इसी प्रकार जो स्वामी की आज्ञा पालने में विवश, युद्ध कार्य में सुयश, शीघ्रगामी अश्व होते थे उन के चित्र भी किसी स्थान में नियत किये जाते थे। ऐसे ही अन्य पशुओं के चित्र भी जो विनष्ट हुई परिस्थितियों के उद्बोध के कारण हों बनाते थे। क्या कोई इस समय बता सकता है कि सुरभि, कामधेनु, कपिला, विमला, रेणुका, यह गौओं की संज्ञा किस गुणविशेष से होती है? पशुपालन-रक्षण-विद्या के बिना इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

आप विचार करें कि सुरभि गौ के दुग्ध में एक प्रकार की सुगन्धि आती थी। इस के सेवन से कई प्रकार के रोग निवृत्त हो जाते थे। यदि मनुष्य स्वास्थ्य के नियमों का साथ दें। इस का दुग्ध अधिक गाढ़ा नहीं होता था और सदैव सुरस रहता था इस के दूध से न दधि बनाते थे और न घृत ही निकालते थे। इस के पान करने से मनुष्य का स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता था॥

कामधेनु--इस का यह स्वभाव था कि आहार करने के

पश्चात् तीन घंटे में दूध बना देती थी, इस के दुग्ध में नवनीत (मक्खन) का अधिक भाग होता था अतः इस के दूध से माखन निकाल कर ही खाना पसन्द करते थे। इस के सेवन से मनुष्य के शरीर में फुर्ती और काम करने की शक्ति बढ़ती थी ॥ कपिला—यह अब भी पाई जाती है परन्तु अरक्षित है। रक्षण-पालन-विद्या के अज्ञान से गुणहीन हो रही है, इस का दुग्ध स्वादिष्ट होता है, इस के सेवन से मस्तिष्क में विचार करने से जो थकावट आ जाती है वह जाती रहती है, दिमाग़ से काम करने वालों के लिये यह बड़ा ही हितकर है ॥

विमला—सर्वांग सुन्दर होती है, निर्मल जलपान करना और शुद्ध आहार खाना इस का स्वभाव होता है, इस का दूध और घृत औषधियों के बनाने में काम आता है और उन की रोग निवारण करने वाली शक्ति को बढ़ाता है ॥

रेणुका—इस गौ का यह स्वभाव होता है कि यह नर्म स्थान पर ही बैठेगी, खड़े रहना स्वीकार है परन्तु कठोर स्थान में बैठना नहीं चाहती, यदि विवश हो कर बैठना ही पड़ेगा तो दुर्बल होती जावेगी। इस का दुग्ध यदि स्त्री को गर्भावस्था में सेवन कराया जावे तो सन्तति को सुन्दर और सबल बनाने में बड़ा ही सहायक होता है ॥

सामान्यतया गौ का दुग्ध आहार तो है ही परन्तु रोग निवारक भी है और उपर्युक्त भिन्न २ प्रकार की गौओं के दुग्ध में विशेषता है, इन भावों को विचार कर के ही वेद कह रहा है कि 'दोग्धिर्धेनुर्वोढा अनड्वान्' बलवती और दुग्धवती गौ के बनाने का उपाय विचार पूर्वक करना चाहिए। उपर्युक्त गौ का

जो प्रकार बताया है वह १५ सेर से कम दूध देने वाली कोई नहीं होती। मैं ने बनारस से कुछ दूर एक छोटे आकार की सुन्दर गौ को देखा था वह उस समय बछड़े को पिला कर नौ सेर दूध देती थी, उस की कथा इस प्रकार है कि उस गौ को दुर्बलावस्था में घातक बध करने के लिए ले जा रहे थे। एक कन्या ने अपने पिता से कहा कि इस गौ को आप छुड़ा लें अन्यथा मारी जायेगी। उस पुरुष ने उस को बुला कर कहा कि इस गौ के दो रुपये अधिक ले कर हम को दे दो, उस ने ६) रुपये को वह गौ दे दी। दुर्बल जान कर सेवा करने लगे, अल्प समय के पश्चात् अच्छा आहार खाने और आराम पाने से वह तीन मास की गर्भवती प्रतीत हुई, प्रथम प्रसव में उस ने ५ सेर दूध दिया। उस पुरुष को उस गौ की सेवा में अधिक रुचि हुई। दूसरे प्रसव में उस ने वत्स को दूध पिला कर ११ सेर दूध दिया। मैं ने उस समय ही उस को देखा था। मैंने उस से पूछा कि इस का ऐन तो प्रतीत होता नहीं, इतना दूध कहां से आता है? उस ने कहा तीन बार दूध निकालते हैं हर समय दूध निकलता ही आता है। उसके देखने से किसी को विश्वास नहीं आता था कि यह इतना दूध देती है। उस की पूँछ बहुत लम्बी थी, वह उसे पीठ के एक ओर डाले रखती थी। एक बैल को मैं ने जोधपुर में देखा था। सर्वांग श्वेत, विशालकाय बड़ा ही सुन्दर था, उस के जोड़ का न मिलने से उस से कोई कार्य ही नहीं लिया जाता था। उस को जब तक पुरुष ४–५ मिनिट खड़ा हो कर न देख ले आगे नहीं बढ़ता था और वह बैल भी यह जान कर कि लोग मुझे देखते हैं, निराली अदा से खड़ा

हो जाता था, ऐसा प्रतीत होता था। हिन्दुसमुदाय तो गोपाष्टमी के दिन पुष्पमाला से गौ का पूजन ही करना जानता है और इस में ही अपने को कृतार्थ मानता है। यह सत्य ही है कि जब मनुष्यसमाज ही विचार हीन हो कर दुरवस्था को प्राप्त हो जावे तो पशुओं की नसल को बनाने और बढ़ाने का ध्यान किस को हो? पुरुषार्थहीन हो कर मनुष्य समाज दुःख उठाता और सब सुखों के साधनों से पृथक् हो जाता है॥ इसी प्रकार अश्व के भी भेद होते हैं। तुरङ्ग—इस नसल का घोड़ा बड़ा, शीघ्र और तीव्र गति वाला होता है और स्वामी की रक्षा का बड़ा ही ध्यान रखता है। महाराणा प्रताप का घोड़ा चेतक इस में प्रसिद्ध था, कई आघातों के लग जाने पर भी राणा को शत्रुदल में से निकाल कर ले ही गया। नदी आः जाने पर भी रोकने से न रुका। नदी पार कर अपने प्राणों को छोड़ दिया। उस के मरने से राणा को बहुत ही शोक हुआ। उदयपुर राजा की अश्वशाला में एक काष्ठ का घोड़ा बना कर उस पर बहुत अच्छा रोगन किया हुआ है, वह चेतक की नकल है या किसी अन्य की किन्तु बड़ा ही सुन्दर है और दर्शनीय है। देखने से चित्त नहीं हटता॥ उदंग—उस घोड़े का नाम है कि जो तीव्र गति के साथ खन्दक या खाई को कूदने में बड़ा ही सावधान होता है॥ दुवंग—यह घोड़ा बड़ा ही दृढ़ और साहस पूर्ण होता है। आगे किसी घोड़े को चलता देख कर इस में बड़ी उत्तेजना पैदा होती है रोकने से नहीं रुकता। आगे ही बढ़ना चाहता है। वर्णभेद या गुणभेद से इनकी कई प्रकार की नसलें हैं। पाश्चात्य लोगों की प्रकृति ने इस विद्या की बड़ी उन्नति की है। सिनेमा

में इन के चित्रों को दिखाते और गुणों को बताते हैं। उन लोगों ने दस सेर से लेकर १ मन तक दूध देने वाली गौओं की नसल को बनाया है। गौ, घोड़े और श्वान की जातियों के कई सुन्दर प्रकार देखने में आते हैं। पशुपालन विद्या को उन्हों ने यथार्थ रूप में समझा है और उससे बहुत ही लाभ उठाया है। मनोविनोद के लिए या उन से कार्य लेने के लिए कपोत आदि पक्षियों का यथोचित पालन किया है। यदि कोई पशु पक्षी आज्ञा भंग करे या दीर्घरोगी होकर दुःख उठाये उसको मार डालना तो उनका स्वभाव है, परन्तु जब तक उनके पास रहता है बड़े ही सुख और चैन से रहता है इस लिए आज्ञापालन में बड़ा सावधान रहता है॥

विचित्र चित्रकला सबला होती है। यह समस्त संसार उस विचित्र चित्रकार परमात्मा का चित्र है। इसके यथार्थ विचार से मनुष्य की मनोवृत्ति सन्मार्ग की ओर झुकती और छल छद्म से रुकती जाती है। इस मार्ग में मनुष्य का अभ्यास ही आचार्य का काम देता या पथ प्रदर्शक होता है। भारतीय पुरुषों ने इस विद्या को कुछ समय से भुलाया और क्लेश पाया है। चित्र दर्शन से यथार्थ भावना के उदय न होने से वह अर्थ तितर बितर हो गया और उस ने मार्गान्तर स्वीकार कर लिया। कहीं प्रतिमा के आगे भोग लगाना, कहीं वस्त्र पहिनाना, कभी झूलना झुलाना, कभी जगाना और कभी सुलाना, कभी घंटा घड़ियाल बजाना और कभी दीन भाव से मस्तिष्क को झुकाना और स्वयं इसको कल्याण का उपाय जानना और औरों को बतलाना आदि अनेक व्यंग विचारों, विपरीतसंस्कारों से यथार्थ

पुरुषार्थ की हानि होने से विपरीत कारिता की वृद्धि ही होती गई। समझदारों, बुद्धिमानों, विचारशील सज्जनों ने तो बहुत ही समझाया परन्तु भारतीयप्रजा के ध्यान में कुछ न आया। अविद्या ने इसको ऐसा भुलाया कि इस का जोश बेहोश और होश बेजोश ही होता गया। मनुष्य समाज का सामर्थ्य तब होता है जब इसको जोश बाहोश होता है अन्यथा नहीं॥

वादी—बहुत से चित्रों से मनुष्य अपने स्थानों को अलंकृत करते हैं और बहुत से बाजारों में बिकते हैं उनसे तो हमारा प्रयोजन नहीं। जिन का हम पूजन करते हैं वह तो राम कृष्ण आदि जो ईश्वरावतार हुए हैं उनकी प्रतिमा परमात्मा की महत्त्वपूर्ण महिमा की सूचक है और परम्परया यह देखने में आरहा है कि विद्वानों ने, विचारशील पुरुषों ने इस का अनुसरण किया है और हम सबको भी उचित है कि उन्हीं महानुभावों का अनुकरण करें। मूर्त्तिपूजन के बिना साकार ईश्वर की पूजा का अन्य प्रकार ही क्या हो सकता है?

परमेश्वरावतारस्तु निस्सार एव प्रतिभाति युक्तिहीनत्वात् ॥४८॥

तु शब्द इस बात को स्थिर करता है कि ईश्वर का अवतार यह कथन ही निस्सार प्रतीत होता है युक्तिहीन होने से। जो मनुष्य परमेश्वर का अवतार बताता है वह बिना पर के पक्षी को आकाश में उड़ाता है, जल के बिना मछली के जीवन को बचाता है, नीरहीन सर्वथा शुष्कस्थल में कमल पुष्प को उगाता है, मरुभूमि में जहां सर्वदा जलाभाव है नौका को चलाता है, वन्ध्यापुत्र को युद्धकौशल सिखा कर सेना का नायक बनाता है। श्रोत्र को रूपदर्शन का और नासिका को

शब्दश्रवण का साधन बनाता है। ऐसी असम्भव बातों का सुनना किसी उन्मत्त, मदोन्मत्त अथवा स्वार्थी पुरुष का काम तो हो सकता है, परन्तु समझदार, और उदार का यह काम नहीं। आप विचार करें कि सर्वदा एकरस रहने वाली शक्ति का परिणाम में आना और निर्विकार का विकारी हो जाना, सर्वव्यापक को एकदेशी बनाना, निराकार सर्वाधार को आकार की उपाधि में लाकर जन्म मरण के बंधन में फंसाना, अतीन्द्रिय, नीरूप और अव्यक्त पदार्थ का इन्द्रियगोचर, रूपसहित और व्यक्त हो जाना—यह सब किस कारण से है? बिना निमित्त के निमित्ती की सिद्धि और बिना निदान के निदानी की प्रसिद्धि कहीं हो सकती है? अत एव यह वाद वैदिक-सिद्धान्त में सिद्ध नहीं हो सकता। वेद परमात्मा के विषय में जिस प्रकार की विज्ञप्ति देता है वह परमेश्वरावतार से सर्वथा विरुद्ध है॥

ननु- वेद परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् बताता है। अब यदि उसमें अवतार लेने की सामर्थ्य नहीं है तब वह सर्वशक्तिमत्ता से दूर हो जाता है। जिससे ईश्वरस्वरूप में भेद आता है, अतः अवतारवाद कल्पित नहीं प्रत्युत साधु है॥

समाधि—प्रथम विचार—अवतार लेने को आप गुण या शक्ति बता रहे हैं। मेरे मित्र! यह शक्ति नहीं किन्तु दोष है। दोष को शक्ति या गुण बताना सर्वथा भूल है। जो वादी के पक्ष के प्रतिकूल है। सर्वशक्तिमान् को जब अपना स्वरूप परिवर्त्तन करके कोई कार्य करना पड़ेगा, तब उस में सर्वशक्तिमत्ता कहां रही? परमेश्वर अपने स्वरूप में रहता हुआ उस कार्य

की नहीं कर सकता, जब तक उस में परिवर्त्तन न हो यह सिद्ध होता है ॥

द्वितीय विचार—वह कार्य जो उसके स्वरूपपरिवर्तन में निमित्त है उस से प्रबलतर प्रतीत होता है, जो सर्वदा एक रस रहने वाली शक्ति को दूसरे रूप में बदल देता है। यथा परमात्मा अव्यक्त प्रकृति को समयानुकूल संसार के रूप में परिवर्तित कर देता है, अत एव वह प्रकृति से सबल है। इसी प्रकार जो कार्य या उपाधि परमात्मा में परिवर्तन कर देती है वह उस से सबलतर है यह सिद्ध होता है। इस वाद के आश्रित तो आप ने परमात्मा को नीरस—सारशून्य बना दिया। जो आप के पक्ष के लिये हानि और सुशिक्षित जनसमाज के लिए ग्लानिकर है ॥

तृतीय विचार—पौराणिक गाथाओं में राम कृष्णादि का अवतार, कंस रावणादि जो पाप कर्म करने में तत्पर हो रहे थे उस के मारने और प्रजा को दुःख से छुड़ाने के लिये हुआ था यह प्रसिद्ध है। इस बात में बड़ी ही भ्रान्ति है, विचारने से तो सिद्ध होता है कि किसी वस्तु को बिगाड़ने की अपेक्षा बनाना बहुत ही कठिन है। कंस और रावण को परमात्मा ने अपने अपरिवर्त्तन शील स्वरूप में रहते हुए ही बना दिया। और जब उन का अत्याचार सीमा का उल्लंघन कर के आचार, व्यवहार, सद्व्यापार की मर्यादा को भंग करने लगा तब परमात्मा का उन का मदमर्दन और उन का वध करने के लिये अवतार लेना या अपनी स्वरूप परिस्थिति को परिवर्तित करना पड़ा, ऐसी व्यर्थ चर्चा करने और असत् गाथाओं के गढ़ने में विचार शून्य हो कर जितने उत्साह से काम लिया गया, देश को उतनी ही

हानि उठानी पड़ी। यदि विचार पूर्वक अपने बल को विज्ञान की ओर लगाते अथवा सन्मार्ग पर चलाने या असत्पथ से हटाने में उद्योग करते, तो भारतवर्ष की यह दुरवस्था न होती और भारतीय जनता मिथ्याविश्वास के आधीन हो कर अपनी आन, गौरव, प्रतिष्ठा, मर्यादा और मान को न खोती। इस वैदिक प्रवृत्ति के विरुद्ध अवतारवाद का सहारा ले कर मनुष्य समुदाय में से शनैः शनैः पुरुषार्थ दूर होने लगा। ऐसी अवस्था में आलस्य के साथ मनोरज ने अपना बल बढ़ा कर सद्वृत्ति की धारा को रोक दिया और अपने ही हाथों से स्वतन्त्रता को देकर परतन्त्रता और स्वाधीनता को बेचकर पराधीनता को मोल लिया। आलसी पुरुष अपनी सम्पत्ति को नहीं संभाल सकता। वह तो सदा विलासिता के ही जाल में फंसता है। पुरुषार्थ करने, उद्योगी बनने की बातों को सुनकर घबराता और पास नहीं आता। जघन्य जनसमुदाय में रहना और उन की बातों को सुनना पसन्द करता है और भले पुरुषों की समीपता से डरता है। यह सब अवतारवाद की कृपा का ही फल है॥

परमेश्वर ने केवल मनुष्य का ही अवतार लेकर कोई कार्य किया हो ऐसा नहीं, प्रत्युत् मच्छ, कच्छ, वराहादि अनेक प्रकार के अवतारों का पुराणों में वर्णन आता है। जो सर्वथा अयुक्त जान पड़ता है, यदि वादीतोष न्याय से अवतरावाद स्वीकार भी किया जावे, तो उस असल की नकल होगा और असल के तुल्य नकल कदापि नहीं होती, जो पुरुष नकल को दिखा कर असल बताता या असल का मूल्य लेता है, वह तो

छल करता है, और करता हुआ डरता है और नकल उस असल की हो सकती है जो मध्यपरिमाण वाली वस्तु हो, जिस वस्तु का महत्-परिमाण हो उसकी नकल नहीं हो सकती। यदि होगी तो वह काल्पनिक होगी वास्तविक नहीं। परमात्मा सर्व का अन्तरात्मा, व्यापक, सर्वदा वृद्धि ह्रास से शून्य है, रामकृष्णादि शरीरधारी महापुरुषों को उसकी नकल यः अवतार बताना सर्वथा भूल है। जीवात्मा जो अनेक जन्मों से शुभ कर्मों को करता हुआ यथोचित विचार और श्रम से अविद्या के अन्तराय को दूर करके पूर्णचन्द्र के समान उज्ज्वल होकर परान्त जन्म में स्वार्थ को त्याग जगत्स्वामी की आज्ञा पालन में अनुराग बढ़ा कर लोकहित के उन विचित्र कार्यों को करता है, जो जनसमुदाय की बुद्धि को चकित कर देते हैं। दोषों को दूर करने, जनता का हित आगे धरने और अन्याय के विपरीत लड़ने, यथार्थ कर्त्तव्य के पालन में रुचि को बढ़ाने, हित से जनता को समझाने, परस्पर प्रेमप्रकाश को जगाने, और आलस्य को दबा कर, पुरुषार्थ को उठा कर, जनसमाज को सन्मार्ग दिखा कर, विद्या से प्रीति, सुन्दर सुयशप्रद रीति, सामाजिक बलवर्द्धक नीति, भोग विषय में दान्त, मन में शान्त, तात्त्विक विचार में निर्भ्रान्त, ऐश्वर्य प्राप्ति में निरभिमान, कष्ट समय में सर्वथा सावधान, सद्व्यवहारों में सन्मान, ईशभक्ति में उदार, धर्म पालन करने कराने में सत्कार, धन, बल, विद्या से अधिकारी जनों का उपकार, सृष्टिक्रम की पहिचान से, समयानुकूल संस्कारों के निर्माण से, श्रम से, सांसारिक सुख के नियमों के उत्थान से, सब के सुख में सुख-

मानी, और पर दुःख में अपनी हानि, और मन्द कर्मों से ग्लानि, कर्तव्यपालन में उद्योगी, परहित संपादन में सहयोगी और प्रत्येक कार्य में उपयोगी, सिद्ध होते हैं। ईश्वरप्रेरणा से उपरोक्त गुण जिनका साथ देते हैं मध्यकालिक लोगों ने उन को अवतार की पदवी दी और उनके उपकार से उपकृत होकर परमेश्वर को भूल उनको ही ईश्वर मानने लगे। यह बात वैदिकसिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। वेद परमेश्वर का बड़ी सुन्दर रीति से वर्णन करता है, वह स्वयं सिद्ध है उस के स्वरूप में कभी परिवर्तन नहीं होता। यदि आग्रह से अवतार-वाद स्वीकार भी किया जावे तो उसके प्रत्येक विशेषण में दोष आजायेंगे। यथा—सर्वज्ञ को अल्पज्ञता में दीन, अजर, अमर को जीर्णता और वृद्धावस्था के आधीन, सर्वशक्तिमान् को शक्तिहीन, महत्परिमाण को स्थूल अथवा मध्यम परिमाण में लवलीन, सनातन को नवीन, सर्वदा दुःखरहित आनन्द सहित को सांसारिक सुख दुःख में विलीन, नित्य शुद्ध पवित्र को समल वासनाओं से मलीन, सदामुक्त को कालचक्र के पराधीन होना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में कहां प्रभु की प्रभुताई, यह किसी ने मनमानी कल्पना से बेढंगी एवं अधूरी बात बनाई परन्तु बनानी नहीं आई। ऐसे वाद से ईश्वर का ईश्वरत्व तो जाता रहा परन्तु वह कुछ अपना स्वार्थ बनाता रहा। स्वार्थी से परहित नहीं होता वह तो अपनी अर्थ-सिद्धि के लिए ही कभी हंसता और कभी रोता है। जिस प्रकार समुद्र कूजे में नहीं आता, सागर गागर में नहीं समाता और आकाश चटाई की तरह लपेटा नहीं जा सकता, उसी प्रकार

विश्वव्यापक शक्ति का एक देश में आना बताना, आकाश को मुट्ठी में लाना है। पाठक बताएं जब परमात्मा का अवतार हुआ तो ब्रह्माण्डव्यापक समस्त शक्ति अवतार के रूप में परिवर्तित हो गई, अथवा एक देश से? समस्त के अवतरण होने में तो वह परिणामी, विकारी सिद्ध होगा। विकृत वस्तु परमात्मा हो यह समझ में नहीं आता। अवतरितावस्था में संसार का प्रबन्ध किस के आधीन, अन्य कौन इस कार्य के करने में प्रवीण होगा, यह बताना कठिन होगा। अथवा प्रभु के एक देश से अवतार हुआ और शेष यथार्थ स्वरूप में रहा। ऐसा मानने में यह दोष उपस्थित होता है। वेद परमात्मा को अखण्ड और भाग कला से विकल बता रहा है। जो वस्तु प्रदेशसहित है वह व्यापकता से रहित है यह सिद्ध सिद्धान्त है। अवतारवाद के सहारे परमात्मा को खण्डित होना पड़ेगा। संयोगजन्य जो वस्तु होगी उसका ही टुकड़ा होगा यह निश्चित वाद है, परमात्मा उत्पत्ति-विनाश-शून्य सूक्ष्मतम असंग है। जब उसका किसी भी वस्तु के साथ सहयोग ही नहीं तो वियोग कैसे होगा? अत एव अवतारवाद विरोधी बन्धन के मध्य में विद्यमान है वह इस में आने वाले दोषों को निवारण नहीं कर सकता। अर्धजरतीन्याय के परिहार करने में वह सर्वथा असमर्थ है जैसे कोई मांसाहारी कहे कि किसी पक्षी के आधे अंडे को खालो और बचे हुए आधे अंडे से बच्चा बन जायेगा, यह कथन असंभव है, वैसे ही परमात्मा यदि अखंड है तो अवतार नहीं ले सकता और यदि अवतार लेता है तो अखंड नहीं रहता॥

परमात्मा और अवतार के कर्मों की तुलना करें—

परमात्मा, विश्वस्वामी सर्वाधार, सर्वन्तरात्मा जिसके ईक्षण (ज्ञानपूर्वक सृष्टिक्रम नियम) के उदय होते ही कुल ब्रह्माण्ड खड़ा हो जाता है और उस के ही नियम के आधीन इस का पालन पोषण और अंत में संहार हो जाता है, और इधर वह परमेश्वर राम का अवतार लेकर रावण का वध करने के लिये यत्नवान् है क्या ही समानता है, यह उपहास है अथवा सन्मान है। मेरे मित्र! यदि आप इनको विचारशील, पुरुषार्थी पुरुष मानते तब तो उनका पवित्र सुयश था। परमात्मा का ऐसा कार्य बताना उसकी निन्दा ही करना और अपने को सन्मार्ग से अपरिचित बताना है। परमात्मा का स्वभाव न्यायानुकूल समस्त प्राणियों को उनके कर्मों का फल प्रदान करना है। अन्याय का उन में सर्वथा अभाव है, समस्त ब्रह्माण्ड में नियत–स्थिर नियम काम करते हुए साधारणतया और ज्ञान-दृष्टि से विशेषतया प्रतीत हो रहे हैं और उनकी व्याप्ति सर्वत्र है। मथुरा के इर्द गिर्द कुछ हिस्से के स्वामी कंस के वध करने के लिये परमेश्वर का (श्रीकृष्णचन्द्र जी के स्वरूप में) अवतार बताना कैसी अधूरी और बेढंगी बात है, यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जावे तो यह काम परमेश्वर के नहीं हो सकते। आज कल सेना-प्रकार और युद्ध-कौशल विद्या के व्यापार से तो सिद्ध होता है कि कंस को बन्धन में लाने के लिए तो अल्पीय-सी सेना ही पर्याप्त थी, इस लिये भी यह वाद मिथ्या सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में जितने सम्प्रदाय प्रचलित हो रहे हैं जो जो महात्मा पुरुष उनके प्रवर्तक हुए हैं, पृथक् पृथक् उनके

अनुयायी मनुष्यों ने किसी न किसी रूप में उनको अवतार का स्थान दिया है, इस अवतारवाद की पौराणिकी गाथा का प्रभाव (न्यूनाधिक भाव से) सब पर ही हुआ है, ईश्वर क्या हुआ इनके बायें हाथ का खिलौना ठहरा ॥

ननु—यदि सर्वशक्तिमान् का आप यह अर्थ लेते है कि उचितानुचित, न्याय, अन्याय जो कुछ उसके विचार में आवे उसको कर डाले तो यह एक सधन, सबल और अयोग्य पुरुष के समान हो जाता है। जब एक समीक्ष्यकारी विचारशील भी अनुचित कार्य करने से भय करता है, तो परमेश्वर, ज्ञानस्वरूप, न्यायस्वभाव होने से अयुक्त कार्य करने वाला कदापि नहीं हो सकता। अत एव सर्वशक्तिमान् का जो अर्थ आपको अभिप्रेत है वह उस पर एक प्रकार का लांछन (दोष) है जो उस को मर्यादा से गिरा देता है। वेद परमात्मा को असहाय बताता है। सृष्टि—उत्पत्ति, स्थिति, पालन, विनाश और न्यायानुकूल जीवों के कर्मफल प्रदान में उसको किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं इस लिये वह सर्वशक्तिमान् कहलाता है। शक्ति नाम समर्थ गुणों का है आप के सिद्धान्त में परमात्मा के गुणों में दोषारोपण भी हो जाता है, जो वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है। अत एव सर्वशक्तिमान् का अर्थ ऐसा ग्रहण करना चाहिए जो दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त हो। परमात्मा स्वरूप से पवित्र है अत एव मनुष्यों को (वेदोपदेश से) अन्तःकरण शुद्ध करना सिखाता है। वह न्यायकारी है मनुष्यों को अन्याय से हटाता है, वह सत्य है पुरुषों को सन्मार्ग पर चलाता है, वह सर्वज्ञ है जन समुदाय को छल छद्म

करने में भय दिखाता है, वह मुक्तस्वरूप है अधिकारी जनों को बन्धन से छुड़ाता है, वह प्रकाश-पुञ्ज है सब को अविद्या-अन्धकार से बचाता है, वह विश्वप्रेमी है सब को प्रेम का पाठ पढ़ाता है, वह करुणामय है, प्रत्येक के मन में दयाभाव को दर्शाता है और वह आनन्द स्वरूप है सब को प्रसन्न रहना बताता है, वह ऐसे गुणों का गुणी होने से सर्वशक्तिमान् कहलाता है, जीव विचार अथवा कर्म करने में स्वतन्त्र है। यदि वह परमेश्वर की आज्ञा पालन में यत्नवान् होता है, तब संसार में अभ्युदय-भोग-भागी होकर स्वाधीनता की ओर जाता है और यदि स्वेच्छाचारी इष्टानिष्ट विचारविहीन हो कर कर्म करता है तो दुःख उठाता और बन्धन में आता है। मनुष्यों के कर्म और परमेश्वर का न्याय किसी को जगाता और किसी को सुलाता है, कोई देश पुरुषार्थी बन कर सुख पाता और कोई आलस्य में फंस कर दुःख उठाता है। यदि सर्वशक्तिमान् का अर्थ आप की इच्छा के अनुकूल ही लें तो लोगों की शुभ कर्म करने में श्रद्धा या विश्वास और अशुभ कर्म करने में भय का भास कैसे होगा ? जब कि उस की इच्छा पर ही निर्भर है तो शुभ कर्म के करने वाले को दुःख और अशुभ कर्म करने वाले को सुख दे सकता है। ऐसी अवस्था में तो उस में न्याय का होना ही व्यर्थ हो जाता है। अब यदि ऐसा नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ, जो चाहे करे, स्थिर नहीं रहता। तो इसकी कुछ भी तो व्यवस्था होनी चाहिये, पाठक विचार करें कि विद्यार्थी स्कूल, कालेज और पाठशालाओं में पढ़ते हैं, परीक्षक उनको प्रश्न बना कर देता है

वह पास होने की इच्छा से विचार पूर्वक प्रश्नों के उत्तर लिखते हैं, यदि परीक्षक का स्वभाव ऐसा हो कि बिना विचारे उत्तीर्ण होने वाले को फेल और फेल होने वाले को पास कर देवे तो क्या कभी किसी लड़के को समझ सोच कर उत्तर लिखने में रुचि होगी ? कदापि नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥

वादी–परीक्षक मनुष्य और परमेश्वर में समानता नहीं हो सकती, मनुष्य में भूल जाने की वृत्ति है, इस लिए उस को विचार से ही कार्य करना चाहिए, किन्तु परमेश्वर से भूल नहीं होती, अत एव उसकी इच्छा है जो चाहे सो करे ॥ यह कथन ठीक है परन्तु इससे तो यह सिद्ध होता है कि जिस में भूल हो वह तो विचार से काम करे और जिस में भूल, भ्रम नहीं है वह उलटे काम करे इसका ही नाम सफेद झूठ है ॥ यदि कोई ऐसा कहे कि उसमें सत्य को मिथ्या और न्याय को अन्याय करने की सामर्थ्य तो है परन्तु वह ऐसा करता नहीं ॥

मेरे मित्र ! यह तो ऐसी ही अधूरी बात है जैसे कोई मनुष्य कहे कि मुझ में सदा जीवित रहने की शक्ति तो है परन्तु मैं रहता नहीं, क्या यह कथन विश्वसनीय हो सकता है ? परमात्मा में ऐसी बातों का लेश भी नहीं और न हमारा ऐसा संकल्प ही होना चाहिए। परमेश्वर और उसके गुण सदा एक रस रहते हैं उन में न्यूनाधिक भाव की सम्भावना ही नहीं अत एव उसका अवतार नहीं होता ॥

ननु–यथा अग्नि समस्त पदार्थों में समान रूप से विद्यमान है उसका प्रत्यक्ष तो नहीं होता परन्तु संघर्षण से प्रकट हो

जाती है, इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र विराजमान रहता हुआ किसी विशेषावस्था में अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है इस का नाम ही अवतार है ॥

यह दृष्टान्त विषम होने से अवतार सिद्धि का हेतु नहीं बन सकता। अग्नि (वायु और आकाश की अपेक्षा से) स्थूल और इन्द्रियग्राह्य है यह स्वयं दृष्टिगोचर हो रहा है। संघर्षण से उसकी उत्पत्ति होना संभव ही है परन्तु परमेश्वर में सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है उसका स्थूल होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। वायु को भी ऐसा ही जानना चाहिए। वायु और अग्नि के दृष्टान्त की चर्चा उपनिषदों में आई है, उस का निष्कर्ष इस प्रकार है-कि मनुष्य का अन्तःकरण पूर्व अरणी अर्थात् नीचे का काष्ठ और यथार्थ प्रणव का जप उत्तरारणी (ऊपरीकाष्ठ) है और लगातार अभ्यास, प्रेम से एकाकार वृत्ति करना मन्थन या संघर्षण है, इस से यह लाभ है कि जिज्ञासु व्यापक ब्रह्म का अपने में ही दर्शन करके कृतकृत्य हो जाता है। इस अलङ्कार से परमात्मा के दर्शन का उपाय बताया है, ईश्वरावतार से इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं ॥

प्रश्न—गीता में यह लिखा है कि जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान होता है तब मैं अपने आत्मा को उत्पन्न करता हूं। यह वचन तो अवतार सिद्धि का हेतु अवश्य ही है ॥

उत्तर—यह कथन कदापि सत्य नहीं। क्योंकि जो पुरुष अनेक जन्मों के यत्न से मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न से, अन्तिम जन्म में जब ज्ञानवान् हो जाते हैं, स्वार्थ को त्याग कर संसार के उद्धार करने में संलग्न रहते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषों को ही गीता

में परमात्मा का आत्मा कहा है। आप स्वच्छन्द हैं उनको अवतार कहें या महात्मा की पदवी दें परन्तु व्यापक परमात्मा संकोच विकास रहित स्थूल आकृतिमान् हो जावे यह कल्पना ही असाध्वी है ॥

प्रश्न—अवतार शब्द सार्थक कैसे होगा ?

उत्तर—जब कोई मनुष्य जीवन के उद्देश्य को ध्यान में लाकर मोह, ममता के बन्धन को घटा कर, इन्द्रियदमन और मनशमन से विषय वासना को दबाकर, योग से आत्मसाक्षात्कार साधन में प्रवीण हो जाता है, तब परमेश्वर का व्याख्यान जो अपनी सत्ता से सर्वत्र समान है यथार्थ योगी, ज्ञानी और ध्यानी के शुद्धान्तःकरण में विश्व स्वरूप, विश्व प्रेमी परमात्मा का अवतार, अवतरण-उतरना सा प्रतीत होता है, अधिकारी के पवित्र हृदय में प्यारे प्रभु सर्व विश्व के सहारे का प्रकाश-विकाश होता है, अन्यत्र नहीं। प्रभु प्राप्ति के अनन्तर प्रसन्न होकर योगी यह कहता है कि जिसकी तलाश में सर्वदा व्याकुल था उसको अपने में ही पा लिया। कोई कुछ कहता था और कोई कुछ अन्य ही सुनाता था, परन्तु समझ में नहीं आता था। ज्ञान नेत्र पर माया का आवरण था जो हर समय विपरीत मार्ग में ही ले जाता था उसी की कृपा से, पूर्व पुण्य के प्रभाव से और साधु-सत्सङ्ग से जब अविद्या-आवरण का नाश हुआ तब नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव का प्रकाश हुआ। प्रत्येक योग्य पुरुष के अन्तःकरण में उसका अवतार होता है किसी विशेष देश, स्थान और मकान का कोई नियम नहीं। बस यह ही एक सङ्केत है—अविद्या को दूर करो और माया को छिन्न भिन्न करो

फिर तुम वहां ही हो ॥

ऐसी निस्सार गाथाओं के प्रचार का क्या कारण है ?

सदुपदेशाभावात् अन्धपरम्परागतिः ॥४६॥

विचारने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् यह देश अपनी अवस्था में नहीं रहा। युद्ध के होने का कारण यह हुआ कि आर्यजाति में ऐश्वर्य की वृद्धि से आलस्य और प्रमाद (युद्ध के एक सहस्र वर्ष पूर्व से) अपनी सत्ता जमाने लगे थे, ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' में ऐसा ही दर्शाया है जो ठीक प्रतीत होता है। युद्ध के अनन्तर फिर किसी को अपने सुधरने या अन्य को सुधारने का यथार्थ मार्ग हाथ न आया। ज्यों २ समय आगे बढ़ता गया, एकता का भङ्ग और भेदभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। महाराजा अशोक और विक्रमादित्य के न्याय-शासन में प्रजाप्रवन्ध अच्छे नियमों से होने लगा। समस्त भारतदेश की सीमा से कुछ आगे भी उनकी गति होने लगी थी, किन्तु शोक है कि उनका यश और प्रताप, तरुच्छाया के समान उनके साथ ही चले गए ॥

भारत का भविष्य अच्छा नहीं था, मति में वैसी ही गति काम करने लगी। भेद ने बल बढ़ा कर राज्य को खण्ड २ करके अनेक माण्डलिक सत्ताओं को खड़ा कर दिया, पारस्परिक सहानुभूति का स्थान वैमनस्य और विग्रह ने लेलिया, ईश्वर-सृष्टि में भारत देश अनुपम है, भोजनाच्छादन की सामग्री पर्याप्त थी, रहन-सहन में सादापन था और लेनदेन के व्यवहार में कुछ अधिक उलझनें नहीं थीं, जो लेता था उसके विचार में देना परम कर्त्तव्य था। विषयभोगवासना आचार मर्यादा के

सहित थी। शरीर सबल, दुग्धवती गौ, भारहारी अनड्वान् और शीघ्रगामी बलवान् तुरङ्ग होते थे। महाभारत युद्ध के समय शीघ्रविनाशकारी आयुध नहीं थे और कभी २ युद्ध का ऐसा भी प्रकार रहता था कि उभयतः सेना की उपस्थिति में परस्पर विचार से मिलकर यह निश्चय करते थे कि दोनों ओर के सेनापति ही आपस में एक दूसरे के साथ युद्ध करें, सब सेना दर्शकरूप में तटस्थ रहे, जो बांधा जावे, रणभूमि से भाग जावे अथवा मारा जावे वह पराजित और दूसरा विजयी समझा जाता था। वचन में पक्के और प्रतिज्ञा भङ्ग करने में कच्चे रहते थे, जो कहते थे वही किया करते थे, कुटिलनीति से बात करना उनका स्वभाव ही नहीं था। वीरता के साथ युद्धविद्या में बड़े ही प्रवीण थे अधिक संख्या में मृत्यु से बचाने और युद्ध कौशल दर्शाने के लिए यह एक प्रकार था—आघात-कारी या प्राणहारी प्रहारों के रोकने में बड़े ही चतुर होते थे। रात्रि के समय युद्ध के करने का कोई नियम नहीं था। युद्ध के नियत समय के पश्चात् किसी अलंकृत स्थान में मिलते थे और विनोद से आलाप करते थे, विग्रहवेला के अतिरिक्त सब को सब पर विश्वास था, छल-छद्म, धोखाबाजी का अधिकांश में विनाश था, इस प्रकार उनका जीवन तो सुखमय था, परंतु कभी २ कहीं २ लूटमार भी होती रहती थी। इस कारण से बेचैनी और व्याकुलता का होना भी स्वाभाविक था॥

वैदिक विज्ञान से देश दूर हो चुका था, भूगोल आदि विद्या विधानों के विचार को खो चुका था, उस का जो परिणाम हुआ सो आज दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस को धर्म

मान लिया, या जिस बात को अच्छा जान लिया उस पर विश्वास कर लेने में दृढ़ थे, परन्तु उलटे मार्ग को सीधा जान कर यदि उस पर गति करते हुए गन्तव्य स्थान की प्राप्ति का विश्वास किया जावे, तो वह मार्ग सीधा नहीं हो सकता यह स्थिर नियम है। यह ही कारण था जो आर्य जाति को शनैः शनैः अवनति की ओर झुकाता गया। ऐसी अवस्था में भारतीय मांडलिक राजाओं को गाथाओं के श्रवण करने में प्रेम जागृत हुआ और प्रत्येक गाथा को धर्म का रूप दे दिया गया। विद्वानों के प्रवचन को सुनना और पश्चात् सन्मानपूर्वक पारितोषिक देना मुख्य कर्त्तव्य माना गया। तात्कालिक विद्वानों ने नूतन गाथाओं को रच कर उन को ग्रन्थाकार बना कर उन की महिमा को बता कर यत्र तत्र सुनाना आरम्भ कर दिया। बस फिर क्या था जो एक ने किया दूसरे ने भी कुछ भिन्नता के साथ वैसा ही किया। समस्त भारतवर्ष में पौराणिक मर्यादा का साम्राज्य हो गया, वैदिक सिद्धान्त हाथ से जाता रहा। किसी प्रान्त में उस का पढ़ना पढ़ाना और कंठ करना कराना तो जारी रहा, परन्तु अर्थज्ञान और उस के अनुष्ठान की ओर किसी का ध्यान न गया। असली मार्ग में भूल हो जाने से विपरीत मार्ग को अनुकूल समझने लगे। इस का जो परिणाम होना था सो हुआ॥

कुछ समय इसी प्रकार बीत जाने के पश्चात् सायण आदि विद्वानों ने वेदार्थ प्रकाश करने में यत्न तो किया परन्तु उन्हों ने प्रचलित पौराणिकी गाथाओं के सहारे वेदार्थ करना आरम्भ कर दिया। किसी पुराण में यदि कहीं किसी ऋषि का नाम

और उस की कृति का व्याख्यान आया और यही नाम किसी वेद मन्त्र में देखा तो पुराण-प्रतिपादित देहधारी मनुष्य का ही वहां अन्वय कर दिया, यह कितनी गहरी भूल है कि अनादि स्वयं सिद्ध वेदों का परमात्मा के साथ सम्बन्ध जानते हुए भी कल्पित पौराणिक दृष्टि से वेदार्थ की जांच पड़ताल करने लगे। यह उन का दोष नहीं। भारतवर्ष ने भूल का बड़ा आदर किया, इस कारण से वह बड़ी बलवती और फलवती हो गई। पुनः सायणादि विद्वान् इस के प्रभाव से कैसे बच सकते थे। संप्रति ऋषि दयानन्द जी की वेदार्थ करने की शैली यदि आर्य विद्वानों के हस्तगत हो जावे तो वेदों का वेदत्व सिद्ध होगा अन्यथा वेद पुराणों के ही समान हैं अधिक कुछ नहीं। परन्तु ऐसी दशा में जब कि आर्य समाज में संस्कृत का पूर्ण पांडित्य ही नहीं और न इस को उपलब्ध करने का किसी को ध्यान ही है, इस का हस्तगत होना कठिन ही प्रतीत होता है। यह आलाप अवान्तर वर्त्ति है। पुराणों में यदि देवी, गणपति, भैरव, और महादेव की कल्पना की गई तो उसी कल्पित गाथा के आधार पर मन्दिरों में मूर्त्तियों की स्थापना भी होने लगी। मूर्त्ति के आकार में भेद, उन के भोग में भेद, उपासना के प्रकार में भेद, उपासकों के विचार और रहन सहन में भेद, रीति और नीति में भेद, प्रेम और प्रीति में भेद, गति और मति में भेद, साधु और यति में भेद, चाल और चलन में भेद, मार्ग गमन में भेद, तीर्थ और यात्रा में भेद, भोजन मात्र में भेद, दाल शाक में भेद, भोजन पाक में भेद, ईश्वर-भक्ति में भेद, ध्यान-मुक्ति में भेद, सम्प्रदायों के रूप में भेद, सम्प्रदाइयों के स्वरूप में भेद, पक्की-कच्ची में

भेद, बात सच्ची में भेद, मठधारी महन्त में भेद, आदि अन्त में भेद, भोजन आहार में भेद, नदी के आर पार में भेद, पठन-पाठन विधान में भेद, यथार्थ विज्ञान में भेद, जन्म मरण में भेद, प्रत्येक आचरण में भेद, बालक-बालिका में भेद, मालिक-मालिका में भेद, हंसने रोने में भेद, सोने जागने में भेद, बोल चाल में भेद, कहां तक कहें हर हालत में भेद ही भेद प्रतीत हो रहा है। ऐसे महत्खेदप्रद भेद के बीज का आरम्भ पौराणिक काल में हुआ। इस को छिन्न भिन्न करने का किसी को ध्यान न आया और न परिज्ञान ही हुआ, इस काल का नेतृत्व अज्ञान के हाथ में था, उस ने भेद को बढ़ा कर वैर भाव को जगा कर भारतीय प्रजा को विपत्ति में फंसा कर अपने कार्य को पूरा होता देख कर प्रसन्नता से नृत्य करना आरम्भ कर दिया॥

बस फिर क्या था जो अपने ही हाथों से बरबाद होता है उस को कौन आबाद कर सकता है। दुःख की बात है अज्ञान ने इस को ऐसा आघात पहुंचाया कि अनेक प्रकार की विपत्ति और दुर्दशा को देख कर भी सम्भलने में भी नहीं आया। इस अज्ञान-गृहीत पौराणिक काल में ही अवतारवाद के संवाद का उत्थान हुआ। इस विपरीत वाद ने जो भारतवर्ष को हानि पहुंचाई वह अकथनीय है, अत एव वैदिक सिद्धान्त से दूर होने के कारण अवतारवाद अमाननीय ही है॥

मनुष्य का अवतार ले कर जो उन्हों ने कार्य किये हैं, वह प्रशंसनीय मनुष्य के योग्य तो हो सकते हैं। इस संसार के प्रसार और विस्तार को ध्यान में ला कर उस महान् परमेश्वर की महिमा का ज्ञान किसी अंश में पुरुष के हृदय में अपने

आतङ्क को जमाता ही है। उस की तुलना मनुष्य के कामों से क्या हो सकती है ? जिस जाति या देश में ऐसे पुरुष उत्पन्न होते हैं उस के गौरव की सर्वतोमुखी प्रशंसा होती है और उस का यश दिगन्तव्यापी हो जाता है। यदि पूर्वोक्त कार्यों का परमात्मा के साथ सम्बंध हो तो परमेश्वर के स्वरूप से अनभिज्ञता सिद्ध होगी और देश जाति की कीर्त्ति का कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होगा। अत एव यह मान्य मनुष्य ही हुए हैं हमारे हृदय में उनका सम्मान ही होना चाहिए। ईश्वरावतार का विचार अयुक्त होने से त्याज्य ही है। यह तो रही मनुष्य के अवतार की बात, परन्तु मच्छ कच्छ वराहादि अवतारों से संसार का क्या उपकार और जन समाज का क्या उद्धार हुआ ? कुछ ठीक पता नहीं चलता। यद्यपि चौबीस अवतारों के विषय में कुछ न कुछ आलाप तो किया है परन्तु वह सब वेजोड़, बेमेल और विज्ञान से दूर बच्चों का खेल सा प्रतीत होता है, यह ही कारण है कि आजकल लोगों को उनके सुनने सुनाने में रुचि नहीं रही। सुनाने से अपना उपहास और सुनने से कार्य या समय का ह्रास ही जान पड़ता है। जिस काल की यह बातें थीं वह समय नहीं रहा जिस के विचार का यह विषय था उस साधारण बुद्धि के मनुष्य नहीं रहे। देश विदेश की यात्रा से मनुष्यों के विचार में परिवर्तन हो चुका है, विज्ञान का प्रकाश है सीधे साधे भोले पन का नाश है। समाचार पत्रों द्वारा एक स्थान की विज्ञप्ति तीसरे दिन सारे भारत वर्ष में पहुंच जाती है सात दिन में समस्त भूमण्डल में फैल जाती है। भारत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक दो सहस्र मील की

दूरी साठ घण्टे में मेल ट्रेन के द्वारा मनुष्य समाप्त कर लेता है। सम्प्रति सारा भूमण्डल एक देश के समान हो चुका है, विज्ञान ने गमनार्थ जल, स्थल, आकाश के मार्गों को साफ कर दिया है, विज्ञान के प्रत्येक प्रकार का वर्णन करना तो कठिन प्रतीत होता है। कई प्रकार के नित्य नये आविष्कार करने में विद्वान् लोग यत्न करते ही रहते हैं, इस का श्रेय पाश्चात्य लोगों को ही है। इसी विज्ञान-उदय के साथ दोषों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल, कपट, चोरी, दम्भ, वैर, विरोध, विषयासक्ति, स्वार्थ बुद्धि) का भी बल बढ़ गया है, जिन से मनुष्य की प्रवृत्ति हर समय बेचैन और व्याकुल ही रहती है, तीव्र गति करने वाले यन्त्रों के निर्माण से मनुष्यमति ही चञ्चल हो रही है। ऐसी अवस्था अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती। यद्यपि मनुष्य के अन्तः-करण में गुण दोषों का तो सहचार है, तथापि जब गुणों की मात्रा में अधिकता होने से दोष न्यून हो जाते हैं वह सुख का समय माना जाता है, जब दोषों की वृद्धि से गुणों की मात्रा में न्यूनता हो जाती है तो वह समय खेद कलह और क्लेश का जाना जाता है॥

जो कुछ हो इस विज्ञान के विकाश में अवतारवाद की अधूरी गल्प के श्रवण करने में किसकी इच्छा होगी? ऐसे व्यर्थ वादों को (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध, युक्तिविरुद्ध, वैदिक-विज्ञान से हीन और सृष्टिक्रम से विहीन) त्यागना तुम्हारे सौभाग्य के उदय होने का कारण होगा। जब तक देश ऐसी अधूरी बातों का साथ देगा तब तक उसकी गति उन्नति की ओर कभी भी न होगी, यह सत्य ही है, मानने या न मानने में आप स्वतन्त्र हैं। यदि इस अवतारवाद को विकासवाद की

थ्यूरी का बीज माना जाता (जिस पर इंग्लिश भाषा के ज्ञाता मुग्ध हो रहे हैं) तो भी कुछ लाभ होता परन्तु इस यश के भागी पाश्चात्य विद्वान् ही हुए। सत्य है यश पुण्य से प्राप्त होता है। पुराणों के देखने से यह सिद्ध होता है कि वह लोग संस्कृत के बड़े विद्वान् थे उनका पाण्डित्य पूर्ण था। सहस्रशः श्लोकों की रचना करना जिस में व्याकरण की कोई भी भूल न हो सहज बात नहीं। जब कभी न्याय का विषय आता है तब उस में उनका प्रौढ़ पाण्डित्य प्रतीत होता है, जब कभी वेदान्त का प्रसङ्ग आता है तो उसको भी बड़ी सुन्दर रीति से निभाते हैं, जब किसी गाथा की रचना करते हैं उसको भी बड़ा ही रुचिकर बनाते हैं, कहीं २ इतिहास को अत्युत्तम रीति से दर्शाते हैं, इनमें गुण तो हैं परन्तु दोषों से उनका तिरोभाव हो रहा है। वह दोष तीन हैं। एक तो उन में गप्पाष्टक ऐसे भी भरे हैं कि जिनके श्रवण से सत्य भी मिथ्यासम ही प्रतीत होता है यह ठीक ही है। मिथ्यावादी पुरुष के सत्य पर भी किसी को विश्वास नहीं होता। झूठ से विश्वास का नाश हो जाता है, मनुष्यसमाज का जीवन विश्वास ही है, इसकी रक्षा के लिये सत्य का साथ देना ही उचित है॥

द्वितीय दोष यह है कि उन में किसी २ स्थल पर तो परमात्मा के स्वरूप का निरूपण बड़ा सुन्दर वेदानुकूल ही है, परन्तु किसी स्थान पर गणेश, महादेव, देवी और भैरवादि को ईश्वर का स्थान देकर इनकी उत्पत्ति स्तुति और इनके कार्य को ऐसे बेढङ्गेपन से वर्णन किया है, जिससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि कोई पुरुष (संस्कृत भाषा का ज्ञाता) भङ्ग पीकर या स्वप्न

संसार को लेखबद्ध कर रहा है। अग्नि और जल आदि को देवता की पदवी देकर उनकी उत्पत्ति का प्रकार ऐसी अयुक्त और अनुचित रीति से किया गया है कि जिस पर विश्वास करने से भारतीय जनता का पुरुषार्थ मन्द पड़ गया और खेद बढ़ गया॥

तृतीय दोष यह है—लोगों को यह निश्चय करा दिया गया कि इन ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वह सब महात्मा व्यास का कथन होने से सत्य ही है। इस पर विश्वास न करने वाला पाप का भागी होता है। इस मिथ्यावाद की ओट में सत्य पर चोट होने लगी। महात्मा व्यास जी ने इन ग्रन्थों को नहीं बनाया। केवल तात्कालिक विद्वानों ने बड़े पुरुष के नाम से अपनी दुकान की आभा बढ़ाने और शोभा दर्शाने का यत्न किया था, उस समय कुछ लाभ उठाया और नाम भी पाया हो, परन्तु जैसे जैसे समय निकलता गया वैसे वैसे विपरीतज्ञान अपना बल बढ़ाता रहा यह किसी के ध्यान में न आया, अन्त में उसने भारतदेश को पराधीनता के बन्धन में फंसा ही दिया। ऐसी ही पुराणों में और भी भूलें हैं, वह सब इनके ही अन्तर्गत हो जाने से उनका वर्णन पृथक् नहीं किया गया। शोक है कि ऐसे अच्छे विद्वानों का ज्ञान विज्ञान से पृथक् होकर भारतवर्ष में काम करता रहा, जिस ज्ञान का विषय पदार्थ विद्या न हो वह अधूरा ज्ञान लौकिक सुख का साधन नहीं हो सकता। आत्म साक्षात्कार में केवल ज्ञान का ही अधिकार है परन्तु सांसारिक सुख और अभ्युदय (जिसको सुनियम के साथ प्राप्त करने का) वेद उपदेश दे रहा है, वह विज्ञान की सहायता के बिना किसी को हस्तगत नहीं हो सकता। जो मनुष्यसमाज इस निश्चित-

वाद का अपवाद करता है वह कभी भी सुखभोग का भागी नहीं हो सकता। यह प्रत्यक्ष है कि भारत देश विज्ञान से हीन है अत एव पराधीन है। यतः इसने विज्ञान को नहीं जाना इस कारण यह अपने स्थान में रहता हुआ भी बेगाना है, क्योंकि इसने विज्ञान से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ा इसी कारण से ऐश्वर्य ने इस का साथ छोड़ा है, चूंकि इसने विज्ञान जैसे सुखप्रद मित्र को नहीं अपनाया है इसलिये यह विपरीत समय इसके सामने आया है। यदि इसका विज्ञान साथ देता तो यह स्वाधीनता जैसी सर्वोत्तम वस्तु को बेचकर पराधीनता को मोल न लेता॥

मेरे मित्र ! परमात्मा का ज्ञान समस्त संसार में विद्यमान है। जो मनुष्य इन पदार्थों के गुणों को जान, अपने अनुकूल बनाता और सुख पाता है वह विज्ञानवान् कहलाता है। यदि उन विद्वानों की रुचि विज्ञान की ओर होती तो आज भारतवर्ष गुण-गौरव से समस्त भूमण्डल में विख्यात होता, परन्तु यह कैसे हो सकता था जबकि संसार के विषय में उन लोगों ने अपना उद्देश्य ही कुछ अन्य बना लिया था। संसार मिथ्या है यह उनका उद्देश्य था, ऐसी ही गाथाओं को बनाते और सुनाते थे। इस मिथ्या संसार में सत्य छिपा हुआ है, यह समस्त संसार उस सत्य के ही सहारे दृष्टिपथ में आरहा है, वह सत्य पुरुषार्थ से मिलता है इस को ध्यान में नहीं लाते थे। संसार तो जैसा तब था वैसा ही अब है किन्तु इस अधूरे उद्देश्य ने भारत निवासियों को अधूरा बना दिया यह इसका फल-स्वरूप प्रत्यक्ष है॥

इति ईश्वर विषय अवतारवाद विचारः

॥ अर्थगति समाप्त ॥

शरीर गति

वेद एक परमात्मा की पूजा करना सिखाता है और वही एक मनुष्यमात्र का उपास्य देव है, यही सन्मार्ग है, इस का ही सहारा लेने में कल्याण है, यह बताता है। जो उसका उपासक है उस की जीव संज्ञा है। अब उस का निरूपण किया जाता है—

देहादिसंघातस्वामी जीवः ॥५०॥

शरीरादि संघात का जो स्वामी है उसको जीव कहते हैं। शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण भेद से तीन प्रकार का है। स्थूल प्रत्यक्ष है इस को पञ्चभौतिक (अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश के मेल से बना है) कहते हैं। इसके मेल का विवरण साधारण रीति से इस प्रकार है कि पार्थिव शरीरों में पृथिवी का भाग मुख्य है और अन्य भूतों का गौण भाग है, इसी प्रकार आग्नेय, जलीय, वायवीय शरीरों में क्रमशः अपना अपना अंश अधिक और अन्य का भाग न्यून हो जायगा। पृथिवी सबका अवष्टम्भक है, बिना इसके कोई भी शरीर स्थिर नहीं हो सकता, इसका व्याख्यान पञ्चीकरणरूप से वेदान्त के नवीन ग्रन्थों में अल्पभेद से किया है पृथिवी, अग्नि, जल और वायु के अधिकांश से शरीरों की पार्थिव, जलीय, आग्नेय, और वायवीय संज्ञा हो जाती है। यह प्राणी भिन्न भिन्न लोकों में रहते हैं, यह पौराणिकी कल्पना अनिश्चित सी प्रतीत होती है॥

द्वितीय शरीर की सूक्ष्म संज्ञा है। यह १७ सत्तरह तत्त्वों के मेल से बनता है जो इन्द्रियज्ञान का साधन है उनको (घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र) ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं और जो कर्म संपादन में सहायक हैं उनकी (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) कर्मेन्द्रिय संज्ञा है। प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान एक वायु के ही क्रियाभेद से पांच नाम हैं। मन और बुद्धि यह सब मिल कर सत्तरह होते हैं, इन के संघात का नाम सूक्ष्म शरीर है॥

ननु—सांख्यशास्त्र इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानता है और इन्हीं इन्द्रियों की उत्पत्ति पञ्च भूतों से होती है यह न्यायशास्त्र बताता है इस विवादास्पद विषय का निर्णय कैसे होगा ?

समाधान—स्थूल दृष्टि से विवाद का स्थान प्रतीत होता है वास्तव में नहीं, पांच इन्द्रिय और पांच भूत इनकी परस्पर समानता से तो इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतों से ही सिद्ध होती है किन्तु इन्द्रिय सूक्ष्म—अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। स्थूल पञ्च भूतों से ऐसे सूक्ष्मतत्त्व की (जो सृष्टि समकाल से लेकर प्रलयान्त जीवात्मा का साथ देता जावे और एक शरीर से शरीरान्तर तक ले जाने में सहायक हो) उत्पत्ति नहीं हो सकती। सूक्ष्म शरीर से जीवात्मा का संयोग भूतोत्पत्ति से पूर्व हो जाता है और यह शरीर सब के लिये समान ही है, केवल इतना ही भेद है कि कहीं इसका विकास और कहीं इसका संकोच हो जाता है। मनुष्य-शरीर में इसका पूर्ण विकास और अन्य शरीरों में क्रमशः संकोच हो जाता है। यदि भूतों से इसकी उत्पत्ति

मानी जाय तो भूतसंघात के पश्चात् होनी चाहिए। पञ्चभूत अन्तावयवी पदार्थ हैं इनसे आगे कुछ नहीं होता, यह प्रकृति-परिणाम की चर्म सीमा है। घट, पट, और गृहादि यह सब जैवी सृष्टि है। साधारणतया विवाद विषय का जो निर्णय दृष्टिपथ में आता है वह इस प्रकार से हो सकता है। साधारण मनुष्य नेत्रादि स्थानों को ही इन्द्रिय कहते हैं परन्तु वास्तव में यह इन्द्रियों के गोलक हैं। तत्रस्थोपाधि से इनको इन्द्रिय कहने में तो हानि नहीं है परन्तु यथार्थ में वे अन्य वस्तु हैं, अत एव नेत्रादि गोलक स्थानों की उत्पत्ति के कारण पञ्चभूत ही हैं। और वह सूक्ष्मांश जो नेत्रादि गोलक और मन के मध्य में काम करता है उसकी उत्पत्ति अहंकार से मानना ठीक होगा, अत एव सांख्य और न्याय शास्त्र की मर्यादा में कोई भेद नहीं। अस्मदादिक इसको ठीक न जानकर परस्पर विवादास्पद बना लेते हैं। सत्, रज और तम गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। अत एव इन गुणों का समावेश समस्त कार्य जगत् में गौण मुख्य भाव से समान है, कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो इन गुणों से पृथक् हो सके। इस कारण ज्ञानेन्द्रियों के स्थानों की उत्पत्ति का प्रकार यह है–रज और तम सहकारी भूमि के सत्त्वांश प्रधान से घ्राण, रज और तम सहकारी शुद्धांश प्रधान जल से रसना, रज, और तम सहचारी सत्त्वांश प्रधान अग्नि से नेत्र, रज और तम अनुगामी मुख्यांश वायु से त्वक् और रज तथा तम युक्त शुद्धांश आकाश से श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। अब कर्मेन्द्रियों का प्रकार भी इसी प्रकार जानना चाहिये, रज और तम युक्त भूमि के मलिन सत्त्वांश से

पायु (गुदेन्द्रिय) की उत्पत्ति होती है। यदि घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है तो पायु से दूषित गन्ध युक्त मल का त्याग होता है। रज और तम युक्त जल के मलिन सत्त्वांश से मूत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। यदि रसनेन्द्रिय जल का ग्राहक है तो इस (मूत्रेन्द्रिय) से दूषित जल (मूत्र) का त्याग किया जाता है, रज और तम सहचर अग्नि के मलिनांश से पाद (पैर) की उत्पत्ति होती है, नेत्र से यदि मार्ग दर्शन होता है तब पांव की गति तीव्र होती है, रज और तम अनुगत वायु के मलिनांश से हस्त (हाथों) की उत्पत्ति होती है, यद्यपि त्वगिन्द्रिय सर्व-शरीरवर्त्ती है तथापि हाथों से सुगमतया स्पर्श का बोध होता है। रज और तम युक्त आकाश के मलिनांश से वाणी की उत्पत्ति होती है तो श्रोत्रेन्द्रिय से उसका ग्रहण किया जाता है। यद्यपि आकाश का मलिनांश नहीं होता तथापि (वह व्यापक वस्तु नित्य है प्रकृति के सतोगुण में ही इसकी गणना की गई है, जैसे प्रदेश शून्य आकाश को अनन्त सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि की सत्ता के सद्भाव दर्शन से उसको अनन्त प्रदेशी उपचार से कहा जाता है वास्तव में नहीं, इसी प्रकार) शरीर-स्थोपाधि से उसको मलिनांश से कहा गया है, यथार्थ में यह ही व्यवस्था दिशा और काल की भी है।

द्वितीय विचार—पृथिवी से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है यह ही कारण है कि पृथिवी के स्वाभाविक गुण गन्ध का ही इस से ग्रहण होता है। जल से रसनेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है अत एव यह जल के स्वाभाविक गुण रस का ही ग्राहक है, नेत्रेन्द्रिय का उपादान कारण अग्नि है इस लिये नेत्र द्वारा रूप

का ज्ञान होता है, त्वगिन्द्रिय का निर्माण वायु से होता है इस का स्वाभाविक गुण स्पर्श नियमपूर्वक त्वक् से ही जाना जाता है, श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति का कारण आकाश है इस के स्वाभाविक गुण (शब्द) को श्रोत्रेन्द्रिय ही ग्रहण करती है। इस प्रकरण में इतना जान लेना आवश्यक है कि जिस इन्द्रिय से जिस अर्थ का बोध होगा अर्थवान् का भी उसी इन्द्रिय से ज्ञान होगा। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन को न्यायशास्त्र में अर्थ कहा है। उन की परिभाषा में द्रव्य, गुण, और कर्म इन तीनों की अर्थ संज्ञा है, अत एव यह कहना कि इन्द्रियों का अर्थ या गुण के साथ सम्बन्ध होता है। गुणी का ज्ञान अनुमान द्वारा होता है यह ठीक नहीं। इस का यह कारण है कि अधूरी परीक्षा में कभी व्यवहार की सिद्धि नहीं होती और परीक्षा की परिसमाप्ति का निमित्त (योगज अथवा लौकिक हो) प्रत्यक्ष ही है। निश्चित तात्त्विकबोध के अनन्तर ही कर्ता की कार्य में प्रवृत्ति सफल होती है। गुण और गुणी का जिस इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है तद्गत जाति का बोध भी उसी से होता है॥

ननु—पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाशके स्वाभाविक गुण क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द को बताया है परन्तु गन्ध गुण के अतिरिक्त रसादि गुणों की भी पृथिवी में प्रत्यक्ष विद्यमानता है, केवल गन्ध को ही पृथिवी का स्वाभाविक गुण बताना ठीक प्रतीत नहीं होता॥

समाधान—गुणों के (स्वाभाविक, नैमित्तिक, औपाधिक और पाकज) चार भेद हैं।

१. स्वाभाविक गुण वह होगा जिस का कभी भी अपाय

न हो वह सदैव द्रव्य में व्यवस्थित रहता है यथा पृथिव्यादि में गन्धादि ॥

२. नैमित्तिक गुण उस को कहते हैं कि किसी के निमित्त से दूसरे में विरोधी गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है जैसे अग्नि के निमित्त से जल में उष्णता का हो जाना ॥

३. औपाधिक गुण उस को कहते हैं जो आवृत करने वाले हों, जैसे स्वच्छ बिल्लौर के समीप यदि रक्त पुष्प को धर दें तो उस में लालिमा, पीत पुष्प से पीतिमा और कृष्ण पुष्प से कालिमा प्रतीत होगी इन उपाधियों को (जो उसमें विपरीत बोध का कारण हो रही हैं) दूर करने से स्वच्छ बिल्लौर दृष्टिपथ में आता है ॥

ननु--नैमित्तिक और औपाधिक गुण में क्या भेद है? दोनों समान ही प्रतीत होते हैं ॥

समाधि—इनमें सर्वथा समानता नहीं किन्तु अल्पभेद है, उपाधि के दूर होते ही उपहितद्रव्य अपने स्वरूप में हो जाता है। निमित्त के हटा लेने से भी नैमित्तिक में उस का गुण अल्प काल तक बना रहता है, यथा पुष्प के हटाते ही बिल्लौर में स्वच्छता की प्रतीति तत्काल होती है किन्तु अग्नि के हटा लेने से जल में कुछ काल तक उष्णता बनी ही रहती है इतना भेद जान लेना चाहिए ॥

पाकज गुण उस को कहते हैं जो द्रव्यों के परस्पर मेल-जोल से एक के गुण दूसरे में आ जावें जैसे पृथिवी में गन्ध गुण से अतिरिक्त रसादि शब्दान्त सब पाकज हैं यह गुण भेद रखता हुआ भी स्वभावसम प्रतीत होता है। यदि ऐसा न हो

तो घ्राणेन्द्रिय को रसादि गुणों का भी ग्राहक होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता । आकाश में केवल शब्द ही गुण है, आगे एक २ की अधिकता से पृथिवी में ५ हो जाते हैं । इस का यह कारण है कि सूक्ष्म के गुण स्थूल में आ ही जाते हैं, यह सृष्टिक्रम अनिवार्य है, आकाश सब से सूक्ष्म है अन्य द्रव्य अपेक्षाकृत स्थूल और सूक्ष्म हैं पृथिवी केवल स्थूल ही है ॥

अब सूक्ष्म शरीरान्तर्गत प्राण परीक्षा का प्रकरण आरम्भ होता है—

प्राणमेव जीवनमन्वयव्यतिरेकात् ॥५१॥

प्राण यद्यपि वायुके नामसे ही प्रसिद्ध है तथापि विचारने से यह जाना जाता है कि वायु की गति के लिए आकाश तो स्वयं सिद्ध ही है, जल और अग्नि का अंश इस में और सम्मि-लित है । इन के मेल से इस में शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, इन में वायु की प्रधानता होने से प्राण-वायु प्रसिद्ध संज्ञा है। यद्यपि प्राण सामान्यतया एक ही है तथापि स्थान और क्रिया भेद से इस के पांच (प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान) नाम हैं ॥

प्राण—उस को कहते हैं कि जो वायु नाभिचक्र के इधर उधर ही रहता है और चक्र को उठा, सीमा तक (जो १० अङ्गुल परिमित होगी) पहुंचा कर नीचे ले जाता है । प्राण—वायु को मुख द्वारा बाहर ले जाने और बाहर से अन्दर लाने में काम करता है ॥

अपान—जो वायु मलमूत्र और कफ़ आदि के निःसारण में काम करता है उस की अपान संज्ञा है ॥

उदान—बैठने, लेटने, उठने, उछल, कूद, दौड़ धूप में उदानवायु काम करता रहता है॥

व्यान—उस को कहते हैं जो शरीर में रसादि चक्र लगाते हैं, उन को गुल्फादि जोड़ों या सन्धियों से सुगमतया निकालने में काम करता रहता है॥

समानप्राण—सर्वशरीरवर्त्ती है। यह एक प्रकार का वायु का कोष है जैसे सूत्रात्मा वायु ब्रह्माण्ड में विद्यमान है तत्सदृश इस छोटे से ब्रह्माण्ड में समान वायु है यह सब स्वास्थ्यरक्षा और जीवन के हेतु हैं। शुद्ध जल, आहार और वायु के सेवन से प्राण बलवान होकर रोगों से बचाता है। जैसे इनका शुद्धांश शरीर का अङ्गभूत होकर सुखप्रद होता है, वैसे ही इनके शेषांश का परित्याग कष्टनिवारक है। यह काम प्राण और अपान के आधीन है। उचित शयन, जागरण, खेल, व्यायाम और परिश्रम से स्वास्थ्य और प्रकृति सौन्दर्य का लाभ होता है। यह कार्य व्यान के अधिकार में है। अङ्गों के सङ्कोच और विकाश में फुर्तीलापन और इन व्यङ्ग मार्गों में स्थूलांश को निकाल कर परिमार्जित रखना व्यान के आश्रय में है। प्राणवायु का शरीर में एक प्रकार का कोष है जो प्रत्येक प्राण की न्यूनता को पूर्ण करता रहता है उसका समान नाम है। प्राण वायु इनमें मुख्य है इस की परिस्थिति जितनी उत्तम होगी उतना ही सब अपने २ कार्य में जागरूक रहेंगे इसमें दोष आने से सब दूषित हो जाते हैं और निःसारण में सब अपना कार्य छोड़ देते हैं, इसका नाम ही मरण है, अत एव एक ही प्राण वायु के यह पांच भेद कहे गए हैं। कहीं २ नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय (इन्हीं

प्राणों के भेदों का व्याख्यान करके दस प्रकार का प्राण है) कहा हैं। परन्तु इनका उपर्युक्त पांचों में ही समावेश हो जाता है और उन क्रियाओं के अन्तर्गत ही इनका कार्य है, विशेषता केवल इतनी ही है कि नाग प्राण शयन के समय अपना कार्य करता है। सुषुप्तपुरुष को जब कभी प्राण की गति में कुछ रुकावट के कारण असुविधा जान पड़ती है तो वह उसी अवस्था में दीर्घ श्वास लेकर अथवा शरीर का संप्रसार करके प्राण की गति को ठीक कर लेता है यद्यपि शयन करने वाले की प्रतीति का विषय तो नहीं होता परन्तु ऐसा हो जाता है इसको ही 'नाग' कहते हैं॥

कूर्म—स्त्री पुरुष के संयोग से सन्तान की; उत्पत्ति होती है यह विषय प्रायः सबको ज्ञात है संयोगज धर्म में कूर्मा के समान जो प्रत्येक वृत्ति और गति का निरोध होता है इतना विशेष कार्य कूर्म प्राण का है॥

कृकल—प्राण वायु की गति शरीर में बड़ी सूक्ष्म और तीव्र है इसका स्थूलांश कभी मस्तिष्क या शरीर के किसी अन्य भाग में रुक जाता है उसका निर्याण (छींक, उद्गाक् और अङ्ग का खींचतान करना) कृकल प्राण के आश्रित ही होता है॥

देवदत्त प्राण--स्वभावतः प्राणीमात्र सृष्टि क्रमानुसार प्राणायाम (जो जीवन का आधार है) करता ही रहता है चित्त वृत्ति निरोध से प्रणायाम के अभ्यास में जो वायु सहायक होता है उसकी देवदत्त संज्ञा है सन्तानोत्पत्ति के आरम्भ में जिस से कष्ट अधिक न हो यह बड़ा सहायक होता है॥

धनञ्जय वायु—यह शरीर में अत्यन्त ही सूक्ष्म है इसकी

कोई क्रिया साधारण पुरुषों को प्रतीत नहीं होती। यह योगज धर्म में बड़ा ही सहायक होता है। पूर्वकर्मवशात् या वर्त्तमान पुरुषार्थ से यदि इसका उदय हो जावे तो योग में सफलता होती है अन्यथा नहीं। आपने कभी विचारा होगा कि किसी समय में पुरुष का स्वाभाविक सात्विक या एकाग्र चित्त होजाता है। यह यत्नहीन अनायास प्रवृत्ति मनुष्य में धनञ्ज वायु के उदय होने में ही होती है, यह सबके लिए समान है, उस समय प्राण की गति बड़ी ही सीधी और सरल हो जाती है। बस योगी इसको पहचान कर अभ्यास को बढ़ाता और समर्थ हो जाता है, इन्द्रियवृत्ति का निरोध और मनोवृत्ति विषयातीत हो जाती है, अत एव शास्त्र में सर्वेन्द्रिय वृत्ति को भी प्राण नाम से कहा है॥

अब सूक्ष्म शरीरान्तर्गत मन बुद्धि का विचार किया जाता है—

एकमेवान्तःकरणं निमित्तभेदात् चतुष्टयम् ॥५२॥

यद्यपि अन्तःकरण एक ही है किन्तु निमित्त भेद से उस को चार प्रकार का कहा है। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार उसकी संज्ञा है। कहीं कहीं मन और बुद्धि में ही चित्त तथा अहङ्कार का समावेश करके दो भेद भी बताए हैं। इसी कारण से सूक्ष्म शरीर में मन बुद्धि की गणना करके सत्तरह पदार्थ कहे गए हैं, अन्यथा उन्नीस होने चाहिए थे। नेत्रादि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष देखने से बाह्य करण या ज्ञान कर्मका साधन कहा गया है। मन आदि का (शरीरान्तर्गत ज्ञान का साधन होने से) अन्तःकरण नाम है यह पूर्व की अपेक्षा से सूक्ष्म हैं। अब इसके विवेचन प्रकार पर ध्यान दें—न्याय में इस अन्तःकरण को मन

कहा है, योग दर्शन में इस की ही संज्ञा चित्त है, मीमांसा इस को ही बुद्धि कहता है अहङ्कार का (मन, बुद्धि और चित्त के शुद्ध हो जाने, यथार्थ रूप में आ जाने से) आत्मस्वरूप के साथ सम्बन्ध हो जाता है। मन आदि के दोषों से यह दूषित भी हो जाता है अत एव इसकी पृथक गणना नहीं की गई॥

संकल्पविकल्पात्मकं मनः ॥५३॥

एक ही अन्तःकरण जब संकल्प या विकल्प करता है उस समय उसकी संज्ञा मन हो जाती है। सद्विचार, सदाचार, परोपकार, ईश्वरचिन्तन, कर्तव्य-पालन में रुचि, परस्पर प्रेम, पुरुषार्थ और सुख, दुःख में स्वल्प न्यूनाधिक भाव से समानता इत्यादि शुभ गुणों के उत्थान को संकल्प कहते हैं। इनके विपरीत कुभावनाओं का उदय हो कर सुवासना मन्द पड़ जाती हैं ऐसी दशा में स्वार्थादि दोष में दूषित विचार जब इस का साथ देते हैं, उन सब को विकल्प कहते हैं, अथवा जो मन में प्रथम विचार उत्पन्न हो उस को संकल्प, उस के पश्चात् द्वितीय विचार उस का अनुयोगी या प्रतियोगी प्रकट होता है उस को विकल्प कहते हैं, यथा–किसी पुरुष ने विचारा कि आज उत्सव में जाना सुकाम है सत्संग होगा, सुवार्त्ताओं का श्रवण होगा ऐसे अनुयोगी विचारों को संकल्प कहते हैं। उक्त विचारों के पश्चात् यदि यह विचार आ जावे कि वहां जाने में कुछ दुकान के लेन देन में हानि होगी और प्रतिदिन वहां जाने का कहीं अभ्यास ही न हो जावे ऐसे प्रतियोगी विचारों को विकल्प कहते हैं। यह उधेड़बुन मनुष्य के अन्तःकरण में बनी ही रहती है और यह ही पुरुष को उत्तम,

मध्यम तथा अधम बनाने में निमित्त हो जाती है। शुभाशुभ कोई भी हो प्रथम विचार का नाम संकल्प पश्चात् भावी का नाम विकल्प हो जायगा। कहीं संकल्प हितकारी और विकल्प उपकारी हो जाते हैं यथा किसी पुरुष ने दान करने का संकल्प किया पश्चात् विचारा कि यह अच्छे विद्यार्थियों की सहायता में लगा देना ठीक होगा। यहां संकल्प और विकल्प दोनों ही शुभ हैं, एवं संसार में सुख प्रसार के हेतु भी हैं। यदि दान करने के विचारानन्तर ही यह जाना जावे कि यह द्रव्य गया में चल कर पण्डों को वितरण कर देना चाहिए। यहां संकल्प उपकारी है परन्तु विकल्प अहितकारी और संसार के लिए लाभकारी नहीं है। कहीं संकल्प और विकल्प दोनों ही मन्द होते हैं यथा—पूर्व छल, कपट से धनोपार्जन और पश्चात् मद्य सेवन, द्यूतादि क्रीडा का विचार करना। कहीं संकल्प अनिष्टकारी और विकल्प हितकारी होता है यथा किसी विद्यार्थी ने सोचा कि आज रात्रि को थिएटर देखने के लिए जाना चाहिए। पश्चात् उसके ध्यान में यह आया कि व्यर्थ व्यय और अध्ययन में हानि होगी इस लिए वहां जाना उचित नहीं है, इस इष्टात्मिका और अनिष्टात्मिका प्रवृत्ति का केन्द्र मन ही है, इसको विचारने तदनुकूल अनुष्ठान करने से मनुष्य को सुख लाभ, और हानि की हानि होती है॥

अब चित्त का निरूपण किया जाता है—

स्मरणात्मकं चित्तमिति ॥५४॥

दृष्ट, श्रुत, कृतादि व्यवहार को स्मरण में लाना चित्त का कार्य है। यह इति शब्द से प्रकट होता है। वह ही पुरुष

बुद्धिमान् होता है जिसकी स्मरण शक्ति (याददाश्त) अच्छी हो। यह एक प्रकार का अनुभूत विषय का कोष है। मनुष्य को जब किसी अतीत विषय का स्मरण करना होता है तो इस चित्त में ही उस चित्र का अन्वेषण करता है, मिल जाने से शान्त, प्रसन्न और न मिलने से अशान्त, व्याकुल और मुरझाया सा रहता है। यह सर्वदा अनुभूत विषय का पक्षपाती है उस की रक्षा करना इसका धर्म है। जो इसके अनुभव में नहीं आया है यह कदापि उसकी चिन्ता नहीं करता है। यदि किसी वस्तु को १० वर्ष पूर्व देखा है और जिसका कभी ध्यान भी नहीं आया है उसके सामने आते ही समस्त पूर्वापर वृत्त सामने आने लगता है। जैसे समय पर वृक्षों में पुष्पादि प्रकट हो जाते हैं चित्त के कोष में से पूर्वानुभूत विषय के प्रादुर्भाव के लिए केवल उद्बोधक की आवश्यकता है। अन्यथा स्थूल विषय तो जिनकी सामग्री सर्वदा इधर उधर रहती है सामने आते ही रहते हैं। सूक्ष्म विषय विद्यमान होते हुए प्रायः लुप्तसम हो जाते हैं। मन तो भविष्यत्काल में संकल्प करता हुआ उसको व्यवहार के लिए वर्त्तमान में लाता है और चित्त अतीत विषय को वर्त्तमान में दर्शाता है, दोनों में इतना ही भेद है। अन्तःकरण का तृतीय भेद बुद्धि है उस का वर्णन किया जाता है यह पूर्वोक्त दोनों से सूक्ष्मपदार्थ है—

निश्चयात्मिका तत्त्वपक्षपातिनी च बुद्धिः ॥५५॥

किसी वस्तुस्वरूप का निश्चय करना और सदैव तत्त्व (यथार्थ) बात का ही पक्षपाती होना बुद्धि का कार्य या स्वभाव है। जब तक मनुष्य को किसी विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं

होता, तब तक संशय और विपरीत ज्ञान का बल बढ़ता ही जाता है, जो हर प्रकार उपद्रवोत्पादक और हानिकारक है। इस दोष को दूर करना शुद्धबुद्धि के ही अधिकार में है इस के निवारण के लिए उपायान्तर कोई नहीं। बुद्धि के पवित्र हो जाने से मन अपने कार्य को यथार्थ रूप में करता है उसमें अनुचित संकल्प करने की सत्ता जाती रहती है और स्मरणात्मक चित्त में स्मरण की गति तीव्र हो जाती है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि संसार के सर्व व्यापार और समस्त व्यवहार बुद्धि के ही आश्रित हैं अत एव जिस दोष से बुद्धि दूषित हो जाती है उस दोष से मनुष्य के सर्व पुरुषार्थ का दूषित हो जाना अवश्यम्भावी है। वेदों में बुद्धि के लिए बड़ी सुन्दर प्रार्थनायें हैं और इसकी प्राप्ति के लिए अनेक उपाय भी बताए गए हैं, इस की यथार्थावाप्ति से मनुष्य की देवता और पितर संज्ञा होती है। यह एक प्रकार का प्रकाश है जिस से अविद्या अन्धकार का नाश हो जाता और जीव आत्मा शुद्ध बन कर मोक्षपद को पाता है। प्राकृतिक प्रकाश से अज्ञानतम विनाश को प्राप्त नहीं होता। उसका केवल प्रत्यक्ष ध्वान्त को ही हटाने या मिटाने का सामर्थ्य है। यथा—मनुष्य ने अपनी समझ से बैल को नाथ से, अश्व को लगाम से, उष्ट्र को नकेल से और हाथी को अंकुश से अपने वश में कर लिया है, इतना ही नहीं अपितु प्रत्येक पशु, पक्षी को बन्धन में लाने के लिए अनेक उपाय रचे हैं, इसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को अपने अधिकार में कर लेता है। क्या आप को यह प्रत्यक्ष नहीं कि अन्धकारमयी रात्रि में भटकते, स्थान २ में

भटकते और कण्टकाकीर्ण जङ्गल या गर्त्त में अपने को पटकते हुए जन उस पुरुषार्थी पुरुष के अनुगामी नहीं बनेंगे जिस का साथ प्रकाश दे रहा होगा, अवश्यमेव उस के ही पीछे चलना पड़ेगा । यह दृष्टि सृष्टिवाद सत्य है केवल गल्प नहीं है। ठीक इसी प्रकार जिन देशों या जातियों ने पुरुषार्थ या उद्योग से विद्या प्रकाश के महत्त्व को जान कर उस से प्यार किया और उस का सहारा लिया प्रकाश हीन अन्धकार में विलीन जन समुदाय को उन के आधीन ही होना पड़ेगा, यह ही कारण है कि वेदों में स्थान २ पर बुद्धि के बढ़ाने, विज्ञान को जगाने और अज्ञान को नसाने का उपदेश पाया जाता है और परमात्मा से बुद्धि प्राप्त्यर्थ प्रार्थना के अनेक मन्त्र पाए जाते हैं । यह सत्य ही है कि जिस के सुधर जाने से लोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हों उस की प्राप्ति के निमित्त जगदीश्वर से प्रार्थना, याचना करनी ही चाहिए परन्तु प्रभु की कृपा का वही पुरुष पात्र बन सकता है, वही उत्तम अधिकारी है जो अपने पुरुषार्थ के अनन्तर परमेश्वर से याचना करता है । आलसी पुरुष की प्रार्थना को प्रभु स्वीकार नहीं करता । पुरुषार्थ करो, उद्योगी बनो, आलस्य को त्यागो, उत्साह से उद्यम में लगो, यह प्रभु की आज्ञा है । स्वामी की आज्ञा का पालन करना सेवक का काम है फिर उस को संसार में सर्व प्रकार से सुख और आराम है ॥

अब व्यतिरेकभाव से इस की जांच करें—

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥५६॥

यह गीता का अनुशासन है कि प्रथम पुरुष की बुद्धि का

विनाश होता है, उसके पश्चात् वह काल का ग्रास बनता है, इस का यह कारण है कि बुद्धिवैपरीत्य से विपरीतकारिता का उदय होने लगता है, पुनः इस प्रकार के कार्यक्रम से कर्त्ता के अनुकूल परिणाम नहीं होता, जिस से उत्तरोत्तर मनोमालिन्य और हतोत्साहिता बढ़ती ही जाती है। दिनोदिन चिन्ता चक्र में लाती और मनोवृत्ति घबराती है, यह मनुष्य की मृत्यु के चिह्न हैं। यह ही दशा देश और जाति पर लागू हो सकती है। बुद्धि हीन धनवान् पुरुष को धन से कुछ लाभ नहीं होता, वह या तो कञ्जूस हो जायगा, अथवा कुमार्ग में धन को लगाएगा, यदि कोई बलवान् होगा तो वह समझ के उलटे होते ही आलसी, आरामतलब बन जाएगा, अथवा अपने बल से लोगों को सताएगा, यदि दैववशात् कोई पुरुष विद्वान् होगा तो बुद्धि में दोष आते ही वह व्यर्थ पुस्तकों के पढ़ने में समय को बिताएगा, अथवा कुत्सित विवाद को उठाएगा, या झगड़ों को बढ़ाएगा। यथा वृक्ष के मूल में दोष आ जाने से वह सर्वावयव दूषित हो कर शुष्क हो जाता है तथैव मनुष्य-जीवन और उस के समस्त कार्य-क्रम का मूलाधार बुद्धि है जिस दोष से यह दूषित अथवा जिन गुणों से यह सुभूषित होगी वही गुण और दोष मनुष्य के कार्य में आ जायेंगे, अत एव उचित है कि मनुष्य बुद्धि की वृद्धि में सदैव यत्नवान् रहे। इस की वृद्धि के जो उपाय हैं वह प्रसङ्ग-वश आगे लिखे जायेंगे॥

अन्वयी दृष्टान्त से भी विचार करें यह यथार्थमार्ग प्राप्तव्य स्थान से सम्बन्ध रखता है—

बुद्धिशुद्धिद्वारासर्वार्थसिद्धिः ॥५७॥

समस्त ब्रह्माण्ड में परमात्मा का ज्ञान काम करता है जिस ज्ञान के आधीन संसार की रचना हो रही है, उस का नाम वेद है और परमात्मा के साथ उसका नित्य-संबन्ध है। उसका ज्ञाता मनुष्य यथार्थ में बुद्धिमान् कहलाता है। सृष्टि-रचना के क्रम के अभ्यास में यदि मनुष्य को प्रेम हो तो पुरुष की बुद्धि संस्कृत होकर सर्वार्थसिद्धि का हेतु बन जाती है। ईश्वर की सृष्टि में ईश्वर का ज्ञान यथार्थ रूप से विद्यमान् है वह स्थिर स्वभाव एकरस उज्ज्वल है। इसकी विमल किरण से मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल होकर प्रत्येक वस्तु को हितकर बनाने, स्वयं लाभ उठाने और अन्य पुरुषों को लाभ पहुंचाने में समर्थ हो जाता है। इस ज्ञान-गौरव से ही मनुष्य स्वयमेव संभल कर अन्य के संभालने में यत्न करता रहता है। यह ही सन्मार्ग है जो मनुष्य–समाज का रहबर (नेता) बनकर अभीष्ट स्थान तक पहुंचाता है। शुद्ध बुद्धि का यह ही चिह्न है और तद्वान् का यह ही लक्षण है कि वह अहित से पीछा छुड़ाता और हित को सामने लाता है। बुद्धिहीन पुरुष का अहित पीछा करता जाता और हित निकट नहीं आता, इतना ही भेद है। प्रत्यक्ष–सिद्ध बात का तो कदापि अपवाद नहीं हो सकता। पाठक विचार करें ! कि कपास का बीज रासायनिक–विधि से सम्पुटित, परमात्मा की ओर से सदा सबको प्राप्त और लोष्ठ भूमिगर्भ में प्राकृतिक नियम से सदैव बनता हुआ व्याप्त है और सदैव मनुष्य-समुदाय वस्त्रादि उपयोगी वस्तु प्रस्तुत करता रहता है, परन्तु सम्प्रति कपास को साफ़ करने, तुतन बनाने

और वस्त्र बुनने के औज़ार कितनी उन्नति कर गए हैं। एक प्रकार की रुई से अनेक प्रकार के तन्तुओं का निर्माण पुनः एक २ विधि तन्तु मेल जोल से अनेक प्रकार के वस्त्रों का विधान मनुष्यबुद्धि को चकित और आकर्षित करता है। द्वितीय—हरित पीतादि वर्ण भेद से अनेक वर्ण भेद, चित्र, विचित्र, लता पुष्पान्वित मनोहर वस्तु विधान मनुष्य विचार को व्यामोह में डाल रहा है। यह भी सत्य ही है कि यन्त्र विद्या की इस अनोखी उन्नति से लाभ के साथ साथ मनुष्य समाज की असत्य कर्मों में प्रवृत्ति, कुत्सित मार्ग में गति और निन्दित कर्मों में मति अधिक झुकती जा रही है। विलासिता ने अपना बल बढ़ाया, विषय भोग लिप्सा ने मनुष्य को अपना दास बनाया, चञ्चलता से मनुष्य मति व्याकुल, इच्छा बाहुल्य से अन्तःकरण सर्वदा समाकुल, स्वार्थसिद्धि बलवती, परार्थचिन्ता में अल्पमति प्रीतिरीति में प्रयोजन का विकास, व्यर्थ वैरभाव से परस्पर का त्रास, विचार हानि से परस्पर विवाद का उत्थान उचित कर्त्तव्य में अनुचित का स्थान, धनप्राप्ति में सदैव मन मग्न, योग्यायोग्य का न विचार करते हुए सर्वदा उस के उपार्जन में संलग्न हैं, यह देखने में आ रहा है। यह ठीक है कि जब लाभ की मात्रा मर्यादा से अधिक बढ़ जाती है तो ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी परिस्थिति से फिसल ही जाता है। कितने आश्चर्य की बात है कि विद्या का इतना प्रकाश होते हुए भी १४ वर्ष पर्यन्त स्कूल, पाठशाला, कालेज और गुरुकुलों में सदुपदेश सुनते हुए, मनोमालिन्य को धोते हुए जीवन को बिताते हैं, परन्तु फिर भी अविद्या के साथ रहने वाले दोषों

का जब अधिक उदय हो रहा है, जिससे दिनोदिन क्लेश बढ़ रहा है, तब कहना ही पड़ेगा कि सन्मार्ग हस्तगत नहीं हुआ। अत एव उपर्युक्त वचन में यह कहा है कि बुद्धि शुद्धि द्वारा सर्वार्थ सिद्धि होती है। वर्तमान में जो कार्य हो रहे हैं वह बुद्धिनिर्मित हैं अत एव इनमें दोषों का आजाना तो अवश्यम्भावी है। ऐसे स्वार्थप्रधानकाल में भी इन दोषों को दबाकर, स्वार्थ से पीछा छुड़ा कर और उदारता को जगाकर, जो लोकोपकार में संलग्न हैं ऐसे महानुभाव धन्य हैं परन्तु उनकी संख्या अत्यल्प है। अब इस मध्यवर्ती आलाप को छोड़ कर प्रकृतविषय का अनुसरण किया जाता है॥

एक द्रव्य अनेक गुणों का आधार होता है और उन के परस्पर के मेल से अनेक प्रकार का व्यापार होता है। प्रत्येक वस्तु सृष्टि नियम से परिणाम तो पाती है किन्तु जब तक किसी ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का उसको आघात न पहुंचे तब तक अपना वैभव नहीं दिखाती और न ज्ञान की महिमा को प्रकाश में ही लाती है। संप्रति जितना विज्ञान का बल देखने में आरहा है यह सब पांच भूतों और उनके अवान्तर भेदों का (हेलमेल और किसी बुद्धिमान् की बुद्धि का ही सब) खेल है, जिस ओर दृष्टि पसार कर देखोगे इन दोनों का ही समस्त प्रपञ्च सिद्ध होगा। इनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब पता नहीं चलता है कि तार स्वयमेव ख़बर दे रहा है, या उस में कोई ख़बर भेज रहा है, आकाशयान स्वयमेव ही उड़ रहा है, या उसको कोई दूसरा उड़ा रहा है। मेल ट्रेन अपने आप सहस्रों मनुष्यों को उठाकर दौड़ रही है, अथवा उसको कोई अन्य दौड़ा रहा है, किसी

प्रकार भी भेद प्रतीत नहीं होता। आप विचार करें कि मनुष्य बुद्धि के प्रभाव से प्रभावित होकर लकड़ी गाड़ियों के, और लोहा इञ्जन के स्वरूप में किस प्रकार परिणाम पा गया। यद्यपि ट्रेन चलने के लिए स्टेशन पर तैयार खड़ी है, तथापि किसी बुद्धिमान् पुरुष के प्रयत्न की प्रतीक्षा कर रही है, जब उसने आकर एक कल को सबल किया, तब समस्त गाड़ी चक्र में आकर भागने के लिए चञ्चल हो गई, और प्रति घंटा ४५ मील की दूरी से गति करने लगी। लोष्ठ काष्ठादि पदार्थ पृथिवी-विकार और अग्नि आदि भूतावयव समस्त जड़ पदार्थ हैं, इनमें गति करने की स्वयमेव शक्ति नहीं है, और मनुष्य में भी इनकी सहायता के बिना इतना प्रबल कार्य करने की सामर्थ्य नहीं है, अत एव यह ही मानना होगा कि मनुष्य की बुद्धि शुद्धि द्वारा (उदय होने वाले विचारों के आघात से पञ्चभूतावयव में) इस अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है, यद्यपि सम्प्रति यन्त्रकला की वृद्धि के साथ २ हानि भी हो रही है तो भी बुद्धि-वैभव का तिरस्कार नहीं हो सकता। ईश्वरीय सृष्टि में प्रभु का ज्ञान काम करता हुआ दृष्टिपथ में आ रहा है, और मानवी सृष्टि में मनुष्य का विज्ञान अपना प्रभाव बता रहा है, परन्तु मनुष्य बुद्धि की समस्त रचना परमात्मा की कृति के आधीन है, यह जानना चाहिए॥

अब अन्तःकरण का चतुर्थ भेद जिसकी अहंकार संज्ञा है उसका निरूपण किया जाता है—

पूर्वं निश्चित्य पश्चात्करोमि करिष्यामि वेत्यमिमानमहंकारः ॥५८॥

प्रथम—किसी कार्य को बुद्धि से निश्चय करके पश्चात्

इसको मैंने किया था, करता हूं अथवा करूंगा इस प्रकार अहं-कृति का जो उदय होता है, उसका नाम अहंकार है। यदि मन आदि इसके पूर्वांग सद्व्यापार में गति करें तो इस अस्मद्पद-वाच्य अहंकार का आत्मस्वरूप में समावेश हो जाता है और स्वरूप साक्षात्कार का हेतु बन जाता है। मन में शिवसंकल्प का उत्थान और विपरीत भाव के हटाने का ध्यान चित्त में उत्तम अतीतवृत्ति का स्मरण करना और विपरीत स्मृतिधारा के उत्थान में डरना, बुद्धि में सद्विचारों के उदय होने से प्रीति और सदा मन्द विचारों से भीति रखना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है, पुनः अहंकार तो स्वयमेव सुधरा हुआ ही है। परन्तु मन, बुद्धि, चित्त की विपरीतकारिता से यह प्रबल प्रचण्ड शत्रु हो जाता है फिर जितने भी उपद्रव हों वह अल्प हैं इस के बिगड़ने के पश्चात् अनर्थ चिन्ता, अनिष्ट विचार, कुत्सित ध्यान, क्रोध लोभ की सन्तान, परोत्कर्ष दर्शन और श्रवण से ग्लानि, परोपकार करने में अभिमानी सदा ही तत्पर रहता है। अहंकार जिस दोष से दूषित हो जाता है, सर्वांग अन्तःकरण उस ही विचार का अनुसरण करता है, अर्थात् यह अंगी बन कर उनको अपने अङ्ग बना लेता है, और स्वयं अग्र-गामी होकर उनको अपने पीछे लगा लेता है, यह इसकी महिमा है। जब यह अपना वेग बढ़ाता है तो फिर बुद्धि को विचार करने का अवसर नहीं मिलता। उस समय मनुष्य उचितानु-चित विमर्शविहीन होकर व्यामोह के जाल में फंस जाता है। इसके सुधारने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं, केवल मन आदि का सत्पथ में गति करना, मन्द मार्ग में न बढ़ना ही अधिकार

में करना होता है। बहुत अंश में यदि मनुष्य को अपने सुधरने का ध्यान हो तो यह बात इसकी योग्यता के अधीन ही है, परन्तु यदि पूर्वादृष्ट और प्रभुप्रेरणा इसकी सहायक हो। अत एव विचार पूर्वक प्रयत्न करना ही मनुष्य का काम है, फिर इसको सर्व प्रकार का आराम है। एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि किसी पुरुष ने निज कर्त्तव्य जान कर प्रभुभक्ति की लगन में मगन रहना अपना स्वभाव बना लिया था, उस में आने वाली रुकावटों को हटाना और उसके सहकारी कारणों को हस्तगत करने का यत्न दीर्घकाल तक किया था, अन्त में इस श्रम का फल स्वरूप यह हुआ कि उस महात्मा की वाणी में सत्यता और उन के मुख से उपदेश श्रवण करने वालों के मन में निर्भयता का उदय होने लगा। उस महात्मा के विषय में बड़े प्रेम भरे शब्द कहते और सदैव प्रशंसा करने में उत्सुक रहते थे। वास्तव में उस प्रभुभक्त का गौरव गुणों से था, वह जैसा मुख से कहते थे, वैसे ही जीवन से रहते थे ऐसी अवस्था को प्राप्त करके भी पूर्वमन्दकर्मविपाक से यह विचार उत्पन्न होने लगा कि अहो! मैंने परमेश्वर भक्ति से कैसी शक्ति को प्राप्त किया है। मेरे तुल्य इदानीं कोई अन्य नहीं, सर्वजन मेरी प्रशंसा करते हैं, मेरा कहा हुआ वचन सत्य ही होता है जिन लोगों को ईशभक्ति में अनुराग नहीं वे बेसमझ हैं, अज्ञानी हैं और मूर्ख हैं ऐसे वचनों से अपने को धन्य मानने और अन्य पुरुषों को तुच्छ जानने लगा। ठीक इसी अवसर में अहंकार के उदय होते ही एक आवरण आगया और हृदयावकाश में ऐसी ध्वनि होने लगी कि अहंकार को जगा कर, मन्द विचारों को उठाकर,

आत्मश्लाघा को बढ़ा कर, विपरीत मार्ग का अनुसरण, भक्ति के फल को खोकर, किया कराया सब कुछ डुबो कर, जागता हुआ प्रमाद में सोकर, असद्विचारों का अनुकरण किया। स्वमुख से अपनी प्रशंसा करना, छल छद्म में वर्तमान साधु स्वरूप धरना इन अधूरे उपायों से संसार सागर का तरना किसी को भी प्राप्त हुआ है ? भक्ति के आनन्द को न उठाकर सन्मार्ग लाभ करके उस में अपने को चला कर, लोक दम्भ में अपने को उलझा कर कौन परमात्मा का सच्चा भक्त कहला सकता है। तुम ने भक्ति से फल लाभ तो किया परन्तु गर्व अहंकार ने तुझे गिरा दिया। मेरे मित्र ! अहंकार और सच्चरित्र का समानाधिकरण नहीं है, परमात्मा का अहंकार से वैर है, अत एव अभिमानी पुरुष परमेश्वर से विरोध करता है। वह बलहीन दीनजनों को सताने से कब डरता है, तुमने जहां से भक्ति करना आरम्भ किया था वहां ही पहुंच गये, यह सुन कर रोया। मैंने मूर्खता से भक्ति के फल को खोया। ऐसी अवस्था में विकल हो गया और कुछ देर के लिए सो गया फिर जगा और उसी श्रम में लगा। कौन जाने वह स्थान उस को प्राप्त होता है कि नहीं ?

मेरे मित्र ! शुभ कार्य करने से पूर्व अपने मन से अहंकार के भाव को दूर कर दो, अन्यथा जैसे कर्पूर की सत्ता को वायु उड़ा देता है और उस के नाम को मिटा देता है, ठीक इसी प्रकार अहंकार का वायु इष्ट कर्मों की सत्ता को अनिष्ट में परिणत कर देता है। धन, बल, विद्या वैभव को प्राप्त करके पुरुष को परमात्मा का धन्यवाद करके विनय को प्राप्त होना

चाहिए, जिस से दूसरों को सुख मिले। व्यर्थ अभिमान किसी के सुख का कारण नहीं होता ॥

प्रसंगाऽऽगत कोशों का निरूपण भी साधु है—

उपनिषदानुशासनात्—कोशाः पञ्चविधम् ॥५६॥

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का व्याख्यान है उनमें आत्मसाक्षात्कार का विधान है। आत्मतत्त्व परम सूक्ष्म है, उसका ज्ञान दुर्गम है, यह शास्त्र बता रहा है। अवान्तर धर्म प्रकार के बोधार्थ सामान्य धर्म-प्रकार के ज्ञान को हेतुता है। सूक्ष्मपदार्थ की जिज्ञासा के निमित्त स्थूलपदार्थ का ज्ञान हितकर होता है, अत एव अधिकारी के सुगम बोधार्थ शरीरान्तर्गत कोश का निरूपण किया है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय भेद से पांच कोश प्रसिद्ध हैं। कोश नाम आवरण (ढकने) का है, वह अन्य वस्तु की रक्षा के निमित्त ही होती है, जैसे तलवार की रक्षार्थ म्यान को भी कोश कहते हैं। इस प्रत्यक्ष स्थूल शरीर की अन्नमय कोश संज्ञा है। इस को पंचभूतात्मिक भी कहते हैं, इसका यह कारण है कि इस की परिस्थिति के निमित्त पृथिव्यादि पांच भूत ही हैं, इन की सहायता के बिना इसकी स्थिरता हो ही नहीं सकती। इस अन्नमय कोश की वृद्धि और पुष्टि अन्नादि से ही होती है और इसके ठीक न मिलने से यह दुर्बल होकर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है अत एव इसकी रक्षा करने से ही धर्म की रक्षा होती है, सुरक्षित शरीर ही संसार सागर संतरण की तरणी है। यह अनित्य तो है परन्तु नित्य परमात्मा की प्राप्ति का निमित्त बन जाता है, यह समल है परन्तु निर्मल, पवित्र मोक्ष

सुख का साधन है। इस त्वक्, मांस, रुधिर, मज्जा, मेद और अस्थि, शुक्र समूह की अन्नमय कोश संज्ञा है। जब आहारादि के निमित्त से ही यह पुष्टि को प्राप्त होता है तब बलवर्धक, रोगनिवारक, स्वास्थ्य रक्षक अन्न का सेवन करना ही उचित है, उसका लक्षण यह है—

अशनं त्रिविधं हितं—मितं—ऋतश्च ॥६०॥

वह ही आहार ठीक है जो जीवन के लिए हितकर हो। केवल स्वादु लिप्सा से ही भोजन करना विशेष लाभदायक नहीं होता है, प्रत्युत् उस से कभी २ हानि होने की भी सम्भावना है। रसनाइन्द्रिय के आधीन मनुष्य ने ऐसे विलक्षण भोजनों का निर्माण कर लिया है कि जिन से कोई भी स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु रोगों की वृद्धि ही होती जाती है। स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का उपदेश हो रहा है स्वच्छता की ओर लोगों का ध्यान भी है, लगभग एक सहस्र रुपया मासिक तक वेतन पाने वाले हैल्थआफिसर भी कार्य पर नियुक्त हैं, परन्तु रोग अपना बल बढ़ाते ही जाते हैं। मूल में दोष आजाने से केवल बाह्योपायों से क्या हो सकता है। मनुष्य का जीवन आहार ही है, इसके बिना यह नाश को प्राप्त हो जाता है। जब उसमें ही दोष आगया तो स्वास्थ्य का दूषित हो जाना अवश्यम्भावी ही है॥

द्वितीय—आहार का विशेषण मित है, स्वस्थ शरीर को भोजन का स्वाद अधिक होता है, वास्तव में स्वास्थ्य ठीक न रहने से ही इतने अधिक प्रकार के आहारों का निर्माण हुआ है, स्वस्थ पुरुष की क्षुधा कभी मन्द नहीं पड़ती है। क्षुधा के समय

मनुष्य को जो भी आहार मिलेगा उस में अधिक लज़्ज़त होगी, क्षुधा के बिना सुरस आहार भी नीरस प्रतीत होगा; ऐसा स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए मनुष्य को परिश्रमी होना चाहिए। परिश्रमजीवी पुरुष प्रायः अधिक तन्दुरुस्त और नीरोग देखने में आते हैं और बहुत अंश में वह चिन्ता से भी मुक्त होते हैं। वृद्धावस्था हो जाने पर भी उन में कार्य करने की शक्ति बनी ही रहती है, नागरिक लोग इस के विपरीत देखे जाते हैं। औषध का इतना अधिक व्यय शहरी लोगों की सहायता से ही बढ़ा है, जो रोग साधारण आहार के करने या उपवास चिकित्सा से अथवा अल्पश्रम से ही दूर हो सकता है, उस की निवृत्ति के लिये यह तत्काल औषध का सेवन करने लग जाते हैं। इतना अधिक औषध सेवन करना रोग-वृद्धि का निदान है, औषध का यह स्वभाव है कि रोग को निवृत्त कर के पुनः भविष्य में उस की आवृत्ति के निमित्त कुछ न कुछ अपना प्रभाव छोड़ना ही होता है, जैसे आहार ही क्षुधा को मिटा कर कालान्तर में उस को लगाने का निमित्त बनता है, इस प्राकृतिक नियम का पालन करना अवश्यम्भावी है, परन्तु औषधसेवन पर यह नियम पूर्णतया लागू नहीं हो सकता, उस का इतना अधिक उपयोग करना लाभदायक सिद्ध नहीं हो रहा, अत एव मनुष्य को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस में दोष आ जाने से संसार की समस्त वस्तु अहितकर प्रतीत होती हैं। रुग्ण पुरुष का जीवन दूसरों के अधीन हो जाता है सर्वदा चिन्तातुर रहने की उस की प्रकृति बन जाती है, तब उस की प्रसन्नता का कारण (धन, बन, गृह,

जन आदि) कोई भी वस्तु नहीं रहती। अत एव सृष्टि के समस्त पदार्थों में स्वास्थ्य का दूसरा स्थान है, इस लिए मित आहार करने से तन्दुरुस्ती साथ देती है क्षुधा ठीक लग जाने से भोजन करना, अल्प क्षुधा या कुछ रुचि शेष रहने से भोजन का त्याग करना स्वास्थ्य रक्षा के नियमों में एक उच्चतम नियम है, इस के पालन करने से मनुष्य कभी दीर्घ रोगी नहीं होता और न कभी उस का स्वास्थ्य ही बिगड़ता है। नागरिक लोगों के आहार में बहुत ही भेद हो चुका है, इस कारण से उन की अवस्था बिगड़ गई है और उस के सुधार के निमित्त औषधसेवन में रुचि बढ़ती जाती है, इस का अधिक वर्णन आगे किया जायगा॥

भोजन का तृतीय विशेषण ऋत है–प्रकृति नियम के आधीन प्रत्येक समय में औषध (फलादि) अनेक प्रकार के उत्पन्न होते ही रहते हैं। देश, काल इस नियम का सहकारी कारण है। यदि मनुष्य प्रकृति के अनुकूल अल्प भी उस नियम का सेवन करे तो स्वास्थ्य सर्वदा बड़ा ही सुन्दर रहे। यदि आप विचार दृष्टि से अभ्यास करें तो प्राकृतिक नियम विलक्षण कार्य करता हुआ दिखाई देता है। शीतकाल में यदि सर्दी का रुख़ बाहर की ओर होता जाता है तो उस काल में उष्णता की गति अभ्यन्तर की ओर झुकती जाती है। यह ही कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में कूपादि का जल शीतल होता है और शीत ऋतु में उष्ण हो जाता है। बाहर की उष्णता को अन्दर का शीत और बाह्य शीत को अन्दर की उष्णता सहारती है, यह नियम जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हो रहा है अन्यथा जीवन

की परिस्थिति ठीक न रहती, जैसे विदुषी बुद्धिमती माता गर्भावस्था से लेकर पांचवर्ष पर्यन्त शुद्ध परिमित और समयानुकूल आहारादि के सेवन से बालक में सौंदर्य को लाती और नीरोग बनाती है, उसी प्रकार प्राणीमात्र को (मातृस्थानापन्न-प्रकृति) नीरोग बनाने, जीवन को बढ़ाने में सदैव तत्पर रहती है। परन्तु इसके सूक्ष्म नियमों का परिज्ञान होना साधारण पुरुषों के लिए कठिन सा है, यह ही कारण है कि मनुष्य स्वेच्छाचारी होकर प्रकृति के नियमका उल्लंघन करता हुआ तन्दुरुस्ती के सुख को न उठाकर उलटा दुःख पाता है। जो पौदे फल के पक जाने से शुष्क हो जाते हैं प्रायः उन सब को ओषधि कहते हैं यथा–गोधूम, यवादि, अन्य आम्रादि वृक्षों का नाम वनस्पति है यह एक सामान्य नियम है। प्रत्येक समय में उत्पन्न होने वाली वस्तु (जो आहारोपयोगी हो उस का विचार कर सेवन करने से) जीवन के लिये लाभदायक होती है। कुछ पदार्थ तो ऐसे होते हैं, कि जिनका उपयोग हर समय ही होता है और कुछ ऐसे होते हैं कि जिनका उपयोग समय के परिवर्तन के साथ ही बदल जाता है, जैसे कि उष्णकाल में जल मिला कर और शीतकाल में उष्ण करके दूध का पीना और धारोष्ण दुग्ध का पान करना प्रत्येक समय में उपयोगी है, इस नियम के साथ मनुष्य को प्रकृति का ज्ञान होना उचित ही है। सम्प्रति मनुष्य की प्रकृति आहार के विपरीत होजाने से यथार्थ परिस्थिति से कुछ फिसल गई है, बहुत से पुरुष ऐसे देखे जाते हैं कि जिनको स्वाभाविक दुग्ध प्रतिकूल और अस्वाभाविक चाय अनुकूल होती है। समझ में नहीं आता कि यह विपरीत नियम मनुष्य-

जीवन के लिए कैसे हितकर सिद्ध हुआ। दुग्ध का सूक्ष्मांश गर्भस्थ बालक को भी मिलता है और पुनः तीन वर्ष पर्यन्त बालक को दुग्धपान करना माता का हो अथवा गौआदि का जीवन के लिए अनिवार्य है। जीवन के लिए ऐसा हितकर पदार्थ मनुष्य प्रकृति के विपरीत कैसे हुआ? यह केवल विपरीतकारिता का प्रभाव है। जैसे मारक विष भी सेवन करने से मनुष्य प्रकृति के अनुकूल और मनुष्यप्रकृति विष के अनुकूल हो जाती है। बस यही नियम प्रत्येक वस्तु पर लागू हो सकता है। समझ लेना चाहिए कि सम्प्रति मनुष्य ने आहार को बिगाड़ा है, इसलिए हर समय उसके लिए व्यर्थ उधेड़ बुन का पसारा है। संसार में अनन्त वस्तु उत्पन्न होती हैं। जो खाद्य पदार्थ हैं उन सब को खाने की, और जिस से जो कार्य बनता हो उस के बनाने की प्रकृति आज्ञा देती है, इस में ही लाभ है और इसके विपरीत चलने में हानि ही है॥

भोजन का बनाना अग्नि पर वाटिका लगाना है। यदि भोजन ध्यान और समय के ज्ञान से बनाया जाय और उचित समय पर खाया जाय तो यह स्वादु, रुचिकर और स्वास्थ्य रक्षा में बड़ा ही हितकर होता है। प्राचीन आर्य स्त्रियां भोजन-प्रकार और युक्ति युक्त आहार के विचार से सन्तान को बहुत अंश में सुन्दर, सुडौल, सबल और नीरोग बना देती थीं और बालकपन में ही बालकों को पूरे श्रम से, हितकर शिक्षा से, सुबोध बनाने में यत्न करती थीं और इस कार्य को भली भांति सम्पादन करना अपना मुख्य कार्य मानती थीं। उन को यह ज्ञान था कि भोजन एक औषध है, जो शरीर के साथ उत्पन्न

होने वाली बीमारी (क्षुधा) को मिटाता और फिर कुछ समय पश्चात् क्षुधा को लगाता है, जिस से ज्वरादि रोग भी बहुत अंश में पीछा छोड़ देते हैं। यदि समयोचित भोजन स्वच्छ और रुचिकर हो तो उस को बलवर्धक, रोगनाशक और हर्षप्रद अवश्य ही होना चाहिए। इस के साथ २ स्वास्थ्य के अन्य नियमों का भी (जो इस के सहायक हों) आदर करना उचित है। सम्प्रति भी महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त के सद्गृस्थों में स्त्रियां भोजन बनाने में कुछ न्यूनता के साथ प्राचीन आर्य स्त्रियों का अनुकरण करती हुई देखी जाती हैं। पञ्जाब में इस बात की बहुत कमी है, इन को न समय का ध्यान और न भोजन बनाने का ही ठीक २ ज्ञान। शरीर को दृढ़, सुन्दर और नीरोग बनाने के लिए भोजन का ज्ञान स्त्रियों को अवश्य ही होना चाहिये और इस को पूरे ध्यान से बनाना चाहिए। अब इस मध्यवर्त्ती आलाप को छोड़ कर प्रकृत विषय पर ध्यान देना चाहिए। यह स्थूल शरीर जो सब को प्रत्यक्ष है, इस का नाम अन्नमयकोश है यह पूर्व कहा गय है ॥

प्राणमयकोशस्तु द्वितीयः सर्वेषांप्राणिनां जीवनम् ॥६१॥

द्वितीय-प्राणमय कोश अन्नमय कोश का अन्तरात्मा और सब प्रणियों के जीवन का निमित्त है। जो वस्तु जिसके अन्दर हो उस को उपचार से उस का आत्मा कहते हैं, अत एव प्राण-मय कोश को स्थूल शरीर के अन्तर्गत होने से उस का आत्मा कहा गया है। प्राण की गति का निरोध करने और नियम पूर्वक चलाने के लिए इस स्थूल शरीर की ज्ञानपूर्वक और सुदृढ़ रचना की गई है, अन्यथा उस का रुकना बहुत ही कठिन या

असम्भव था। प्राण केवल वायु ही नहीं किन्तु अग्नि, जल और वायु तीनों के संघात का नाम है, वायु तो स्वभाव से ही चंचल होता है। किन्तु जब उस का अग्नि और जल की सहायता मिल जाती है, तब वह बड़ा ही तीव्र और प्रचण्ड आघात करने में समर्थ हो जाता है और शरीर में अनेक छिद्र होने से जिस ओर से चाहता उस ही ओर से निकल जाता है। इसकी रोक थाम और जीवन धाम को स्थिर करने के लिए स्थूल शरीर की अद्भुत रचना की गई है। यह स्थूल के समान ही अन्दर फैला हुआ है, इस के ही प्रताप से बालक युवा बनता और इस के ही दौर्बल्य से युवा वृद्ध हो जाता है। इस के ठीक हो जाने से बीमार तन्दरुस्त और इस के दूषित हो जाने से स्वस्थ रोगी हो जाता है। उपनिषद् में सूक्ष्म इन्द्रियों का नाम भी प्राण कहा है। नाभिचक्र इस का मूलाधार है, इस स्थान से ही प्राण का आघात सर्व शरीर में रुधिर को इधर उधर ले जाने में और शरीर को स्वस्थ बनाने में काम करता है, सूक्ष्म इन्द्रिय और श्वास प्रश्वास के सहित शरीरान्तरवर्त्ती समस्त वायु का नाम प्राणमय कोश है। इस का कार्य क्षुधा को लगाना, अन्न का पचाना, शरीर को फुर्तीला बनाना, उछल कूद और दौड़ धूपादि करना है। आप विचार करें कि मस्तिष्क विचार और शरीर कार्य करता हुआ थकावट में आ कर अपने २ काम को छोड़ देता है, नेत्र और श्रोत्रादि इन्द्रिय अपने २ विषयों को अनुभव करती हुई उपराम को प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु प्राण श्रम से अपना कार्य कभी भी बन्द नहीं करता और सदैव जागरूक है, कभी भी थकावट में नहीं आता। इस की रचना से

प्रभु की महिमा की प्रसिद्धि होती है । दृष्टान्त-खेलने वाले बालक फुटबाल में वायु को भरते हैं फुटबाल की बाह्य सीमा ने वायु को रोका और निरुद्ध हुई वायु के द्वारा (आघात मिलने से) उस का ऊपर को जाना और भूमि पर पड़ते ही तत्काल फिर ऊपर को उछलना होता ही रहता है। ठीक इसी प्रकार शरीर ने प्राण वायु की रोक थाम की हुई है और उस ने अपने वेग से शरीर को प्रत्येक कार्य में सहारा दिया हुआ है। फुटबाल की वायु के निकल जाने से वह बेकार हो जाती है और प्राण वायु के अभाव से जीवन शक्ति भी दृष्टि में नहीं आती है ॥

अब मनोमय कोश का निरूपण किया जाता है-

मनस्तन्त्राणि इन्द्रियाणि ॥६२॥

स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राणमय कोश सूक्ष्म है, परन्तु मनोमय कोश की अपेक्षा यह स्थूल जाना जाता है, अत एव प्राणमय कोश का मनोमय कोश अन्तरात्मा कहा गया है। जितनी इन्द्रियां हैं, वह सब मन के अधीन हैं, इस को अनुपस्थिति में कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं करती । इस के मेल से ही प्रत्येक इन्द्रिय अपना कार्य करने में सावधान हो जाती है। अत एव विषयों की ओर गति करती हुई इन्द्रियों के वेग को रोकने का यह ही ठीक उपाय है कि मन में सद्विचारों का उदय और दुर्विकल्पों का अस्त हो। पुरुष यदि अपने सुधारने का विचार पूर्वक अभ्यास करे तो सफल हो सकता है । यदि एक पुरुष किसी कार्य को कर सकता है तो उस को दूसरा भी कर सकता है, यह दृष्टचर है, इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वभावतः विषयों की ओर होती है, इन की रचना प्राकृतिक

नियम से ऐसी ही है, परन्तु नियम का भङ्ग कर के प्रवृत्त होने में हानि और नियम का पालन करने में लाभ है । मन को समाहित करने के उपाय शास्त्रों में विद्यमान और महात्माओं के अनुभव सिद्ध हैं, अत एव स्वाध्याय और सत्सङ्ग करना ही चाहिए ॥

मन सूक्ष्म पदार्थ है, इस का यह स्वभाव है कि सुषुप्ति में इस की शक्ति का संकोच, स्वप्नावस्था में विकाश और जागृत में संकोच विकाश दोनों होते रहते हैं । यह ही विद्या और अविद्या का स्थान है, इस के ही निमित्त से बन्ध और मोक्ष का व्यापार है । सत्पुरुषों को इस के सुधारने के लिए यम-नियमों के पालन करने में प्यार है, इस की सूक्ष्म गति, गौण तथा मुख्य भाव से सर्वेन्द्रियों में व्याप्त है ॥

इस कारण से ही यह एक काल में एक ज्ञान को उत्पन्न करता है न्याय दर्शन में ऐसा ही संकेत किया है। प्राणमय कोश में इस मनोमय कोश की सूक्ष्म सत्ता का सद्भाव है । मनोमय कोश में राग, द्वेष, हर्ष, अनुकूलता में सुख, प्रतिकूलता में दुःख, विषय भोग में प्रवृत्ति, कदाचित् उदासीनता से निवृत्ति आदि की तारतम्यता से गुण-दोष बने ही रहते हैं। इस लिए वेदों में यह प्रार्थना है कि मेरे मन में शिवसंकल्प हों। मस्त हाथी को जैसे उस का महावत अंकुश के द्वारा मार्ग में चलाता है, ठीक इसी प्रकार मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में जाते हुए मन को विद्वान् लोगों ने ज्ञानांकुश से सरल बना कर सन्मार्ग में चलाया और आनन्द पाया है ॥

विज्ञानमय कोश—

विज्ञानबलं सर्वबलप्रधानम् ॥६३॥

सर्व प्रकार के बलों में विज्ञान का बल ही प्रधान (मुख्य) है, यह ही अभ्युदय और निश्रेयस सुख का साधन है। विज्ञानमयकोश सूक्ष्म है इस लिए मनोमयकोश का अन्तरात्मा कहा गया है। मन के सुधरने से सबका सुधार पूर्व बताया गया था, किन्तु अब विज्ञान को सर्व प्रकार के सुखों का साधन बताया जा रहा है, इसका यह कारण है कि वह ही मन ठीक मार्ग का अनुसरण करता है जिस को विज्ञान बल देता है, अन्यथा विज्ञानहीन पुरुष का मन अल्प संकल्प या कुसंकल्प ही करता रहता है। जिस से यथार्थ में न लोक सुख और न परमार्थ सुख ही प्राप्त होता है, मन-इन्द्रिय और शरीर का विज्ञान स्वामी है, जैसे राजा अपनी सेना को स्वस्व कार्य में नियुक्त करता है उसी प्रकार विज्ञान इनसे काम लेता है। इस हेतु से मानसिक विचारों को उसके अधिकाराधीन कहना कुछ अनुचित नहीं है। वेद यह बताता है कि ईश्वरज्ञान के सहारे इस सृष्टि की रचना है और मनुष्य ज्ञान का पसारा सब संसार में देखा जाता है। यह प्रत्यक्ष हो रहा है कि प्रत्येक वस्तु में कोई न कोई गुण होता है और कोई गुण किसी अन्य गुण के सहयोग से अद्भुत शक्ति को प्रकट करता है। यह सब विज्ञान की ही महिमा है। जितना यह विमल हो जाता है, उतना ही अभ्युदय फल सामने आता है, इसकी न्यूनता से न्यून और अधिकता से संसारमार्ग सरल और मनुष्यसमाज सबल हो जाता है। यह ही सत्कर्मों का प्रसारक और मनुष्यसमाज के हितकर नियमों का विस्तारक है, इसकी महिमा से ईश्वर की

प्राप्ति और स्वरूपोपलब्धि होती है। सूक्ष्म होने से मनोमयकोश में इसकी व्याप्ति है। यदि यह विपरीत वासनाओं के आघात से अबल न हो जाय तो विज्ञानमय कोश सदसद्विवेचन, हिताऽहित के निवेचन, श्रद्धा के विकाश, विश्वास के प्रकाश, परसुख दर्शन में हर्ष, परदुःख दूर करने में विमर्श, स्वच्छता से प्रीति, मलिनता से भीति, निर्भयता और उदारता का स्थान बन जाता है। इसकी सहायता से साधारण पुरुष भी लोकोपकार करने में निपुण हो जाता है॥

आनन्दमयकोश—

आनन्दमयोपलब्धेर्मनुष्यकर्तव्यपरिसमाप्तिः कृतकृत्यता च ॥६४॥

परमेश्वर आनन्दमय (प्रचुर आनन्द) है। उसके साक्षात्कार से जीवात्मा आनन्दवाला होकर कृतकृत्य हो जाता है। यहां पर ही पुरुष कर्त्तव्य की परिसमाप्ति हो जाती है, इस दृष्टि से तो कोश चार ही जाने जाते हैं क्योंकि पञ्चम स्थान तो स्वरूप साक्षात्कार और परमात्मदर्शन का है। शुद्धाहार से शरीर सबल, प्राणायामाभ्यास और चिन्तात्याग से प्राण सकल, शिवसंकल्प से मन विमल, विद्याविचार और सत्संग से विज्ञान सफल हो जाता है। पश्चात् जीवात्मा को स्वरूप के जानने और परमात्मा को पहचानने के निमित्त अन्य कोई उपाय शेष नहीं रह जाता है। तात्कालिक इस पूर्णाधिकारी में अनधिकार का किञ्चित् भी पंक नहीं रहता है परन्तु उपनिषद् में पञ्चमकोश का वर्णन करने में कुछ रहस्य होगा। इसको ठीक कहा नहीं जा सकता। यदि इसको तर्क की कसौटी पर परखें तो यह सिद्ध होता है कि कोई आवरण अवश्यमेव है जिस से

जीवात्मा अपने अन्तर रहने वाले परमात्मा का साक्षात्कार नहीं करता। अत एव प्रभुदर्शन के निमित्त सत्संग और विद्या-विचार से उस (आवरण) के हटाने में लगातार यत्न करता रहता है, आत्मा की अल्पज्ञता ही वह आवरण है जो उसको महान् लाभ से वञ्चित रखती है। यदि अविद्या सहचारिणी अल्पज्ञता को आवरण स्वीकार किया जावे, तो कोश पांच ही हैं। जिस प्रकार शरीरादि कोशों का (विवेचनशक्ति से स्वरूपोपलब्धि के निमित्त) निराकरण करना होता है, उस ही प्रकार अल्पज्ञता का परित्याग करके आत्मा को विशेषज्ञता की कोटि में आना ही होता है, इससे अन्य कोई मार्ग नहीं। पूर्व पूर्व कोश की अपेक्षा से उत्तरोत्तर कोश सूक्ष्मात् सूक्ष्म हैं, अत एव अज्ञानजन्य अल्पज्ञता के कोश (जिस ने आत्मस्वरूप को आवृत्त किया हुआ है) का दूर होना अति परिश्रम साध्य है। इसके ही कारण आत्मा का देहादि में अध्यास और पुनः इस से अविद्या बलवती होती जाती है, चक्रभ्रमण के समान इसका आवंर्तन कब से है और कब तक रहेगा यह निश्चय नहीं हो सकता, इसके हटाने के निमित्त इन कोशों का निर्वचन किया जाता है जिस से देहादि अध्यास टूट कर, अविद्याग्रन्थि-छूट कर, स्वस्वरूप का आविष्कार और परमात्मदर्शन का साक्षात्कार हो, अविद्या के मन्द पड़ते ही श्रद्धा, विश्वास, प्रसन्नता, एकाग्रवृत्ति, विषय-वासना की निवृत्ति और सद्गुणों में प्रीति होने लगती है। ऐसी अवस्था का आना पूर्वादृष्ट की सहायता, परेशकृपा और पुरुषार्थ की उत्तमता का फल है। यत्न करना प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है परन्तु यह स्थान सब

को प्राप्त नहीं हो सकता। सूक्ष्म विचारधारा में जाने के लिए स्थूल तरङ्ग का ज्ञान अवश्यम्भावी है। सूक्ष्म लक्ष्य को वेधन करने के लिए स्थूल लक्ष्य पर अभ्यास करना ही होता है क्योंकि आत्मतत्त्व परम सूक्ष्म है, उसके परिज्ञान के हेतु पञ्च-कोशों की विवेचना की गई है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द यह शब्द अन्य लौकिक वस्तुओं के वाचक होते हुए भी आत्मा के भी बोधक हैं। छान्दोग्योपनिषद् में गाथा है कि इन्द्र और विरोचन आत्मविचारार्थ श्रद्धान्वित हो कर प्रजापति के निकट पहुंचे, उस महात्मा ने इन दोनों को कुछ समय के लिए (प्रदर्शित नियम पालन करते हुए उनकी श्रद्धा, जिज्ञासा और प्रेम की जांच पड़ताल करने के निमित्त) ठहरने की आज्ञा दी, उन दोनों ने आचार्य की उक्ति का आदर करते हुए यथोक्त समय सप्रेम व्यतीत किया। तत्पश्चात् प्रजापति ने उन दोनों जिज्ञासुओं को दर्पण में उनके ही प्रतिबिम्ब को दिखा कर 'यही आत्मा है जिस को तुम देखते हो' ऐसा उपदेश किया है। एक ही बात थी केवल समझने में भेद था। उन में से इन्द्र विचार तरङ्ग में तरने और आगे बढ़ने लगा। वह तो यथार्थ में आत्मवेत्ता हो गया और विरोचन इस शरीर को ही आत्मा समझ कर इसके पालनपोषण में ही समय बिताने लगा, अत एव इन्द्र आत्मविचार द्वारा शोक, मोह से पार हो गया और विरोचन विपरीत ज्ञान से उसके मंझधार में ही रहा॥

केन उपनिषद् में आत्मा को मन का मन और प्राणों का प्राण कहा है। विज्ञान, प्रज्ञान नाम आत्मा के लिए आते हैं। आनन्द आत्मा का स्वरूप प्रसिद्ध ही है। यह वचन केवल

साक्षी के लिए दिखाये गए हैं ॥

साधारणतया कोशत्रिवेचनं सुगमबोधार्थम् ॥६५॥

अब उपरोक्त कोशों का कुछ विवेचन सरल बोध के लिए किया जाता है। यद्यपि कोश शब्द के कथन से ही इनमें आत्म-बुद्धि सिद्ध नहीं होती, तथापि स्थूणा-निखनन-न्याय से दृढ़ निश्चय के लिए निरूपण करना संगत ही प्रतीत होता है। मुख्य आत्मा, गौण आत्मा और मिथ्या आत्मा तीन प्रकार का है ऐसा विचार किया है। आत्मा में आत्मबुद्धि होना मुख्यात्मा है, यह यथार्थ विचार सर्व दुःख विनिवृत्ति का कारण है। शरीरादि में अध्यासवशात् आत्मबोध होना गौण आत्मा कहा जाता है। यह अविद्या है जो अनात्मवस्तु में आत्मा का प्रत्यय कराती है। पुत्र धनादि में आत्मा का ज्ञान मिथ्या आत्मा जाना जाता है। पुत्र को तो आत्मा का स्वरूप ही वेदादि शास्त्र उप-चार से कहते हैं, और धन में परंपरा से शारीरिक सुख का साधन होने से साधारण पुरुष आत्मवत् व्यवहार करते हैं। मिथ्या आत्मा और गौण आत्मा का चित्र अविद्या की भित्ति पर ही खेंचा जाता है। जब तक अविद्या की सत्ता का सद्भाव है तब तक इस मिथ्या व्यापार का प्रादुर्भाव है। अविद्या के दूर होने से विद्या प्रकाश में, आत्मा का निजस्वरूप में अवस्थान और परमात्मा का परिज्ञान हो जाता है। सब शास्त्रों का यह ही संकेत, सर्व विद्याओं का यह ही इशारा और इसमें ही मनुष्य जन्म की सफलता है। अन्यथा अन्य सुख तो शरीरांतरों में भी जीवात्मा को अनायास प्राप्त ही हैं केवल एतदर्थ ही इस को सर्वोत्तम ज्ञान का साधन मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है ॥

ननु—स्थूलदर्शी अनेक पुरुष देहादि संघात को ही आत्मा मानते और इसके अतिरिक्त अन्य आत्मा कोई नहीं है ऐसा जानते हैं। उनका कथन है कि कई हस्तपादादि अंगों के मिलने से अंगी शरीर में ही चेतना का व्यापार होता है। गमन, उत्थान, संकोच और विकास का व्यवहार शरीर में प्रसिद्ध ही है। नेत्र से दर्शन, श्रोत्र से श्रवण, वाक् से वचन, हस्त से आदान इत्यादि व्यापार प्रकट हैं। ऐसी अवस्था के देखने से शरीर से भिन्न आत्मा की कल्पना युक्त प्रतीत नहीं होती। अंगांगी भाव से समस्त कार्य चल रहा है, जिस प्रकार संपरिणाम से चेतनता हो जाती है उसी प्रकार विपरिणाम से अस्त भी हो जाती है॥

समाधि—इस सिद्धान्त में प्रथम दोष यह है कि कृत की हानि और अकृत का अभ्युपगम होगा। पुरुष जिन शुभ कर्मों का अनुष्ठान करता है वह उसके फल से तो वंचित रहेगा, क्योंकि वह सर्व कृत कर्म देहावसान के साथ ही नाश हो जायँगे। इस प्रकार कृत की हानि होगी और जो सुख दुःख संप्रति प्राप्त है वह किसी कर्म का फल न होने से अकृत की ही प्राप्ति है। इस प्रकार देहात्मवादी के मत में तो किसी को भी शुभ कर्मानुष्ठान में रुचि ही नहीं रहेगी, उन्हें इस सिद्धान्त के आधार पर फल लाने के लिए किसी भी बीज की आवश्यकता नहीं रहती। यह प्रत्यक्ष विरुद्ध सिद्धान्त किसी भी समझदार को स्वीकार नहीं होगा और यह परीक्षणतुला पर भी पूरा नहीं उतरता, प्रत्युत् लोकप्रवृत्तिस्वच्छन्द एवं उद्दण्ड होकर अनर्थ के उदय और अर्थ के अस्त का निमित्त ही हो

जाती है। आप बतायें कि राजनियम से अशुभ कर्मकर्त्ता दण्ड और शुभ कर्म करने वाले को सुख क्यों मिलता है। यदि आप कहें कि यह देह सहित वर्तमानकाल कृतकर्मों का फल है तो वर्तमान सहचारी भूत और भविष्यत्काल में कर्म फल का संचार कैसे नहीं होगा? वर्तमान के बिना भूत और भविष्य की प्रतीति तथा इनके बिना वर्तमान की सिद्धि नहीं हो सकती अत एव जब आप वर्तमानयुत कर्म और फल दोनों को मानते हैं तो यह कथन युक्तिसंगत नहीं कि वर्तमान शरीर किसी कर्म का फल नहीं। आप के सिद्धान्तानुकूल तो जब कर्म किया था तब फलावाप्ति है, दोनों अवस्थाओं में वर्तमान विद्यमान है और अन्य प्रकार से कर्म सदैव फल से पूर्व ही होता है। सम-काल कर्म फल होने से दोनों में कोई भेद नहीं रहेगा जिससे कर्मफल विचार व्यवस्था की हानि होगी, अत एव आपके मत में भी तो यह विचार सिद्ध है कि वर्तमान कर्म का फल भावी होता है। अत एव यह वर्तमानकालिक शरीररूपी फल का सकलांग या विकलांग, स्वरूपी या कुरूपी होना भूतकालिक कर्म के आधीन है, यह माना जाता है और जहां कर्म और फल की प्रतीति एक साथ होती है वह क्रियाजन्य फल है कर्मफल नहीं है। यथा—वसन्त ग्राम को जाता है, यहां गमन क्रिया का फल सहचर होकर ग्राम प्राप्ति का हेतु है। यदि क्रिया में किंचित् भी फल न हो तो कदापि कर्म प्राप्त नहीं होगा कर्म प्राप्ति के अनन्तर ही क्रिया और तत्फल का नाश होजाता है अतएव देहात्मवादी के मत में अविश्वास प्रसंग होता है॥

द्वितीय दोष—यह है—कि देह बाल्य, युवा और वृद्धा-

वस्था से घिरा हुआ है एकरस नहीं रहता। प्रकृति जन्य देहादि सादि सान्त होने से किसी अन्य वस्तु को (जो स्थिर स्वभाव हो) सिद्ध करते हैं अन्यथा इन शरीरादि का परिणाम में आना और विकृति में चले जाना बन ही नहीं सकता। प्रकृति और तज्जन्य वस्तुओं से आत्मा का स्वरूप विलक्षण है। क्षणभंगुर देहादि को आत्मा मानना तो ठीक प्रतीत नहीं होता। कार्य की अपेक्षा कारण महत् और पूर्ण होता है, अतएव देहादि कार्य का जो कारण है, उसको आत्मा मानना उचित होगा इस प्रकार उत्तरोत्तर गति करने से अनवस्था दोष सम्पूर्ण व्यवस्था को दूषित करके किसी भी नियम को स्थिर नहीं होने देगा, अतएव त्याग ही करना पड़ेगा॥

तृतीय दोष—देहात्म वादी के मत में यह है कि एकात्मवाद की हानि होकर अनेकात्मा सिद्ध होता है। नेत्र रूपदर्शन का, श्रोत्र श्रवण का, इत्यादि कार्य तो करते हैं परन्तु उनका परस्पर विरोध है, एक का ज्ञान दूसरे को नहीं होता। प्रत्येक इन्द्रिय का कार्य भिन्न भिन्न होने से बोध तो होगा परन्तु आप के मत में व्यवस्था कैसे बनेगी। जबकि एक को सर्वार्थ का ग्रहण न हो यथा—पृथक् पृथक् मार्गों में चलने वाले पथिकों का न मेल ही होता है और न विचार साम्यता ही होती है। हां यदि एक पुरुष ने उन सबको किसी कार्य के लिए भेजा हो तो उन सब के कार्यों का ज्ञान एक को अवश्य ही होगा। जैसे एक पोस्टमास्टर अनेक चिट्ठीरसानों को भिन्न २ ग्रामों में भेजता है और वे कार्य करके लौट कर पोस्टमास्टर को सब वृत्तान्त सुना देते हैं, इस प्रकार एकात्मवाद की व्यवस्था तो ठीक

विचार में आती है अनेकात्मवाद में नहीं ॥

ननु–अब इस के आगे प्राणात्मवादी का लोकप्रसिद्ध यह कथन है कि 'जब तक श्वासा तब तक जीवन की आशा' बनी रहती है और मृत शरीर सर्वांग ठीक होने पर भी प्राण के वियोग से जीवित नहीं देखा जाता। इस अन्वय और व्यतिरेक से जिस के होने से जिस का होना और न होने में न होना सिद्ध हो वह ही उस का आत्मा जाना जाएगा। अत एव प्राण के संयोग से शरीर जीवित और वियोग में मृत माना जाता है, अत एव प्राण को ही आत्मा मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। शरीर का पूर्णांग होने से पूर्व गर्भावस्था में ही इस का आयान और इस के निर्याण से शरीर का अन्त हो जाता है, इस निदर्शन से इस के आत्मा होने में सन्देह क्या हो सकता है? जब सर्वांग शरीर थकावट में आ जाता है, तब भी प्राण का कार्य कदापि नहीं रुकता। इस प्रत्यक्ष सिद्ध बात को त्याग कर परोक्ष में मति करना बुद्धिमानों का काम नहीं है ॥

समाधि–यद्यपि प्राण जीवन का सर्वोत्तम अंग है, तथापि इस को प्रकृति का कार्य होने से आत्मा की पदवी नहीं मिल सकती। प्राण का प्रधान अंश वायु है तथापि उस को बलवान् वेगवान् बनाने और उस में तीव्रता लाने के लिये उस के सहायक अग्नि और जल भी उस में विद्यमान हैं, अत एव प्राण संयोगी द्रव्य होने से आत्मा नहीं माना जा सकता। आत्मा निरवयव वस्तु है। आत्मा के स्वरूप को निरूपण करने वाले विद्वानों का यह सिद्ध सिद्धान्त है ॥

द्वितीय विकल्प--सुषुप्ति अवस्था में जब इन्द्रिय और

:मन विलीन हो कर अपना अपना कार्य छोड़ देते हैं तो प्राण अपना कार्य करता हुआ देखा जाता है। सर्वावस्था में उस की समानता प्रत्यक्ष है परन्तु यदि तत्काल सुषुप्त पुरुष के समीप कोई मारक जन्तु आ जावे तो वह सावधान नहीं होता और यदि कोई उस की सुख सामग्री को ले जावे तो उस को ज्ञान नहीं होता, इस से जाना जाता है कि प्राण भी चेतना रहित और जड़ता सहित होने से आत्मा नहीं हो सकता ॥

तृतीय विकल्प—देहात्मवादी के समान प्राण और उस की गति प्रत्यक्ष होने से कोई परोक्ष वस्तु ऐसी होनी ही चाहिए, जिस को इस का प्रत्यक्ष हो रहा है। प्राण को इस का ज्ञान नहीं हो सकता उपर्युक्त शेष बाधक हो जायेंगे। इस से अतिरिक्त आत्मा न मानने से पुनः व्यवस्था कैसे बनेगी? व्यवस्था के होते हुए अव्यवस्था में जाने से मर्यादा का भंग होगा जो किसी भी समझदार को अभिमत नहीं। अतः आत्मा इस से कोई अन्य वस्तु है यह मानना ही पड़ेगा ॥

ननु—यदि प्राण आत्मा नहीं है, तो मन आत्मा होगा?

समाधि—देहादिवत् मन को भी प्रकृति का कार्य होने से आत्मा नहीं कहा जा सकता। आत्मा न तो किसी कारण का कार्य और न वह किसी कार्य का कारण है। इन दोनों व्यवस्थाओं से पृथक् होना उसका स्वभाव है। मन प्रकृति का द्वितीय परिणाम है, अत एव प्रकृति से किंचित् स्थूल और समस्त प्रपञ्चवर्ग से सूक्ष्म है, इस लिए समस्त विकृत जगत् किसी कार्य की सिद्धि का पूर्वापर व्यापार से साधन तो है परन्तु साधक नहीं हो सकता। जैसे नेत्रादि इन्द्रिय रूपादि

ज्ञान का करण हैं तद्वत् सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्राप्ति, प्रतिषेध का साधन है। मन को आत्मा स्वीकार करने में किसी अन्य करण का होना आवश्यक है और मन को साधन मानने से आत्मा सिद्ध ही है। ऐसी अवस्था में तो केवल नाम भेद हुआ, किसी ने मन कहा दूसरा उस को आत्मा कहता है। यह न विवाद का स्थान और न इस में कोई संदेह का उत्थानही है ॥

द्वितीय विकल्प—लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त से भी मन संकल्प विकल्प और सुख-दुःख-ज्ञान का साधन ही सिद्ध होता है साधक नहीं। यदि ऐसा विचार करें कि आत्मा को संकल्प आदि करने में मन की आवश्यकता ही नहीं है वह इसमें स्वयं ही समर्थ है तब यह उलझन पड़ जाती है कि जिस प्रकार मन की सहायता के बिना आत्मा संकल्प कर सकता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा को रूपादि दर्शन के लिए नेत्रादि इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इसका सुलझाना कठिन हो जायगा। यह लोकसिद्ध है कि प्रत्यक्ष का कभी विरोध नहीं होता, केवल विरोध करने वाला ही विरोधी सिद्ध होता है, अत एव नेत्रादि की अपेक्षा से आत्मा को मन अधिक उपयोगी है। इस लिये आत्मा का सीधा सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ नहीं हो सकता, जब होगा तब मन के द्वारा ही। यह ही कारण है कि मन की अनुपस्थिति में कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं करती, इसी कारण यह लोकोक्ति है कि मेरा मन इधर उधर था, अत एव मैं ने आप के कथन को नहीं सुना। इस विचार के आधार पर तो मन करण ही माना जाता है, इसको आत्मा का स्थान नहीं मिल सकता। वह इस से भिन्न वस्त्वन्तर है। यदि

मन आत्मा की पदवी नहीं पा सकता तो मन के अधीन रहने वाली इन्द्रियों का आत्मस्वभाव में निराकरण स्वयं सिद्ध है यह जान लेना चाहिए ॥

ननु—यदि मन भी आत्मा नहीं तो विज्ञान (बुद्धि) के आत्मा होने में तो कोई संकोच न होना चाहिए । क्योंकि इष्टानिष्ट और हिताहित की परीक्षा करना बुद्धि का कार्य है। सब मानसिक संकल्प उदय हो कर इस के ही अधिकार में हो जाते हैं। उचित संकल्प स्थिर और अनुचित दूर हो जाता है। मन, इन्द्रिय और शरीर के सर्व व्यवहार विज्ञान के ही आश्रित हैं, इस लिए विज्ञान ही आत्मा है ॥

समाधि—बुद्धि की गणना द्रव्य अथवा गुणों में हो सकती है। जड़ और चेतन भेद से द्रव्य दो प्रकार का है । वैशेषिक दर्शन में पृथिव्यादि द्रव्य संख्या में आत्मा को द्रव्य कहा है और न्यायदर्शन में बुद्धि तथा ज्ञान को समानार्थक बताया है। अब यदि बुद्धि को आत्मा मान लें तो प्राकृतिक जगत् जानने के लिए इस को अन्य प्रकृतिजन्य साधन की आवश्यकता होगी। रूप दर्शन के लिए नेत्रादि वत् । अन्यथा बाह्य संसार के प्रति बन्धक विद्यमान होने से आत्मा को किसी भी पदार्थ का भान न होगा, जिस से सर्वव्यवहारविलोप प्रसंग होगा । मानने में उस का क्या नाम होगा बुद्धि या आत्मा। आप के मत में बुद्धि को तो आत्मा की उपाधि मिल गई; शेष साधन द्रव्य को बुद्धि ही कहा जावेगा । इस विचार विनिमय से तो कोई भेद नहीं हुआ, विवाद का विषय केवल नाम भेद नहीं हो सकता। प्रकृति का द्वितीय कार्य महत्तत्त्व है यदि इस को निश्चयात्मक

द्रव्य मानें तो बुद्धि, और यदि मननात्मक मानें तो इस की संज्ञा मन हो जावेगी । भेद केवल नाम का है अर्थ का नहीं । यदि बुद्धि को गुण मानें तो न्यायनय में गुण द्रव्य के ही आश्रित होता है पृथक् कभी नहीं रह सकता । इस लिये इस का जो आश्रय है, वही आत्मा है, समस्त जड़ जगत् में ज्ञान विषयतासम्बन्ध से तो रहता है, अधिकरणसम्बन्ध से नहीं, आत्मा ही चेतन है, बुद्धि या ज्ञान उस का ही गुण है ॥

द्वितीय विकल्प-सर्व जन प्रसिद्धोक्ति है कि संसार में बुद्धिमान् जन ही सुख पाता है और बुद्धिहीन दुःख उठाता है इस कथन से बुद्धि में ह्रास और वृद्धि का होना पाया जाता है । आत्मा इस दोष से दूर है । ज्ञान के साधन बुद्धि के मलिन हो जाने से आत्मा में इस का आरोप तो होता है वास्तव में नहीं, अत एव विज्ञान भी आत्मा नहीं है ॥

वादी-सुख दुःख को जो अनुभव करता हुआ कष्ट के हटाने और सुख के प्राप्त करने के लिये यत्न करता है, वह तो आत्मा अवश्य ही होना चाहिए । यह जीव चेतन और किसी काल में भी अपने स्वरूप से पृथक् नहीं होता, जो पूर्वानुभूत विषय को सुख साधन जान कर उस में प्रवृत्ति और दुःख का निमित्त मान कर उस से निवृत्ति की इच्छा करता है, वह आत्मा है, अब यहां पर ही यह परीक्षा समाप्त हो जानी चाहिये यह सत्य ही है, परन्तु आत्मसंज्ञा का यह भी संज्ञी नहीं है, इस में पूर्ववत् स्वरूप भेद तो नहीं अवस्था भेद तो अवश्य है ॥

समाधि-जीव शब्द जिस धातु से व्युत्पन्न होता है उसकी शक्ति प्राणधारण में है । इस पर अविद्या, अज्ञान विपरीतज्ञान,

संशयज्ञान का एक प्रकार का आवरण है। जिस से यह सदैव आवृत रहता है, इस के सद्भाव में यह जीव शरीर का सहचारी बना ही रहता है, और शरीर के सहवास में प्राण का संचार और पुनः जन्म तथा मरण प्रवाहावर्त में दीन होकर यह लाचार ही बना रहता है। सर्वदा प्राण सहचारी होने से यह जीव कहलाता है, आत्मा नहीं। जहां इसके साथ आत्मा शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह स्वरूप का वाचक है, यथा जीवात्मा अर्थात् जीव का स्वरूप अथवा यह जीव उत्थान की ओर गति करता हुआ जब पूर्ण उन्नत हो जाता है तब यह आत्मपद का अधिकारी हो जाता है। तब यह न शरीर का सहयोगी ही है, और न इसके लिए प्राण की गति उपयोगी है, इस दशा में यह उस सुख से जो दुख से दूषित है सर्वथा मुक्त और नित्य सुख से (जिस में क्लेश लेश भी नहीं है) युक्त होता है, यह उसी चेतन की दो अवस्थायें हैं। यथा कोई पुरुष श्रम से क्लान्त हुआ मलिन प्रतीत होता है और वही स्नानादि से शुद्ध होकर सुन्दर हो जाता है, तथैव अविद्या अल्पज्ञतादि दोष से दूषित होकर जीव और इन से रहित होकर आत्मपद वाला हो जाता है। पूर्व शुभ संचित कर्मों की सहायता से परमेश्वरानुग्रह और वर्तमानकालिक यथार्थ पुरुषार्थ के संयोग से जब अविद्या का कोश टूट जाता है, तब पूर्व अन्नमयादि चार कोशों का सर्वांग फूट जाता है, तब शरीर रूपी पिंजरे से निकल कर पुनः इस में नहीं आता। ब्रह्मप्राप्ति में मग्न होकर आनन्द पाता है॥

इस कोश परीक्षा में एक दूसरा प्रकार भी है—

आकाश और वायु की सृष्टि के अनन्तर परमात्मा के ईक्षण से तेज, अप, अन्न, उत्पन्न हुए। यह प्रकरण छान्दोग्योपनिषद् में है, वहां पर अन्न नाम पृथ्वी का है, इस के अन्तर्गत सुवर्णरजतादि की कानें विद्यमान हैं, और वह इसके गर्भ में ही बढ़ती रहती हैं, और विज्ञान पुरुषार्थ से उनका निःसरण होता है; यथा माता के गर्भ से बालक का। अन्य सर्व अन्न आदि जो प्राणी मात्र के जीवन के हेतु हैं इस में ही उत्पन्न होते हैं, अत एव इस भूमि को अन्नमय कोश कहना ठीक प्रतीत होता है॥

द्वितीय यह वृक्षादि की सृष्टि प्राणमय कोश है इन की मूल शाखा का सम्बन्ध भूमितल जलाशय से है और वह सूर्य किरण से तप्यमान हो कर प्राण के समान क्रमशः ऊपर को आता है और पुनः रात्रि के समय शनैः २ नीचे को हो जाता है यह ही वृक्षादि के वृद्धि ह्रास का कारण है इस को प्राणमय कोश कहना चाहिए॥

तृतीय मनोमय कोश पशु पक्षि आदि में आकर बन जाता है, इस में सुख दुःख प्राप्ति प्रतिषेधार्थ संकल्प तो बना ही रहता और जीवन निर्वाह के लिए उद्योग करते रहना इन का स्वभाव है। परन्तु वह विज्ञान जिस से यह बन्धन से मुक्त हो जाए उस का उदय नहीं होता है॥

चतुर्थ विज्ञानमय कोश—मनुष्य सृष्टि में आकर बन जाता है। यह उन बुद्धिमान् पुरुषों में विद्यमान होता है जो ईश्वर-रचित पदार्थों को विचार, लगातार यत्न कर के अपने लिए सुख के साधन बना लेते हैं, वह समझदार दूरदर्शी विज्ञानमय

कोश की सीमा तक ही रहते हैं। यदि इन की रुचि बढ़े तो वह आनन्दमय कोश के अधिकारी भी हैं । आनन्दमय कोश का प्रादुर्भाव भी इस मनुष्यशरीर में ही होता है, जो मनुष्य विद्या-प्रकाश में विद्यमान, प्राणी मात्र को आत्मा के समान जानते, परमेश्वर-प्राप्ति में यत्नवान्, समस्त संसार आगमापायी है, इस में ज्ञानवान्, वासनाबन्धन से रहित, उदार भावके सहित, विश्वप्रेम में संलग्न और जीवनमुक्त दशा में सदैव मनमग्न रहते हैं, वह परमात्मा को प्राप्त कर के सदा आनन्द पाते हैं ॥

इस पञ्चकोश प्रसंग के साथ जागृत आदि अवस्थाओं का निरूपण करना भी ठीक जान पड़ता है, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि भेद से अवस्था चार प्रकार की है। जिस में से समाधि का परिज्ञान सब को नहीं होता है, इस का बीज मात्र तो सब में विद्यमान है परन्तु यत्नसाध्य होने से प्रत्येक पुरुष इस की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता और न सब में इस का प्रादुर्भाव ही होता है, जिस व्यक्ति में यह स्वभाव सिद्ध बीज वृक्षाकार हो जाता है फिर उस को मुक्ति फल लग जाता है और आनन्द पाता है। इसी लिए जीव का प्रयत्न था, इस को प्राप्त कर के इस का अपने स्वरूप में समुत्थान होता है । शेष जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति दशा का ज्ञान सामान्यतया सब को है। इन का सृष्टि नियम से शरीर के साथ सहचार है, जीवन के साथ इन का उदय और मृत्यु के साथ इन का अस्तसा होता रहता है। इस नाटक में ही समस्त जगत् अटका हुआ है यह सब परमात्मा की माया का सारा पसारा है। इस माया का जाल जीव को उस समय ही घेर लेता है जब यह सर्वथा

अबल, अबोध, हानि लाभ के ज्ञान से दूर बधिर-मूक के समान बेशऊर होता और विकल हो कर हर समय रोता है, पुनः यह जीव को निकलने के लिए कहां अवसर देता है ? इस महा-मोहमयी माया से बिना विचार के छुटकारा कहां ? केवल इस उलझन को वही सुलझाता है जो इस को समझ लेता है ॥

"ऐसा है लाखों में कोई ।
जिस ने बनी बात नहीं खोई ॥"

जागृत अवस्था—

इन्द्रियजन्यज्ञानावस्था जागरणम् ॥६६॥

इन्द्रियों की गति स्वभावतः विषयों की ओर झुकती ही रहती है । मर्यादा का उल्लंघन कर के विषयों के सहचार से आत्मबल की हानि हो जाती है, अत एव विचारशक्ति से इन को दमन करके नियम में चलाना आत्मबल वृद्धि और शारीरिक पुष्टि का कारण है । इस मार्ग में चल कर मनुष्य में परमेश्वर-प्राप्ति की योग्यता हो जाती है, इस नियम का सहारा ले कर मनुष्य बुद्धिमान्, सहिष्णु और कार्य करने में अपने ऊपर भरोसा रखता है । शास्त्र बड़ी सुन्दर रीति से इस मार्ग की श्लाघा करता है, विषय और इन्द्रिय सम्बन्ध से जब सुख दुःख का अनुभव होता है उस काल का नाम जागृत अवस्था है। इस के सुधारने में मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिए; व्यर्थ आलाप का श्रवण तदनन्तर उस का मनन मनुष्य को कुमार्ग में ले जाता और फिर वह बहुत ही क्लेश पाता है, अत एव विषयदोष-दर्शनाभ्यास से मनुष्य सुपथ में आता जाता और सुख पाता है । यद्यपि मनुष्यशरीर की रचना से यह

सिद्ध हो रहा है कि विषयइन्द्रिय और तज्जन्य सुख लिप्सा इस के लिए अनिवार्य है और संसारप्रकार दर्शन से परमात्मा की भी यही इच्छा प्रकट हो रही है, तथापि परमेश्वर ज्ञान प्रकाशक, मर्यादा संस्थापक और न्यायनीति का प्रसारक है। उस ने उचित मार्ग का अवलम्बन करते हुए विषय-जन्य-सुख अनुभव करने की आज्ञा दी है, अनुचित मार्ग में गति को बढ़ा कर विषयसुख–जाल में अपने को फंसा कर तो ईश्वर आज्ञा का भंग करना है, फिर मनुष्य सुखाभाव में सुख मानता है यथार्थ सुख कहां ? न यहां न वहां । आप बतायें कि जिस पुरुष ने पुरुषार्थ और न्याय से धन को कमाया और फिर शुभ मार्ग में लगाया इसके समान सुख उस कंजूस मक्खीचूस मनहूस को (जिसने अन्याय से छल, छद्म से धन इकट्ठा किया, न स्वयं खाया और न किसी अधिकारी को दिया) हो सकता है ? कदापि नहीं। ठीक इसी प्रकार सर्व इन्द्रिय विषय सन्निकर्षजन्य सुख सम्पत्ति की व्यवस्था को जान लेना चाहिए। इस अवस्था की संभाल से ही मनुष्य निहाल हो सकता है ।

स्वप्नावस्था—

इद्रियाणां विलयत्वे दृष्टश्रुतानुभूतविषयाणां संस्कारवशात
मनसि उद्भवनं स्वप्नम् ॥६७॥

जिस समय इन्द्रिय शक्ति का मनमें लय हो जाता है, तब पूर्व देखे, सुने या अनुभव किए हुए विषयों के संस्कारों (जो मनमें विद्यमान थे उन) का उद्भव हो जाना स्वप्नावस्था कहलाती है । अथवा जागृत और सुषुप्ति अवस्था की सन्धि

का नाम स्वप्न है। सुषुप्तिके तमको जागृत का प्रकाश पूर्णतया हटा नहीं सका, अथवा सुषुप्तिका तम जागृत के प्रकाश को पूरे बल से दबा न सका। ऐसी अवस्था प्रकाश और तम दोनों से मिलकर एक विचित्र संसार की रचना कर देती है। स्वप्न-सृष्टि अद्भुत् है छोटे से स्थान में विचित्र संसार का चित्र कैसे खिच गया। जैसे सृष्टिकाल में परमेश्वर के ज्ञान, प्रकाशमय संकल्प के आघात से प्रकृति संसार के स्वरूप में परिणत होती है वैसे ही अन्तः करण विशिष्ट चेतन जीवात्मा के ज्ञान प्रकाश से प्रकृति का अंश रज तम (जो शरीर में विद्यमान था) विपरिणाम में आ जाता है जिस से यह सिद्ध होजाता है कि समस्त स्वप्न प्रपञ्च अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त जाना जाता है। यथा मृत्तिका से जितनी प्रकार की वस्तुएं बनाई जाती हैं उन सब में मृत्तिका परिणामरूप से विद्यमान है। यह जाना जाता है कि एक ही वस्तु ने अनेक रूपों को धारण कर लिया है। परन्तु यह परिणाम जिस विचारशील-कुलाल की ज्ञान-शक्ति का फल है प्रत्येक वस्तु में उस के ज्ञान का विवर्त समान है इन दोनों की एकता के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। रुई से अनेक प्रकार के वस्त्रों का निर्माण होता है यह फल स्वरूप वस्त्र रुई के परिणाम और तन्तुवाय के ज्ञान रूपी विवर्त से प्रकट होते हैं, सर्वत्र इसी प्रकार जान लेना चाहिए। मध्याह्न में जब एक पुरुष सुषुप्त हो जाता है, तो यद्यपि दिन प्रकाशमय होता है परन्तु उसके लिए समस्त संसार अन्धतमाच्छादित हो जाता है, न कोई प्रकाश और न लोक व्यवहार, न कोई सुखी और न कोई लाचार,

एक अवस्था है उस का नाम कुछ धरो। तमोमयी मध्य रात्रि में जब कोई पुरुष स्वप्नावस्था में होता है, तब उसके लिए प्रकाशमय जगत् दिन के सदृश नगरों में सर्व प्रकार का व्यापार होता है। भारत के किसी प्रान्त, उस में भी किसी ग्राम के एक लघु गृहकोण में पड़ा हुआ कलकत्ता मुम्बई या जापान आदि देशों में परिभ्रमण करता हुआ अनेकविध कौतुकों को अवलोकन करता हुआ कभी हास्यस्थानों में जाता है, और कभी भ्रमण की थकावट से विश्राम चाहता है। राजा था परन्तु अपने को रंक जानता है, रंक होकर अपने को राजा मानता है। कभी हस्ति पंक्ति का विचार करता है, तो तत्काल ही लाइन के साथ हस्ति सामने आते जाते हैं। यदि उस समय यह विचार हो जावे कि इनको एक छोटे छिद्र में से निकालना चाहिए, इस विचार के साथ वह उस छिद्र में से गुज़रने लग जाते हैं, और यदि उस समय यह संकल्प हो जावे कि यह हस्ती नहीं हैं भैंसे हैं, इस विचार के साथ ही वह भैंसों के आकार में आ जाते हैं, ऐसी अवस्था के देखने से तो यह जान पड़ता है कि यह शरीर जो ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा चित्र है कि जिस में उस जगदीश्वर के ऐसे विचित्र स्थानों का निर्माण किया है जिन में एक स्थान इस प्रकार का है कि जहां जीवात्मा पहुंच कर सिद्धसंकल्प हो जाता है, विचित्र सृष्टि का निर्माण उसके लिए बच्चों के खेल के समान हो जाता है, किन्तु अल्पज्ञ है अतएव असंभव बातों का भी चित्र उसके सामने आजाता है। यथा चित्रकार एक सूण्डवाले हाथी को दो चार सूण्ड लगाकर एक भिन्न प्रकार का चित्र बना देता

है उसके दर्शन के संस्कार जो सूक्ष्मरूप से अन्तःकरण में विद्यमान थे, स्वप्नावस्था में स्थूलावस्था को प्राप्त होकर सामने आते हैं। यथा फोटोग्राफर जब किसी पुरुष का चित्र खींचने लगता है तो एक पुरुष ठीक सामने उपस्थित है। दूसरा ठीक उसके पीछे सर्वांग आच्छादित इस प्रकार से खड़ा है कि उसका शिर आगे के पुरुष के कन्धे के साथ सटा हुआ है, ऐसी अवस्था में चित्र किस प्रकार का होगा कि एक पुरुष के दो शिर हैं। संसार में तो ऐसा पुरुष देखने में नहीं आता परन्तु पूर्वोक्त विचित्र चित्रदर्शन संस्कार से स्वप्नावस्था में ऐसे दृश्य का कभी दर्शन हो जाता है। स्वप्नसंसार अद्भुत् है, इस में अत्यल्प काल दीर्घ काल के समान जान पड़ता है। यथा एक विद्यार्थी पढ़ता हुआ किंचित् काल के लिए निद्रातुर होकर शयन कर जाता है उसका पिता कलकत्ता नगर में निवास करता है, वह विद्यार्थी स्वप्नावस्था में अपने पिता के पास चला जाता है, वहां जा कर कालिज में प्रविष्ट हो जाता है। प्रति दिन जाकर अध्ययन करता, गृह को आता, मित्रों से मिलता, और परीक्षा में सम्मिलित होकर पास हो जाता है। इस स्वप्न संसार को अवलोकन करने वाले का जब नेत्र खुला तो पता लगा कि १५ मिनट के स्वप्न में कई वर्षों के संसार को इस ने अनुभव किया है। इस अवस्था को देख कर मूकसम हो रहा है। जिस पिता के पास जाकर रहा था न उसको ज्ञान है, जिस कालेज में प्रविष्ट हुआ था न वहां उसका नाम है और जिन मित्रों से प्रतिदिन मिलता था न उनका ध्यान ही है, इस अल्पकाल की इतने चिरकाल से कैसे

समानता होगई विचार से बाहर है। मनुष्य की बुद्धि इस योग्य कहां है कि प्रभु की इस महती रचना के महत्त्व को जान ले। कोई मनुष्य अपने गृह में शयन कर रहा है स्वप्नावस्था हो जाने से उसको पागल कुत्ते ने काटा, वह व्याकुल होकर हस्त में यष्टिका लेकर हास्पिटल जारहा है, मार्ग में उसकी दुःखमयी अवस्था देखकर मनुष्य खेद मानते हैं और वह कभी मनुष्यों को अपनी दुःखित अवस्था सुनाता हुआ रुदन करता है। अन्त में हास्पिटल में जाकर डाक्टर को अपनी दशा सुनाता है। उसके इर्द गिर्द उसके कुटुम्बी उपस्थित हैं। इस कष्ट निवारण के निमित्त उस का कुछ समय वहां ही व्यतीत होती है ऐसी अवस्था में जागृत सम्पत्ति के सामने आते ही समस्त संसार काफूर हो गया। मन व्याकुल, चित्त चंचल और बुद्धि विह्वल है। समझ में कुछ नहीं आता और विचार-पथ का भी पता नहीं पाता। यदि यह आत्मा अल्पज्ञ न हो तो अपने लिए इस प्रकार खेद के सामान रच कर उन की उलझन में क्यों फंसे ?

जागृत और सुषुप्ति की सन्धि का नाम स्वप्न है यह पूर्व कहा गया है, अन्य प्रकार से भी इसका विचार करना ठीक जान पड़ता है। प्राण जिन चक्रों पर गति करता है वह दो प्रकार के हैं। एक वह चक्र है जिसका सम्बन्ध मन और इन्द्रियों के साथ है, इस पर गति करने से जागृत अवस्था हो जाती है। तात्कालिक इन्द्रियजन्य कार्य सम्पादन होते हैं। जब कार्यभार श्रम से विश्राम चाहता है तब प्राण अपनी गति को दूसरे चक्र के सहारे (जिस का मन आदि इन्द्रियों के साथ

कोई सम्बन्ध नहीं है) कर लेता है। प्राण चलता रहता है परन्तु सब इन्द्रियें अपना अपना काम छोड़ देती हैं, इस अवस्था को सुषुप्ति कहा गया है, जब कभी प्राण गति करता हुआ उस चक्र को (जिस का मन आदि के साथ सम्बन्ध है) अल्पाघात देता है तब उस अल्पकाल में स्वप्न हो जाता है। प्राण के जिस चक्र पर आजाने से जागृत अवस्था हो जाती है उस पर तो ठीक नहीं आया है और जिस चक्र पर जाने से सुषुप्ति हो जाती है उस से कुछ थोड़ा हट गया है, इस अवस्था में ही स्वप्न होगा। अब इस के साथ सत्त्व, रजस्, तमस् या वात, पित्त, कफ दोष भी तारतम्य भाव से सहकारी कारण हैं। यह ही हेतु है कि स्वप्नसृष्टि अनेक प्रकार की होती है। प्रशस्तपाद-भाष्य में इसका विवरण इस प्रकार है–विद्या और अविद्या नाम से बुद्धि के दो भेद हैं पुनः इन दोनों के चार चार भेद बताए हैं, वहां स्वप्न को अविद्यान्तर्गत माना है, जो अल्पज्ञ का धर्म है। इस कथन को विशद करने के लिए वह यन्त्र (जिस में रूई निकाली जाती है) संप्रति विद्यमान है वहां जाकर देखें कि जिन में रूई निकाली जाती है वह बेलन किस प्रकार बनाए गए हैं। एक बड़ी माल के सहारे सब (जिस का प्रत्येक बेलन के साथ संबन्ध है) चल रहे हैं जब कभी कार्यवशात् किसी एक बेलन को बन्द करना होता है तब उस चक्र से हटा कर जिस के सहारे उसके समस्त अंग गति कर रहे थे माल को दूसरे चक्र पर ले जाते हैं तब कार्य बन्द हो जाता है। माल चक्र पर घूम रही है दूसरे चक्र पर माल के आते ही बेलन में हलचल होने लगती और कार्य आरम्भ हो जाता है। बेलन का

एक चक्र जिसका लट्टे के साथ सम्बन्ध है जिसके घूमने से सब यंत्र अपना कार्य करने लग जाते हैं और दूसरा चक्र भी बेलन के लट्टे में ही परोया हुआ है। चक्र तो काटता है परन्तु उस से यन्त्र को कोई भी आघात नहीं होता। यह ही व्यवस्था प्राण की है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस शारीरिक यन्त्र का बड़ा ही ध्यान से विचार किया है और लाभ उठाया है। भेद केवल इतना ही है कि यह परमात्मनिर्मित है और वह मनुष्यों का विधान है कैसे तुलना हो सकती है?

सुषुप्ति अवस्था का वर्णन—

सर्वसंसारदुःखवियुक्तावस्था सुषुप्तिरिति ॥६८॥

संसार में यावत् प्रकार के दुःख हैं उन सब से वियुक्त अवस्था का नाम सुषुप्ति है यह स्वप्न और जागृत सृष्टि से भिन्न है। इन दोनों में किसी न किसी अंश में क्लेश का लेश बना ही रहता है। इन दोनों दशाओं में सुख की मात्रा जितनी होती है वह भी दुःख भेद भिन्न होती है। दुःख तो स्वरूप से दुःख ही है उस में कुछ सुख की भावी झलक दिखाई पड़ती है, अत एव मनुष्य दुःख के हटाने और उसके मिटाने में सदैव यत्नवान् रहता है, अन्त में संसार का सर्व सुख दुःख में परिणत हो जाता है। सत्य है इस प्रत्यक्ष सिद्ध बात का अपवाद नहीं हो सकता, परन्तु सुषुप्ति अवस्था परमात्मा की महान् महिमा का प्रत्यायक प्रतीतिकारक और प्रकाशक है। शरीर सम्बन्धि ऐसी अवस्था के निर्माण का परमेश्वर के बिना किस को ज्ञान हो सकता है, वही इस का निर्माता और ज्ञाता है, जो सर्व संसार का विधाता है। उस कारीगर की कारीगरी जानने में बड़े २ विद्वान्

मूक सम और अबोध बालक के समान जान पड़ते हैं। इतना तो जाना जाता है कि वह अपरिमितशक्ति अतुलबल और अनन्त-ज्ञान है इससे अधिक मनुष्य का ज्ञान नहीं बताता है। वेद भी उस की महत्ता की इयत्ता को जनसमाज के हित के लिए कुछ बोध करा के पश्चात् नेति नेति, नेदं नेदं ऐसे शब्दों द्वारा ही जताता है। सुषुप्ति अवस्था सब के लिए समान है। यह उस परमात्मा की प्रतिष्ठा का व्याख्यान है। यथा लघु बालक श्रम की शान्ति के निमित्त माता की गोद में शयन करके पुनः पुनः अभिनव जात सबल होकर उत्थान करता है। ठीक इसी प्रकार जगजननी के अंक में समस्त संसार कुछ समय के लिए सर्व प्रकार के क्लेशों को भुला कर जा विराजता है, तात्कालिक समानता के बिना न्यूनाधिक भाव का उत्थान होता ही नहीं। अत एव शास्त्र का यह वचन कैसी सुन्दर रीति से शासन कर रहा है॥

"समवर्त्ति मुखं प्रयाति" अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में समस्त जगत् समानता के मुख में प्रवेश कर जाता है। सुखी ने अपने सुख को भुला दिया और दुःखी ने अपने दुःख को मिटा दिया। न धनी को अपने धन का और न धनहीन को अपनी निर्धनता का ज्ञान है। उदार अपनी उदारता से विहीन है और न कायर अपनी कायरता से दीन है। बुद्धिमान् बुद्धि से रहित और न मूर्ख अपनी मूर्खता के सहित है। न कोई किसी को सताता है और न कोई किसी को अपनाता है। न कोई किसी से संलग्न है और न किसी का किसी से मन मग्न है। जिसके वियोग में मन व्याकुल रहता था वह निकटवर्त्ती है, पर सुख

नहीं पाता और जिस शत्रु के संयोग से चित्त चंचल हो जाता था वह समीप खड़ा है परन्तु भय नहीं आता। अध्यापक ने अध्यापनकर्म छोड़ दिया विद्यार्थियों ने उस से सम्बन्ध तोड़-दिया न व्यापारी आवाज़ लगाता है, न कोई ख़रीदार सामने आता है। ऐसी अवस्था में न कोई बलवान् और न कोई कम-ज़ोर, न कहीं कुछ चर्चा ही है, और न कहीं शोर। दयालु हो या क्रूर, मालिक हो या मजदूर, तन्दरुस्त हो या रोगी, साधु हो या योगी निद्रावस्था में सब समान हैं। ऐसी दशा में न कोई पिता है और न कोई माता, न कोई बन्धु है और न कोई भ्राता, किसी ने अच्छी शय्या पर शयन किया और किसी का समय भट्ठी की गर्मी में गया दोनों समान हैं। राजा और प्रजा दोनों ने अपनी हालतको भुला दिया, सब संसार ख़ामोश है या बेहोश है जाना नहीं जाता। कोई बुद्धिमान् हो तो बता दे, समझदार हो तो समझा दे कि सब को व्यामोहनी औषध (क्लोरोफार्म) किस ने सुंघा दिया। प्रत्येक ने अपनी सत्ता, स्वभाव, स्वरूप को कैसे भुला दिया। सब का समानता में आना भेद भाव मिट जाना उस नियामक के नियम को सिद्ध कर रहा है कि जिसने शरीर में ऐसे स्थान का निर्माण किया कि जहां पर आत्मा जाकर नितान्त शान्त हो जाता है। यह सर्व संसार की रचना के व्यापार में चतुर परमात्मा का ही यश है। छान्दोग्योपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था का बड़ा यश गान किया है। उस का उल्लेख है कि—

प्रत्येक प्राणी सुषुप्ति दशा में ब्रह्म-प्राप्ति से शान्ति लाभ करता हुआ पुनः कुछ समय के पश्चात् अपनी २ पूर्वावस्था में

उत्थान करता है परन्तु अविद्या के कारण जीवात्मा को इसका ठीक बोध नहीं होता। इसमें केवल इतना ही कथन है कि गाढ़निद्रा में दुःखाभाव में सुख का आरोप मात्र है वास्तव में नहीं। यथा—कोई पुरुष ग्रीष्मकालिक मध्य दिन में भाराक्रान्त और विकलमन किसी घनीभूत वृक्ष की छाया तले भार को सिर से उतार कर यह कहता है कि मुझे संप्रति बड़ा सुख मिला, इस वृक्षतल में आराम पाया। अब आप विचार करें कि गुरु भाराक्रान्त दुःख दूर होने को ही सुख मान रहा है इस का नाम ही आरोप है और कदाचित् प्राप्तव्य स्थान पर पहुंच कर यह विस्पष्ट कहता है कि बहुत समय के पश्चात् दुःख से छूटा। अतएव दुःख से पृथक् होकर अन्तःकरण की प्रवृत्ति सुखाभिमुख होती हुई प्रतीत होती है, यथार्थ में नहीं। यदि कदाचित् सुख ही मान लें तो यह सन्देह भय दिखा रहा है कि अज्ञान प्रधान सुषुप्ति अवस्था में तत्त्वज्ञान से ही लाभ होने वाले सुख की प्राप्ति कैसे होगी, विचारपथ में उलझन आजाती है और बहु परिश्रम साध्य योगज धर्म निष्फल हो जाता है। इसका कारण यह है कि सुषुप्ति अनायास सर्वत्र सब को सदा प्राप्त है और वेदादि सच्छास्त्र मोक्षसुख लाभ के लिए जो शासन कर रहे हैं उसको मिथ्यात्वापत्ति सिद्ध होगी। अत एव सुषुप्ति अवस्था में दुःख निवृत्ति है सुख प्राप्ति नहीं। पूर्वोक्त कथन से सिद्ध है कि सुषुप्ति सब के लिए समान है इसी प्रकार इसका एक घण्टा और सहस्र वर्ष में तुल्यता का विधान है कोई भेद नहीं पड़ता। यद्यपि इस में भी कालक्रम है परन्तु इसकी परीक्षा अत्यंत सूक्ष्म है। मनुष्य विचार की इस में गति

नहीं। यह परमात्मा के ज्ञान का विषय ही हो सकता है कैसी विचित्र रचना जिसका विचार ही सुखप्रद है इस का ध्यान आते ही मनुष्य का अन्तःकरण निर्विकार सा होता हुआ प्रतीत होता है। शुभ कर्मों में रुचि और अशुभ कर्मों से ग्लानि होने लगती है, ऐसे विचार मनुष्य में मनुष्यत्व को स्थिर करते हैं, जीवन सुरस हो जाता है, प्रीति की रीति प्रेम का नेम प्रकट होने लगता है, इन अवस्थाओं में ही मनुष्य का जीवन व्यतीत होता है परन्तु ध्यान न देने से लाभ नहीं होता॥

ननु–कई एक विद्वान् ऐसी शंका करते हैं कि सुषुप्ति का तो अनुभव ही नहीं होता। क्यों कि जिस काल में अनुभव हो रहा है तब सुषुप्ति अवस्था नहीं हो सकती, वह जागृत अवस्था होगी। जब किसी प्रकार का अनुभव न हो तो उस को सुषुप्ति कहना होगा, पुनः उस की सत्ता सद्भाव में प्रमाण ही क्यां हो सकता है ?

समाधि- अनुभव और स्मरण ज्ञान दोनों समकाल में नहीं हो सकते, इन दोनों में काल या अवस्था का अन्तर होना अवश्यंभावी है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जावे तो अनुभव और स्मरण में कोई भेद न हो कर विद्यमान अर्थ का विलोप प्रसंग होगा, जिस से अर्थ हानि और अनर्थावगति होगी। सुषुप्ति में अनुभव अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में है, उस का सर्वथा अभाव नहीं, अन्यथा जागृत अवस्था में उस का उदय होना असंभव होगा। जागृत हो कर यह कथन (कि मैं सुख से सोया था) पूर्व अनुभव को ही सिद्ध करता है। समकाल में दोनों का एकत्रित होना संभव ही नहीं। स्मरण सदैव अनुभव

के पीछे गति करता है । गाढ़निद्रा में काल क्रम सम अवस्था में है, अत एव अवस्थान्तर जागृत में ही अनुभूत विषय का स्मरण होगा अन्यथा नहीं। जिस प्रकार जागृत काल के विचारा का सुषुप्ति में अस्त हो जाता है, वैसे ही तत्कालीन ज्ञान का जागृत में उदय हो जाता है, सन्देह का स्थान नहीं। यदि वह अनुभव का विषय नहीं तो फिर तत्काल अभ्यन्तर कार्य कैसे हो रहा है। पाठक विचार करें! कि दिन भर कार्य भार से जो थकावट मनुष्य के शरीर में हो जाती है, उस के दूर करने का शयन के बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। नेत्रों में लालिमा है, सिर झूम रहा है, प्रतिक्षण मुग्धावस्था होती जाती है, न किसी से बोलने और न कुछ सोचने की इच्छा है, केवल विश्राम ही चाहता है । यह थकावट अच्छे भोजन खाने से और न किसी विनोद के स्थान में जाने से, न सैर करने से और न गाने से, न सत्संग करने से और न उपदेश सुनने और सुनाने से, न सुख के पदार्थ सामने आने और न भय दिखाने से दूर होती है, उस को तो शयन ही दूर कर सकता है। नहीं जाना जाता कि किस माता की गोद में बैठ कर आहार करता है कि जिस से नई उमंगों को ले कर पुनः उत्थान करता और कार्य करने में समर्थ हो जाता है । यह निद्रा ही उस की श्रमोपशान्ति का निमित्त हो सकती है अन्य कोई नहीं । इस सर्वजन प्रसिद्ध प्रत्यक्षवाद का अनुभव नहीं हो सकता, यह कहना असंगत प्रतीत होता है।

द्वितीय समाधान-ऐसी अवस्थाएं तो संसार में विद्यमान देखी जाती हैं और अनुभव सिद्ध हैं, परन्तु कथन में नहीं

आती। यथा मौनवृत्ति (ख़ामोशी) की कोई स्तुति करना या कोई उसका लक्षण बताना चाहे तो इस अनुभवसिद्ध सर्वलोकप्रसिद्ध विषय को प्रकट करने के लिये बोलने या कथन करने के बिना उसके पास और क्या साधन हो सकता है? और जब उच्चारण करेगा तब मौनवृत्ति का अभाव हो जाएगा। एक तो ख़ामोशी को पूछ रहा है, दूसरा बोल रहा है, अत एव मौन वृत्ति का लक्षण कथन से नहीं हो सकता । ख़ामोशी का अर्थ वही हो सकता है जो कथन में नहीं आता। क्या इस विपरीत बन्धन से वह सिद्ध हो सकता है कि मौन वृत्ति (ख़ामोशी) कोई वस्तु नहीं है? कदापि नहीं। बस यही अवस्था सुषुप्ति की है। भेद होने पर भी कथन में दोनों समान हैं॥

तृतीय समाधान—सोते हुए पुरुष के पास यदि कोई सावधानी से बैठकर उस की अवस्था का विचार करे तो देखने वाले मनुष्य की वृत्ति में पवित्र प्रवृत्ति का उदय और अस्त होता हुआ प्रतीत होगा। कभी तो उस के ध्यान में यह बात आवेगी कि यह मुग्धावस्था (जिस के लिए समस्त संसार सुनसान, न अपने बेगाने की पहिचान है) कैसे हो गई है? क्या यह ध्यानावस्थित है या समाहित, मूर्छित है या किसी आघात से आहत? कभी देखने वाले को भय आवेगा और कभी मन विकल हो जावेगा, कभी परमात्मा की रचना का ध्यान आकर मन में उदासीनता को लावेगा और कभी विचार की थकावट से मूढ़ावस्था हो जावेगी, कभी बुद्धि संसार की ममता से चित्त को हटावेगी, कभी ऐसे विचार का उदय हो जावेगा कि यह पुरुष तो असावधान हो कर सो रहा है।

लोहकार की भस्त्रा (धौंकनी) के समान प्राण का आयान् निर्याण कैसे हो रहा है ? बिना किसी निमित्त के ऐसा होना असंभव है । यह नियम किसी नियामक के आधीन होना ही चाहिए। इस प्रकार कई एक विचार तारतम्यभाव से सामने आने लगते हैं। सुषुप्त पुरुष की अवस्था को निहारने से मन की प्रवृत्ति साध्वी और सरल होने लगती है और मन को एकाग्र करने और बुरे कामों से डरने में सहायक तो है, यदि मनुष्य को अपने सुधरने का ध्यान हो। आहार कर के मनुष्य सो जाता है और बेसुध हो जाता है, परन्तु पाचन क्रिया द्वारा सर्व प्रकार की रसादि धातुएं बन रही हैं, जिस स्थान में उन की जितनी ज़रूरत थी उतनी वहां जा रही हैं। दूषित मलादि सारभूत वस्तुओं से पृथक् हो कर नियत स्थान में पहुंच रहे हैं। बाह्य संसार तो लुप्त समान हो रहा है, परन्तु अभ्यन्तर संसार के समस्त कार्य बड़ी सुन्दर रीति से हो रहे हैं, इस से यह जाना जाता है कि नेत्रादि इन्द्रियों ने बाह्य से नाता तोड़ कर अभ्यन्तर संसार से सम्बन्ध जोड़ लिया है। पुनः जागृत अवस्था में किसी नियामक ने नियमाधीन हो कर उन का रुख़ बाहर की ओर हो जाता है। यह सर्व अभ्यन्तर जगत् का कार्य बिना अनुभावक की सहायता के कैसे चल सकता है। अनुभाविक की सत्ता सद्भाव में यह कहना कि सुषुप्ति अवस्था का अनुभव ही नहीं होता, युक्तियुक्त नहीं है। हां यह सत्य है कि इस की परीक्षा सूक्ष्म है। साधारण पुरुष की बुद्धि का विषय नहीं॥

समाधि अवस्था का निरूपण—

समाधानं समाधिश्चित्तवृत्तिनिरोधरूपा परमार्थसुखयुक्तेति ॥६६॥

स्वभावतः मनोवृत्ति इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों की ओर झुकती रहती है और पुनः विषयसंसर्ग से चित्त चंचल होकर समाधान को प्राप्त नहीं होता। विषयजन्य सुख या दुख ही पुरुष की प्रवृत्ति या निवृत्ति का बीज है। सांसारिक विषयजन्य सुखभोग के अनन्तर मनुष्य को किंचित् ग्लानि तो अवश्य ही होती है, तो भी पूर्वानुभूत सुखलिप्सा मनुष्य को उस ओर आकृष्ट करती ही चली जाती है। यह दृष्टिगोचर हो रहा है अतएव प्राणिमात्र को इस प्राकृत नियम के आधीन होना ही पड़ता है। यद्यपि यह नियम बड़ा ही प्रबल है, सब पर इस का अधिकार समान है तथापि इस से छुटकारा पाने, पृथक् हो जाने, जीवन को सफल बनाने का उपाय भी इस प्रकृत नियम में ही विचारशील पुरुषों को मिलता है। साधारण मनुष्यों के विचार का विषय नहीं हो सकता। सुषुप्ति अवस्था तो मनुष्य के लिए अनायास सिद्ध है, परन्तु यह समाधि परिश्रमसाध्य है। इसका सूक्ष्मांश मनुष्य के जीवन में पाया जाता है। उसको ही श्रम, विचारक्रम और उज्ज्वल धर्म से बढ़ाना होता है। यह नियम मनुष्यों के अनुभवसिद्ध है कि कभी २ मनुष्य का (जंगल में हो या घर में, ग्राम में हो या नगर में दो चार मिनट के लिए) मनोव्यापार स्थगित हो कर त्राटक सा हो जाता है। यह अवस्था प्रायः सब पर ही आती है। पुरुष अत्यल्प समय के लिए अचेत सा होकर पुनः प्रबुद्धावस्था में आता और चकितसम हो जाता

है। यह जागृत अवस्था में सुषुप्ति के समान मनोवृत्ति का समाहित सा हो जाना सिद्ध करता है कि इस स्वयंसिद्ध (सदा सब को प्राप्त सूक्ष्म परिमाण) बीज में समाधि का वृक्ष जिसका फल मोक्ष या ईश्वरप्राप्ति है, विद्यमान है। यह बात विचारशील ज्ञानी पुरुषों के (जिनका शुभसंचित कर्म सहायक होता है) ध्यान में आती है, वह ही इस पथ के पथिक बनते हैं। साधारणजन इस के बढ़ाने में असमर्थ ही देखे जाते हैं। अवसर तो सब को प्राप्त है। मनुष्य शरीर के साथ जब जीवात्मा का सम्बन्ध होता है तब इस पदप्राप्ति का अधिकारी तो है परन्तु विचार की न्यूनता, विषयवासना की अधिकता, व्यसनों में आसक्ति, मन्द कर्मों में अनुरक्ति, पुरुषार्थ करने में भीति और आलस्य में प्रीति इत्यादि अनेक बाधक दोषों के होते हुए मनुष्य इस मार्ग से दूर हो जाता और अपने उद्देश्य को भूल कर अनेक प्रकार सांसारिक सुख-दुःख को अनुभव करता हुआ जन्ममरण के प्रवाह से पृथक् नहीं होता। प्रत्येक विद्वान् चाहे वह किसी देश विशेष में हो जो वास्तव में ज्ञानवान् है उस ने मनुष्यजीवन का उद्देश्य उत्तम, स्वच्छ, पवित्र और उज्ज्वल परमपद की प्राप्ति करना ही बताया है। यह सत्य है कि मनुष्य संसारयात्रा में से होता हुआ ही इस अभीष्ट पद को प्राप्त कर सकता है। यदि उसकी यह यात्रा साध्वी-परदुःखोत्पादन प्रवृत्ति की निवृत्ति, परहितसंपादन में प्रवृत्ति और जीवन को सफल बनाने में सच्ची रुचिवाली हो। अन्यथा मनुष्य उद्योग और पुरुषार्थ से सांसारिक सुख और कभी विपरीत मार्ग में चल कर दुःखभोगभागी तो होता ही

रहता है, परन्तु मुख्योद्देश्य हाथ से निकल जाता और अन्त में पछताता है। सांसारिक विषयभोग शरीर तक साथ देते हैं, अन्त में यह विषय विष के समान पूर्वानुभूत वासना को सामने लाकर पीड़ा देते हैं, यह बड़े ही कष्ट का समय होता है, अतएव मनुष्य को यथार्थ मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए जिससे लोक और परमार्थ दोनों का सुधार हो यह शास्त्र की मर्यादा है॥

समाधि – (चित्त का समाधान होना) का बीज मनुष्य-जीवन में विद्यमान है यह पूर्व कहा गया है, इसके बिना कोई पुरुष समाहित–अन्तःकरण नहीं हो सकता। पाठक विचार करें कि मनुष्य में ज्ञान का अंश है इस लिए अभ्यास से ज्ञान-वान् हो जाता है बल का अंश है अतएव अभ्यास के आधीन होकर बलवान् पहलवान कहलाता है, बालक अल्प वाचा-शक्ति रखता हुआ वाचाल और थोड़ी गति शक्ति रखता हुआ दौड़ धूप में कमाल करता हुआ देखने में आता है। इस कथन का यह आशय है कि मनुष्य के अन्तःकरण में प्रत्येक विद्या और गुण का (जिस का यह शिक्षण पाता है) बीज पूर्व से ही स्थिर है, वह अध्यापक गुरु, आचार्य के सतसंग सहचार से शनैः २ उन्नत होकर फल दिखाता और वैसा ही बन जाता है जैसी इस को सहायता मिलती है। न होने वाली वस्तु (जिस की सत्ता ही नहीं है) कैसे प्रकट होगी। ऐसी वस्तु के बनाने में तो कर्त्ता का श्रम ही निष्फल हो जाता है इसलिए यह कहा गया है कि समाधि का बीज जो कभी २ मनोवृत्ति में उदय हो जाता है, वह पूर्व से विद्यमान है॥

द्वितीय हेतु---योग के आठ अंग योगदर्शन में बताए गए हैं उन को वहां ही अवलोकन करें। यम से लेकर समाधि तक पहुंचने के लिए चतुर्थ अंग प्राणायाम है, संप्रति इस की अधिक चर्चा हो रही है। प्राणायामविधि के लिए प्रायः पुरुष प्रश्न करते ही रहते हैं। यह नियम प्रत्येक प्राणी का सहचारी है, यह ही जीवन है, मनुष्य को सबल बनाने और स्वस्थ करने में हितकर और उपकारी है यह रेचक, पूरक और कुम्भक-रूप से प्रचलित सदा सब को प्रत्यक्ष है। बाह्य देश में गति करने वाले की संज्ञा रेचक, अन्तर प्रदेशवर्ति को पूरक और दोनों के मध्य में जो किंचित् विराम का समय है उसको कुम्भक कहा जाता है। इस ईश्वरीय नियम के आश्रित होकर प्राणि-मात्र प्राणायाम कर रहा है, परन्तु मनुष्य इस बात का अधि-कारी है कि वह नियमित आहार और व्यवहार एवं सदाचार के आधार पर इस प्राणविद्या से परिचित और पुनः २ के अभ्यास से समाहित होकर शुद्धबुद्धि से मन की मलिनता को धोकर अन्तःस्थ राग द्वेष, वैर, विरोधादि विकारों को खोकर अपने को समाधि तक पहुंचा दे। ब्रह्माण्ड की परिस्थिति के मूलाधार सूत्रात्मा वायु में यह तीनों प्रकार की गति समव-स्थित है उस महान् कार्य का ही प्राणिमात्र के श्वास, प्रश्वास से गहरा सम्बन्ध है। यथा इंजन की थाम गाम से तमाम कल पुर्जे, चलते व रुक जाते हैं। प्राणवायु शरीर में आकर जीवन का हेतु कैसे हो गया? यह कोई नहीं जान सकता। यह केवल परमात्मा की महिमा का ही सूचक है अतएव उस का धन्यवाद अवश्यंभावी है। मेरे मित्र! अब आप को पता

लगा कि ब्रह्माण्ड में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इस छोटे से शरीर में विराजमान न हो। भेद केवल इतना ही है कि ब्रह्माण्ड अति विशाल है और यह छोटा है। उस की सब सामग्री इस अल्पशरीर में विद्यमान है। प्रभुमहिमा से बड़े भारी विचित्र ब्रह्माण्ड का ही यह छोटा शरीर चित्र है, इस के विचार से ब्रह्माण्ड का ज्ञान यथा बीज दर्शन से वृक्ष का ध्यान हो जाता है, अतएव समाधि भी एक शास्त्र प्रसिद्ध और महात्माओं के अनुभव सिद्ध वस्तु है। उस का भी सूक्ष्मांश शरीर में होना ही चाहिए॥

प्रथम विकल्प--समाधान को समाधि कहा है। प्रथम संशय और विपर्यय ज्ञान की हलचल से चित्त का चंचल न होना समाधान कहलाता है, यह दोनों सर्व प्रकार के अनर्थों की आधार भूमि हैं। इन की सत्ता के होते हुए समाधि-समाधान का निशान भी नहीं मिलता। यथाप्रस्तर चट्टान पर कमल नहीं खिलता और वायु के मन्द झोकों से हिमालय नहीं हिलता। समाधि-सिद्धि के लिए इन दोनों को हटा कर अपने को अधिकारी बनाना चाहिए। इन दोनों के दूर करने में यथाशक्ति प्रयत्न करना ही उचित है। अधिकारी को अधिकार अवश्य ही प्राप्त होता है अनधिकारी हो कर अधिकार की चेष्टा करना निष्फल ही है। यह सत्य ही है कि गौरव गुणों का अनुगामी होता है उपायान्तर नहीं है॥

द्वितीय विकल्प—इच्छाबाहुल्य भी समाधि के लिए प्रतिबन्धक है, इच्छा उत्पन्न होकर यदि उस की पूर्ति का साधन उपस्थित न हो तो चित्त अत्यन्त चंचल हो मूढ़ावस्था को प्राप्त

कर अनर्थ की ओर झुकता जाता है। ऐसी अवस्था में कैसी समाधि और कहां का समाधान ? जब कि व्याकुलता ही पीछा नहीं छोड़ती। अत एव मनुष्य को साधन सहित साध्वी इच्छा अधिकारी बनाने का निमित्त हो सकती है। साधनों के होते हुए भी मनुष्य का (इच्छा की अधिकता को रोकना) इन में कष्ट ही है ऐसा सोचना समाधान संपत्ति के लिए सुचारुमार्ग है। यह बहुत ही परिश्रम साध्य है साधारण नहीं॥

तृतीय विकल्प—मिताहार भी समाधि के लिए सहकारी कारण है। यह निश्चितवाद है कि जब तक सहायक न हो तब तक कोई कार्य भी सिद्ध नहीं होता। मिताहार हितकर होता है, यह ही उसकी पहिचान है जो शरीर को अस्वस्थ बनावे, कार्य करने की शक्ति को घटावे वह अहितकर भोजन मित संज्ञक नहीं हो सकता। भोजन पवित्र, रुचि से अधिक अथवा रुचि से पूर्व न खाया जावे और वह समयानुकूल हो। इन सब बातों के एकत्रित हो जाने का नाम मित है। इस नियम के पालन करने से मनुष्य नीरोग, कार्य करने में समर्थ और प्रसन्न-चित्त रहता है फिर उसका जीवन जनसमुदाय के लाभार्थ हितकर हो जाता है प्रत्येक मनुष्य को इसका सहारा लेना ही चाहिए॥

चतुर्थ विकल्प—जिस को समाधिसम्पादन में रुचि हो उसको ऐसे कार्यों से, जो अन्तःकरण में शोक और चिन्ता के उत्पादक हों, सर्वथा सर्वदा ग्लानि होनी चाहिए। चिंता से मनुष्य के आत्मा में दीनता का उदय होने लगता है उत्साह और वर्चस् जाता रहता है, विचारशक्ति मन्द पड़ जाती है,

जीवनयात्रा दुःखमयी हो जाती है। चिन्ता के पुनः पुनः आघात से शरीर दुर्बल हो जाता है, उसकी व्यवस्था को जान कर उसके पास बैठने को लोगों की रुचि नहीं होती। ऐसे पुरुष का जीवन तो अपने लिए भी हितकर नहीं होता है, औरों को लाभ पहुंचाना तो दूर रहा। प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह जहां तक हो सके चिन्ता और शोकजनक सामग्री को दूर करे परन्तु योग सम्पादन करने वालों को तो विशेष ध्यान रखना चाहिए॥

पंचम विकल्प—जिस को समाधि में प्रेम हो उस का स्वभाव मितभाषी होना चाहिए अन्यथा उसको इस मार्ग में गमन करना कठिन होगा। अधिक बोलने या विवाद में पड़ने से अन्तः विकारों का बल बढ़ जाता है, जीत हार का विचार सामने आता है। प्रथम तो जीत हार का बखेड़ा रहा, पुनः किसी ने निन्दा की और किसी ने स्तुति। इसको सुनकर कभी ग्लानि और कभी प्रसन्नता से मन घिरा रहा अत एव अधिक बोलने से मनुष्य की विचारशक्ति में कमी और कुछ निन्दा करने में रुचि होने लगती है। प्रत्येक मनुष्य का विचारपूर्वक आलाप करने का स्वभाव होना चाहिए। यह बड़ा ही उत्तम गुण है ऐसे तो कम बोलने वाले पुरुष में यदि वह बुद्धिसहित हो तो अधिक समझने की योग्यता हो जाती है और वही अपने भेद को जो सर्वार्थ सिद्धि का मूल मन्त्र है गुप्त रख सकता है, परन्तु चित्त समाधान में संलग्न मनुष्य को मितभाषी होना तो अत्यावश्यक है॥

षष्ठ विकल्प—एकान्तसेवन चित्त की चञ्चलता के दूर करने में बड़ा ही सहायक है, यह प्रायः विद्वज्जन प्रसिद्ध है कि

एकान्तसेवन से मनुष्य का स्वभाव उत्तरोत्तर अच्छा होने लगता और अनेक प्रकार के उपद्रवों से बचाता है। एकान्त-वासी अवश्य ही मितभाषी हो जाता है, जब वह अकेला ही जङ्गल-बन या अन्य किसी स्थान में आसीन है तब उस को अधिक आलाप करने का अवसर ही कहां मिलता है ? परन्तु साधारण मनुष्यों का स्वभाव तो ऐसा देखा जाता है कि वह अपने भेद को सुरक्षित तो नहीं रख सकते, मनोवृत्ति दुर्बल होने के कारण दूसरों को सुनाने के लिए स्वयं ही बाधित हो जाते हैं। सुनाने के पूर्व या पश्चात् इतना उपदेश भी कर देते हैं कि आप किसी से इस भेद को न कहें। सुनने वाला भी स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार परस्पर से दूसरा तीसरे और वह किसी अन्य को सुनाते ही जाते हैं परन्तु यह उनकी समझ में नहीं आता है कि जो बात मेरे मन में नहीं रुकती बाहर उछली पड़ती है, वह दूसरे पुरुष के मन में कैसे ठहर जावेगी ? कैसी अनोखी बात है इस भूल का प्रायः सब पर ही आघात है। मेरे मित्र ! जो मनुष्य या समाज अपने भेद को गुप्त नहीं रख सकता वह कदापि संसार में उन्नतिशील नहीं होता है। इस नियम का पालन कोई वीर गम्भीर पुरुष ही कर सकते हैं, और वही संसार के उन्नत करने के निमित्त भी बनते हैं। सुरक्षित वीर्य होने के लिए जितनी शक्ति काम में लानी पड़ती है, उतनी ही शक्ति भेद को गुप्त रखने के लिए आवश्यक है। जिसको प्रतिज्ञा-पालन में रुचि होगी वह सदैव मितभाषी होगा। उसको प्रतिज्ञाभङ्ग का भय है। दर्जी की कतरनी जैसी कपड़े पर चलती रहती है तत्समान जो लोग बातूनी होते हैं

वह प्रतिज्ञापालन नहीं कर सकते। प्रतिज्ञा संन्यास विश्वास का नाशक होकर ऐश्वर्य को दूर भगाता और दरिद्रता को सामने लाता है अतएव मनुष्यों को चाहिए कि पहले मन में तोलें और पुनः मुख से बोलें। विलम्ब से किसी बात के उत्तर देने में इतनी हानि नहीं, जितनी प्रतिज्ञा करके उसकी रक्षा न करने से होती है। यह दोष मनुष्यसमाज की बनावट को वेडौल बना देता है और वह सुख को बेच कर दुःख को मोल लेता है। यह नियम जैसा साधारण मनुष्यों पर लागू हो सकता है, वैसे ही जिन सन्त महात्माओं को समाधिसिद्धि और योगज ऋद्धि सम्पादन करने में रुचि हो, अभिमत होना चाहिए। वह उतनी ही बात को जितनी शक्ति हो अथवा जितना अनुभव किया हो मुख से कहें अन्यथा अधिक बातों के बनाने और बताने या सुनाने से अन्ध-परम्परा की वृद्धि से मनुष्यसमाज गौरव से हीन हो जाता है। भारतवर्ष इस का विस्पष्ट दृष्टान्त है॥

सप्तम विकल्प—समाधि में जिस को रुचि हो उस को आत्मश्लाघा से बड़ा ही बचना चाहिए। इस का बन्धन बड़ा ही कड़ा है। कोई महात्मा धर्मात्मा ही इससे मुक्त हो सकता है, शास्त्र ने इस को बड़ा भारी दोष बताया है। यह अन्तःकरण को मलिन बना देता, सन्मार्ग में चलने वालों को भुला देता और रागद्वेष के जाल में फंसा देता है। इसी लिए संन्यास लेते समय वीतराग होने की इच्छा से पुत्र, वित्त, लोक-एषणा का परित्याग करना होता है और इस के साथ यह प्रतिज्ञा की जाती है कि मुझ से किसी प्राणी को भय न

हो । उस का अनुष्ठान करने और इस पथ पर चलने वाले विरक्तपुरुष के लिए ही जन्म का अदर्शन होता है। अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि राग ही जन्म का कारण है । पुत्र और वित्त की ममता कड़ी तो है, परन्तु इस का ढीला हो जाना, विचार से इस की मलिनता का समीप न आना तो सुगम जान पड़ता है परन्तु इस लोकैषणा के बन्धन से मुक्त होना बड़ा ही कठिन है। होने वाली वस्तु यदि किसी कार्य में प्रतिबन्धक हो तो उस से पृथक् होने या उस के दूर करने का उपाय तो विचार में आ जावेगा परन्तु न होने वाली वस्तु का आतङ्क यदि मनुष्य पर छा जावे तो इस भ्रम भूत से छुटकारा पाने और इस के हटाने का मार्ग शीघ्र हस्तगत नहीं होता। यह लोकप्रशंसा न भोजन है जिस से क्षुधा मिटे और न वस्त्र ही है जिस से शीत हटे, परन्तु इस ने सब को पकड़ा हुआ और बुरी तरह से जकड़ा हुआ है । सत्त्व प्रधान आत्मा इस को नहीं चाहता, उस की प्रवृत्ति निष्काम कर्म में होती है, तम सहचर रजोगुणी आत्मा का यह भोजन है, वह दूसरों से अपनी प्रशंसा को सुन कर (जिस प्रकार चूल्हे में रोटी फूलती है) फूल जाता है और कभी स्वयमेव अपने मुख से अपनी श्लाघा (जो निन्दा के समान होती है) को करने लगता है, उस को यह पता नहीं चलता कि यदि इन्द्र भी अपनी प्रशंसा करे तो वह भी लघुता को प्राप्त हो जाता है और ऐसा पुरुष निन्दा को सुन कर इस प्रकार सिकुड़ जाता है जैसे हवा निकलने पर फुटबाल सिकुड़ जाता है। जो पुरुष किसी के मुख पर प्रशंसा करता वह चालाक या मक्कार होता है, और जो अपनी प्रशंसा

को सुन कर प्रसन्न होता है वह बे समझ या गंवार होता है। अत एव वही मनुष्य समझदार है जो इन दोषों से बचने के लिए स्तुति और निन्दा से अपने को बचाता है। आत्मश्लाघा, आत्मसन्मान और आत्मगौरव यह शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं, परन्तु इन में वास्तविक भेद है—गुणहीन प्रशंसा का नाम आत्मश्लाघा है। यह एक प्रकार की अविद्या है जो मनुष्य-समाज को बड़ा ही निर्बल बना देती है यथा—सम्प्रति भारतीय वर्ण-व्यवस्था गुणों के न रहने से पतितावस्था को प्राप्त हो गई है तथा—सन्त-समुदाय भी विवेक, वैराग्य और त्याग के न होने से निन्दास्पद हो रहा है, इन में कुछ भले भी हैं पर उनकी संख्या अत्यल्प है। उन में भी अल्प दोष की मात्रा विद्यमान है, वह स्वयं जानते हुए भी विचार पूर्वक देश की (जिस देश में उनका निवास है) सुधार करने और जिन पूर्वजों की स्वयं प्रशंसा करते हैं, जनता को उनके चरणचिह्नों पर चलाने का यत्न नहीं करते और जो करते हैं वह धन्यवाद के पात्र हैं ॥

आत्मसन्मान एक गुण है जो मनुष्य को ऊंचा उठाने और उन्नत बनाने में बड़ा ही सहायक है। जिन दूषित गुणों के करने से आत्मा में ग्लानि और संकोच उत्पन्न हो उन से दूर रहना आत्मसन्मान कहलाता है। यह स्वयं सत्य-पथ-गामी होकर औरों को इस मार्ग में चलाता है ऐसे पुरुष की प्रकृति रज, सत्त्व, तम का अनुकरण करती है आत्म-गौरव मनुष्य-कर्त्तव्य की पराकाष्ठा है। जब आत्मा के उच्चतम गुणों का उदय होता है, तब पुरुष इस पद को प्राप्त हो जाता है।

इस स्थान पर पहुंच कर अन्तःकरण बड़ा ही गम्भीर हो जाता है, ऐसे उत्तमाशय की कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थ के लिए नहीं होती। परहित चिन्ता उसका स्वभाव बन जाता है, यदि यह गुण विद्याप्रकाश से हो तो संसार के लिए बड़ा ही लाभदायक होता है। यदि ऐसा न हो तो भी किसी के लिए अहितकर नहीं होता। ऐसे पुरुष की प्रकृति में सत, रज, और तम क्रमशः काम करते हैं। इन गुणों की सूक्ष्मावस्था का यथार्थ ज्ञान तो मनुष्य-मति से बाहर है पर ब्रह्माण्ड इनकी ही रचना है। इनकी तारतम्यता से ही अनन्त वस्तुएं स्वरूप से भिन्न और कृति से विभिन्न दर्शन-पथ में आ रही हैं, जो ऊपर कहा गया है वह सामान्य नियम है। इस मार्ग पर चलता हुआ सामान्य पुरुष महान् हो जाता है और जन्म, मरण प्रवाह में चक्र लगाता हुआ ज्ञानी होकर मोक्षपद को पाता है। जिस के मन में आत्मसन्मान अथवा आत्मगौरव का विकाश हो जाता है, उसका ही चित्त समाधान को प्राप्त होता है और इसका वही अधिकारी है, जिसने आत्मश्लाघा के दोष को दूर कर दिया है। उपरोक्त सात दोषों के रहते हुए कोई भी पुरुष सुख भोग-भागी और यथार्थ में प्रभुप्रेम का अनुगामी नहीं हो सकता॥

पूर्व सूत्र में "समाधानं समाधिः" के बाद चित्त-वृत्ति-निरोध द्वितीय वचन है अब इसका निरूपण किया जाता है—

विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ॥७०॥

चित्त की वृत्तिएं विचित्र हैं, यह गणना में नहीं आसकतीं। एक काल में सहस्रशत व्यक्ति-भेद से वृत्तियों की अनन्तता और विचित्रता है और एक व्यक्ति में काल भेद से समुद्र

तरङ्गवत् वृत्तियों का उत्थान होता ही रहता है। तथापि योग दर्शन में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति भेद से पांच कही गई हैं अन्य सब का इन में समावेश हो जाता है। मनुष्य का अन्तःकरण जब एक वृत्ति के आघात से क्षुब्ध हो जाता है, तत्पश्चात् अनेकशः वृत्तियों का उत्थान होने लगता है। इन में एक मुख्य और अन्य गौण होंगी। प्रधानवृत्ति के निरोध से शेष स्वयमेव रुक जाती हैं। उस की सत्ता सद्भाव में अन्य के निरोध में यत्न करना निष्फल होता है, इस भेद के ज्ञाता कोई विचारशील (उपर्युक्त गुण-विशिष्ट) विरले ही होते हैं और वही जन-समाज के कल्याण करने में निमित्त बनते हैं॥

पाठक वृन्द! वृत्तियों का भेदबोधक दृष्टान्त यह है किसी राजकर्मचारी का अवकाश लेकर गृह को जाने का विचार हुआ कि (जो वृत्ति अन्य वृत्तियों को उत्पन्न करे वह मुख्य कहलाती है यहां पर गृह को जाने वाली मुख्य वृत्ति ने निम्न लिखित वृत्तियों को उत्पन्न किया)।

१—अकेले चलें या कुटुम्ब को साथ ले जाएं।

२—सबके ले जाने में द्रव्य का अधिक व्यय होगा।

३—उस मार्ग से चलना ठीक इस लिए है कि न्यून व्यय होगा परन्तु इस मार्ग से जाने में एक मित्र से भेंट हो सकती है।

४—कितने रुपये साथ ले जाने चाहिएं।

५—किस क्लास में बैठ कर चलना चाहिए?

६—कल नहीं परसों चलना ठीक होगा क्योंकि दो एक मित्रों से मिल कर कुछ परामर्श करना है इत्यादि। अब यदि

अवकाश मिल जाये तो सब विचार स्थिर रहेंगे और यदि अवकाश न मिला तो सब स्वयमेव अस्त हो जाएंगे। अब आप को समझ लेना चाहिए कि जिसके होने में अन्य का होना और न होने में न होना है वह वृत्ति मुख्य या प्रधान है, शेष सबको गौण या अप्रधान कहना ठीक होगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में न्यूनाधिक भाव गुप्त या प्रकट रूप से यह ही क्रम विद्यमान होगा॥

वृत्तिभेद का द्वितीय प्रकार–कोई पुरुष एक समय में उदार जान पड़ता है तो दूसरे काल में कंजूस देखा जाता है। शस्त्रप्रहार में निपुण युद्धविद्या-विशारद वीर अर्जुन को समयान्तर में कायर वृत्ति ने आ घेरा और उसने इसके आधीन हो कर बल, बुद्धि और युद्धकौशल को खो कर विषम समय में युद्ध करने से अपने मुख को फेरा। उस काल का दृश्य विचित्र है व्यामोह के पंक में धंसे, कुत्सित मनोवृत्तियों के जाल में फंसे और अनेक प्रकार के विपरीत भाव मन में बसे हुए अर्जुन का चित्त सामने है, नेत्र सजल हैं, न मुख से कोई वचन ही कहता है और न कर्त्तव्य के पालन करने में रुचि ही दिखाता है। वह विकलता के कारण अपनी हिम्मत हार रहा है, उसको किस ने भुलाया है? जो इतना कष्ट सह रहा है कुछ समय पूर्व शत्रु दल को सामने देख कर रण भूमि में उन को छिन्न भिन्न करने की उमङ्ग में गर्ज रहा था। मेरे साथ कौन योद्धा युद्ध करेगा? उपहास से उन को वर्ज रहा था। अल्प समय के पश्चात् ही उपर्युक्त दृश्य सामने आता है, न आगे बढ़ने की सामर्थ्य है और न पीछे ही हट सकता है। जिस के बल से

सब बलवान् और जिस के दुर्बल हो जाने से समस्त पुरुष चित्र के समान हो जाते हैं, ऐसे महाबली वीर पुरुष अर्जुन को मनोवृत्ति ने कभी वीर बना दिया और कभी कायरता का पाठ पढ़ा दिया । ऐसी अवस्था में चित्र सर्वाङ्ग पवित्र योगीराज कृष्णचन्द्र जी महाराज के सदुपदेशों ने उस को संभाल कर, मोह महिमा से निकाल कर कायरता से दूर और वीर भाव से भरपूर बना दिया। मित्र को मित्र के साथ जो करना चाहिए था वह किया । सब को ऐसा ही करना चाहिए जो परस्पर मित्रता का दम भरते हों, अन्यथा कोई किसी को मित्र न कहे । उपर्युक्त कथन से एक व्यक्ति में (काल भेद से) मनोवृति की विचित्रता तो सिद्ध हो गई। एक काल व्यक्तिभेद से वृत्ति का भेद तो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। एक मृदु तो दूसरा क्रूर है, कोई दुःखी को देख कर उस की सहायता करता, उस के दुःख में अपने को दुःखी जानता और कोई अपने सुख के निमित्त दूसरों को कष्ट पहुंचाना अपना कर्त्तव्य मानता, कोई प्रसन्नता से शुभ कर्मों में धन को लगा कर मरता और दूसरा अपने जीते जी धन देने में डरता है । संसार में यह देखा जाता है कि लोग एक को दान वीर कहते हैं और कंजूस का नाम भी नहीं लेते । अत एव मनोवृत्ति की गणना करना सागर को गागर में भरने के समान असम्भव है । सच्ची साध्वी वृत्ति सत्प्रवृत्ति की, और कुत्सित–निन्दित वृत्ति कुप्रवृत्ति की तालिका है । एक वृत्ति के उदय होने में दूसरी का अस्त और अस्त में उदय होता रहेगा ॥

इतने कथन के पश्चात् पुनः प्रकृत विषय का अनुसरण

किया जाता है। इन समस्त वृत्तियों के निरोध (रुक जाने) का नाम योग है। इस धर्म में प्रवृत्त पुरुष को असन्मार्ग प्रवर्त्तक-अनुचित वृत्ति का त्याग ही साधु है, पश्चात् सद्वृत्ति के हटाने में यदि तीव्र पुरुषार्थ हो तो समर्थ हो सकता है। जितना प्रयत्न अनिष्ट वृत्ति के दबाने में मनुष्य को करना पड़ता है उस से अत्यल्प यत्न इष्टवृत्ति के हटाने में काम आता है। इस सरल सिद्धान्त को न जान कर जो चित्तवृत्ति निरोध रूप योग में सफलता को प्राप्त करना चाहते हैं, वह तो मरुभूमी में नौका को चलाते हैं, यह कैसे हो सकता है। असत्, अयुक्त, और असम्भव है। क्या लोग यह प्रश्न नहीं करते कि सन्ध्या करते समय जब कि मनुष्य अल्पकाल के लिए समाहित होना चाहता है, तब उसका मन विराम न लेकर इधर उधर दौड़ जाता है, क्या वह सन्मार्ग में गति करता है? यदि ऐसा है तो मनुष्य का स्वभाव सुचारु और शुभकर्म में उस की प्रवृत्ति होनी चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। वह तो दौड़ धूप कुमार्ग में मचाता और इस को भुला कर कुत्सित मार्ग में ले जाता है। अतएव यह निश्चितवाद है कि जब सद्विचार, सत्संग, स्वाध्याय और सुनियम पालन करने से कुवृत्ति रुकेगी तब सुवृत्ति स्वयमेव समाहित होते समय एकान्तासीन हो जावेगी। कारण यह है कि इसमें सरलता है कुटिलता नहीं, अत एव यह जीवात्मा को आगे बढ़ाने और प्राप्तव्य स्थान तक पहुंचाने में बड़ी ही सहायक है। उत्तम वृत्ति अपने इस स्वभाव का कभी भी परित्याग नहीं करती यदि ठीक है बनावटी नहीं॥

पाठक एक दृष्टान्त से जानलें कि सुषुप्ति अवस्था में

समस्त वृत्तियों का निरोध (प्राकृत नियम के आधीन) हो जाता है यह अवस्था तमप्रधान होने से किसी भी वृत्ति के उदय होने का निमित्त नहीं बन सकती। जैसे निशा (रात्रि) का अन्धकार नेत्रशक्ति को अभिभव करता है उसी प्रकार जब तम अन्तःकरण की शक्ति को दबा लेता है, तब समस्त वृत्तियों का तिरोभाव होकर आत्मा चेतन होता हुआ भी अचेतन सम हो जाता है। उस को अपने स्वरूप का तात्कालिक ज्ञान नहीं होता। यह प्रति दिन सब के विचार का विषय है। अब यदि निद्रातम को स्वभाविक प्रकाश अपने बल से आघात पहुंचाता है तब तो जागृत अवस्था हो जाती है और यदि मन्द प्रकाश तम को आघात देता है तब यह सुषुप्ति को पूर्णरूप से न हटा सकता और न जागृत को ला सकता है, वह दोनों से विलक्षण स्वप्नावस्था बन जाती है। अब यदि अभ्यास साध्य तीव्र प्रकाश निद्रा तम को हटा देगा तब वह समाधि का स्वरूप हो जावेगा, बस यह ही प्रकार है। बुद्धिमान् विचार शील योगज धर्म में प्रवृत्त पुरुष सुषुप्ति अवस्था को ही समाधि बना लेता है, निद्रा में वृत्ति निरोध तो स्वयंसिद्ध है, केवल तम के स्थान में प्रकाश को ही लाना और सुषुप्ति का समाधि में बदल जाना है इस अवस्था में मनोवृत्ति का विषय सम्बन्ध तो नहीं है जब अन्तःकरण ही स्थिर हो गया तब उसके अधीन रहने वाली इन्द्रियां अपना कार्य कैसे कर सकती हैं? इन दोनों के उपकार से उपकृत आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति और तदनन्तर परमात्मदर्शन की अवगति से मनुष्य का पुरुषार्थ यहां पर ही समाप्त हो जाता है॥

उक्त सूत्ररूप संस्कृत वाक्य में तृतीयपद "परमार्थ युक्तेति" की व्याख्या की जाती है—

मोक्षसाधर्म्यात् परमार्थसुखयुक्तेति ॥७१॥

इति शब्द यह निश्चय करता है कि मोक्ष के समानधर्म से यथार्थ समाधि अवस्था परमार्थसुख सहित होती है, विषय इन्द्रिय संसर्ग जन्य अनेक प्रकार जो सुख की उपलब्धि होती है, वह कई प्रकार की उपाधियों से उपहित हुए उस यथार्थ सुख की ही किरण है। जैसे विद्युतप्रकाश अनेक प्रकार के पदार्थों के सहयोग से कई प्रकार के विकाश को तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु फिर भी वह इस अनेकता में स्वरूप से एक ही है। उपाधिभेद से सुख में भेद और उपाधि के परिणाम से सुख में विपरिणाम प्रत्यक्ष देखने में आता है, तथापि विकृत वस्तुओं के सहचार से विकार को प्राप्त न होता हुआ अपनी व्याप्ति से अस्थिर पदार्थों में सदा स्वरूप से स्थिर है। समाधि अवस्था उपाधि से पृथक् है। उपाधि रहित होना ही परमार्थ सुख सहित होना है। जागृत अवस्था में विषम इन्द्रिय संसर्ग उपाधि है और स्वप्नावस्था में दृष्ट-श्रुत विषयों के जो मन में संस्कार थे उनका उद्बुद्ध होना उपाधि है। सुषुप्ति अवस्था में तम की प्रधानता उपाधि है। मूर्छित अवस्था में किसी प्रकार के आघात से प्रयत्न शैथिल्य उपाधि है अब शेष समाधि ही ऐसी अवस्था रह जाती है कि तात्कालिक न तो विषय संसर्ग है और न संस्कारों का आविर्भाव है न नाम की प्रधानता और न प्रयत्न आदि की स्थिरता है अर्थात् सर्वो-पाधि वर्जित समाधि दशा में परमार्थ सुख का भान योगी को

होता है ॥

प्रश्न—यदि उपाधि ही प्रतिबन्धक है तो शरीर भी एक उपाधि है, इसकी सत्ता में सुख की उपलब्धि कैसे होगी ?

उत्तर—प्रथम तो शरीर सर्वावस्था में समान है, द्वितीय शरीर तो एक जीवात्मा को संसार सागर पार करने की तरणी है प्रतिबन्धक नहीं। मनुष्य शरीर को प्राप्त करके ही यदि विचार से काम करे तो जन्म मरण से छुटकारा हो सकता है अन्यथा नहीं। कई एक विद्वानों का यह कथन है कि समाधि में तदाकार वृत्ति हो जाने से दुःख सुख दोनों का ही बोध नहीं होता। यह कथन युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता। इस का कारण यह है कि जागृत अवस्था में क्रमशः सुख दुःख दोनों का ज्ञान होता रहता है। स्वप्नावस्था इस के ही समान है। सुषुप्ति अवस्था में दोनों का बोध नहीं रहता है, मूर्छावस्था तत् तुल्य है। अब यदि समाधि में भी सुख दुःख की प्रतीति नहीं तब वह सुषुप्ति होगी, समाधि नहीं। बहुकाल परिश्रम साध्य समाधि अवस्था को प्राप्त करने में किस को रुचि होगी ? अनादर प्रसंग सामने आएगा और आथ अपने अविश्वास को लाएगा। समाधि का विधान करने वाला शास्त्र अप्रामाणिक होकर अनर्थोत्पत्ति का निमित्त जान पड़ेगा। अत एव समाधि सिद्धि में कोई भी तत्त्व दर्शन तो होना ही चाहिए ॥

वादी—समाधि काल में तो कोई बोध नहीं होता। किन्तु उत्थान काल में सुख की प्रतीति होती है। समाधि उत्थानानन्तर जो सुख जान पड़ता है, वह पूर्वानुभूत विषय का स्मरण है ॥

उत्तर-समाधि काल में आप के कथनानुकूल अनुभव का कोई विषय या किसी प्रकार का साक्षात्कार नहीं, तो उत्थान समय निर्मूल स्मृति का उदय कैसे हुआ। स्मृति तो सदैव अनुभव के पीछे दौड़ती है यह तो हो सकता है कि कदाचित् अनुभूत विषय की स्मृति का भी प्रमोष हो जावे किन्तु अनुभव के बिना स्मृति का होना बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति के समान है, मूल के बिना मूली के विधान के तुल्य है। यह होना तो सम्भव है कि घनघोर घटा के होने पर भी किसी प्रतिबन्धक निमित्त के कारण जल की वृष्टि न हो परन्तु जब भी वृष्टि होगी तब उसका निमित्त तो बादल ही होंगे। इससे तो यह मानना ही होगा कि स्मृति अनुभवसिद्ध बात को ही जतलाती है। अतः समाधि काल में जिस अलौकिक सुख की प्रतीति होती है उस की तुलना अन्य किसी प्रकार से भी नहीं हो सकती ॥

द्वितीय विकल्प–जिस वस्तु की स्मृति से सुख की प्रतीति होती है उसका साक्षात् सुखमूलक, और जिस के स्मरण में दुःख हो उस के मेल में दुःख होगा। इस लोक प्रसिद्ध बात का तो अपवाद नहीं हो सकता। अब आप विचार करें कि उत्थान-काल में जो सुख का उद्बोध हुआ उस से कुछ काल पूर्व सुखरूप वस्तु का साक्षात् था या नहीं, हां कहने में तो पक्ष तुच्छ है। कोई विचार विशेष नहीं रहता। न स्वीकार करने में यह दोष होगा कि अनेक जन्मपरम्परासाध्य अन्तिम पुरुषार्थ के साथ सिद्ध होने वाली समाधि का समाध्येय क्या होगा? कुछ तो स्वीकार करना ही होगा अन्यथा सर्व पुरुषार्थ विलोप

प्रसंग दोष सामने आएगा ॥

तृतीय विकल्प—यह देखने में आता है कि इष्ट और अनिष्ट वृत्ति प्रकट होकर अपने बल से तत्काल अन्य वृत्तियों को रोक कर मनुष्य को सुखी या दुःखी बना देती है, जैसे परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कोई विद्यार्थी सुखी और दूसरा सफल न होने पर दुःखी हो जाता है, ऐसे ही सर्वत्र जानना चाहिए। समाहित अवस्था में जिस वृत्ति के उदय होने से समस्त वृत्तियों का निरोध हो गया है वह सुख या दुःखोत्पादक अवश्य होनी चाहिए। शास्त्रसम्मत न होने से दुःखोत्पादक कहने में तो कुछ संकोच होगा और आप के विचार में वह वृत्ति सुखोत्पादक है नहीं, ऐसी अवस्था में उसका नाम और उसका काम क्या होगा? कुछ तो मानना ही पड़ेगा। अन्यथा जड़त्वापत्ति की सम्पत्ति होगी। स्वरूप से चेतन वस्तु का जड़ हो जाना और पुनः चेतनता में आना यह आप के विचार का विषय ठहरता है जो किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं हो सकता ॥

वादी—जब वृत्ति ही बनी रहेगी तब पुनः समाधि कैसी?

मेरे मित्र! आप विचार करें कि जब ध्याता का ध्यान वस्त्वन्तर से सर्वथा पृथक् होकर ध्येयाकार कुछ समय के लिए बना रहता है इसको संप्रज्ञात योग, एकाग्र या एकान्तवृत्ति कहते हैं। इसका आशय यह है कि अच्छे प्रकार साधक का पूर्वापार विरोधि विचारों को त्याग कर अभिमत विषय में युक्त होना संप्रज्ञात है। एकाग्र-एक ही वस्तु जब वृत्ति के आगे हो किसी प्रकार भी इधर उधर उसका झुकाव न हो वह वृत्ति एकाग्र कहलाती है। एकान्तवृत्ति उसको कहते हैं कि

जब वृत्तियों का एक वस्तु में जाकर अन्त हो जावे। नामभेद होने पर भी यह सब समानार्थक हैं। इस की ही सहायता से सांसारिक वस्तुओं के गुण जो अभ्युदय के कारण हैं प्रकट होते हैं। योग इस पूर्वभूमि तक पहुंचने वाले जगत् विख्यात पुरुष विरले ही होते हैं। यह संप्रज्ञात योग असंप्रज्ञात योग की आधारभूमि है। यदि जिज्ञासु की प्रवृत्ति आगे बढ़ने की हो तो इस असंप्रज्ञात दशा में ध्यान के बिना ध्याता को ध्येय का साक्षात्कार होता है। आत्मा जब मन और इन्द्रियों के मेल से कोई विचार करता है उसको बाह्यवृत्ति कहते हैं और जब इन्द्रियों का सम्बन्ध छूट जाता है तब उसकी संज्ञा आभ्यन्तर वृत्ति है। जब अनेकता में न जाकर वृत्ति एकाकार हो जाती है उसका नाम एकाग्र या एकान्तवृत्ति है। असंप्रज्ञातावस्था में इस वृत्ति का भी विलोप हो जाता है। दृष्टान्त से समझो—किसी अंधेरी कोठरी में अनेक वस्तुएं विद्यमान हैं। गृह स्वामी ने भृत्य को कहा कि इसमें से सब वस्तुओं को निकाल दो, उसने वहां दीपक को जला कर समस्त वस्तुओं को निकाल दिया और स्वामी से कहा कि अब वहां कुछ नहीं है। उसने आकर देखा तो वस्तु तो कोई नहीं परन्तु दीपक जिस की सहायता से सब को निकाला था विद्यमान है। उसने कहा मेरे मित्र ! इस दीपक को भी निकाल दो यह भी तो एक वस्तु ही है। भेद केवल इतना है कि औरों के निकालने में यह सहायक तो है परन्तु इस के रहते हुए गृह वस्तुशून्य तो नहीं हो सकता। दार्ष्टान्त यह है कि संप्रज्ञातावस्था में यत्नसाध्यवृत्ति को बलवती बना कर अन्य अनेक वृत्तियों को रोक देना होता है और असंप्राता-

वस्था में यह भी तिरोहित हो जाती है। अब कोई प्रतिबन्धक नहीं है। ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है इस अवस्था का निरूपण तो नहीं हो सकता परन्तु लोकोक्ति इस प्रकार है कि फूला नहीं समाता, आपे से बाहर हुआ जाता है। अपनी सुधबुध भुलाता है। संसार में भी तो ऐसी अवस्था कभी होती है परन्तु पदार्थों के आगमापायी होने से वह स्थिर नहीं रहती। और यह अवस्था नित्य स्थिरस्वभाव सुखस्वरूप परमात्मा के मेल से जो प्रकट हुई है, यह दूर नहीं होती। इसको जीवनमुक्ति कहते हैं, जो विदेहमुक्ति का पूर्व-रूप है और मोक्ष में यही सपक्षी दृष्टान्त है, अत एव यह कहा गया है कि समाधि परमार्थ सुखयुक्त है। यहां तक शरीर और उस के भेदों का निरूपण हो चुका अब इस के स्वामी जीवात्मा का विवरण होगा॥

ननु–उक्त प्रकरण में यह कहा गया है कि नेत्र देखता श्रोत्र सुनता, बुद्धि हिताहित को जानती और मन शुभाशुभ संकल्प करता है। इससे तो यह ज्ञात होता है कि सब स्वच्छन्द अपने कार्य करने में स्वतन्त्र हैं पुनः आत्मा का स्वामी होना तो ठीक नहीं जान पड़ता है॥

समाधि—

करणे कर्तृवदुपचारदर्शनात् अचेतनेऽपि-शरीरे
चित्तसान्निध्यात् चेतनवद् व्यापारः ॥७२॥

लोक में यह देखा जाता है कि कर्त्ता के समान कर्म सिद्धि के हेतुभूत करण में व्यापार करते हैं। यथा युद्धस्थल में भयंकर तोप चलती है, लेखनी कैसी सुन्दर है, स्वयमेव लिखती जाती

है, हार्मोनियम बाजा बहुत अच्छा बज रहा है, मेल गाड़ी घंटे भर में ४० मील दौड़ जाती है इत्यादि स्थलों में चलाने वाले के बिना तोप, लिखने वाले के बिना लेखनी, बनाने वाले के बिना बाजा और दौड़ाने वाले के बिना गाड़ी आदि की अपने २ कार्य में स्वतन्त्रता सी जान पड़ती है। जब तक इनको किसी चेतन कर्त्ता की सहायता न मिले तब तक ऐसा हो नहीं सकता, इसका ही नाम उपचार या आरोप है। उपचार गुणविशेष का द्योतक होता है। इसी प्रकार आत्मा के अति सन्निकट होने से देह और उसके अवयवों में जो स्वतन्त्रता की झलक देख पड़ती है, वह सब आरोप से है वास्तव में नहीं। अतएव समस्त शरीर जड़ है इस में स्वयं कार्य करने की शक्ति नहीं है, इसका स्वामी और नियामक केवल चेतन जीवात्मा ही है॥

॥ इति शरीरगति समाप्ता ॥

जीवगति

जीवस्तु खलु चेतनस्वभावः तस्येच्छादयो धर्माः ॥७३॥

तु और खलु इस बात का निश्चय कराते हैं कि जीवात्मा चेतन स्वरूप है और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान तथा प्रयत्न उसके धर्म या गुण हैं। इनका निरूपण न्याय और वैशेषिकदर्शन में किया गया है। अब इनके परस्पर सम्बन्ध को देखें कि वह कितना सुन्दर है। प्रत्येक प्राणी को साधारण रीति से और विशेष कर मनुष्य को (जो मोक्ष का अधिकारी है) सुख की इच्छा होती है। जिस वस्तु में उसको सुखभान होता है, उसकी प्राप्ति के लिए लगातार यत्न करता रहता है, जैसे मधु-मक्षिका मधु की लिप्सा में इधर उधर चलती फिरती रहती है, तत्समान मनुष्य की भी गति है। इसको दुःख से द्वेष है और जिस वस्तु को अपने दुःख का कारण मानता है, उसको दूर करना यह अपना मुख्य कर्तव्य जानता है। दुःख सुख का विघातक है, अतएव सुख की अपेक्षा दुःख से इसको अधिक द्वेष है। सुख और इसके साधन, दुःख और उसके कारण की ठीक पहिचान ज्ञान से होती है, इसके पश्चात् सुख के निमित्त को प्राप्त और दुःखके हेतु को प्रयत्न से पृथक् करके मनुष्य सुखी होता और दुःखसे बचता है। कारणके बिना कार्यकी सिद्धि नहीं होती। यह निर्विवाद सिद्ध सिद्धान्त है। साधारण दुःख तथा सुख की क्रमशः अवधि मृत्यु और मोक्ष है। मृत्यु में सुख

का कोई अंश और मोक्ष में किञ्चिदपि दुःख की मात्रा नहीं है। शेष लौकिक सुख में दुःख और दुःख में सुख किसी न किसी अंश में विद्यमान रहता ही है, इन दोनों का नितान्त पृथक् हो जाना असम्भव है, इस लिए उत्तमाशय पुरुष इष्टानिष्ट की उपपत्ति में परिवर्तन शील संसार स्वरूप को निहार कर शोक, मोह से पृथक् ही रहते हैं। इन छः गुणों में ज्ञान प्रधान है, इस की शरण ही सर्वोत्तम है, यह सर्वोपद्रव शान्त करने का पक्षपाती है, इस की न्यूनता ही मनुष्य को दुःखी बनाती और इस की पूर्णता से ही मुक्ति हाथ आती है। शास्त्र इस के महात्म्य का बड़ी सुन्दर रीति से निरूपण करता है, इस की ही सहायता से आत्मा दुःख सागर से तरता है इस के प्रकाश में अज्ञान भाग जाता और फिर निकट नहीं आता है। इस से बढ़ कर मनुष्य का कोई दूसरा मित्र नहीं है इस की मित्रता विचित्र है, जो सर्व प्रकार से पवित्र है। इसकी प्रकृति निराली है जो सर्वथा दोषों से ख़ाली है। यह सत्य है कि जिस ने इस को अपना लिया उस ने अपना जन्म सफल बना लिया। इस की महिमा जगत् विख्यात है, जो इस से दूर है उस पर ही अज्ञान का आघात है, ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में इस का प्रथम स्थान है। इस के बिना न अहित से निवृत्ति और न लोकोपकार में प्रवृत्ति ही होती है अत एव ज्ञानोपार्जन करने के लिए मनुष्य-समाज को सदैव तत्पर रहना चाहिए। ज्ञान के विपरीत होने पर अहितकर वस्तुओं में मनुष्य को हितबुद्धि और अहित में हित बोध होता है तदनन्तर प्रयत्न, इच्छा और द्वेष में विपरीत गति होकर परिणाम निष्फल या विफल हो जाता है, उत्तरोत्तर

असफलता के कारण शोक की वृद्धि से विचार शक्ति मन्द पड़ जाती है और प्रयत्न में आलस्य का प्रवेश होने लगता है। कारण में दोष आ जाने से कार्य का दूषित हो जाना स्वयं सिद्ध है। वैशेषिक दर्शन में इन ६ गुणों के अतिरिक्त दर्शन श्रवणादि १८ गुण अन्य भी माने हैं। सत्यार्थ प्रकाश में भी इन का उल्लेख किया है। जिस के होने से जिस का होना और न होने से न होना हो, वह गुण या शक्ति उस की ही होती है अन्य में सहचर धर्म होगा। मृत शरीर में हिलने या चलने की शक्ति नहीं है। जिस से सिद्ध होता है कि आत्मा की शक्ति का सहचार से शरीर म केवल प्रादुर्भाव मात्र ही था. उस के पृथक् हो जाने से शरीर में उस की प्रतीति नहीं रहती है, ऐसे ही दर्शनादि शक्ति को भी जान लें। न्याय दर्शन में अन्य सब गुणों का समावेश इन ६ में ही कर दिया है। यह दार्शनिक शैली है कोई शङ्का का स्थान नहीं है। आत्मा चेतन है शेष सब उस के करण (ज्ञान के साधन) हैं अत एव करण और कार्य भेद से एक आत्मा अनेक संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। यथा—जब बुद्धि से विचार करता है तब उस की संज्ञा बोद्धा है, जब मन के द्वारा मनन करता है तब मन्ता संज्ञा को प्राप्त करता है, जब चित्त से स्मरण करता है तब स्मर्त्ता और जब अहङ्कार करता है तब अहङ्कर्ता कहलाता है, जब नेत्र से देखता है तब द्रष्टा, जब श्रोत्र से सुनता है तब श्रोता, सूंघने के समय घ्राता, मधुरादि रस अनुभव करने के समय रसयिता और त्वक् इन्द्रिय द्वारा जब शीत, उष्ण, कठोर और नरम को जानता है, तब वह स्पष्टाता कहला है, जब गमन करता है

तब गन्ता, जब वाणी से उपदेश करता है तब वक्ता, जब हाथ से कुछ ग्रहण करता या पकड़ता है तब आदाता, और मल मूत्रादि के त्याग से उसको विसर्जयिता कहते हैं इसी प्रकार क्रिया, कारक भेद से अनेक संज्ञाका संज्ञी बन जाता है। यथा –जब पढ़ता है तब अध्येता, और जब पढ़ाता है तब अध्यापक, युद्ध करने के समय योद्धा, धनोपार्जन करके उचित दान न करने में कृपण, और दान करने से उदार कहलाता है। इसी प्रकार अवस्थाभेद से कभी बालक, युवा, वृद्ध, रोगी और नीरोग कहलाता है। कभी शक्तिविघात से अन्धा, मूक और बधिर बन जाता है। जैसे गुण, कर्म भेद से ब्रह्माण्डाधिपति परमात्मा के अनेक नाम हैं, इसी प्रकार शरीर रूपी छोटे ब्रह्माण्ड के स्वामी जीवात्मा के गुण और शक्तिभेद से अनेक नाम हो जाते हैं अतएव आत्मा शरीर से पृथक् है उसके गुण या शक्ति का विकास शरीर द्वारा होता है यह जानना चाहिए ॥

प्रश्न–क्या शरीर के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है ? जात बालक के साथ २ चेतनता की उत्पत्ति, युवावस्था में वृद्धि और वृद्धावस्था में ह्रास तो प्रत्यक्ष है पुनः शरीर से पृथक् आत्मा का मानना ठीक प्रतीत नहीं होता है ?

समाधान–

नायं कदाचिदुत्पन्नो न विनश्यतीति ॥७४॥

इति शब्द इस बात को जतलाता है कि यह आत्मा उत्पत्ति विनाश से सर्वदा रहित है, जिस की उत्पत्ति होती है उसका विनाश तो अवश्यम्भावी है, और जो वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती है, उस पर किसी काल में भी मृत्यु का अधिकार नहीं

हो सकता है। वास्तव में मृत्यु क्या है? संयोगकालान्तर जो वियोग का समय है, दार्शनिक परिभाषा में उसका नाम ही मृत्यु है, इस लिए मृत्यु का दूसरा नाम काल भी है। अत एव उत्पत्ति, विनाश की घटना संयोगी पदार्थों में तो घटित हो सकती है और जो वस्तु संयोग से रहित है, उसका वियोग किस से होगा? आप ही इस बखेड़े का निवेड़ा करें॥

वादी—संयोगादि वस्तु वियोगान्त होती है यह सत्य सिद्धान्त है, परन्तु मैं आत्मा को संयोगी, उत्पद्यमान मानता हूं, अतएव उसका वियोग भी होगा॥

समाधि—

उत्पद्यमानं विनाशोति न्यायविदां संकेतः ॥७५॥

जो लोग न्याय-मार्ग में चतुर और न्याय-नीति में निपुण हैं, उन का यह कथन है कि उत्पद्यमान वस्तु विनाश को प्राप्त हो जाती है, इति शब्द इस का ही पोषक है। उपर्युक्त वचन वादी के मत का पक्षपाती है यदि किसी युक्ति से आत्मा की उत्पत्ति सिद्ध हो जावे॥

प्रथम विकल्प—उत्पद्यमान वस्तु कार्य कहलाती है और उस को व्यवहार में आने के लिए किसी न किसी उपादान और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है, यथा—घट की उत्पत्ति का उपादान कारण मृत्तिका और निमित्त कारण कुलाल है, पट निर्माण के लिए तन्तुओं और तन्तुवाय (जुलाहे) की आवश्यकता है, कोट बनाने के लिए कपड़ा और दर्ज़ी होना ही चाहिए। यह सब कार्य, कारण भाव की धारा (कानून इल्लतीमालूम) का स्रोत कहां से निकला है? संसार कार्य है,

परमात्मा इस का निमित्त और प्रकृति उपादान कारण है, यहां से ही उक्त स्रोत निकला है, अत एव यह सिद्धान्त सर्व वस्तु में व्यापक है । अब वादी यदि आत्मा की उत्पत्ति मानता है, तब उसको इस कार्य का कोई कारण बताना ही होगा । यदि यह कहा जाय कि शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा की उत्पत्ति और इसके विनाश में इसका नाश है तब तो शरीर ही आत्मा सिद्ध होता है इस से अतिरिक्त अन्य कोई आतमा नहीं है इससे सर्व व्यवहारविलोप प्रसङ्ग होगा। इसका यह कारण है कि दर्शनकार्य करने में नेत्र, श्रवणार्थ श्रोत्र और स्पर्शन कार्य के लिए हस्तादि इन्द्रियों को (जो अपने २ कार्य में स्वतन्त्र हैं) आत्मा मानना होगा। एक शरीर में अनेकात्मवाद का सिद्धान्त उपस्थित होकर इस बात को सिद्ध करता है कि सब ज्ञान भङ्ग प्रसङ्ग से मनुष्य का कोई कार्य भी नहीं बन सकता, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। आप के सिद्धांत के विपरीत संसार मर्यादा में चल रहा है। अब आप बतायें कि राम ने किसी वस्तु का दर्शन, बसन्त ने स्पर्शन, और चन्द्र ने श्रवण किया। भिन्न २ विषय को जाननेवाले पृथक् २ ज्ञाता हैं एक का दूसरे को ज्ञान नहीं। एक पुरुष ने जलपान करके तृषा को मिटाया और दूसरे ने भोजन से क्षुधा को हटाया, दोनों का अनुभव पृथक् होने से एक में समावेश नहीं हो सकता परन्तु इस के विपरीत शरीर में आनुषङ्गिक ज्ञान हो रहा है, जैसे एक स्टेशन में कई ओर से भिन्न २ तार आरहे हैं, उन सबका ज्ञान एक पुरुष को इस लिए हो रहा है कि उस पुरुष का उन सब तारों के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार नेत्र, श्रोत्र, हस्तादि के मार्ग

से दर्शन, शब्द और स्पर्श के तार आकर अन्तःकरण (स्टेशन) में एकत्रित होते हैं, वहां मास्टर के समान कोई एक चेतनशक्ति विराजमान है, जिसको सर्व प्रकार का अनुभव होता है, इस से इन्द्रियां ज्ञान का साधन तो बन सकती हैं ज्ञाता नहीं। दृष्टि, सृष्टिवाद के विरुद्ध एक शरीर में अनेक-आत्मवाद नहीं ठहर सकता। शरीर पंचभूतात्मक है और भूतों में चेतनता का सर्वथा अभाव है। कारण के गुण कार्य में न्यूनाधिक भाव से देखे जाते हैं। प्रकृति के गुणों का विकृत में अनुवर्तन होना प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। जडात्मक पंच सूक्ष्म भूतों के मेल से जो गुण उन में विद्यमान है, कार्य में उनका ही प्रादुर्भाव हो सकता है। चेतनता का प्रादुर्भाव (जो उनके स्वरूप में विद्यमान ही नहीं है) कैसे होगा? स्वरूप का परित्याग कदापि संभव नहीं। इन पंचभूतों में स्थूल-सूक्ष्म भेद तो तारतम्यता से विद्यमान है, पर जड़ होना इसका स्वरूप है। सूक्ष्मभूतों से परस्पर मिलकर स्थूल संसार तो हो गया, परन्तु जड़त्व भाव से पृथक नहीं हो सकता है॥

शंका—जैसे जल, जौ और अंगूरादि पदार्थों के मिलने से कुछ दिन के पश्चात् उन में मादकता आ जाती है, वैसे ही इनके मेल से चेतनता की उत्पत्ति हो जाती है। इसमें दोष ही क्या है? यह दृष्टांत तो आप के पक्षका सहयोगी नहीं। प्रत्युत प्रतियोगी है॥

समाधि- कई एक वस्तुओं के मिलने से मादकता की उत्पत्ति केवल गुण विपरिणाम है। वस्तुस्वरूप में किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं है, ऐसे दृष्टांत जिन में पूर्वगुणों का अपाय और

गुणांतर की उत्पत्ति होती है अनेक हैं। यथा-इक्षु (गन्ने) का रस कुछ दिन धूप में पड़ा रहने से मधुरता को त्याग कर खट्टे-पन को ग्रहण कर लेता है उसको सिरका कहते हैं, इसी प्रकार हल्दी और चूने के मेल से रक्त वर्ण की उत्पत्ति हो जाती है। विकृत गुणों के दृष्टांत से गुणी का स्वरूप जो जड़ है उसमें चेतनता की उत्पत्ति बताना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है॥

अन्यदपि-सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों की साम्य-वस्था का नाम प्रकृति है, समस्त ससार इसका ही कार्य है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिस में इन गुणों की सत्ता न पाई जाती हो, पंच भूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विशेष गुण हैं, इन के प्रत्येक घट पटादि कार्यों में इन गुणों की सत्ता का सद्भाव देखने में आता है। प्रकृति व तत्कार्य-समस्त संसार स्वरूप से जड़ और उनके सामान्य विशेषगुणों का उल्लेख शास्त्र में किया गया है। जब इन के स्वरूप में चेतनता का अंश विद्यमान ही नहीं है, तो इन के मेल से उस की उत्पत्ति मानना बालबुद्धि का ही परिचय देना है। अब यह विचार शेष रह जाता है कि जिन अंगूर यवादि के मेल से मादकता की उत्पत्ति हो जाती है, उन में अति सूक्ष्मांश में मादकता होती है, यही तो कारण है कि वह कभी २ अहितकर होकर मादक सिद्ध होते हैं। जैसे मनुष्य ख़सख़ास को घोट सरदाई बना कर पीते हैं और कभी खीर बना कर खाते हैं और कई एक रोगों के दूर करने में सहायक भी है, परन्तु उस से अफ़ीम उत्पन्न होकर विष हो जाती है। सृष्टिक्रम के विचार से यह सिद्ध होता है कि कहीं कारण में गुण अति मन्द परन्तु

कार्य में तीव्र, और कहीं कार्य में अत्यन्त धीमे और कारण में उत्कट हो जाते हैं, किन्तु स्वरूप से न होने वाली वस्तु की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है। यदि वादितोषन्याय से चेतनता की उत्पत्ति मान भी लें तो न्याय का कोप होता है ॥

कृतहानिः अकृताभ्युपगमप्रसंगात् न युक्तमिति ॥७६॥

देह सहचर चेतनता की उत्पत्ति मानने में यह दोष आता है कि शास्त्र जो शुभ कर्मों के करने का मनुष्यमात्र को शासन करता है, वह सुख का निमित्त प्रत्येक पुरुष को अभिमत है। देह के विनाश के साथ नष्ट होकर कृतहानि से सब व्यर्थ हो जावेगा। किसी की शुभ कर्मों के करने में रुचि न होगी। अन्ध परम्परा से मर्यादा का भंग होकर मनुष्य-समाज दुःखी हो जावेगा। सम्प्रति इस को सुख या दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो रहा है, वह किसी कर्म का फल नहीं ठहरता है। शुभाशुभ कर्म के बिना सुख दुःख की प्राप्ति बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति सम है। बीज को अंकुरादि रूप में परिणत होकर फल लाने के लिए भूमि आधार और जलादि सहकारी कारण होना ही चाहिए। इस में से एक के न होने में समस्त की हानि का प्रसंग होगा। ठीक इसी प्रकार शरीर आधार आहारादि सहकारी कारण सुख दुःख फल और बीज के तुल्य कर्म है, आप को तीन (जो प्रत्यक्ष हैं) स्वीकार हैं, परन्तु कर्म अभिमत नहीं है। अब आप बतायें कि इसके अभाव में उनकी सत्ता के सद्भाव में क्या युक्ति होगी ? जो आप के पक्ष की पोषक हो। सहयोगी नियमों की प्रवृत्ति या निवृत्ति साथ ही होती है, यह दृष्टचर है। अतएव आप की प्रक्रिया को (कि शरीर की

उत्पत्ति के साथ आत्मा उत्पन्न होकर देहभंग के साथ ही नष्ट हो जाता है) उपर्युक्त दोष दूषित कर देता है। पक्ष वही ठीक होता है जो निर्दोष हो ॥

ननु—वादी को सन्मार्ग में मतिभ्रम हो रहा है, अब उस का पक्ष यह है कि समस्त कर्मों का फल यहां ही भोगा जाता है। जब कोई कर्म शेष नहीं रहा, तो कृतहानि दोष तो स्थिर हो ही नहीं सकता है और अकृताभ्यागम दोष के निवारण में यह युक्ति देता है कि जब वह आत्मा को नित्य मानता नहीं है, तो यह अकृत की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? यह दोष तो तब आता है, जब कि आत्मा स्थिर हो और बिना कर्म के देहादि भी प्राप्त हों। यह तो माता पिता के संयोगजन्य शरीर की उत्पत्ति के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति हो जाती है, अत एव उसके मत में न तो कृतहानि और न अकृत की प्राप्ति ही है ॥

समाधान—मेरे मित्र ! विचारने से यह पता मिलता है कि बहुत से कर्म ऐसे हैं कि जिनका फल तत्काल ही हो जाता है, जैसे क्षुधा के कष्ट निवारणार्थ आहारादि और कई एक ऐसे हैं, जिनका फल कालान्तर में होता है जैसे कृषि ॥

ननु—देखने में तो यह आता है कि कभी कहीं अल्प पुरुषार्थ का फल बहुत उत्तम निकलता है, और कभी बृहत् पुरुषार्थ करने से भी फल मन्द प्रकट होता है। सिद्धान्त में तो कारण यह है कि प्रथम वाद में पूर्ण-संचित कर्म जो फलाभिमुख हो रहे थे केवल वर्तमानकालिक कर्म उनका द्योतक था। कोई भी संचित कर्म फलप्रद नहीं हो सकता, जब तक वर्तमान का कर्म उसका सहायक न हो, यथा—दीपशलाका में रसायनविधि

से अग्नि तो विद्यमान ही है, केवक रगड़ वर्तमान पुरुषार्थ है, जिस से वह दीप्त हो जाती है। द्वितीयवाद में मन्द संचितकर्म प्रबल वर्तमान पुरुषार्थ का अभिभव करते हुए उसको निःसार सा बना देते हैं, और कहीं पुरुषार्थ और फल समान ही होता है, इस दृष्टवाद का तो अपवाद नहीं हो सकता है। अब आप को यह बताना होगा कि बिना संचित कर्मों के माने अल्प पुरुषार्थ का फल उत्कृष्ट और पूर्ण पुरुषार्थ का फल मन्द कैसे हो गया? जब कि आपके मत में कोई कर्म शेष नहीं रहता है, इसकी ठीक व्यवस्था न होने से कृतहानि दोष मानना ही पड़ेगा॥

समाधि आत्मा स्थिर हो, अथवा शरीरोत्पत्ति के साथ उत्पन्न हो कर उसके साथ ही विनाश को प्राप्त हो जावे, तो भी कृतहानि और अकृताभ्युपगम प्रसंग दोष दूर नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि जहां कृतहानि दोष लागू होगा, वहां अकृत कर्मफल प्राप्ति दोष अनिवार्य होगा। न्याय तो इस सिद्धान्त का साथ देता है, और इसका ही पक्ष लेता है कि कदापि कृत की हानि और अकृत की प्राप्ति नहीं होती है, और इसके विपरीत कृत कर्मफल का विनाश और अकृत कर्मफल की प्राप्ति तब स्वीकार होगी जब इस पक्ष को अन्याय का सहारा मिलेगा। इसके विस्तार से संसार की मर्यादा का भंग होकर जनसमाज की सुख सम्पत्ति में संकोच और दुःख का प्रसार होगा, अतएव इस मार्ग के विकाश में कोई भी बुद्धिमान् सहमत न होगा॥

अब इस बात का विचार शेष रह जाता है कि शरीर का

उपादानकारण शुक्रशोणित के परस्पर मेल से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है यथा प्रज्वलित दीपक के संयोग से दीपकान्तर में प्रकाश चला जाता है, तथैव माता पिता का शरीर चेतनता विशिष्ट होने से देहान्तर में चेतनता का जाना ठीक ही है। इस कथन से तो देह और आत्मा एकार्थ वाचक हैं, केवल शब्द दो हैं उन का अर्थ एक ही है, यह सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त के मानने में प्रथम दोष यह है कि मृतपुरुष में चेतनता का सर्वथा अभाव देखने से यह जाना जाता है कि चेतनात्मा कोई अन्य वस्तु थी कि जिसके पृथक् हो जाने से शरीर का कोई भी कार्य नहीं हो रहा है। सर्वांग शरीर प्रत्यक्ष पड़ा हुआ है, यदि चेतनता उस में विद्यमान ही है तो पुनः पूर्ववत् कार्य दर्शन क्यों नहीं होता? किसी प्रकार बिगड़ जाने से चेतनता में कुछ न्यूनता का आजाना तो ठीक ही था, जैसे किसी अंग के भंग हो जाने से भी शेष समस्त कार्य होते हुए दिखाई दे रहे हैं। किन्तु इसके विपरीत शरीर सर्वावयव पूर्ण देखा जाता है और कार्य सब रुक गए हैं। मृतसंज्ञा को प्राप्त हो गया है, अब इसमें पुनः चेतनता के आने की कोई सम्भावना नहीं है, अन्त में उस का किसी प्रकार संस्कार कर देते हैं। यदि प्राण के वियोग में ऐसी दशा है तब प्राण ही आत्मा ठहरता है। देहात्मवाद सिद्धान्त की हानि होती है॥

द्वितीय दोष—माता पिता बड़े यत्न और प्रेम से संतान की उत्पत्ति करते हैं, वह इसको सुन्दर, सुडौल, यशस्वी, बलवान् और वर्चस्वी देखना चाहते हैं, परन्तु उनकी इच्छा के विपरीत संतान में दुर्गुणों का समावेश, दुर्व्यसनों का आवेश

और क्रूर स्वभाव का प्रवेश देखने में आता है। शरीर सकल या विकल होने से सुख दुःख की प्राप्ति तो अवश्य ही होगी। बुद्धिमान् विद्वान् होने से यश का पात्र और गुणहीन मन्दबुद्धि होने से निन्दा का स्थान होगा। अब आपको यह बताना चाहिए कि यह भूल माता पिता की या उत्पन्न होने वाली सन्तान की है, दोनों में किसकी मानी जावे? यदि सर्वथा माता पिता की मानी जावे, तो सृष्टिक्रम का कोप होता है क्योंकि भूल कोई अन्य करे और उसका फलस्वरूप सुख या दुःख कोई अन्य सहे, यह कैसे हो सकता है? हां किसी के फलयोग में कोई दूसरा निमित्त मात्र हो सकता यह सत्य ही है। अब यदि भूल सन्तान में मानी जाय तो उस अभिनवजात अबल और अबोध बालक को बिना पूर्वकृत कर्मों के किसी प्रकार के कर्म करने का अवसर ही कहां प्राप्त हुआ है? और पूर्व कृति देहातिरिक्त आत्मा की सत्ता माने बिना सिद्ध नहीं हो सकती। देहात्मवादी के मत में (बिना कर्म के फलागमन है) यह उलझन खड़ी है, जिसका सुलझाना उसके लिए कठिन है। किसी को सुन्दर सुडौल सकल शरीर सुख का साधन, और किसी को कुरूप-बेडौल, विकल प्राप्त हुआ है, यह किसी कर्म का फल नहीं है, इसका नाम ही अकृताभ्युपगम है, और इस के स्थिर रहने से कृतहानि स्वयं सिद्ध है। वादी ने इस दोष के दूर करने का यत्न तो किया किन्तु असफल रहा॥

तृतीय दोष—यदि देह की उत्पत्ति के साथ ही आत्मा की उत्पत्ति मानी जावे तो क्या हस्त शिरादि अवयवों के समान आत्मा भी शरीर का कोई अवयव है, अथवा आत्मा अवयवी

और सर्वांग शरीर उसके अवयव हैं। अवयव मानने में तो यह दोष आता है कि शरीर के प्रत्येक अवयव का कार्य भिन्न २ होने से आत्मा का कोई कार्य नियत होना चाहिये। जैसे नेत्रादि का नियमपूर्वक दर्शनादि कार्य है। ऐसा न बताने में आत्मा अवयव तो सिद्ध नहीं हो सकता। क्या कारण है कि ज्ञान का सम्बन्ध शरीरान्तर्गत ग्रहण, गमन, दर्शन और श्रवणादि समस्त कार्यों के साथ है, और ज्ञान का स्थान आत्मा है, यह आपको स्वीकार है॥

अवयवी जानने में यह दोष (आप की प्रक्रिया को) दूषित कर रहा है कि अवयवों की सत्ता-सद्भाव में अवयवी की सत्ता विद्यमान होनी चाहिए। परन्तु यहां इस के विपरीत प्रतीति हो रही है । अवयवों का सन्निवेश-विशेष तो यथा-पूर्व है । अवयवी की सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता है, इस का निवारण कैसे होगा ? अत एव प्रक्रिया साध्वी और सरल तभी हो सकती है, जब आत्मा को नित्य स्वीकार किया जावे, उपायान्तर कोई नहीं। अब नित्य का क्या लक्षण होगा ?

उत्पत्तिविनाशशून्यत्वं नित्यत्वमिति ॥७७॥

वस्तु सद्भाव में जो उत्पत्ति विनाश से पृथक् है, उस को नित्य कहते हैं । इति शब्द इस पक्ष का पोषक है । उत्पत्ति धर्मवान् अनित्य होता है अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध हो रहा है। अनित्य वस्तु का तो यह स्वरूप है कि नियम पूर्वक कारण के संग में जिस की उत्पत्ति और उस नियम के भंग में विनाश हो जाता है । यह सर्वत्र घट पटादि वस्तुओं में चरितार्थ हो रहा है। अब यदि आत्मा की उत्पत्ति मान लें, तो उस का कोई

भी कारण स्वीकार करना होगा, जिस से वह उत्पन्न हो कर व्यवहारोपयोगी सिद्ध होता है नेत्रादिवत् । उस की अप्रतीति से आत्मा स्वरूप से नित्य है, यह ही विचार चारु है । ऐसी अवस्था में एक दूसरा विचार उपस्थित हो कर वादी को सबल बनाता और सामने लाता है । उस का कथन है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् और सर्व वस्तु निर्माण में चतुर है, वह अपनी शक्ति से संसार और जीवों की रचना कर देता है, वह ही एक नित्य है। शेष सर्व संसार और तदनन्तर गत वस्तुओं की उत्पत्ति का वही एक निमित्त है इस व्यवस्था में कोई दोष नहीं आता है। मेरे मित्र! यह कथन तो सुन्दर प्रतीत होता है परन्तु परीक्षा प्रकार में पूर्ववत् निर्दोष सिद्ध नहीं होता है—

प्रथम परीक्षा--परमेश्वर सर्वज्ञ और सर्वनियन्ता है उस का यह विचार कि वह जीवों और संसार को उत्पन्न करे कब प्रकट हुआ ? उत्पद्यमान वस्तु की अपेक्षा से काल की इयत्ता होनी ही चाहिए, इस के बताए बिना वादी का यह कथन (कि आत्मा को परमेश्वर अपनी शक्ति से बनाता है) स्थिर नहीं हो सकता है। इस के दो ही मार्ग हो सकते हैं जिन पर वादी गति कर सकता है । एक तो यह कि पांच सहस्र, पांच लाख या पांच कोटि जितनी उस की इच्छा हो बताएगा, कि इतने वर्ष का समय बीत चुका है। इस में यह रुकावट उस को आगे बढ़ने से रोकती है, कि अनादि अनन्त स्वरूप से स्थिर स्वभाव सदैव शान्त परमात्मा में इस विचार के उदय होने का कोई निमित्त होना ही चाहिए । इस के बिना अपरिवर्तनशील में

परिवर्त्तन का होना असंभव है। यदि कोई निमित्त माने तो वह परमेश्वर से भिन्न और सबल होगा। एक परमेश्वर था इस सिद्धान्त की हानि हो जाती है। यह तो ऐसी बात है जैसे भूमितल में अप्रतीयमान बीज समय आने पर भूमि को भेदन कर के अंकुर के रूप में दिखाई देते हैं। वैसे ही परमेश्वर में विचारों के बीज तो विद्यमान ही थे, निमित्त को पाते ही उन का प्रादुर्भाव हो गया। बिना निमित्त के तो विचार का उत्थान नहीं हो सकता और उस को स्वीकार करने में परमेश्वर स्वरूप की हानि और तुच्छता से ग्लानि ही होती है, जिससे न संसार का निर्माण और न परमेश्वरस्वरूप की पहिचान ही है॥

द्वितीय मार्ग वादी के सामने यह है कि जीवात्मा की उत्पत्ति का समय पश्चात्भावी नहीं किन्तु सदैव परमात्मा के साथ २ ही है ऐसा स्वीकार करने में यह दोष प्रतिबन्धक है कि परमेश्वर तत्सहचर विचार और आत्मा इन तीनों की सत्ता समकालिक माननी पड़ेगी, अत एव आत्मा की उत्पत्ति मिथ्या सिद्ध हो कर विशेष गुणों में भेद होने पर भी अनादित्व धर्म सब में समान होगा, पुनः अनन्तत्व स्वयं सिद्ध हो जायगा॥

अब वादी मध्य रेखा का अनुसरण करता हुआ एक अन्य पक्ष को सामने लाकर आत्मा को पुनः अनित्य-उत्पत्ति धर्मवान् सिद्ध करना चाहता है। वादी ने इन दोनों विचारों को (कि अनादि अनन्त परमात्मा ने अनन्त काल के पश्चात् जीवात्मा और जगत् निर्माणार्थ संसार के कारण प्रकृति का विचार किया अथवा इन दोनों की सत्ता का समय प्रभुसत्ता के तुल्य ही है) त्याग दिया है। अब उस का कथन यह है कि नित्य तो

परमेश्वर ही है, जीवात्मा और प्रकृति चाहे अल्प से अल्प समय ही क्यों न हो, उस के पीछे से रचना में आए हैं, अत एव मेरे सिद्धान्त में यह दोनों अनित्य हैं । बात तो ठीक जान पड़ती है क्यों कि पक्षी दाने को देखता है परन्तु वहां उस को फैला हुआ जाल दृष्टि में नहीं आता है । मेरे मित्र ! आप ने जीवात्मा को अनित्य सिद्ध करने के यत्न से परमात्मा को भी अनित्य बना दिया । यदि जीवात्मा की सत्ता परमेश्वर की सत्ता से अल्प काल पीछे है, तो परमात्मा की सत्ता जीव की सत्ता से अल्प काल पूर्व है यह सिद्ध हो रहा है। आप तो सूद के लालच में मूल से भी हाथ धो बैठे । यदि यह कथन आप को उपहास जान पड़ता है तो आप ही बताएं कि अल्प समय से आप का आशय एक मिनिट, घंटा, रात्रि, दिन, मास या वर्ष कितने काल का है जितना आप मानेंगे जीवात्मा से उतनी ही परमेश्वर की आयु अधिक होगी फिर अनादि काल से उस का सम्बन्ध कहां रहा ? दोनों अनित्य हो गए ॥

द्वितीय परीक्षा—परमेश्वर मौन, ख़ामोश और चुपचाप क्यों नहीं रहता है, इस सृष्टि की रचना से कितना व्यर्थ का बखेड़ा खड़ा हो गया है। इस रचना से उसको तो कोई लाभ नहीं है और जीवों के लिए दुःख बाहुल्य जान पड़ता है, संसार में सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक देखने में आती है। यह साधारण पुरुषों के विचार का विषय नहीं है, कोई विवेकी पुरुष ही इसको जान सकता है। संसार में दुःख तो दुःख ही है, और सांसारिक सुख दुःख से लिप्त है यह प्रत्यक्ष निर्विवाद है । अनेक प्रकार का उपद्रव संसार में हो रहा

है। अपने स्वार्थ में सदैव तत्पर होकर परहित की किसी को चिन्ता ही नहीं है। जिस प्रकार भी हो अर्थोपार्जन करना मनुष्यसमाज ने अपना ध्येय बना लिया है, और इसने अपनी भूल से अपने लिए खेद के मार्ग को विस्तृत कर दिया है और प्रत्येक पशु पक्षी प्राणिमात्र को मनुष्यसमाज से जिसको सर्वोत्तम (अशरुफुलमख़लूक़ात) कहते हैं और जिसने परमेश्वर के ज्ञान, ध्यान और पूजन विधान का ठेका लिया हुआ है कष्ट हो रहा है। कभी पशु पक्षी परस्पर इतना युद्ध नहीं करते हैं, जितना उपद्रव मनुष्य ने उठाया हुआ है। अनेक प्रकार के घातक आयुध तैयार करके दूसरे को हानि पहुंचाने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने में सदैव विचार और यत्न करता रहता है। अब आप बतायें कि शान्तस्वरूप आप्तकाम सर्वदैकरस परमेश्वर ने जीव और संसार के कारण–प्रकृति को बना कर जो इस संसार का निर्माण किया है, उसने इस विपरीतकारिता से अपनी क्या भलाई सोची और किस न्यूनता को पूरा किया है? यह समझ में नहीं आता। यदि यह कहा जावे कि संसार की रचना से उसने अपनी शक्ति को बताया और अपने महत्त्व को दर्शाया है, तो इस में यह दोष आता है कि शक्ति या महिमा का प्रकट करना समान या अधिक गुण वालों में होता है, अपने गौरव को दर्शाने की चेष्टा समान धर्मवालों से अधिक और अधिक गुणवालों के समान होने के निमित्त से ही होती है, अन्यथा नहीं। जब परमेश्वर के समान और उस से कोई अधिक पदार्थान्तर है ही नहीं, तो आप का यह कथन सारहीन होने से असमञ्जस ही है। जीवों को बना कर अपने महत्त्व को

जतलाना न्यूनता को ही सिद्ध करता है। गौरव दर्शाने के गुमान से वह शान्तस्वरूप और आप्तकाम कहां रहा? यह प्रत्यक्ष है कि संसारनिर्माण से बखेड़ा तो खड़ा हो गया जो प्राणिमात्र के खेद का कारण हो रहा है, परन्तु परमेश्वर का इस से क्या बना यह पता नहीं मिलता है। जब बनाई हुई वस्तु बनाने वाले के तुल्य कभी नहीं होती है तो अधिकता की उसमें सम्भावना ही कहां? पुनः ऐसी अवस्था में परमात्मा ने अपनी शक्ति का प्रकाश किया इस कथन में सचाई कहां रही? यह सिद्ध हो रहा है कि संसार को बनाकर इसमें झगड़ों को उठा कर, और जीवों को काम, क्रोध, लोभ-मोहादि के जाल में फंसा कर, अल्प हंसने के पश्चात् बहुत रुला कर, अपनी यथार्थ प्रभुताई का परिचय तो नहीं दिया है किन्तु सर्वज्ञता की हानि से विपरीत कार्य ही किया है। यदि आप को यह अभिमत है कि सृष्टि की क्रीडा परमेश्वर ने अपने विनोदार्थ की है और उसका कोई प्रयोजन नहीं है। यह कैसी विचित्र बात है कि जिस से सचाई पर आघात हो रहा है, नित्यतृप्त में क्रीड़ा का उत्थान, आनन्द स्वरूप में विनोद का व्याख्यान, प्रकाश को अन्धकार दर्शन के समान है। कोई बुद्धिमान् मनुष्य भी किसी दुःखी को देखकर विनोद नहीं मानता है, तो सर्वज्ञ परमात्मा स्वविनोदार्थ क्लेशयुत संसार की रचना करे यह व्याख्यान खद्योताग्नि से भोजन निर्माण के समान है, अत एव जीव और संसार का उपादान-कारण प्रकृति को नित्य मानने से ही सन्मार्ग हाथ आता है अन्यथा नहीं। ठीक व्यवस्था के होते हुए अव्यवस्था में जाना अच्छा प्रतीत नहीं होता॥

तृतीय परीक्षा--दृष्टि सृष्टिवाद से यह सिद्ध हो रहा है कि कार्य की उत्पत्ति बिना कारण के और साधन के बिना साध्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती। इस कसौटी पर ही संसार और इसके कारण की जांच हो सकती है उपायान्तर कोई नहीं है। संसार कार्य है इस के अङ्ग प्रत्यङ्ग विनाश-भङ्ग दर्शन से यह अनुमान होता है कि कभी समस्त संसार भी विलयावस्था में हो जाता है इस प्रत्यक्षीभूत अद्भुत विचित्र जगत् की रचना किस प्रकार हुई ? जब कि परमात्मा के बिना कोई भी पदार्थान्तर नहीं है ॥

वादी का कथन है कि परमात्मा ने अपनी शक्ति से जीवों और संसार के कारण को उत्पन्न करके पश्चात् संसार की रचना की है। इस वाद में यह भूल है कि शक्ति कार्यनिर्माण का हेतु हो सकती है परन्तु कार्य का उपादान कारण कदापि नहीं बन सकती। आप को तो इस कार्यभूत जगत् का उपादान कारण बताना चाहिए ऐसा न करके आप उसका निरूपण कर रहे हैं कि जो निमित्तकारण अर्थात् कर्त्ता में कार्य उत्पन्न करने का विचार या ज्ञान शक्ति होती है। यह सत्य है कि विचारक में विचार और ज्ञाता में ज्ञान शक्ति होती ही है इसके बिना तो कोई भी कार्य नहीं बन सकता, परन्तु आप उस वस्तु को नहीं बताते हैं कि जो उपर्युक्त शक्ति के प्रभाव से प्रभावित होकर कार्य के रूप में परिणत हो जाती है और जिस के बिना कोई भी कार्य प्रकट नहीं होता। जिसके विषय में प्रश्न हो रहा है, बिना इसके बताए आपका सिद्धांत सदोष है। आप के कथन को दुर्बल बना रहा है। आप विचार करें, कि कुलाल

की शक्ति से मृत्तिका घटादिकों के रूप में और कर्पास (कपास) तन्तुवाय की शक्ति से अनेक विचित्र पटादि के स्वरूप में, और विज्ञानवित् पुरुषों की विज्ञानशक्ति से लोहादि धातुएं अद्भुत् इञ्जिनादि के रूप में, सुवर्णकार की शक्ति से सुवर्ण अनेक भूषणों के स्वरूप में परिणत होते हुए दिखाई दे रहे हैं। आप इस प्रत्यक्ष-सिद्ध वाद को ध्यान में न लाकर केवल शक्ति की शक्ति से ही कार्यनिर्माण करना चाहते हैं इस मनोमोदकोपभोगमात्र से कभी किसी की भी तृप्ति नहीं हुई॥

यदि आप का यह हठ है कि परमेश्वर ने अपनी शक्ति से ही संसार को बनाया है तो नाम से कोई भेद नहीं होता है, जैसे धनवान् में धन की शक्ति सदैव धनी पुरुष से पृथक् होती है, इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति (संसार का उपादान कारण प्रकृति) परमात्मा के स्वरूप से सदैव भिन्न है । ऐसा मान लेने से कोई विवाद नहीं रहता॥

वादी को इस सरल मार्ग में चलने से सन्तोष नहीं अब वह इस उलझन को सामने ला कर यह कहता है कि क्या तुम ने कुलालादि के समान परमात्मा को भी समझ लिया है? जिस प्रकार वह मृत्तिकादि को ले कर घटादि पदार्थों का निर्माण करता है, तद्वत् यदि परमेश्वर भी किसी कारण को ले कर किसी कार्य को बनाता है, तब तो ईश्वर का ईश्वरत्व ही जाता रहा है॥ वादी की यह मिथ्या गल्प सत्यसम (कथन में ठीक सी) प्रतीत होती है, परन्तु परीक्षा प्रकरण में जा कर यह वाद रूपान्तर में बदल जाता है। यथा–किसी निर्धन कुल का कोई बालक (पढ़ कर चतुर, बुद्धिमान्, प्रकृति से सुन्दर,

स्वभाव से सरल और) एक सहस्र मुद्रा प्रति मास उपार्जन करने लगा। लोग उस के पास आ कर प्रसन्नता और आदर से बात चीत करते हैं कि इन की सहायता से सर्व प्रकार का आनन्द है। कोई वृद्ध हर्ष सूचक शब्दों में कभी ऐसा भी कहता है कि समस्त घर का भार तुम्हारे ही सिर पर है, अत एव इस संसार में संभल कर ही चलना उचित है । यह कथन परीक्षा में जा कर ऐसा कदापि स्थिर नहीं रहेगा, क्योंकि गृह के बोझ से उस के जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, इस लिए उक्त कथन का यह स्वरूप है कि अब हानि लाभ, निन्दा और प्रशंसा के तुम ही पात्र हो ॥

वादी ने कार्य कारण भाव सम्बंध को स्वयं ही स्वीकार किया और अब अपने पक्ष को आप ही छोड़ रहा है। उस का कथन था कि परमेश्वर ने अपनी शक्ति से प्रकृति और जीवों को बना कर संसार की रचना की है, जिस से ज्ञात हो रहा है कि ज्ञानस्वरूप परमात्मा ने संसाररूपी कार्य को बनाने के निमित्त प्रथम उस के कारण को बनाया है इस का ही नाम कार्य कारण भाव है, जो वादी-पक्ष के प्रतिकूल हो कर उस को निगृहीत कर रहा है । अब चाहे ईश्वर कुलाल या सुवर्णकार के तुल्य या उस से विशिष्ट हो कार्य कारण भाव की धारा से आप किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। पृथक् होने का उपाय एक ही हो सकता था कि परमेश्वर ने कारण की रचना के बिना अपनी शक्ति से ही संसार को बना दिया, किन्तु आप ने इस को स्वीकार नहीं किया । शक्ति वास्तव में क्या है? अब इस का निरूपण किया जायेगा—

वाह्याभ्यन्तरभेदात् शक्तिः द्विविधा ॥७८॥

बाह्य और अभ्यन्तर भेद से शक्ति दो प्रकार की होती है, जब वह दोनों किसी विशेष नियम के आश्रित होकर अभेदान्वय से ऐक्यभाव को प्राप्त हो जाती हैं, तब ही कार्य बन सकता है अन्यथा नहीं। उपादान कारणान्तर्गत शक्ति को बाह्य कहते हैं और निमित्त कारण में होने वाली शक्ति की अभ्यन्तर संज्ञा है। इसका विवरण आप इस प्रकार समझ सकते हैं यथा— काष्ठ में बक्स बनने की शक्ति तो स्वयं सिद्ध है और तक्षक (बढ़ई) में उसके बना देने की शक्ति विद्यमान है। अब यदि कोई पुरुष उस कारीगर से यह कहे कि पत्तों से बक्स बना दो, तो वह उसको यही उत्तर देगा कि इनसे तुम जो वस्तु बनवाना चाहते हो वह नहीं बन सकती है, क्योंकि इनमें उस वस्तु के बनने की शक्ति ही नहीं। अत एव मैं सामर्थ्य रखता हुआ भी असमर्थ हूं। अन्य पुरुष बड़े सुन्दर सुडौल काष्ठ को ऐसे अनाड़ी पुरुष के पास ले जाये जिस में बक्स बनाने की शक्ति ही नहीं, वह पुरुष भी उस कार्य को सम्पादन नहीं कर सकता। कुत्रचित् कारण में शक्ति है कि वह कार्य के रूप में परिवर्तित हो जावे, परन्तु कर्त्ता शक्तिहीन है, और क्वचित् कर्त्ता शक्तिसहित और कारण शक्तिरहित है। उभयथा शक्तिभेद से कार्य नहीं बन सकता है, अत एव बुद्धिमान् बढ़ई उत्तम काष्ठ को ले कर बक्स आदि कार्यों का निर्माण कर सकता है। अन्यत्र भी इसी प्रकार से जान लेना चाहिए। अब आप बतावें कि यदि शक्ति का परमेश्वर से भेद है, तो उस की संज्ञा प्रकृति होगी जो संसार का उपादानकारण है और यदि अभेद है तो

कर्त्ता के अन्तर्गत जो कार्य निर्माण की सामर्थ्य है उसका नाम शक्ति होगा। प्रत्येक कार्य को बनाने के लिए (अल्प हो या महान्) दोनों शक्तियों में मेल होना चाहिए। परमात्मा व्यापक और प्रकृति के साथ उसका सदैव योग होने से सृष्टि और प्रलय की व्यवस्था न होगी। इस दोष के निवारणार्थ विशेष नियम का अन्वय किया है जिस प्रकार ट्रेन के आगे लगे हुए इंजन में तीव्र भागने की शक्ति भी है और चालक (ड्राइवर) भी यन्त्र पर हाथ रखे हुए उसमें बैठा है, पर जब तक उसका विशेष सम्बन्ध न होगा तब तक इंजन गति नहीं कर सकता है। यह ही नियम सृष्टि रचना में काम कर रहा है॥

चतुर्थ परीक्षा—यदि वादी को यह लोक-प्रत्यक्ष व्यवहार अरुचिकर प्रतीत होता है और वह हठात् ईश्वर के विना वस्त्वन्तर की सत्ता को मानता ही नहीं है, तो उस को अपने मार्ग से कंटकादि दोषों को (जो गति में प्रतिबन्धक हैं) दूर करना ही होगा—

प्रथम विकल्प—यह संसार प्रत्यक्ष है उसका अपवाद नहीं हो सकता। न्याय का शासन है कि कारण और तद्गुण पूर्वक कार्य की उत्पत्ति होती है। संसार जड़ और चेतन वस्तु के मेल का परिणाम है सृष्टि से पूर्व अपरिवर्तनशील अखण्ड स्वरूप एक परमेश्वर ही था। उससे दो विरुद्ध वस्तुओं की उत्पत्ति कैसे हो गई? यदि वादितोषन्याय से स्वीकार भी कर लें कि चेतन परमात्मा से चेतन वस्तु की उत्पत्ति हो जाती है, तब तो किसी अंश में ठीक भी था, परन्तु देखने में इसके विरुद्ध है, चेतन शक्ति तो लुप्त सी प्रतीत हो रही है और समस्त

संसार जड़वर्ग सब को प्रत्यक्ष है इससे तो परमात्मा में जड़त्वापत्ति सिद्ध होती है। यदि वादी इस दोष को दूर करने के लिए ऐसा स्वीकार करे कि इस जड़ जगत् की उत्पत्ति परमात्मा से नहीं हुई तो उसको कोई कारणान्तर बताना होगा, अन्यथा उसके सिद्धान्त में जड़ चेतन से मिलकर बनी हुई वस्तु का नाम ही परमेश्वर है। इस कार्य जगत् को देख कर उसका अनुमान होता है, परस्पर मिल कर जो वस्तु बनती है उसको परमेश्वर तो नहीं कह सकते हैं। जिस ने जड़ और चेतन वस्तु को ज्ञानपूर्वक मिला कर आश्चर्य रूप संसार और मनुष्यादि शरीर को उत्पन्न कर दिया है वह परमेश्वर हो सकता है यह सत्य है, इसके साथ ही जीव और प्रकृति की सत्ता का सद्भाव स्वीकार करना ही होगा अन्यथा संसार की उत्पत्ति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती है ॥

द्वितीय विकल्प—परमात्मा सर्वज्ञ होने से सर्वथा निर्दोष है वह सदोष कभी नहीं हो सकता। पुनः उसने अनेक दोष दूषित संसार को कैसे बना दिया? यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि संसार की प्रत्येक वस्तु परिणाम में विकृत और सदोष हो जाती है। इस से यह प्रकट होता है कि जिसने इस संसार को बनाया अथवा जिससे यह बना या जिसके लिए इसकी रचना हुई, इनमें से कोई दोष का अधिकरण अवश्य ही था यह मानना ही होगा। यदि सब निर्दोष हैं तो दोष का उद्भव कैसे हुआ? यह बताना ही पड़ेगा, बिना इसके बताए कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। दृष्टान्त से आप समझ लें—शुद्ध सुवर्ण से जो भूषण बनेगा वह स्वच्छ होगा। यदि सुवर्णकार निर्दोष है और

सुवर्ण सदोष है अथवा सुवर्ण अच्छा है सुवर्णकार दूषित है, उभयथा भूषण ठीक नहीं बनेगा सदोष ही होगा। इसी प्रकार गुण, दोष, जड़, चेतन समुदाय का नाम ही संसार है, और विचार करने से यह भी जाना जाता है कि गुणों की अपेक्षा दोषों की अधिकता है। परिणाम में दोषों से गुण दब ही जाते हैं यह प्रत्यक्ष-सिद्ध हो रहा है। जो केवल परमेश्वर या उसकी शक्ति से ही संसार की उत्पत्ति मानता है उसको इस बात का पता देना ही होगा। मूक स्वप्न सादृश्य रहने से छुटकारा नहीं हो सकता। परमात्मा स्वरूप से पवित्र है उसको सदोष कहना कथमपि ठीक नहीं है और अन्य कोई वस्तु (जो दोषों का स्थान हो) विद्यमान नहीं है, उभयथा बन्धन में बन्धे हुए अपने सिद्धान्त की आप रक्षा नहीं कर सकते। ऐसी अवस्थ में या तो अपने सिद्धान्त को त्याग कर यथार्थ मार्ग का अनुसरण करना होगा, अथवा अपने पक्ष की पुष्टि में कोई प्रबल हेतु ही समुपस्थित करना होगा॥

तृतीय विकल्प–कार्य बिगड़ कर अनेक मार्ग से होता हुआ जहां से उसका निकास था अन्त में उस ही (कारण में) जा समाता है। जब कार्य जगत् का कारण में लय होगा तब वह कारण उस दोष से दूषित हो जावेगा जिस से यह संसार दूषित है। उत्पत्ति और विनाश संसाररूपी कार्य की आघात सीमा है अत एव एक से एक के गुण दोषों का बोध होता है, यह ही कारण है कि मध्यावस्था में अवान्तर उत्पत्ति विनाश की धारा बनी ही रहती है॥

यदि वादी को यह अभिमत हो कि गुण या दोषों का

स्थान तो स्थूल वस्तु होती है। सुसूक्ष्मावस्था में वह अपने स्वरूप को छोड़ देती हैं, इस कारण से वह दोषों से दूषित हो जाती है। यह कहना युक्तियुक्त नहीं। यह सत्य है मानना ही चाहिए। परन्तु दोषी के साथ २ गुण भी अपने स्वरूप से दूर हो जाते हैं पुनः दोनों से हीन वस्तु की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती है, आपको परमात्मा या उसकी शक्ति को दोष-रहित और गुणसहित सिद्ध करना चाहिए था आप तो पतनाले के झगड़े में स्थान को ही हार बैठे, सूद के लोभ में मूल से हाथ धो बैठे ॥

वादी ने उत्थान मार्ग को छोड़ कर अपने पक्ष को रक्षार्थ मार्गान्तर स्वीकार कर लिया है। एक ईश्वर की सत्ता के विना सत्तान्तर को स्वीकार नहीं करता है। उसका कथन है कि यह प्रत्यक्षीभूत समस्त संसार उस एक परमात्मा का स्वप्न है जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नावस्था में संसार की रचना कर लेता है संकलपमात्र से वस्तु का स्वरूप तद्रूप सामने आ जाता है और तात्कालिक सब सत्य ही प्रतीत होता है, इस ही प्रकार समस्त संसार परमात्मा के स्वप्न से खड़ा हो रहा है, अत एव एक परमात्मा की सत्ता है शेष कुछ नहीं ॥

समाधि—प्रथम तो परमात्मा स्वप्नादि अवस्था से रहित सदा एकरस है एकदेशीधर्म व्यापक में कैसे घट सकता है। यदि आदरार्थ आपके इस कथन को अल्प समय के लिए स्वीकार भी किया जावे तब यह प्रश्न होगा कि स्वप्नावस्था में संसार की रचना होगई, सुषुप्ति अवस्था में समस्त प्रपंच की प्रलय हो जायगी। अब जागृत अवस्था में परमेश्वर का क्या

कार्य होगा। अथवा प्रबुद्धावस्था में यथार्थ ज्ञान के उदय होने से स्वप्न प्रपंच असत् प्रतीत होगा। कदाचित् विपरीत ज्ञान के प्रभाव से स्वप्नावस्था और क्वचित् सुषुप्ति अवस्था में तम की प्रधानता से उसको मुग्ध के समान होना पड़ेगा, ऐसी अवस्था में परमेश्वर क्या हुआ एक नाटक के पात्र के हाथ का खिलौना ही ठहरा। अत एव परमेश्वर की अवस्था का बताना अपनी भूल का ही परिचय देना है। परमेश्वर सृष्टि का कर्त्ता पालक और नियन्ता होने से सदैव दोषरहित सद्गुणसहित एकरस है। जिसका उपरोक्त अवस्थाओं से सम्बन्ध होता है वह अल्पज्ञ जीव है। यह ही अपनी विवेक-हीनता से कभी कुप्रवृत्ति की ओर झुक जाता है और कभी सद्विचार सत्प्रवृत्ति या निवृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है। परमात्मा सर्वसाक्षी सदा सन्मार्गप्रदर्शक है। संसार का उपादान कारण प्रकृति विकृतावस्था में संसार के स्वरूप में और कालान्तर में संसार पुनः प्रकृति के रूप में चला जाता है, इस में निमित्त परमात्मा का ज्ञान है। यह तीनों पदार्थ (परमेश्वर, जीव, प्रकृति) स्वरूप से नित्य हैं। इसके मानने से संसार की रचना में किसी प्रकार की रुकावट या दोष नहीं होता, अत एव न शरीर के साथ जीव ही उत्पन्न होता है और न शरीर के भङ्ग में इस का नाश ही माना जाता है, परमात्मा, जीव और प्रकृति को उत्पन्न करके संसार की रचना करता है, यह व्यवस्था आप्तकाम में संगत नहीं होती है। संसार परमेश्वर की स्वप्नावस्था का एक चित्र मात्र है, और कुछ नहीं है। परिवर्तनशील वस्तु के समान स्थिर-स्वभाव परमात्मा का स्वरूप मानना भी युक्तियुक्त नहीं है॥

यदि ईश, जीव और प्रकृति तीनों स्वरूप से नित्य हैं तो तीन परमात्मा स्वयं सिद्ध मानने होंगे क्योंकि—

कालानवच्छिन्नत्वात् द्वयोः पृथग्भूतो हि सः ॥७६॥

परमेश्वर में काल का विच्छेद क्वचित्, कदाचित् कथंचिदपि नहीं है, वह तो काल का भी काल है, इस लिए उस को अकाल अर्थात् कालगति के प्रचार में न आनेवाला कहा है। जीव और प्रकृति भी उत्पत्ति की अपेक्षा से तो नित्य ही हैं। प्रकृति परिणामशीला होने से औपचारिक काल की महिमा को दर्शाती है, और जीवात्मा शरीर के सहयोग से अनुत्पद्यमान होता हुआ भी अभ्यासवशात् उत्पत्तिवाला सा प्रतीत होता है, अत एव स्वरूप से काल का प्रचार न होकर औपाधिक आतंक प्रकट होता है, अत एव भेदकारक विशेषनियम उपस्थित होने से तीनों समान नहीं हैं ॥

अन्यदपि—

अनुपजनापायधर्मवत्त्वात् उभयोर्भिन्नः ॥८०॥

तीनों साधर्म्य–समानधर्म से एक होने पर भी वैधर्म्य-भेदकारक नियम से भिन्न हैं। परमात्मा के स्वरूप का उपजनापाय अर्थात् वृद्धि और ह्रास कभी भी नहीं होता है, वह व्यापक एकरस सच्चिदात्मा और आनन्द स्वरूप है। जीव और प्रकृति के नित्य होने में तो कोई सन्देह नहीं है, परन्तु यदि प्रकृति में वृद्धि न हो तो संसार कभी नहीं बनेगा, और यदि संसार में ह्रास न हो तो पुनः प्रकृति न होगी। उत्पत्ति और प्रलय की व्यवस्था न होने से वह दशा कैसी होगी, यह ध्यान में नहीं आता है, अतः नित्य प्रकृति वृद्धि और ह्रासयुक्त होने से परमा-

त्मा के तुल्य नहीं है ॥

जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण शरीर सहयोगी होकर कभी इच्छाविघात से दुःखी और कभी उसकी पूर्त्ति से अपने को सुखी मानता है, कभी बन्धन से भयभीत होकर मोक्ष की इच्छा करता रहता है, अत एव यह स्वभाव से स्थिर नहीं है, इस के विचार में न्यूनाधिक भाव बना ही रहता है, इस से जानलेना चाहिए कि परमेश्वर एक और दोनों से भिन्न है ॥ शरीर व तत्संबंधी जीव की व्याख्या यहां समाप्त हुई अब इस के जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष का निरूपण किया जाता है—

कारणवशात् स्थूलसूक्ष्मशरीरयोः संयोगवियोग एव
जन्ममरणमिति ॥८१॥

कारण सत्ता सद्भाव से स्थूल और सूक्ष्मशरीर के संयोग और वियोग का नाम ही जन्म और मरण है शेष कुछ नहीं, यह इति शब्द से प्रकाशित है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर का विवरण पूर्व कर दिया गया है। यह जन्म मरण प्रबन्ध का अभ्यास अनादि अपवर्गान्त है, ऐसा न्याय शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है। अविद्या, विपरीत ज्ञान, संशय उत्थान यह सब अज्ञान के ही नाम हैं। इस का नाम ही कारण शरीर है, कहीं पर इस की प्रकृति संज्ञा भी है, वहां प्रकृति अन्तर्गत तमोगुण की प्रधानता को जान लेना चाहिए। इसकी विद्यमानता में जीवात्मा एक शरीर को त्याग कर शरीरान्तर को धारण करता ही रहता है। यावत् मोक्ष पद को प्राप्त न कर ले। यह ही कारण है कि वेदादिसच्छास्त्र ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है यह उपदेश सुना रहे हैं। जीवात्मा सूक्ष्मशरीर के साथ जो इसको सृष्टि के

साथ मिलता और प्रलयान्त तक रहता है एक शरीर से निस्सरण कर शरीरान्तर में जाता रहता है यह प्रवाह अनादि है और मोक्ष में समाप्त हो जाता है ॥

प्रश्न--जीवात्मा को बारंबार जन्म लेना पड़ता है या एक बार ही शरीर के साथ योग होता है फिर नहीं ? इस में किस बात को ठीक मानना चाहिए। एक ही जन्म मान लेना अच्छा है इसका कारण यह है कि न तो पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष है और न तत्काल का किसी को स्मरण ही है। जब पूर्व जन्म की सत्ता सिद्ध नहीं होती है तो भविष्यत् में उसकी प्राप्ति कहना सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है ॥

नैव--जैसा आपने विचारा है वह असत् है। जीवात्मा को जो सत् मानता है, उसके सिद्धान्त में तो पुनः जन्म होना ही चाहिए और जो आत्मा की उत्पत्ति मानता वह एक जन्म का ही पक्षपाती होगा ॥

ज्ञानं वस्तु तन्त्रं न तु विचाराधीनमिति ॥८२॥

ज्ञान वस्तु के आधीन होता है। विचार के आश्रित नहीं। यथा मृगतृष्णिका जो निदाघसमय मध्य दिन में सूर्य किरण से सन्तप्त होकर भूमि में जल तरंग उठते हुए और उस में वृक्षों की छाया विस्पष्ट प्रतीत होती है। गाड़ी में भ्रमण करने वालों को कई वार भ्रम हो जाता है कि वहां विपुल जल है। यदि कोई पुरुष जलपान या स्नानार्थ वहां जावे तो क्या उस की इच्छा पूरी होगी कदापि नहीं। किसी के विचार से वस्तुस्वरूप में परिवर्तन नहीं हो सकता है। केवल विपरीतकारिता या उल्टी गति से विचारक

को खेद ही उठाना पड़ता है। यह नियम इस प्रकार सर्वत्र लागू हो सकता है ऐसा जान लेना चाहिए । अब यदि जन्म वास्तव में एक है तो किसी के मानने से उस में अनेकता नहीं आ सकती और यदि अनेक हैं तो किसी के जान लेने से उस का एकत्व सिद्ध नहीं होगा । विचार केवल निर्णयार्थ है, इस वर्त्तमान कालिक एक जन्म से अनेकता का बोध होता है। पूर्वापर जन्म विवाद ग्रस्त है और उन में प्रत्यक्ष नहीं यह सत्य है । इस बखेड़े का निबेड़ा अति शीघ्र हो सकता है, यदि वर्त्तमानकालिक जन्म का क्या कारण है यह बता दिया जावे। बस इस से आगे बढ़ने की आवश्यकता ही नहीं । इस प्रत्यक्ष जन्म से दोनों सहमत हैं। पुनर्जन्मवादी के सिद्धान्त में तो इस का यह उत्तर हो सकता है कि पूर्वजन्म कृत कर्म फल भोगार्थ ईश्वर की न्याय व्यवस्था से देहान्तर की प्राप्ति होती है। पूर्वापर जन्म की धारा अटूट है। वर्त्तमान जन्म इस को स्थिर रखने का निमित्त है । यह इस के यथार्थ सुधार से टूट भी जाती है । एक जन्म वादी के मत में इस का यथार्थ उत्तर न मिलने से उस का पक्ष स्थिर नहीं हो सकता है । यथा कोई वर्त्तमान काल को मानता हुआ भूत भविष्यत् को नहीं जानता, तो यह उस की अनभिज्ञता है । उस के न जानने से उन की सत्ता का अभाव नहीं हो सकता । वर्त्तमान अनेक प्रकार के जन्म और उन में विविध प्रकार के सुख-दुःखों का (कोई सकल कोई विकल एक धनवान् दूसरा निर्धन, एक गुणवान् अन्य निर्गुण, एक स्वतन्त्र द्वितीय परतन्त्र, कोई विद्वान् दूसरा बुद्धिहीन इत्याकारक जो भेद दर्शन हो रहा है इस का कोई भी)

कारण तो बताना चाहिए । फल के प्रत्यक्ष होने से बीज की सत्ता माननी ही पड़ेगी । कार्य के दर्शन से कारण का अभाव नहीं हो सकता । सब प्राणी सुख दुःख से संकलित देखे जाते हैं और प्रायः जो मनुष्य थोड़ा सा भी विचार रखते हैं वे इस बात का उपदेश सुनाते हैं कि सुख दुःख अपने ही किए हुए पुण्य पाप का फल है । 'जैसी करनी वैसी भरनी' इस स्थिर नियम को बता कर दुःखित जनों को सन्तोष कराते हैं, विचार-शील पुरुष चाहे किसी देश विदेश में हों इस नियम का साथ देते हैं । एक जन्मवादी के मत में जो कुछ जिस को सुख दुःख प्राप्त हो रहा है, वह उस के पूर्व कृत इष्टानिष्ट किसी कर्म का फल नहीं है । वह स्वयं सिद्ध या ईश्वर की इच्छा पर ही उस का निर्भर है तो पुनः उस को यह अधिकार कैसे हो सकता है, कि वह इस बात का (कि तुम शुभ कर्म करो सुख पाओगे, अशुभ कर्मों को छोड़ दो दुःख से बच जाओगे) मनुष्यसमाज को उपदेश करे, जब कि एक स्थान पर बिना कर्म के फल को दर्शाता है और दूसरे स्थान पर शुभ कर्म करो आराम मिलेगा इस सिद्धान्त को सामने लाता है । अब उस को बताना ही होगा कि इन दो विपरीत विचारों में से किस पर विश्वास किया जावे ? भागत्याग लक्षणा से एकके स्वीकार में अन्य की हानि अवश्य होगी । इन दोनों विरुद्ध वादों में से अयुक्तार्थ को त्याग के युक्तार्थ का ग्रहण करना ही सज्जनों का काम होना चाहिए । अब यदि कारण के बिना सुख दुःख का निमित्त ईश्वर ही है तो उस में न्याय करने का जो स्वभाव था वह तो जाता रहा, फिर अन्याय के पक्षपाती को कौन ईश्वर मानेगा ।

जब संसार में एक मनुष्य भी अन्याय का पक्ष करता हुआ अपनी परिस्थिति से गिर जाता है, और वह जनसमुदाय में फिर आदर नहीं पाता, तो इस दुर्गुण का ईश्वर के स्वरूप में मानना भारी भूल है। यह मनुष्यबुद्धि की अधूरी कल्पना है। वह तो सदैव न्यायकारी है और न्याय की रीति ही सदा उस को प्यारी है। यह ही तो कारण है कि जो पुरुष सर्वथा न्याय का साथी है उस की प्राप्ति का वह ही अधिकारी है। यह तो एक ऐसी बात है कि कोई परीक्षक प्रश्नोत्तर की जांच पड़ताल किए बिना ही किसी को आगे बढ़ा दे और किसी को गिरा दे, योग्य को अपमानित कर के अयोग्य को सन्मान दे, बिना विचारे पारितोषक वितरण करता रहे और फिर ऐसी असमीक्ष्यकारिता के पश्चात् यह विज्ञप्ति दे कि जो विद्यार्थी अध्ययन में जैसा परिश्रम करेगा उस को वैसा ही फल मिलेगा। इस पर क्या विश्वास हो सकता है। श्रम करने में किस को रुचि होगी? जिस ने अपनी समस्त सम्पत्ति को खो कर उस की रक्षा करने में अपने को अयोग्य सिद्ध कर दिया हो पुनः उस का यह कथन कि जिस को अपने धनादि पदार्थों की रक्षा आवश्यक हो वह मेरे पास रख दे, मैं सर्व प्रकार से उस की संभाल करूंगा। कैसे सत्य प्रतीत होगा। अविश्वास का पात्र बन कर विश्वास को कोई भी स्थिर नहीं कर सकता। एक जन्मवादी के आगे दो विचार उपस्थित हैं एक तो उसे वर्त्तमान जन्म में सुखदुःख रूप फल से पूर्व कोई कर्म बताना होगा। द्वितीय यह कि शुभाशुभ कर्मों का फल सुख दुःख होता है। इस विचार को अपने ध्यान से हटाना होगा॥

प्रथम विचार–ईश्वर को न्यायकारी बताता है और द्वितीय विचार में वह न्याय से दूर हो जाता है, जो ईश्वर के स्वभाव में न होना चाहिए ॥

अब वादी दूसरे रूप से एक जन्म को सिद्ध करने में ही अग्रसर है। उसका यह कथन है कि जब पूर्व जन्म का स्मरण ही नहीं तो उसके लिए हट करना कहां तक युक्तिसंगत है ॥

स्मरणं न भवति प्रतिबन्धकसत्तासद्भावात् ॥८३॥

स्मरण न होना पूर्वजन्म के अभाव को सिद्ध नहीं करता, प्रत्युत् वह प्रतिबन्धक की सत्ता के सद्भाव को प्रकट कर रहा है। अभिनवजात बालक को पूर्वजन्म की स्मृति तो होती है, किन्तु अवाचकत्व शक्ति विद्यमान होने से अपने मनोभाव को जतला नहीं सकता। उसके पास कोई उपायान्तर भी नहीं जिसकी सहायता से वह अपने विचारों का प्रकाश करे। जब शनैः २ माता पिता की भाषणशैली के संस्कार मन्दगति से अपना बल बढ़ाते और पूर्वजन्म के स्मृति संस्कारों को दबाते जाते हैं, तब बालक को सांसारिक वस्तुओं के दर्शन, स्पर्शन और आस्वादन से उनमें अनुराग और ममता बढ़ती जाती है। उनके ही इर्द गिर्द चक्र लगाते रहना उसका स्वभाव बन जाता है। इधर वाचकता शक्ति का पूर्णतया उदय होता है और उधर पूर्वसंस्कार अंतःकरण में वर्त्तमानकालिक विचारों की प्रधानता से मूर्छित समान होकर सोता है। यथा स्वप्नदर्शन के पश्चात् ही निद्रा खुल जाने पर स्वप्न का समस्त चक्र सामने आजाता है, और यदि स्वप्न कालानन्तर पुनः गाढ़ निद्रा हो जावे तब वह पुरुष उठकर यह कहता है कि स्वप्न तो आया था

किन्तु उसका कुछ पता नहीं रहा क्या था ? यहां निद्रा प्रतिबन्धक है वहां वाचकत्व शक्ति की रुकावट है, जहां स्वप्नमात्र का स्मरण है वहां मृत्यु (त्रासप्रद और भयजनक) सबको याद है। यह सत्य बात है कि तीव्रमनोवृत्ति द्वारा जिस वस्तु को देखा जाता है अथवा जो बात सुनी जाती है अथवा अनुभव में आती है उसके संस्कार प्रबलता से अन्तस्थ हो जाते हैं शेष सब मन्द पड़ जाते हैं। किसी प्रदर्शनी में जाकर मनुष्य ने शतशः वस्तुओं को देखा और अनेक वार्ताओं को सुना है परन्तु चित्र उसका ही बार बार सामने आता है जिस से चित्तवृत्ति पर तीव्राघात हुआ है, शेष सब मृतप्रायः होंगे। यह ही कारण है कि मृत्यु का बड़ा ही प्रचण्डाघात जो प्राणिमात्र को व्याकुल करता है सबको याद है। इसका स्मरण आते ही अन्तःकरण भयभीत हो जाता है और इस से बचने तथा छुटकारा पाने के लिए सब ही यत्नवान् हैं, परन्तु कोई भी इस से नहीं बचता। अब आप बतायें कि जब पूर्व कभी भी मृत्यु के आघात को अनुभव हीं नहीं किया तो यह एकाकी प्राणिमात्र को भय क्यों होता है ? और यदि पूर्वानुभूत है तो वह भय बिना जन्म के क्योंकर सिद्ध होगा ? यदि आपको यही आग्रह है कि पूर्वजन्म का स्मरण होना ही चाहिए इसके बिना उसकी सत्ता स्वीकार न होगी। ऐसा मानने से आप उपहास के स्थान में खड़े हो रहे हैं। वर्त्तमान जन्म का सब साथ देते हैं, तात्कालिक जो कष्ट होता है वह सब के लिए समान और अनिवार्य है अनेक मातायें प्रसववेदना से प्रायः हत हो जाती हैं। उस समय के क्लेश की चोट सभी खाए हुए हैं, परन्तु उसका स्मरण किसी

को भी नहीं है, इस से तो आप को यह ही कहना उचित है कि स्मरणाभाव से वर्त्तमान जन्म भी नहीं है कैसी विचित्र परिस्थिति है। न चलने की गति और न ठहरने की मति। मेरे मित्र ! वर्त्तमान को मान कर भूत और भविष्यत् से इन्कार नहीं हो सकता है, हां वर्त्तमान को किसी युक्ति से हटा दो तो पुनः उन का कोई भी पक्षपाती न रहेगा परन्तु ऐसा होना असंभव है। एक जन्म या बहुजन्म वादी दोनों इस बात पर सहमत हैं कि अशुभ कर्म मत करो, दुःख से बच जाओगे और शुभ कर्मों के करने से सुख पाओगे। यह बड़ी ही सुन्दर बात है परन्तु आगे चल कर अल्प भेद है जैसे दो पुरुष एक उड़ते हुए पक्षी को देखते हैं। एक का यह कथन है कि इस के दो पर हैं जिन से यह उड़ रहा है दूसरा कहता है कि उड़ तो रहा है परन्तु पर एक है। इस दृष्टांत का दार्ष्टांत यह है कि बहुजन्म-वादी का यह कहना कि वर्त्तमान सुख या दुःख पूर्व कृत इष्टानिष्ट कर्मों का फल है, इस को ठीक जान कर यदि दुःख से बचना या सुख प्राप्त करना चाहते हो तो अनुचित कर्म का त्याग और उचित कर्म का पालन करो। परन्तु एक जन्म वादी सम्प्रति सुख या दुःख किसी कर्म का फल तो नहीं मानता है परंतु आगे को अच्छे या बुरे कर्मों से ही सुख या दुःख मिलेगा यह जानता है। अब इस का विचार करने से पता चलेगा कि सच्चाई किस का पक्ष कर रही है। अब एक जन्म वादी अपने पक्ष की स्थिरता में एक और हेतु का सहारा लेता है। उस का कथन है कि यदि सुख, दुःख, उत्तमता और नीचता पूर्व कर्मों का ही फल है तो सुवर्ण और लोहा, हीरा, और पाषाण में जो

स्वरूप तथा मूल्य में भेद देखने में आता है क्या वह भी किसी कर्म का फल है ? यदि है तो इन का भी पूर्व जन्म बताना होगा, यदि नहीं तो सर्वत्र ऐसी ही योजना करनी चाहिए ॥

पाषाणादिषु भेददर्शनादिति चेन्न कर्मणां तत्र सम्बन्धात् ॥८४॥

लोहा, सुवर्ण, हीरा और पाषाणादि में जो भेद दर्शन हो रहा है वह केवल मनुष्य बुद्धि की कल्पना से है, वास्तव में नहीं है, इस कारण से वहां किसी कर्म का सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य को जिस वस्तु की उत्कट इच्छा होती है और वह न्यून हो तो उस का मूल्य बढ़ जाता और लोगों की उस पर रुचि हो जाती है और जो सुगमता से यत्र तत्र प्राप्त हो जावे उसका मूल्य कम हो जाता है और वह अधिक रुचि का विषय नहीं होती है । क्या सुवर्ण आदि पदार्थ जैसे एक लुब्ध पुरुष को व्यामोह में डाल कर उस को व्याकुल करते हैं तत्सदृश वीत-राग पुरुष पर भी उन का वैसा ही प्रभाव होता है कदापि नहीं । वह तो मृत्पिण्ड, पाषाणखंड, सुवर्ण और हीरकादि पदार्थों को समान जानता है । उस के अन्तःकरण की प्रवृत्ति का विषय ही नहीं हो सकते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त पश्वादि प्राणियों को भी तो इन में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। वह अपने आहार की ओर (जिस से उन की क्षुधा निवृत्त हो) झुक जाते हैं उपर्युक्त वस्तुओं से उन का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है अत एव मनुष्य ने अपनी कल्पना से इन वस्तुओं को उत्तम, मध्यम अथवा निकृष्ट मान लिया है वास्तव में उनके स्वरूप में कोई विशेषता नहीं है। जड़ वस्तुओं में स्वयं सिद्ध नियम पूर्वक कर्तृत्व नहीं है, ज्ञाना-

धिकरण चेतन कर्त्ता के अधीन होकर अनेक अवस्थाओं में उसका परिवर्त्तन हो जाता है पुनः वह इसकी भी दृष्टि में न्यूनाधिक मूल्यवान्, अच्छी, बुरी अथवा साधारण जंचने लगती है। कल्पना करो कि किसी कारीगर ने पाषाण के दो टुकड़ों को लेकर एक से प्रतिमा बनाई और दूसरे को मल, मूत्र त्यागने के स्थान में लगा दिया। यह सर्व प्रक्रिया और उसका भेद मनुष्यमति के भेद से है यथार्थ में नहीं इस लिए जड़ वस्तु के साथ (सुख दुःख के अदर्शन से) कर्म का कोई भी सम्बन्ध नहीं ॥

प्रश्न तो उसके विषय में था जो दुःख से बचने और सुख प्राप्ति के निमित्त अशभ कर्मों का त्याग और शुभ कर्मों को ग्रहण करता है। सुवर्णादि काल्पनिक संसार के दृष्टान्त की इसके साथ कदापि तुलना नहीं हो सकती। हां इतना कथन ठीक ही है कि केवल मनुष्य ने जिस वस्तु को अपने सुख दुःख का निमित्त मान लिया है इसके ही कर्मों का उसके साथ परम्परा सम्बन्ध है, साक्षात् नहीं है, क्योंकि कोई भी पाषाण स्वयं प्रतिमा के रूप में नहीं जाता है और न कभी अपने आप पिण्ड बनकर सुवर्ण भूगर्भ से बाहर आता है। जब तक पुरुष कर्मकौशल का उसके साथ संबंध न हो। इस प्रकार के उदाहरण जड़ वस्तुओं में अनेक मिलते हैं। यथा-ईंट या वर्त्तन को बनाने वाला सब को समान ही बनाता है किन्तु जब वह आवा में जाकर पकते हैं तब कोई उन में से टेढ़ा हो जाता है, कोई फट जाता है और कभी ईंटें परस्पर मिल जाती हैं यह सब कुछ ताप की अधिकता, एक दूसरे के दबाव अथवा अग्नि

संयोगात् काष्ठान्तर्वर्त्ति रस योग से क्रमशः ऐसा हो जाता है। हानि हो जाने से बनाने वाले को कष्ट होता है क्योंकि श्रम का विफल होजाना श्रमी के लिए खेदोत्पादक होता है। अतएव यह कर्त्ता का कर्म तो बन सकता है, उस में स्वतन्त्र रूप से कर्तृत्वधर्म नहीं आ सकता। कर्म की प्रतिकूलता या अनुकूलता से सुख, दुःख को अनुभव करना ही फल या भोग कहलाता है, इसकी चमक जड़ वस्तुओं में नहीं होती है वह सर्वथा इस गुण, दोष से शून्य है। किसी धनी पुरुष ने समझदार कारीगरों से बड़ा ही उत्तम प्रासाद बनवाया, उस में सर्व प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले विभाग बनवाए। इस गृह निर्माण से बनानेवाले को (धनप्राप्ति से) सुख हुआ और गृह स्वामी उसमें निवास कर आनन्दित हुआ यह ठीक ही है, सब को प्रत्यक्ष है और निर्विवाद है। परन्तु न यह देखने में आता है और न कोई बताता ही है कि गृह को या उसकी सामग्री (ईंट, पत्थर, सीमिन्ट लोहा और काष्ठ) को कभी प्रसन्नता हुई हो। जड़, चेतन वस्तु दोनों विरुद्धस्वभाव रखती हैं, एक का स्वाभाविक गुण दूसरे में नहीं जा सकता। समस्त जड़वर्ग चेतन आत्मा के ज्ञान का विषय होकर सुख, दुःख की आभा दिखा कर इसको बन्धन में लाता या इससे छुड़ाता है, यह ही तो कारण है कि सर्व वस्तुओं का प्रभाव सब पर समान नहीं होता। आप विचार करें तो आपको पता लगेगा कि बालक को स्वादु वस्तु के आहार से जो सुख होता है, वह युवावस्था में नहीं होता, और जो सुख नवयुवक अनुभव करता है वह वृद्ध को नहीं होता। वस्तुओं में कोई भेद नहीं आया, केवल अवस्था

भेद से विचार भेद और पुनः उससे वस्तुओं में दृष्टि भेद मात्र है यथार्थ में नहीं। धनी, निर्धन, राजा, ब्राह्मण और भङ्गी का लघु शिशु एक स्थान पर ही खेल रहे हैं, एक को दूसरे से प्यार है, उनको तात्कालिक सुख निराधार है, बिना खेलके अन्य किसी प्रकार के विचार का विस्तार नहीं। शुद्धमनोवृत्ति के भाव छे चार नहीं। संसार की कोई भी वस्तु अपने प्रभाव से उनके खेल के मार्ग में प्रतिबंधक नहीं हो सकती है, उन अल्पवयस्क बालकों की खेल और हास्य प्रवृत्ति को देखकर लोग प्रसन्न होते हैं, वह निर्भय हैं अभी तक संसार की कोई भी वस्तु उन के विचार का विषय नहीं बनी। थोड़ा समय आगे चलकर जब विचार बढ़ने लगे तब वह बिगड़ कर एक दूसरे से लड़ने लगे। एक ने अपने को भङ्गी मान लिया, दूसरे ने अपने को निर्धन पहचान लिया, राजकुमार को राज्य का अभिमान, ब्राह्मण बालक को अपनी उच्चता का ध्यान, किसी ने अपने को नीच बनाया और दूसरे ने अपने को उत्तम आसन पर बैठाया। यह विचारभेद अब उनको एकत्रित नहीं होने देता। भेदबुद्धि से मनुष्य ग्लानि का पात्र बन जाता है। यह भेद खेदकारक, दुःखोत्पादक, मानहारक और अपमान प्रसारक है फिर उसकी बुद्धि में यह नहीं आता है। जब उन बालकों का आत्मा इन भेदक विचारों से दूर था तब वह प्रेम के प्रवाह में प्रवाहित रहते और कभी किसी को अपने मुख से दुर्वचन नहीं कहते थे। माता पिता के पृथक् करने पर वह कष्ट अनुभव करते थे। इस से यह सिद्ध होता है कि शरीर से लेकर संसार की समस्त वस्तुओं में लाभ, हानि, प्रेम या ग्लानि की जो भावना हो रही

है वह सब विचाराधीन है। यह ही कारण है कि सर्व वस्तु प्रत्येक के लिए अनुकूल या प्रतिकूल सिद्ध नहीं होती है ऐसी अवस्था के देखने से सुवर्ण, हीरा और मृत्तिकादि पदार्थों में कहां विशेषता रही ? पुनः इसके दृष्टान्त से स्वच्छन्द कर्त्ता की समानता कैसी हो सकती है ?

इस से आगे एक जन्मवादी अन्य युक्ति के सहारे अपने पक्ष को इस प्रकार स्थिर करता है कि जब आत्मा का देहान्तर में जाने से कुछ सुधार नहीं होता तो पुनः इस नियम के मानने से क्या लाभ है ?

पक्षस्य समानत्वात्साध्यपरिहारयोस्तुल्यत्वम् ॥८५॥

इस स्थल में एक जन्मवादी अथवा अनेक जन्मवादी का पक्ष समान है क्योंकि साध्यपरिहार दोनों स्थलों में तुल्य हो गए हैं। एक के विचार में जो दोष उपस्थित है दूसरे के पक्ष में भी वह विद्यमान है। एकजन्मवादी के मत में परमेश्वर ने आत्मा को उत्पन्न किया है यह पूर्व कहा है॥ अब विचार यह होता है कि सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसी शक्ति को बनाकर (जो लोभादि दोषों से दूषित हो जावे नित्य वैर विरोधादि से कलह को जगावे अपनी प्रसन्नता के निमित्त दूसरों को कष्ट पहुंचावे व्यर्थ बखेड़े को खड़ा कर दिया है जिसका निबेड़ा होना ही कठिन प्रतीत होता है। शान्तस्वभाव परमेश्वर को उस के निर्माण से क्या लाभ हुआ ? जिस मनुष्य के आत्मा को उसने अपने स्वरूप पर या सर्वश्रेष्ठ बनाया है वह उस को ही आदर नहीं देता है, और जो कष्ट मनुष्य से संसार में हो रहा है उस का सहस्रांश भी अन्य पशु पक्षियों से नहीं। आप गणना करें

तो पता लगेगा कि एक वर्ष में सर्प व्याघ्रादि मारक जन्तुओं से मनुष्यजाति को दससहस्र से कुछ न्यूनाधिक हानि हुई होगी। अब मनुष्य की ओर ध्यान दें तो प्रतिदिन गौ, भेड़, बकरी आदि उपयोगी प्राणी इसके हाथ से लाखों की संख्या में हत हो रहे हैं मछली और मुर्गों की गणना तो हो ही नहीं सकती। जब कभी मनुष्यों में परस्पर युद्ध छिड़ जाता है तो इतनी निर्दयता से एक दूसरे पर प्रहार करते हैं जिसका वाणी से निरूपण नहीं हो सकता और इनके ही निमित्त से पशु आदि अनन्त प्राणी (जिनको न युद्ध से प्रयोजन है न उन्हों ने भूमि को ही बांटना है और न उनका कोई अन्य ही कार्य सिद्ध होता है) मारे जाते हैं। मनुष्य से अतिरिक्त अन्य अश्वादि प्राणियों से एक दूसरे को इतना कष्ट नहीं पहुंच रहा है जितना कि सर्वोत्तम प्राणी मनुष्य उनके कष्ट का कारण बन रहा है। कितने शोक की बात है कि गौ आदि पशु घृत दुग्ध से मनुष्य को लाभ पहुंचाते हैं, अश्वादि सवारी का काम देते हैं, भेड़ बकरी आदि दूध से अतिरिक्त वस्त्र निर्माणार्थ ऊन देते हैं। इन पशुओं की सहायता के विना मनुष्य के कार्य बहुत अंश में रुक जाते हैं और पशुओं को अपने जीवन निर्वाहार्थ किसी कार्य में भी मनुष्य की सहायता अपेक्षित नहीं। पुनरपि यह मनुष्य इनको मारने के लिए कटिबद्ध हो कर उन के पीछे पड़ा हुआ है। यह दोष इसको बनाने वाले परमेश्वर के विचार में सिद्ध होता है, अब इसके सुधारने की उसके पास कोई भी शक्ति नहीं है, जब कि उत्पत्तिकाल में इसके सुधारने का समय था तब नहीं सुधरा तो फिर सम्प्रति स्वाभाविक दोषों के बढ़ जाने से इसको

सीधे मार्ग पर लाने का यत्न करना निष्फल जान पड़ता है। आप बताएं कि इसके बनाने और एक बार ही शरीर में आने से क्या लाभ और सुधार हुआ इस परीक्षा से तो परमात्मा निर्दोष नहीं रहता है?

अनेकजन्मवादी का कथन यह है कि जीवात्मा अनादि है यह कर्म करने में यथाशक्ति स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है सृष्टिसमकाल में परमात्मा सन्मार्ग प्रदर्शक है इष्टानिष्ट कृत कर्मफल भोगार्थ वासना वशात् ईश्वर की न्यायव्यवस्था से शरीरान्तर में चला जाता है। इस अनुवृत्ति की प्रवृत्ति सरलता या विरलता से होती ही रहती है। जिन विषय वासनाओं से घिरा हुआ सन्मार्ग की ओर नहीं जाता था वह विषय सर्वत्र प्राप्त हैं, उनकी लिप्सा से इसको इधर उधर जाना ही पड़ेगा किसी प्रकार से भी यह प्रवाह नहीं रुक सकता। परमात्मा का शासन कर्मफल भोग के साथ २ सुधार का निमित्त तो हो सकता है अन्यथा नहीं। इसमें ही न्याय और दया का समावेश है। यथा–किसी ने चोरी की वह पकड़ा गया शासक ने उस से पूछा कि तुम ने इस अनुचित कर्म को क्यों किया। उसने उत्तर दिया कि मेरा स्वभाव मदिरापान करने का हो गया है दाम पास नहीं थे अत एव इस व्यसन को पूरा करने के लिए मैंने चोरी की है। यह एक अपराध था जिस के कारण उसको कारावास में भेज दिया जाता है, इस से यह लाभ हुआ कि उससे जो अन्य पुरुषों की हानि होती थी उन का बचाव हुआ बन्धन में आकर मदिरापान दोष से (जो दूषित था) मुक्त हुआ। वहां किसी काम की शिक्षा मिल गई जिससे

वहां से पृथक् होकर कमाएगा और खाएगा तथा स्वयं वहां विचारने का समय मिला जो आगे को इसका सहायक होगा। सच्चा पवित्र सृष्टिक्रम के अनुकूल शासन न्याय और दया के मेल से ही बनता है यह परमात्मा में सदैव विद्यमान है अत एव पुनर्जन्म मानने में तो सुधार का मार्ग खुला है। एक जन्मवादी के मत में तो मूल में ही दोष है जो सुधार का प्रतिपक्षी है—जीवात्मा के पास शरीरान्तर में जाने के लिए क्या साधन है?

विचाराधीनं पुरुषप्रवृत्तिरिति लोके निदर्शनम् ॥८६॥

मनुष्य की प्रवृत्ति इसके विचाराधीन है, यह लोक में देखा जाता है प्रत्यक्षादि प्रमाण परीक्षा से किसी वस्तु के स्वरूप में परिवर्त्तन नहीं होता है, किन्तु उसका यथार्थ ज्ञान होता है। यथा रात्रि में दीपक प्रकाश के द्वारा मनुष्य उन वस्तुओं को जो गृह में विद्यमान है देख सकता है परन्तु प्रकाश कुर्सी को मेज या मेज को कुर्सी नहीं बना सकता। वस्तुज्ञानानन्तर उस से लाभ उठाना इस के पुरुषार्थ के आश्रित है। आलसी और प्रमादी पुरुष जानता हुआ भी संसार में कष्ट पाता और अपयश का पात्र बन जाता है, अत एव यथार्थ बोध के साथ यदि अनुष्ठान का सहयोग न हो तो वह सुखप्रद होने के स्थान में क्लेशकारी हो जाता है, यह दृष्टान्त संप्रति आधुनिक वेदान्तियों पर चरितार्थ हो जाता है। महानुभाव शंकराचार्य जी महाराज उक्ति और युक्ति में प्रवीण, धर्ममर्यादा संस्थापनार्थ अहर्निश लवलीन, आलस्य से दूर और पुरुषार्थ में स्वाधीन, लोकोपकारार्थ नित्य भ्रमणकारी, विद्वान् विशेषज्ञ,

सदाचारी, नित्य नवीन उत्साह से युक्त, प्रमाद से सर्वथा मुक्त, जीवनमृत्यु की व्यवस्था से ज्ञानवान्, समयोचित कार्य करने में सदा सावधान, निर्भय सहिष्णु, उदार, यत्र तत्र सर्वत्र वेदोपदेश का प्रचार करने में संलग्न रहे परन्तु उनके पीछे चलने वाले विद्वान् संसार को मिथ्या-तुच्छ-बताकर और अपने शिष्यवर्ग को यही उपदेश सुना कर पुरुषार्थाभास में आनन्द मना कर सर्वथा सुख सम्पत्ति से हीन और पराधीन हो बैठे। अब आप बताएं कि यदि उत्तम आशय शंकर के विचार में यह संसार ऐसा ही मिथ्या होता यथा संप्रति वेदान्ती सज्जनों को अभिमत है, तो पुनः बौद्धों ने उनका क्या बिगाड़ा था? संसार को मिथ्या मान लेने से बौद्धदल का मिथ्यात्व स्वयं सिद्ध था, फिर वह उनके विचार परिवर्त्तनार्थ क्यों यत्न करते रहे। मेरे मित्र! सुषुप्त पुरुष के विज्ञान में समस्त संसार निद्रा में ही लीन होता है, जागरूक के विचार का विषय यह नहीं होता है कि सर्व संसार जागृतावस्था में है। सोने और जागने के भेद को वह समझता है, इससे यह सिद्ध होता है कि उनके विचार में संसार और इसकी वस्तु उत्पन्न होकर कालान्तर में न रहने वाली हैं इसको अनित्य कहो अथवा मिथ्या कुछ अधिक भेद नहीं है। परन्तु इसके साथ २ यावत् जीवन पुरुषार्थ करो। यदि आप सुख से रहना चाहते हो तो औरों को सुख दो, यदि नीरोग होना चाहते हो तो रोगियों के रोग निवारणार्थ यत्न करो। यदि कोई संसार में उपकृत होना चाहता है तो वह औरों का उपकार करे। यह सन्मार्ग है इस पर चलने से मनुष्यसमाज सुखी हो जाता है, अन्यथा जीवन कटु, नीरस

और पराधीन होकर सुख से वंचित हो जाता है इन विचारों के आधीन होकर महात्मा शंकर पुरुषार्थ करते रहे। परन्तु आजकल के वेदान्ती उनके अनुगामी कहलाते हुए तत्सदृश यथाशक्ति पुरुषार्थ करने से डरते हैं, इसका परिणाम सब के सामने है अधिक कहने की आवश्यकता नहीं॥

मेरे मित्र! संसार मिथ्या हो या अनित्य, क्षुधा का कष्ट आहार से ही जाता है। तृषा का खेद जल पान से ही मिटता है। शीतकाल में तन्निवारणार्थ वस्त्र की आवश्यकता होती है, उष्णता के कष्ट को मिटाने के लिए मनुष्य की वृत्ति वृक्ष की घनीभूत निविड़छाया और शीतल जल की ओर झुक जाती है। पराधीनता के क्लेश को हटाने के लिए अनेक भेद भिन्न मत-मतान्तरों की अधिकता को हटा कर ऐक्यमत का अनुसरण करना ही चाहिए, जब यह सब बातें जीवन के लिये उपयोगी हैं तो संसार को मिथ्या कहने से इन में मिथ्यात्व नहीं आ सकता। स्वयं पुरुषार्थ करना और तदर्थ उपदेश देना भी अत्यावश्यक और अनिवार्य है। अब आप के ध्यान में आया कि मनुष्य की प्रवृत्ति इसके संकल्पाधीन ही है जैसे प्रकाश में मनुष्य की छाया उसकी गति के सहारे होती है, स्थिर हो जाने से उसकी स्थिरता और चलने से चलायमान हो जाती है। ठीक इसी प्रकार पुरुषचेष्टा इसके संकल्पाश्रित है। यह अध्ययन के विचार से पढ़ता है, युद्ध के विचार से रङ्गभूमि में जा डटता है, सांसारिक सुख भोग के विचार से धन को कमाता और विरक्तभाव उदय हो जाने से गृह को छोड़ जाता है। महात्मा बुद्ध का दृष्टान्त इसका प्रकाशक है। कृपणता का विचार आते

ही मनुष्य कंजूस मनहुस और मक्खीचूस कहलाता है पुनः वह उदारता की बात न किसी से सुनता और न किसी को सुनाता है। दान करना बड़ा ही पुनीत कर्म है, हज़ार वार कहो उसकी समझ में नहीं आता। न आप उससे लाभ उठाता न औरों को उससे सुख पहुंचाता है परन्तु विचार के परिवर्त्तन से वह धन को लुटाता और सर्वथा उसकी मोहममता से छूट जाता है। दो मित्र परस्पर प्रेमभाव से रहते हैं। लोग उनको देख कर (दो शरीर में एक प्राण है) यह कहते हैं सुख दुःख में समानता, एक को दूसरे की सेवा करने में निरभिमानता, खान-पान, रहन-सहन में प्रीति, सुन्दर सुयशप्रद नेकनीति, साधु स्वभाव, सरलभाव, एकता का सत्कार, अनेकता का तिरस्कार ऐसी अवस्था का प्रसार करने वाले विचार में बात चीत करते समय कुछ विचार भेद होगया जिस से समस्त चित्र विचित्र रूप में परिणत हो गया। एक दूसरे के पास नहीं आता न कोई किसी को देखना ही चाहता है, प्रेम ने शत्रुता को अपनाया और हानि पहुंचाने के लिए अपना बल बढ़ाया एक के सामने आने से दूसरा दुख मानता है। भूतपूर्व मित्र को शत्रु जानता है, जो सर्वदा संयोग से रहते थे वियोग की बात को कभी नहीं सहते थे, वह आज अल्पमेल से भी घबराते और दर्शन से शर्माते हैं, ऐसी अवस्था में यह ही कहना उचित है कि यह सब खेल केवल विचार के हेरफेर का है। काल की गति किसी को एकान्त में नहीं रहने देती समता से इसकी शत्रुता है, काल विकराल है। प्रत्येक प्राणी इस से बेहाल है इस को करुणा कहां, न यहां न वहां। यह थोड़ा हंसा कर

बहुत रुलाता है। संसार को विषय वासनाओं में फंसा कर मुग्ध बनाता है ॥

इस अन्तरवर्ती आलाप को छोड़ कर पुनः प्रकृत विषय का अनुसरण किया जाता है। इस विचार का आधार अन्तरात्मा है। वहां से इस का उत्थान पुनः अन्तःकरण में स्थान, तत्पश्चात् शरीर में आयान और पुनः प्रवृत्ति का मनुष्य को ध्यान होता है। कोई जाने अथवा न जाने क्रम यही है इस विचारधारा की गति अत्यंत सूक्ष्म है सब की समझ में नहीं आ सकती है। परमेश्वर के संकल्प से यह अद्भुत् विचित्र संसार खड़ा हो गया है इस में किसी प्रकार क्रमापेक्षित नहीं है। इस की स्थिरता और विनाश भी उस के ही आधीन है। मनुष्य के विचाराधीन उत्तम, मध्यम, अधम गृहादि का निर्माण, अनेक प्रकार की वाटिका, उपवाटिका आदि स्थानों का मनुष्य समाज के विनोदार्थ विधान, रेल तार का विस्तार, नदियों पर लोहे के पुलों का प्रचार, समुद्रयात्रार्थ जलयानों का प्रसार, गमनार्थ आकाश मार्ग में विमानों का संचार दर्शन यह सिद्ध कर रहा है कि यह सब कुछ मनुष्य के विचारों का ही आकार है। किंचित् आप ऊंचे हो कर देखें तो पता मिलेगा कि कोई आता और दूसरा जाता है, कोई आसीन है और कोई खड़ा है, एक हंसता है और दूसरा रोता है। कालिज, स्कूल, गुरुकुल, विद्यालय, पाठशालाओं में विद्यार्थी पढ़ते और अध्यापक पढ़ाते हैं, कोई पास हो तो प्रसन्न होता है और कोई फेल हो कर दुःख से रोता है, कोई जागता है और कोई सोता है। मेरे मित्र! कभी सोचा है कि यह क्या हो रहा है? यह

केवल विचार का तार है, जो प्राणिमात्र को अपने बन्धन में ला कर नचा रहा है, जब इस का लय हो जाता है तब समस्त प्राणिवर्ग सो जाता है पुनः इस के गति में आने से गतिमान् हो जाता है । यदि ज्ञान पूर्वक इस का विलय हो जावे तब मोक्षपद का अधिकारी हो जाता है । इस कथन का निष्कर्ष-निचोड़ यह है कि मृत्यु के समय मनुष्य के विचार पुञ्ज रूप में जब सामने आते हैं तब जीवात्मा उधर का रुख़ ले लेता है यह समय अति विकट, अति विषम सब के लिए समान है इस का संभालना ही बुद्धिमत्ता और यथार्थ ज्ञान है ॥

प्रश्न—संसार में तो यह देखा जाता है कि मनुष्य की चेष्टा तो इस के विचाराश्रित है, परन्तु यात्री कुछ सामग्री अपने साथ अवश्य ही लेता है । शरीर से निकलते समय जीवात्मा के साथ कौन वस्तु जाती है ?

उत्तर—

विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥८७॥

यह उपनिषद् का वचन है कि जीवात्मा निर्याण के समय विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा को साथ ले जाता है विद्या, ज्ञान, पठन पाठन से प्राप्त किया हो अथवा सत्संग से, जिस प्रकार का वह अपने यत्न से उपार्जन करता है उस के सूक्ष्म संस्कारों की अन्तःकरण में आभास रूप से आत्मा में प्रतीत होती है अनुकूल सामग्री के मिलने से अल्पयत्न करने पर वह अपने बल को बढ़ाने लग जाते हैं । प्रतिकूलता से वह तिरोहित रहते हैं नष्ट कदापि नहीं होते । आप ने स्वयं देखा या सुना होगा कि कोई बालक अल्पायु में ही विद्याध्ययन में बड़ा चतुर संलग्न

थोड़े ही अभ्यास से अधीत विषय को अन्तःकरण में अंकित कर लेता है और फिर वह विस्मरण नहीं होता । ऐसा प्रतीत होता है कि वह पूर्वाभ्यस्त विषय को (जो किसी कारण से भूल गया था) स्मरण कर रहा है, मनुष्य के अन्तःकरण की भूमि में सहस्रों प्रकार की विद्याओं के बीज विद्यमान हैं, उन सब को सब नहीं जान सकते हैं, और न ही सर्व विद्याओं अथवा गुणों का सम काल में प्रादुर्भाव या तिरोभाव ही हो सकता है। उचित समय उपर्युक्त सामग्री की सहायता से उन का प्रकाश होने लगता है । जीवात्मा के नित्य होने से इस परंपरा का आदि नहीं है जैसे भूमि में औषध के अनेकशः बीज पूर्व से ही होते हैं किन्तु कोई बसन्त के आते ही पुष्प-फल पत्र से प्रकट हो जाते हैं और किसी को वर्षा काल अनुकूल होता है और कई ग्रीष्म ऋतु में फलते फूलते हैं। न होने वाली वस्तु का आविर्भाव और होने वाली का सर्वथा अभाव कदापि नहीं हो सकता। इस से यह जाना जाता है। कि अध्यापक बालक को पढ़ाता नहीं, प्रत्युत् अभ्यास कराता है । अभ्यास की परिपकता के साथ २ वह विषय जिस को वह जानता और जतलाना चाहता था, परिपक्व हो कर सामने आ जाता है। यह ही दशा नृत्य और गान की गुणवान् और ज्ञानवान् की है, किसी ने अभ्यास की सहायता से अपने को पहलवान् बनाया और दूसरे ने जल तरण कौशल से सागर में जहाजों को चलाया, कोई अभ्यास से युद्ध विद्या विशारद हो कर सेनापति बन जाता है और दूसरा राज विद्या विधि के अभ्यास से राजा महाराजा कहलाता है ॥

इस से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान या बोध की आभा जीवात्मा के साथ (जिस को उस ने आदर के साथ संगृहीत किया था) बन जाती है अत एव अध्ययन के साथ २ जो अध्यापक या माता पिता बालक की प्रवृत्ति को देख भाल कर जांच पड़ताल करने में चतुर और सावधान होते हैं वह उस को उसी विषय में लगाते और उसी मार्ग में चलाते हैं जिस ओर उस बालक की मनोवृत्ति का रुख़ होता है। बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरीक्षण करना साधारण पुरुषों का काम नहीं। इस के लिए बड़े अनुभवी पुरुषों की आवश्यकता होती है जिस देश में इस प्रथा का प्रचार होता है वहां बड़े २ विद्वान् गुणवान्, वीर, योद्धा, नीतिनिपुण और वैज्ञानिक उत्पन्न होने लगते हैं उन की महत्ता से देश, जाति और मनुष्य समाज की कीर्त्ति और गौरव पूर्णचन्द्र के समान प्रकाश में आ जाता है यही कारण था कि प्राचीन आर्य जीवनकाल में वर्णव्यवस्थाकी मर्यादा विद्या विशारद, राग द्वेष शून्य, हित शासक, त्यागी देशानुरागी आचार्य के अधीन होती थी उस समय के विद्वानों की यह उपाधियें थीं जो देव, पितर, मुनि, महामुनि, ऋषि, महर्षि, योगी, योगीराज और व्यास आदि नामोंसे प्रसिद्ध और विख्यात थीं। परन्तु आज इसका सर्वथा अभाव है इस निमित्त से ही देश पराधीन और लौकिक ऐश्वर्यसे यह सर्वथा विहीन है। बालक की इस स्वयंसिद्ध प्रवृत्ति के विज्ञान में, जिस को वह साथ लाता है, दूसरे देशवासी कुछ परिचित हो गए हैं, उन के उत्थान का कारण भी यही है॥

दण्डी विरजानन्द जी महाराज को इस का अनुभव था

उन के पास अनेक विद्यार्थी शिक्षा पाते थे । वह अपने उन विचारों को जो उन की मनोवृत्ति में चक्र लगाते रहते थे, किसी के अधिकार में देने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी की प्रवृत्ति को निहारते थे, किसी को योग्य न जान कर अपने भावों को प्रकट नहीं करते थे । उच्चाशय ऋषि दयानन्द जी के आने से उन की निराशा आशा के रूप में बदल गई । उन को समय २ पर सर्व वृत्तान्त सुनाते रहते थे, जिन से दीप शलाका की रगड़ के समान ऋषि की मनोवृत्ति दीप्यमान हो गई । पुनः वह आजीवन अनेक उपद्रवों के आने पर भी शान्त न हुई । इस उज्ज्वल दृष्टांत से आप विचार लें कि उत्पद्यमान बालक कोई विशेष सामग्री अपने साथ लाता है, जो उस की चेष्टा को उस ओर झुकाती ही रहती है, परन्तु ऐसे पुरुष विरले ही होते हैं, जो अपने अद्भुत चमत्कारों से संसार का कल्याण करते हैं, अन्य पुरुष उन के अनुगामी हो कर अपने को भी सुख भोग भागी बना सकते हैं, यदि प्रेम से यत्नवान् हों । भारत निवासियों ने तो प्रथम पठन-पाठन की रीति पर आघात कर के अपनी भूल का पूरा परिचय दिया । कुछ इदानीं विद्या का विकाश हुआ है, तो केवल नौकरी करना ही अपना ध्येय बना लिया है । ऐसी अवस्था में जब वृत्ति स्वच्छन्द ही नहीं तब उन्नति का मार्ग कैसे हस्तगत हो सकता है ? दूसरे जीवात्मा के साथ वह कर्म जो सजीव हैं, विद्या के समान जाते हैं। कर्म का यह स्वभाव है कि बिना फल दिए नाश को प्राप्त नहीं होता । कर्म की गति बड़ी गम्भीर है, मनुष्यों को इस का साधारण ज्ञान हो सकता है विशेष ज्ञान परमेश्वर को ही है—

लोकोऽयं कर्मबन्धनः ॥८८॥

यह गीता का वचन है कि यह प्रत्यक्षी भूत समस्त चित्र विचित्रसंसार का बन्धन है, इस की स्थिति का कारण कर्म ही है। सुख दुःख कर्माधीन हैं, यह शास्त्र सिद्ध और लोकप्रसिद्ध बात है, परन्तु इस कर्म की तारतम्यता में सहस्रशः प्रकार के सुख दुःख के भेद का दर्शन हो रहा है, अत एव यह कहना कि अमुक कर्म का फल यह सुख या दुःख है अति कठिन है। साधारण रीति से यह कहना कि अशुभ कर्मों का फल दुःख और शुभ कर्मों का फल सुख, तात्कालिक हो या समयान्तर में ठीक होगा। परन्तु इस आचार शास्त्र की परीक्षा बहुत सूक्ष्म है इस का यह कारण है कि एक समाज जिस कर्म को शुभ जानता है, दूसरा गिरोह उस कर्म को अशुभ माना है, तो पुनः साधारण जनता को इष्टानिष्ट कर्म की विवेचना कैसे हो सकती है, जब कि बुद्धिमान् जनसमुदाय भी इस बात के समझने में विकल सिद्ध हो रहा है। कर्म और इस के विशेष भेद का निरूपण प्रसंगागत आगे किया जावेगा। ऐसा सूक्ष्मतत्त्व जो इस अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना, स्थिति और भंग में सहकारी कारण हो, अल्पज्ञ मनुष्य के विचारपथ में कैसे आ सकता है? साधारण रीति से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद से कर्म तीन प्रकार का है, इस की परीक्षा का प्रकार यह है। यथा दान करने की शास्त्र आज्ञा दे रहा है, यथार्थ ज्ञानवान् इस से सहमत है। देश, काल और पात्र की पहचान लोकहित के ज्ञान से लोक यश और कीर्त्ति से वे बेलाग हो कर ईश्वराज्ञा पालनार्थ जो दान करता है वह उत्तम कर्म वीर्यवत्तर है, इस

से संसार का बहुत ही उपकार होता है। वैभव सम्पन्न हो कर लोभवशात् चाहे कोई निन्दा करे या स्तुति किसी भी लोक-हित के निमित्त दान नहीं देता है वह कृपण अनिष्ट कर्म करता है इस कर्म की वृद्धि से जनसमाज निर्बल हो जाता है पुनः संभलने में नहीं आता जब तक इस मार्ग का सुधार न किया जावे। कृपणता दोष के समान अन्य कोई दोष नहीं है। लोग प्रातःकाल इस का नाम नहीं लेते हैं, अत एव मनुष्यों को यथाशक्ति दान करना ही चाहिए। लोकैषणा को समक्ष में ला कर बुद्धि पूर्वक उचित स्थान में दान देना मिश्रित या मध्यम कर्म कहलाता है। उचितानुचित्त विचार विहीन जो दान किया जाता है, उस की गणना पुण्य में नहीं है, प्रत्युत् पाप में है यह संसार के लिये हानिकारक ही है। इसी प्रकार अन्य कर्मों की भी व्यवस्था जान लेनी चाहिए॥

अब पूर्व प्रज्ञा का व्याख्यान किया जाता है—

स्मृतिसंस्कारयोः समानविधानत्वे हेतुरिति ॥८६॥

स्मृति और संस्कारों के ऐक्य करने में जो हेतु है, उस का नाम पूर्व प्रज्ञा है। यह पूर्व जन्मानुभूत समस्त संस्कारों का अत्यन्त ही सूक्ष्मांश है। शतशः जन्म और सहस्रों वष के काल का व्यवधान भी इस को मन्द नहीं कर सकता। संस्कारों के अनेक भेद होने पर भी यह एक ही है। समस्त संस्कार इस के ही अधिकार में रहते हैं। पूर्व जन्म के शरीर-कौशल को जगाने और स्मृतिपथ में लाने के लिए यह प्रज्ञा ही सहायक है। पूर्व शब्द के सहयोग से साधारण लौकिकबुद्धि से कुछ इस का भेद हो गया है, जिस प्रकार विशेष पदार्थ

नित्य द्रव्यों में ही रहता है, तद्वत् पूर्व प्रज्ञा प्रति जन्म भेद विधायक नियम के उदय करने में सहकारी कारण है ॥

दृष्टान्त से समझें—किसी जीव को कर्माधीन कपिकलेवर मिला। पुनः सहस्र वर्ष तक कर्म वायु के आघात से मनुष्य पश्वादी के शरीर के साथ सहयोग होता रहा। भिन्न २ शरीरों के भेद भोग क्रिया, तज्जन्य संस्कारों के चित्र साक्षी आत्मा की सन्धि में मनोमय कोश में विद्यमान हैं, इस के पश्चात् उस को फिर बानर का शरीर प्राप्त हुआ, इस के मिलते ही समस्त क्रम भंग हो कर सहस्र वर्ष पूर्व के संस्कारों की स्मृति के साथ एकता हो गई और अन्य शरीरों के संस्कारों का विलोप प्रसंग हो गया, ऐसा होता ही है। विचार करने से समझ में आता है कभी २ ऐसा होता है कि बैठे हुए पुरुष को उस बात का ध्यान जिस को उस ने तीस वर्ष पूर्व देखा सुना या किया था, एका एकी होने लगता है और समस्तव्यवहार सामने आते जाते हैं। ठीक तो यह था कि उस को एक दो दिन, मास दो मास, वर्ष दो वर्ष की बात चीत का विचार उदय होता परन्तु ऐसा न हो कर सर्व पूर्वानुभूत विचारक्रम का अस्त हो कर तीस वर्ष पूर्व दृष्टश्रुत और कृतसंस्कारों का वर्त्तमान काल के साथ कैसे अन्वय हो गया? व्यवधान रहित पूर्वापर इस बात का द्योतक है कि पूर्व प्रज्ञा को अपने कार्य सम्पादन में व्यवधान का होना न होने के तुल्य है। अथवा शरीर से पृथक् होते समय सर्व संस्कारों को संघटित कर के पूर्व प्रज्ञा अग्रगामिनी हो जाती है, उस शरीर में ही जा कर स्मृति संस्कारों की समानता के निमित्त नेतृत्व का काम करती है। इस प्रकार से तो का काल

व्यवधान नहीं रहता, शरीर से निःसरण समय जो विचार सामने आया वैसा ही स्थान पाया। इन दोनों विचारों में कोई विशेष भेद नहीं है, एवं काल के समान देश और जाति का भी अन्तराय नहीं है। जीवात्मा जिस शरीर से ज्ञान और कर्म का सम्पादन करता, पूर्व किया था, या भविष्य में करेगा, इन दोनों का सारांश समान होने पर भी भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ कौशल को दिखाता है। इस के न मानने से विद्या और प्रज्ञा में कोई भेद न होने से इस का संग्रह व्यर्थ हो जाता है, अत एव कोई भेद का नियम इस से सिद्ध अवश्य ही होना चाहिए। आप दृष्टान्त से समझें—किसी ने अन्य पुरुष के दश वर्ष पूर्व दर्शन किए थे, मेल जोल के संस्कार प्रायः लुप्त समान हो गए थे, एक ने दूसरे से कहा कि मेरी आप से कहीं भेंट हुई है, दूसरे ने कहा कि हुई होगी प्रत्यय नहीं है, इस आलाप के अनन्तर ही विद्युत् रेखा के समान पूर्व परिचय दिलाने वाली और समस्त संस्कारों को जगाने वाली पूर्वप्रज्ञा की सहचारिणी मनोवृत्ति के प्रकट होने से हंसी और प्रसन्नता के साथ आह-हा इस शब्द का उच्चारण कर के परस्पर आलाप करने लगे कि मित्र! अमृतसर में दीपमालिका के समय समागम हुआ था, प्रेम से मिले दोनों नवपुष्प के समान खिले। पश्चात् कहां बैठे थे, कहां आहार किया था, चलते समय परस्पर क्या सन्देश दिया था? सर्व प्रकार के संस्कार स्मृतिपथ में आने लगे इस प्रकार पूर्व प्रज्ञा देश, काल और जाति के व्यवधान को भंग कर के तत् तत् शरीर कौशल को जो सुप्त के समान था, जागृतावस्था में लाती है॥

अब इस के आगे मरण का निरूपण होगा—

प्राणवियोगानुकूलव्यापारो मरणमिति ॥६०॥

प्राण का सर्वथा वियोग हो जाने का नाम मरण है 'जब लग श्वासा तब तक जीवन की आशा' इस लोकोक्ति को इति शब्द चरितार्थ कर रहा है। पूर्व में अविद्याधीन सूक्ष्म और स्थूल शरीर के संयोग को जन्म कहा गया है, तो अर्थापत्ति से इन के वियोग की ही मरण संज्ञा है, यह सिद्ध हो जाता है। पुनः प्राणों के वियोग को मरण बताना कैसे ठीक हो सकता है? यद्यपि प्राण की गणना भी सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत ही है, तथापि समस्त शरीरचेष्टा का सहारा प्राण ही है और जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रकट रूप से शरीर का सहचारी है, अन्य शरीर के अवयव श्रम में आकर अपना २ कार्य छोड़ देते हैं, परन्तु प्राण सर्वदा जागरूक रहता है, अतएव उपनिषदों में प्राण की महिमा को कई एक गाथाओं में निरूपण किया है, इस कारण से प्राणवियोग को मरण कहा है। यह समस्त-सूक्ष्म-शरीर के निर्माण का सूचक है॥

मृत्यु बड़ी ही भयानक वस्तु है, इसके श्रवण से अन्तः करण व्याकुल हो जाता है। प्राणिमात्र को इस से त्रास है, यह शास्त्र दर्शा रहा है। इसका ध्यान आते ही सर्व प्रकार का प्रयत्न ढीला हो जाता है। अनेक कष्ट पाता और दुःख उठाता हुआ भी प्राणी जीवन की लालसा से मरने की इच्छा नहीं करता। डरता है, जिजीविषार्थ परमेश्वर से प्रार्थना करता है, जीवन के सब खेल को क्षण भर में बिगाड़ देता है, फिर रोने धोने से कुछ नहीं बनता। कौन बलवान् है जो इसका सामना

करे। कोई गुणवान् नहीं जो इसका आमना करें, इस से समस्त जगत् हारा है, इसका न कोई शत्रु है और न कोई प्यारा है, इसका आतंक सब पर बड़ा ही कठोर और समान है। यदि विचारदृष्टि से देखा जावे तो समस्त संसार इसका ही व्याख्यान है। प्राणी उत्पन्न होकर स्वयं मृत्यु की ओर चला आता है, और अन्त में उस ही में जा समाता है, इस से पता नहीं चलता है कि मृत्यु कठोर है या नरम, शान्त है या गरम। यह प्राणि-मात्र का शत्रु है या मित्र, यह अत्यन्त मलिन है या पवित्र, यह मृत्यु प्रकाश है या अन्धकार, यह कोई सार वस्तु है या असार, समझ में नहीं आता। यह कोई देवस्वरूप है या पापी कुरूप, यह कोई शान्तिप्रद छाया है या अत्यन्त कठोर धूप, यह कोई सच्चरित्र सबका साथी है या यह साधुभाव सन्मार्ग का विघाती है। क्या यह सबको सताता है या सता कर सन्मार्ग में लाता है? जाना नहीं जाता है, यह मृत्यु सच्चा शासक है या नाशक है, यह तम के सदृश सब को रोकता है या उजाले के समान सर्व का प्रकाशक है, इस मृत्यु का ध्यान आते ही परमेश्वर याद आता है अथवा वह भूल जाता है, क्या इसका स्मरण विकलता को बढ़ाता या शान्ति को दर्शाता है? कुछ कहा नहीं जाता है॥

लोग तो इसको भूल जाते हैं परन्तु यह उसको ध्यान में रखता हुआ उसके पीछे ही चला आता है। कोई विचार नहीं पाता, कि इसका आक्रमण प्राणी पर कैसा होता है, यह कैसी अनोखी बात है! क्या ही विचित्र भूल है!!! कि मनुष्य अपने पक्के और सच्चे साथी को नहीं पहचानता है, जिस प्रकार का

वह है न उसको वैसा जानता है, यह भारी अज्ञानता है। प्रत्येक प्राणी इस से मुख मोड़ता है परन्तु यह किसी का साथ नहीं छोड़ता, और न किसी से अपना सम्बन्ध ही तोड़ता है। यह अनिवार्य है न हटाने से हटता और न मिटाने से मिटता है। समय आने पर मैदान में आ डटता है। कोई उपाय नहीं जो किया जावे। कोई नहीं बता सकता कि इसका विदीर्ण किया हुआ किस प्रकार सिया जावे। जीवनार्थ कौनसा बहुमूल्य पदार्थ है जो रिशवत में दिया जावे। कोई स्थान विशेष हो तो बताने से वहां जाय अथवा चिरकाल से अन्धकाराच्छादित हिमगिरि गहरी गुहा में जा समायें या गम्भीर जलाशय समुद्र के तल में अपना निवास बनायें। डाक्टर, वैद्य हकीमों ने बड़ी बड़ी उत्तम औषधियों को बनाया, धन कमाया और नाम पाया। मेरे मित्र! पूछो तो सही कि मृत्यु से बचने का भी प्रयोग हाथ आया? इस प्रश्न का उत्तर महाराजा सिकन्दर ने (जो यूनान का रहने वाला बड़ा ही प्रतापी था, जिस के पास बड़े २ योग्य चिकित्सक विद्यमान थे, मरने के पश्चात् कफ़न से दोनों हाथ खाली बाहर निकाल कर) दिया था। मृत्यु के प्रश्न का यथार्थ उत्तर मनुष्य अपने जीवनकाल में कैसे दे सकता है? उसका संकेत था, समय है। समझो, बेसमझी के चक्र में मत आओ, पश्चात् पश्चात्ताप करोगे सही, परन्तु हाथ कुछ नहीं आवेगा। व्यर्थ की उधेड़ बुन में सब समय बीत जायगा। कैसा उत्तम उपदेश है बड़ा ही सुन्दर सन्देश है॥

मनुष्य यदि कुछ विचार से काम ले तो लोक और पर-लोक दोनों का ही सुधार हो सकता है। बालक, युवा, वृद्ध,

स्त्री और पुरुषादि के लिए मृत्यु समान है, इस लिए समवर्त्ती इसका नाम है। इसकी दृष्टि सब पर एक जैसी पड़ती है, यह तो पक्षपात रहित है परन्तु मनुष्यों का मन भेदभाव सहित है, यही कारण है कि यह किसी को डराता और किसी को हंसाता है, इस को ही अविद्या कहते हैं। जो अवश्यंभावी वस्तु से भय का होना और भयभीत होकर रोना, इसने ही एक राजगृह में उत्पन्न बालक को सन्मार्ग दिखाकर महात्मा बुद्ध बनाया पुनः वह सांसारिक मोह ममता के जाल में न आया और फिर उस पवित्रात्मा ने समस्त जीवन लोकहित में लगाया। उच्चात्मा महात्मा शंकर के अन्तःकरण को किसने उज्ज्वल बना दिया? इस का ही उपदेश था जिस ने संसार के माया जाल से निकाल लोकोपकार करने में आगे बढ़ा दिया। महाराजा अशोक के शासनकाल में जब कि बौद्धमत सन्मार्ग से दूर होकर मनमानी कल्पनाओं से, जो अपना पूर्ण बल दिखा रहा था, इस विद्वान् ने बड़े ही उत्साह और पुरुषार्थ से काम लिया। जीवन मृत्यु के नियम को समझने वाले पुरुष को भय नहीं होता। वह सदैव विद्या में जागरूक है, उपर्युक्त महापुरुषों की गाथायें लोकसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध हैं, परन्तु सम्प्रति मूलशंकर बालक को (जो भविष्यत् में ऋषिपद के अधिकारी हुए) इस मृत्यु ने ही मार्गहस्तरेखा निर्देश के समान दिग्दर्शन कराया, फिर उसने पूर्व शुभकर्मों की सहायता से उस उपदेश को मन से न भुलाया, इसी विचार ने उसको गृह से निकाला, इसी ने उसको जा दिखाया हिमालय, इसी ध्यान में वन २ फिरे, कभी हारे, कभी चले और कहीं थक कर गिरे, परन्तु मृत्यु से कैसे

बचूं इस निर्दिष्ट उद्देश्य से न हटे। कुछ समय खेद में बीता और कुछ दिन आनन्द में कटे, अन्त में मृत्यु पर विजय पाकर संसार के उपकारार्थ मैदान में आ डटे, यह सब को प्रत्यक्ष ही है, ऐसे महानुभाव यत्र तत्र सर्वत्र समय २ पर होते ही रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि मृत्यु इतनी भयानक नहीं, जितनी इसको लोग जानते हैं, यदि यह न हो तो जीवन नीरस, कटु और भार हो जावे ॥

क्या आपको कठोपनिषद् यह नहीं जताती है कि नचिकेता ने मृत्यु के उपदेश द्वारा ही मोक्षपद को प्राप्त किया था। वहां उस गाथा का प्रयोजन कुछ अन्य ही हो, तथापि मृत्यु का उपदेश तो प्रसिद्ध ही है। वहां नचिकेता और यम के समक्ष मृत्यु संवाद है जिस मृत्यु की घटना से महात्माओं को उपदेश मिलता है। यह निर्विवाद है कि मृत्यु और परमात्मा का इस अंश में सीधा सहयोग है। मृत्यु की याद से परमात्मा का ध्यान आता है, और उसको भूल जाने से वह भूल जाता है, अत एव यह शास्त्र का शासन है कि परमात्मा का संप्रमोष ही मृत्यु है, और उसके यथार्थ स्मरण से मृत्यु अमृत के रूप में परिवर्तित हो जाता है ॥

वास्तव में मृत्यु क्या वस्तु है ?

अविद्यैव मृत्युरिति ॥६१॥

अविद्या के विना मृत्यु कोई वस्तु नहीं है। जहां अविद्या का साम्राज्य है वहां ही मृत्यु की सत्ता का सद्भाव है। अविद्या के दूर हो जाने से फिर मृत्यु के हटाने का कोई उपायान्तर नहीं है। इसी कारण से ईशोपनिषद् में अविद्या को मृत्यु और

विद्या को अमृत कहा है। वहां पर महानुभाव शंकर का यह कथन है कि–विद्याविरोधी पदार्थान्तर कर्म का नाम अविद्या है। इस से भी यह ही सिद्धान्त सिद्ध होता है, कि वही कर्म बन्धन का कारण बनता है, जिसको अविद्या ने सबल किया हुआ है। जब विद्या के प्रकाश से अविद्या का नाश हो जाता है, तब कर्मक्षीण और बलहीन होकर फिर जन्म का कारण नहीं हो सकता, इससे जन्म ही मृत्यु सिद्ध होता है, इसके साथ २ मृत्यु स्वयं खिचा चला आता है, और फिर वह अपना बल बढ़ा कर इसको साथ ले जाता। उस समय मनुष्य को दुःख होता है, इससे बचने का उपाय तो करता है परन्तु कोई उपाय दृष्टि में नहीं आता। यदि दुःख न हो तो मृत्यु कोई भी वस्तु नहीं, इस दर्शन से तो दुःख ही मृत्यु है यह प्रकट होता है। न्यायदर्शन में एक सूत्र इस सिद्धान्त को ही स्थिर करता है, उसका यह आशय है कि मिथ्याज्ञान अविद्या ही दुःख का बीज है, वह दोष, प्रवृत्ति, जन्मशाखा पुष्प के मार्ग से होता हुआ दुःखरूप फल को लाता है। प्राणिमात्र इससे पीड़ित हुआ हाहाकार मचाता है, इससे बचने की इच्छा करता हुआ छुटकारा नहीं पाता॥ यह कैसे हो सकता है जबकि विचार भङ्ग और प्रयत्न व्यङ्ग हो। मूलोच्छेद के विना मूली की सत्ता कदापि नहीं जा सकती। अत एव तत्त्वज्ञान–यथार्थ दर्शन से ही मिथ्या ज्ञान दूर होता है, उपायान्तर कोई नहीं है, यह शास्त्र का निश्चितवाद है। इस लिए अविद्या और दुःख में शब्द मात्र का भेद है, वास्तव में नहीं। यह ही कारण है कि सांख्यदर्शन में दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति का नाम ही परमपुरुषार्थ

कहा है। दुःख से व्याकुल हुआ मनुष्य अपने को निर्बल मानता हुआ और अन्य किसी को भी दुःख के हटाने में सबल न जानता हुआ, जगन्नियन्ता का स्मरण ही अपने लिए हितकर पहचानता है। बड़े २ अभिमानियों का अभिमान दूर, नेत्र आंसुओं से भरपूर, न कथन करने की शक्ति और न मन में प्रभुभक्ति, केवल चक्षुओं से निहारता है, परन्तु किसी को हितकर न जान कर हिम्मत हारता है, सांसारिक विषयभोग की जो वासना बन चुकी थी, उसका व्यामोह सताता है, इस उलझन से कैसे अपने को बचावे? कोई उपाय दृष्टि में नहीं आता। सर्व बन्धुवर्ग आस पास है, परन्तु तत्काल वह सब से निराश है, मृत्यु इधर उधर चक्र लगाता है, परन्तु कोई नहीं जानता कि किधर से आता है? कोई सावधान होकर रोकने वाला हो तो रोक ले, कोई बलवान् हो तो टोक ले और पूछ ले कि तुम कहां से आए? कहां को जाते हो? और किस से मिलना चाहते हो? कुछ भी तो कहो, क्यों नहीं बताते हो! कुछ पता नहीं चलता कि इसको भीतर से कौन दुर्बल करता जाता है, न मुख से बोलता और न हाथ ही हिलाता है॥

मेरे मित्र! उससे कुछ तो पूछो कि तुम क्यों निढ़ाल विकल या खुशहाल हो? कुछ तो कहो कि तुमको कौन सता रहा है? हम सबको छोड़ कर अकेले तुमको ही अपने साथ कौन ले जा रहा है? न बैठा है और न खड़ा है पैर पसार कर पड़ा है। साथी रोते और व्याकुल आंसुओं से मुख को धोते हैं। समझाने वालों का काम है कि वह इनको समझावें परन्तु उनको ज़ो खेद हो रहा है उसको एकाएकी वह कैसे मिटावें।

या आपने कभी सोचा कि इनका रोना अपने स्वार्थ के लिये है या उसके निमित्त ? इसका ठीक उत्तर यह कि सब स्वार्थ के दास हैं, ऐसे पुरुष अति विरले होते हैं जिनको परहितचिन्ता का ध्यान होता है। बस इनका रोना भी (चाहे वह किसी प्रकार का हो) अपने स्वार्थ के ही लिए है ॥

देखा मित्र ! वह तो अपने कष्ट को मिटा अचिन्त्य हो कर पैर पसार, सुख की निद्रा में सो रहा है अब उससे इनका कुछ हित नहीं बनता है, अत एव उसको सामने लाकर रोते हैं संसार को अपना सुख चाहिए, दूसरों की इसको चिन्ता नहीं है। जब रो कर थके और हारे, तब कुछ वार्त्तालाप करने लगे विचारे, इस समय जो कुछ सम्भले हुए हैं उनसे कोई पूछे कि मित्र क्यों रोते थे ! अजी क्या कहें ? मेरे पिता का देहान्त हो गया। नहीं, मित्र ! देह तो पड़ा है इसका अन्त कहां ? मत जाने दो, गृह में ही रक्खो, यह ही तो तुम्हारा सम्बन्धी था, वह विद्यमान है, और यदि आत्मा के लिये रोते हो तो वह अप्रत्यक्ष वस्तु है जिसका तुम्हारे साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं, व्याकुल होना और रोना व्यर्थ है ॥

संसार में "मर गया" यह शब्द प्रचलित है, यथार्थ में "पथिक था अपने घर गया" यह कहना चाहिये। आत्मा संसाररूपी नाटक का एक पात्र बनकर क्रीडार्थ कुछ समय के लिये आता हैं, और अपना काम दिखा कर फिर अपने स्थान को जाता है। जैसे—पक्षी प्रातः इधर उधर भ्रमणार्थ चले जाते हैं सायं समय अपने २ नीड (घोंसलों) में आ जाते हैं, पुरुष अपने गृह से किसी अन्य नगर को जाते हैं, वहां जहां तहां घूम कर

सायंकाल अपने स्थान को चले आते हैं। यही दशा आत्मा की है अत एव अधिक रोना हानिकारक ही है लाभ कुछ नहीं। मनुष्य को समझ से काम लेना चाहिए, जिस चोट को खाकर वह बेसुध हो गया है, यह आज नहीं तो कल सब पर पड़ने वाली है, इसको निश्चय करो और पाप से डरो, विपरीतकारी हो कर न्याय से मत लड़ो, पछताओगे और हारोगे। यह मृत्यु संसाररूपी नाटक का अन्तिम दृश्य सारभूत–निष्कर्ष है, अद्भुत आश्चर्यरूप, विचित्रस्वरूप परमात्मा की ओर सदैव संकेत करता है। धीर, गम्भीर, पुरुषों के लिए भयास्पद नहीं हो सकता, साधारण पुरुषों के लिए (जो वास्तव में इस नियम को नहीं समझते हैं) भयप्रद है॥

यह बड़ी ही प्रचण्ड शक्ति है, इसके यथार्थ स्मरण से क्लेशों का निराकरण होता है और जो इसको भूले वह कैसे फले और फूले। जिस प्रकार नदी के दो तट होते हैं, उनके मध्य में जल का प्रवाह बहता है, उस प्रवाह का नाम ही नदी है, जल ऊपर से आता और आगे बढ़ता जाता है। जन्म मरण जीवन रूप प्रवाह के दो तट–किनारे हैं, उत्पत्ति और विनाश भी इस का ही दूसरा नाम है। जीवन के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के उपायों को रचता है, सांसारिक वस्तुओं को उपलब्ध करके प्रसन्न होता है, और जब मृत्यु उसके समस्त खेल को उसकी इच्छा के विपरीत बिगाड़ देता है तब रोता है। ऐसा होना ही चाहिए जब कि यह अपनी बेसमझी से आगमापायी पदार्थों के तत्त्व को न जान कर उन से अत्यन्त ही स्नेह जोड़ने लगा, तब ही तो सोया हुआ क्लेश जगा। यह पुरुष अपने दुःख

का निमित्त स्वयं ही है ॥

महात्मा कृष्णचन्द्र जी महाराज के वचन को स्मरण करो, गीता के अनुशासन को पढ़ो, वहां लिखा है कि आत्मा ही अपना शत्रु और मित्र है, अनिष्ट कर्मकारी स्वयं अपना शत्रु और इष्टकर्मकारी अपना मित्र है। इस से यह ध्वनि निकलती है कि शत्रुता की मर्यादा का उत्थान प्रथम अपने अन्तर्गृह या देश से होता है, पश्चात् अपने साथ शत्रुवत् व्यापार करने वाले पुरुष के बाहर से शत्रु और मित्रवत् व्यापार करने वाले मित्र स्वयं ही अनेक उत्पन्न हो जाते हैं। भारतवर्ष में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने उत्पन्न हो कर यह सिद्ध कर दिया कि जो अपना मित्र आप हो जाता है, उस में कितनी शक्ति होती है। बन में विराजमान हैं, रावण से युद्ध आरम्भ है, उन में मिलाने की शक्ति कितनी विचित्र है, जो सामने आया उसको मित्र ही बनाया और जो शत्रु के रूप में सामने आया उसको भी अपनाया या नीचा दिखाया। अयोध्या से न सेना को आने की आज्ञा दी, और न धन की ही याचना की। समस्त सामग्री को बाहर से ही एकत्रित किया, कैसी ज्ञान की शक्ति है और कैसा तपोबल है जिस के आगे रावण का समस्त प्रताप और वैभव निर्बल है। एक समय है, बन में पर्णकुटी बनाकर रहते हैं, मधुर भाषी, सत्यवादी कभी भी कटुवचन मुख से नहीं कहते, और वह ही समयान्तर में सर्वांगपूर्ण विराट् सेना को लेकर रावण के प्रदेश में वीरता के वेष में जाकर उसको अपने किए का फल चखाते हैं। समस्त राज्य उस के भाई विभीषण को देकर पुनः अयोध्या का मार्ग लेते हैं। ठीक प्रतिज्ञा के समय

महात्मा भरत से आकर मिलाप करते हैं ॥

अब इस हिन्दूजाति की दशा को देखकर स्वाभाविक प्रश्न होता है कि यह प्रतिवर्ष दशहरे के अवसर पर महाप्रतापशाली विद्याव्रतधारी सत्यव्रती महात्मा राम के जीवन चरित्र का अवलोकन करती हुई दुर्दशा के गर्त में कैसे जा गिरी ? अपना शत्रु आप ही बन बैठी, कितने शोक की बात और ग्लानि का विषय है। पता नहीं चलता कि इसने किस दृष्टि से उस नाटक को देखा है, किन श्रोत्रों से सुना है, किस विचार से मनन किया है, कैसी धारणा है किस प्रकार की मति है, क्या विचित्र उलटी गति है, न पूर्वापर का ध्यान ही है, न बिगड़े बने का कुछ ज्ञान ही है। यदि यह कहा जावे कि इनका उनके साथ कोई संबन्ध ही नहीं है तो ठीक ही होगा। इस प्रसङ्गागत अन्तर्वर्त्ति आलाप को त्याग कर प्रकृतिविषय का अनुसरण किया जाता है ॥

छान्दोग्योपनिषद् में नारद का महात्मा सनतकुमार के प्रति प्रश्न है, जो नाम से आरम्भ होकर मृत्यु पर समाप्त हुआ है अन्तिम उत्तर यह है—

यदल्पं स मृत्युः, यो वै भूमा तत्सुखम् ॥६२॥

जो वस्तु अल्प है वह मरणधर्मा है, अथवा जो अल्पज्ञ है वह मृत्यु का सहचारी है। जो भूमा है–व्यापक है–जो अल्पज्ञता-दोष-रहित सर्वज्ञ है वह सुख स्वरूप अमृत है। परमात्मा की अपेक्षा संसार अत्यल्प, एक देशी और तुच्छ है, अत एव जीवात्मा जब तक अल्पज्ञता दोष से दूषित रहता है तब तक मृत्यु के आघात को सहता है। विशेषज्ञता से साधर्म्य,

वैधर्म्य-भेद-ज्ञान से प्रकृति के बन्धन से छूट कर मृत्यु से बच जाता है, इस लिए नारद के प्रति यथार्थ स्वरूप से अन्तिम यही उपदेश है कि सुखस्वरूप व्यापक ब्रह्म की उपासना का ही फल मोक्ष है। इस स्थल में संसार का नाम ही मृत्यु या मरणधर्मा सिद्ध होता है। इस विषय के साथ मिलता हुआ एक वेद में भी संवाद है—

न तदा मृत्युरासीत् ॥६३॥

एक समय ऐसा था कि तत्काल मृत्यु का भी सर्वथा अभाव था, यह औपचारिककथन तत्काल व्यवस्थ के बोधनार्थ ही है कि 'परमेश्वर के बिना उस काल का ज्ञाता अन्य कोई भी नहीं था' इस का सूचक है। इस वेद वाक्य का यह आशय है कि जब उत्पद्यमान वस्तु का सर्वथा अभाव था, तब मृत्यु की सत्ता का सहारा कौन होगा। जिस पर वह आक्रमण करे। म्रियमाण वस्तु की सत्ता ही मारक वस्तु को उत्पन्न करती है, उस के अभाव में उस का अभाव हो जाता है। संसार के समान मृत्यु भी उत्पद्यमान होने से विनाशी है, दोनों का समान धर्म होने से दोनों की एक ही संज्ञा हो जाती है। संसार को मृत्यु कहो या मृत्यु को संसार कहो कोई भेद प्रतीत नहीं होता। विशेषता केवल इतनी ही है कि उत्पद्यमान वस्तु यत्न-साध्य है, और मृत्यु उस के साथ स्वयं सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष सम है। यदि विचार दृष्टि से देखा जावे तो समस्त संसार मृत्यु का ही संवाद है, इस की समालोचना मनुष्यों को धीर बनाती और उस के असली उद्देश्य तक पहुंचाती है। जीवन का कोई भी क्षण ऐसा नहीं है, जिस में छिपा हुआ मृत्यु अपना

काम न कर रहा हो। जन्म का साथी जब अन्तिम क्षण में इस का साथ छोड़ता है, तब वह उस के वियोग में ऐसा बेहोश हो जाता है, कि फिर होश में नहीं आता । अन्य जब उस को बे सुध पड़ा देख कर रोते हैं अपने विचार में वह यही सिद्ध करते हैं कि मृत्यु का इस से वियोग न होता तब अच्छा होता। प्रियतम वस्तु का वियोग खेद को जगाता और उस का संयोग आनन्द को दर्शाता है, सांसारिक वस्तु के सदृश जब संसार से अंतिम क्षण में मृत्यु पृथक् हो जाता है, तो यह ब्रह्माण्ड अपने स्वरूप को खो देता है. पुनः जब मरने वाला ही कोई नहीं है तो मारने वाला कैसे हो सकता है । अतः एक के अभाव में अन्य का अभाव होना उभयथा अनिवार्य है । जिस प्रकार संसार सुख दुःख का स्थान है वैसे ही मृत्यु की संसार के साथ समानता होने से इस में भी सुख दुःख दोनों का समावेश है। केवल भेद इतना ही है कि जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से मृत्यु को परे हटाता है, वह प्रसन्न है और जिस को मृत्यु अपने बल से दूर फेंकता है वह रोता है। वियोग दोनों का अवश्यम्भावी है । अब इस गोरखधन्धे को तीन दृष्टान्तों से विशद किया जाता है—

प्रथम—नदी से पार जाने के लिए लोग नौका पर आरूढ़ होते हैं, परले तट पर जा कर वह स्वयं ही नौका को प्रसन्नता से छोड़ देते हैं । यदि किसी को जल प्रवाह के मध्य में नौका से उतारा जावे तो उस के लिए खेदकर होता है यहां पर इस को नौका छोड़ती है ॥

द्वितीय—रेल में यात्रा करने वाला पुरुष अपने निर्दिष्ट

स्थान पर पहुंच कर सब से प्रथम उतरना चाहता है, परन्तु यदि किसी मध्य के स्टेशन पर बलात् ट्रेन से पृथक् किया जाता है तो उस के लिए अत्यन्त ही दुःखप्रद होता है, यह सब को प्रत्यक्ष ही है। स्थान पर उतरना तो इष्ट है अन्यत्र नहीं ॥

तृतीय—कालिज में अध्ययन करने वाला विद्यार्थी उत्तम कक्षा में उत्तीर्ण हो कर सुयश के साथ बाहर जाता है। उस के लिए कालिज से पृथक् होना आनन्द का कारण है और यदि किसी अपयश के निमित्त से पृथक् किया जाता है, तब वह दुःखोत्पादक ग्लानि और हानिकर होता है ॥

अब आप विचारें कि पथिक को नौका का त्यागना और परला तट साधु जान पड़ता है, मध्य में नहीं, यात्री को प्राप्त व्यवस्था पर पहुंच कर रेल से उतरना इष्ट है परन्तु किसी मध्य के स्टेशन पर उतरने की इच्छा नहीं, और सुयश के साथ विद्यालय छोड़ना विद्यार्थी को अच्छा प्रतीत होता है अपयश से नहीं। ठीक इसी प्रकार मनुष्य का जन्म बड़े उत्तम कर्मों का फल है, यही एक स्थान है जहां पर यदि जीवात्मा यत्न करे तो जन्म, मरण की उलझन से पृथक् हो सकता है स्थानान्तर कोई नहीं। परन्तु विषय भोग वासना से विवश हो कर इस सर्वोच्चम पद का अधिकारी होता हुआ भी वंचित रहता है। नियम का विरोध करने से सन्मार्ग हाथ से जाता और विपरीत गति के प्रभाव से बार २ संसार पथ में ही आता है। भूल जब तक पीछा न छोड़े, मनुष्य कैसे सुखी हो ? यही कारण है कि जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ संसार को छोड़ता है, वह सर्वान्तर्यामी परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध

जोड़ता है, इस महात्मा के लिए मृत्यु भयावह नहीं है। सामने महान् आनन्द का स्थान है, अत एव उस के लिये मृत्यु अति तुच्छ प्रतीत होती है, वह अमृत के रूप में अपने स्वरूप को बदल देती है। कृतार्थ पुरुष के दर्शन से वह स्वयं कृतकार्य हो कर अपने कार्य को रोक देती है। जो मनुष्य कर्त्तव्य से हीन, मनुष्य जन्म के यथार्थ उद्देश्य से विहीन, विषय सेवन करना ही इस का फल है, इस विचार में ही लवलीन रहते हैं, अन्त समय सांसारिक पदार्थों की ममता उन को सताती है। कहां जांय, कौन सा उपाय है, जिस को हाथ में लायें। जीवन भर की बिगड़ी हुई बात सहज से ऐसे विषम समय में सुधरने में नहीं आती। ऐसे अकृतार्थ पुरुष को मृत्यु चोट लगाती है और उसको कृतकार्य बनाने के लिए फिर संसार में ही लाती है और पुनः अपना भी यम स्वरूप दिखाती है। समय चूक जाने से अल्प हो या महान्, मनुष्य की दुर्गति और दुर्दशा ही होती है। मनुष्य-जन्म का महानुद्देश्य परमेश्वर-प्राप्ति है, यह सुनियमों के पालन करने से हस्तामलकवत् स्फुट सामने है, पुनः मत्यु कहां, न यहां न वहां ॥

अब क्रमप्राप्त बन्ध और मोक्ष का निरूपण किया जायगा ॥

बन्धो विपर्ययात् यथार्थदर्शनाभावाच्च ॥६४॥

यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त सर्व विद्वज्जन प्रसिद्ध वाद है, कि बन्ध का कारण विपरीत ज्ञान ही है। इस से वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता। अयथार्थालोचन से प्रवृत्ति में वैषम्य आने लगता है, पुनः कर्म फल की प्रतिकूलता से दुःख की वृद्धि और सुख का ह्रास होता जाता है। जिस से संस्कार मलिन हो कर

विपरीत ज्ञान की सन्तान को उत्पन्न करते रहते हैं, यह उस का स्वभाव है कि अल्पज्ञ जीवात्मा का साथ देता है और विशेषज्ञ हो जाने से उस का साथ छोड़ जाता है, जितने भी उपाय शास्त्र बता रहा है वह इस दोष को दूर करने के लिए ही हैं । शास्त्र का शासन केवल मानव जाति के लिए है। पश्वादि इस के अधिकारी नहीं हैं । मेरे मित्र ! अब आप विचारें कि मनुष्य जन्म को पाकर संसार के अनेक स्थानों में चक्र लगा कर भी यदि इस शत्रु से अपना पीछा न छुड़ाया तो इस जीवन से क्या लाभ उठाया ? प्रत्येक प्राणी की यात्रा जिस प्रकार समाप्त होती है, वही प्रकार इस के हाथ आया। इस स्थान को उपलब्ध कर के यदि कोई मुख्य कार्य था तो यह ही था। सर्व व्यापार इस की अपेक्षा गौण थे, परन्तु यह मनुष्य के सामने अनेक प्रलोभनों को ला कर मुख्य को गौण और गौण में मुख्य बुद्धि कर देता है, अन्त में प्रवृत्ति की निष्फलता से इस का पता मिलता है । आरम्भ में यह अपना परिचय किसी को भी नहीं देता । यही कारण है कि इस की कुटिल नीति के अधीन सकल संसार है और राग द्वेषादि (इस की सन्तान) से ही सब को प्यार है इस ही विपरीत-विचार से सुख का संकोच और दुःख का विस्तार है। विपर्यय ज्ञान ने इस को कैसा अपना अनुचर बनाया है कि बात को समझता हुआ भी समझने नहीं पाया और अन्त में जब समझ आई तब फिर बात न बनने पाई। जितने भी पुनीतकर्म किए जाते हैं वह सब इस के ही दूर करने का यत्न है । सत्संग, स्वाध्याय और ईश्वरचिन्तन इस के हटाने के लिए ही किए जाते

हैं परन्तु यह अपने प्रभाव से शुभ कर्मों को भी दबाता और उन को बन्धन का हेतु बनाता है। कहीं सकामता कहीं अभिमान और कभी लोकैषणा को जगाता है, पुनः वह कर्म जो अन्तःकरण शुद्धि के निमित्त हो कर मोक्ष तक पहुंचाने वाले थे संसार में लाने का ही कारण बन जाते हैं॥

महात्मा और परिणामदर्शी पुरुषों ने सर्वोपद्रवों का स्थान इस विपरीत-ज्ञान को ही कहा है और शास्त्र का शासन भी यही है—

संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैवप्रसद्धौ ॥६५॥

संशय और विपर्ययज्ञान से ही सर्वप्रकार के अनर्थों की उत्पत्ति होती है। यह शास्त्र का सिद्धान्त लोक में भी प्रत्यक्ष है, जो मनुष्यसमाज दृढ़ निश्चयवान् हो वही संसार में गौरव का पात्र बनता है। सर्व कार्यसिद्धि के हेतु इस दृढ़निश्चयरूप मनुष्य के सर्वोत्तम गुण को संशय मलिन कर देता है, और मनुष्य को हतोत्साह बना देता है। यह करूं या न करूं, इस से लाभ होगा या न होगा, पुरुषार्थ से कुछ नहीं बनता, जो प्रारब्ध में है वही होगा, इस प्रकार प्रत्येक कार्य में संशय के आने, मनोराज्य के बढ़ जाने से कौन मनुष्यसमाज है जिस की प्रतिष्ठा भङ्ग न हो जायगी। वह कौन देश है जिस ने इसका साथ देकर अपने को कलंकित नहीं किया। संसार का इतिहास बड़े बल से इस बात की साक्षी दे रहा है। यह मनुष्य का बड़ा ही प्रबल अन्तस्थ शत्रु है, इस से पीछा छुड़ाना सहज बात नहीं है। इसका कारण यह है कि यह ऐसा दोष है जो मनुष्य के समस्त कार्यों को दूषित कर देता है, परन्तु गुणसम प्रतीत

होता है, बड़ा ही कुटिल है परन्तु सरल भासता है, अहितकर है हितैषी जान पड़ता है। यह मनुष्यसमाज को यथार्थ पुरुषार्थ के मार्ग में जाने से हटाता है। यह संशयज्ञान ऐसा ढीठ बनाता है कि पुरुषार्थ की बात सुनने को उसका मन नहीं चाहता है। यह लौकिक ऐश्वर्य का व्याघातक है और आत्मसाक्षात्कार में बड़ा ही बाधक है। आलस्य और प्रमाद सदैव इसका साथ देते रहते हैं। प्रमाद नाम कर्त्तव्य के पालन करने में असावधान रहने का है। संशयज्ञान में अल्पांश विपरीतज्ञान का और विपरीतज्ञान में कुछ अंश संशय का अवश्य ही रहता है, यह जानना चाहिए ॥

अब इससे आगे विपर्ययज्ञान का (जो शान्ति को भङ्ग करके अनेक प्रकार के उपद्रवों को उठाता है) निरूपण होगा—

अतस्मिन् तद्बुद्धिरिति विपरीतज्ञानम् ॥६६॥

वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध न होकर विपरीत निश्चय कर लेने को विपरीतज्ञान कहते हैं। एक द्रव्य अनेक गुणों का आश्रय होता है, उन गुणों की संयोजकता और वियोजकता के यथार्थ ज्ञान से मनुष्यसमाज को बड़ा ही लाभ होता है। प्राकृतिक पदार्थ सब विद्यमान हैं और उन में गुण स्वयं सिद्ध हैं, कोई भी पुरुष किसी पदार्थ या नूतन गुण को बनाने वाला नहीं है। केवल यथार्थ बोध प्रकारता धर्म में लाकर लाभ उठाने का अधिकारी है, विपरीतज्ञान इस मार्ग का ध्वंसक है। इस के कारण प्रत्येक वस्तु का रूपान्तर से भान होता है। यथा आत्मा नित्य, पवित्र और सुखस्वरूप है, इसको न जान कर परिणाम में मलिन, दुःख स्वभाव अनित्य शरीरादि को आत्मा मान लेना

विपरीतज्ञान कहलाता है। कोई भी वस्तु मान लेने मात्र से अपने स्वरूप का त्याग नहीं कर सकती। परिणाम में विकृत हो जानेवाली वस्तु क्या अपरिणामी सिद्ध होगी? कदापि नहीं। क्या यौवनारम्भ में जब कि दृष्टि में राग का आवेश होने लगता है, सुख की सर्व सामग्री और प्राकृतिक सौन्दर्य होने से यदि उसको यह ज्ञान हो कि मुझे कभी भी वृद्ध नहीं होना है, सत्य हो सकता है? कदापि नहीं। क्या उस पुरुष का यह विचार जो सर्व प्रकार सुखभोग भागी है, सत्य हो सकता है कि यह पदार्थ सर्वदा मेरा साथ देंगे, कदापि नहीं। जिन के लिए मैं अनिष्ट करता हूं, अन्याय से धन को उपार्जन करके उनका पालन करना अपना कर्त्तव्य जानता हूं। सृष्टिक्रम के अधीन जब उन कर्मों का प्रतिकूल फल मुझे भोगना होगा, तब तत्काल कोई भी मेरी सहायता करेगा? उत्तर—कोई नहीं जो सहायता करे। सृष्टिक्रम अपने नियम के विपरीत नहीं चलता है, सांसारिक सुख का सर्वथा त्याग तो नहीं हो सकता है परंतु, जैसा उसका स्वरूप है वैसा जानकर उपयोग करना यथार्थ दर्शन है और विषय भोग की लिप्सा में अनुभावक, जिसका ज्ञान गुण स्वाभाविक है, उस आत्मा को ही भूल जाना मिथ्या ज्ञान है। आत्मसाक्षात्कार में जो सुख है उसकी तुलना विषय सुख से नहीं हो सकती है, यह सालम्ब है वह निरालम्ब है। एक परिणामी है, दूसरा परिणामशून्य है। विचारशील और साधारण जन के बाह्यकार में कोई भेद नहीं होता। केवल मनोवृत्ति और लौकिक प्रवृत्ति में भिन्नता होती है। यह सत्य है कि ज्ञानी पुरुष के सामने सांसारिक विषय-भोग अपना बल

नहीं बढ़ा सकते हैं वह इनका स्वामी है और साधारण पुरुष विषयों के दास होते हैं, स्वामी और दास की क्या तुलना हो सकती है। बड़ा ही भेद है। प्रकृति पदवाच्य ज्ञानवान् हो और फिर सांसारिक पदार्थों के निमित्त दीनता करता फिरे यह कदापि नहीं हो सकता। एकाधिकरण में दो विरुद्धगुणों का समावेश असंभव है। आत्मसाक्षात्कार से तो दीनता भी दीन हो जाती है॥

यह सब कुछ ठीक है परन्तु विपरीतज्ञान अपने प्रताप से सब को सन्ताप दे रहा है। मनुष्य को इसके मुख्य कर्त्तव्य से हटाकर यह अपने अधिकार में ले रहा है, इस कारण से आत्मा का संसार से वियोग नहीं होता है। विपरीतज्ञान की सन्तान राग द्वेष मोहादि हैं, उनके द्वारा यह बन्धन का निमित्त बनता है, स्वयं अपने स्वरूप का किसी को परिचय नहीं देता है। यथा ज्वर पीड़ा का निमित्त प्रत्यक्ष है, परन्तु जिस निमित्त से ज्वर हुआ है वह परोक्ष है। वैद्य ज्वर के निमित्त को हटाकर ज्वर को दूर करता है। अन्यथा ज्वर का नाश नहीं हो सकता। एवं रागादि की सत्ता का असद्भाव कदापि नहीं हो सकता, जब तक मिथ्या ज्ञान का अधिकार बना रहता है। अत एव सर्वोपद्रव की शान्ति का बीज मिथ्याज्ञान का विनाश ही है—

रागो हि मूलं संसारस्य ॥६७॥

इस संसार का कारण राग ही है। रंजनात्मिक राग मनुष्य के अन्तःकरण की साध्वी प्रवृत्ति का आवरक है। यह बढ़कर मनुष्य की बुद्धि में व्यामोह को उत्पन्न करता है, बिना विचारे इसके दूर करने का कितना भी यत्न किया जावे

उतना ही यह अपना बल दिखाता है। तत्काल हितकर उपदेश मनुष्य को अहितकर प्रतीत होता है। शास्त्रों में इसके दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। राग बड़ा ही चंचल है। यह मन को सदैव चलायमान रखता है। चित्त की अस्थिरता में मनुष्य को अपनी हानि और लाभ का यथार्थज्ञान कैसे हो सकता है? इसकी सत्ता किसी न किसी रूप में प्रत्येक कार्य में बनी रहती है। साधारण पुरुषों को इसका पता नहीं चलता। इस पर न्यायदर्शन के भाष्य में वात्स्यायन मुनि अपना भाव इस प्रकार प्रकट करते हैं। उन का कथन है कि मोक्ष सुख के राग से रंगा मनुष्य यदि मोक्षप्राप्ति के साधनों को यत्न से उपलब्ध करता है तो वह मोक्ष को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, कारण यह है कि बन्धन का निमित्त राग विद्यमान है। अल्प वस्तु का राग थोड़े खेद का कारण है, तो बड़ी वस्तु के राग से अधिक क्लेश अवश्य ही होगा, अत एव मोक्षसुख प्राप्ति का राग बंधन से छुड़ाने वाला नहीं, प्रत्युत् बन्धन में लाने वाला है। महात्मा के आलाप में यह गमक है कि मनुष्य को चाहिए कि वह मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा न करे अपितु प्रतिबन्धक के दूर करने का उपाय करे। वह प्रतिबन्धक अविद्या है। उसके हटते ही मोक्ष स्वयं-सिद्ध है। यह प्रत्यक्ष है कि जब नलिका से होकर क्षेत्र में जल जा रहा हो और कहीं मध्य में वह तृण, पर्ण और मृत्तिकादि से आगे बढ़ने से रुक जावे तो क्षेत्रिक उस आवरण को किसी उपाय से दूर कर देता है, तब जल प्रवाह से स्वयं ही आगे को चलने लगता है, इस नीति को अनेक स्थलों पर संगत कर लेना पाठकों का काम होगा॥

जब परमेश्वर प्राप्ति का राग भी मनुष्य को बन्धन में लाता है, तो सांसारिक वस्तुओं का राग बन्धन में लाने के लिए अधिक दृढ़ हो जाता है। एक ही राग है, जो कहीं स्वार्थ का रूप धारण करता और कभी द्वेष की दशा में आकर परस्पर में लड़ाता है, कहीं क्रोध की ज्वाला को जगाता है, जिस में समस्त ऐश्वर्य भस्मसात् हो जाता है। ईर्ष्यादि सर्व दोषों का यह स्थान है, सर्व प्रकार के दुःखों की यह कान है, महाभारत का युद्ध इसने ही रचाया, परस्पर एक दूसरे की सत्य बात को भी न मानना इसने ही सिखाया। प्रत्येक प्रकार से स्वार्थसिद्धि करना इसकी नीति है अपने सुख की इच्छा से परहितचिन्ता का ध्यान न करना, इसकी रीति है। जिस वस्तु में पुरुष को राग होता है, उसके पृथक् होने से दुःख मानता है, और बलात् छींनने वाले से द्वेष करता है॥

राग में जितनी वृद्धि होती जाती है, उतना ही संसार बढ़ता जाता है यह दृष्टचर है। इसकी आधारभूमि मिथ्याज्ञान ही है, महात्मा बुद्धिमान् और सूक्ष्मदर्शी 'इसके दूर होने से राग दूर होता है अन्यथा नहीं' इस तत्त्व को भली प्रकार जान कर यत्न करने में तत्पर हो जाते हैं। अभ्यास की परिपक्वता से कृतार्थ होकर फिर आजीवन परोपकारार्थ पुरुषार्थ करते रहते हैं। यह बड़ा ही सुन्दर मनुष्यसमाज के कल्याणार्थ सन्मार्ग है परन्तु साधारण पुरुष अपनी अज्ञानता या विपरीत-कारिता से इसके हटाने का यत्न तो क्या करेंगे, वह इसको अधिक हठीला बना देते हैं, जिस से स्वयं दुःख पाते हुए दूसरों के भी कष्ट का कारण बन जाते हैं। कभी आप ऐश्वर्य-सम्पन्न कुटुम्ब

में जाकर परीक्षा करें, वहां देखेंगे कि कभी माता सन्तान को धमकाती है और कभी पिता बालक को हंसाता है, कहीं परस्पर स्त्री पुरुष का प्यार है, और कभी सेवा परिचर्या से वृद्धों का सत्कार है, कभी बालक बालिका परस्पर प्रेम करते हैं, और कभी आपस में लड़ते हैं, कोई कहीं पठनार्थ जाता है और कोई बाज़ार से भोजन की सामग्री को लाता है, कभी किसी को रुग्णावस्था में देख गृह के सब सदस्य खेद मानते हैं, और उसके दुःख को अपना दुःख समझते हैं, उपाय करते हैं, परन्तु कुछ बनता नहीं है। अब पाठक विचारें कि एक ही राग कितने प्रकार के चित्र दिखा रहा है। जो वस्तु सुख का निमित्त थी, उसमें रागी का राग धीमी गति से काम कर रहा है और बन्धु-वर्ग को सब सुख की सामग्री में मन्द वैराग्य सा हो रहा है और अबोध बालकों को व्यामोह में डाल रहा है, कभी राग के आघात से नेत्रों में जल आता है, बात करना तो चाहता है परन्तु कह नहीं पाता। तत्काल कभी किसी की क्षुधा मन्द हो जाती है और कभी किसी को नींद नहीं आती। आप बताएं कि सर्व प्रकार से बनी हुई बात को कौन बिगाड़ रहा है? समझदार पुरुषों की आंखों में धूल कौन डाल रहा है? इस समस्त चक्र को कभी सीधा और कभी उलटा कौन चला रहा है? यह राग ही है जिसका सब पर काबू है परन्तु दृष्टि में नहीं आता। मनुष्यमात्र इस से बचने की इच्छा करता हुआ इसके ही जाल में फंसता जाता है, समय २ पर यह ही सबको सताता है। कितनी विचित्र बात है कि मनुष्य फिर भी इससे स्नेह लगाता है, यह दोष है जो गुण के समान प्रतीत होता है,

कभी अनुकूलता को पाकर हंसता और प्रतिकूलता से रोता है कहीं शान्तस्वभाव होकर सुख से सोता है ॥

मेरे मित्र ! किञ्चिद् दृष्टि को पसार ज़रा ध्यान से निहार समस्त संसार में इसकी व्याप्ति है परन्तु फिर भी सबसे न्यारा है। यह वह दरया है जिसकी न कोई थाह है और न कोई किनारा, जो इसमें गिरा फिर उभरने न पाया यह संसार का इतिहास बताता है। राग का बन्धन बड़ा ही कड़ा, कोई स्थान ऐसा नहीं जहां यह नहीं खड़ा। जैसे–कलिका में गन्ध की प्रतीति नहीं होती है, पुष्प होने पर सुगन्धि को उठाता है तत्सदृश राग कभी अपने को प्रकट करता और कभी छिपाता है यह बड़ा विकट है परन्तु इसमें एक बड़ी ही अनोखी बात है कि जब यह सरलता से अपने स्वभाव में साधुता को लाता है, तब सच्चे मित्र के समान हितकर बन जाता है। इस प्रकार के राग को जब सतोगुण का बल मिलता है, तब जिस वस्तु की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है उससे अतिरिक्त संसार की समस्त वस्तुओं में उसको वैराग्य उत्पन्न हो जाता और सर्वदा मनोवृत्ति उसके ही इर्द गिर्द चक्र काटती रहती है, उस के विनोद का कारण वही एक वस्तु है जिसकी उसको लग्न है। उसकी एकाग्रवृत्ति का वही एक सहारा है जिस के दर्शनार्थ मन मगन है। यह प्रथम अवस्था है जो उसको दूसरी अवस्था तक पहुंचाने के लिए नेतृत्व का काम कर रही है। दूसरी अवस्था में उसके ही चित्र सामने आने लगते हैं और कभी २ सोते हुए को भी आ जगाते हैं, और फिर वह समस्त संसार का चित्र उस एक में और उस एक चित्र को सब जगत में

देखता है। यह दशा उसमें तीसरी अवस्था को लाकर अपने कार्य को समाप्त करती है, अब वह अपनी भी सुध बुध को भूल जाता है और फिर राग उसके समीप नहीं आता। लोग उसको चाहे किसी दृष्टि से देखें वह विदित वेदितव्य और अधिगत याथातथ्य है। लोगों की जबानी ऐसे महात्मा पुरुष की कहानी प्रसिद्ध है। विषयानुरागी इस मार्ग में चलने के अधिकारी नहीं होते, वह संसारमर्यादा का भङ्ग करके विषय-लिप्सा में न बढ़ें यही उनकी कृपा है। इससे संसार में सुख की वृद्धि होगी, अन्यथा दुःख के प्रसार से मनुष्यसमाज हानि उठाएगा। जैसे—बीज से वृक्ष बनता और वृक्ष फिर बीज को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार राग संसार को बनाता और फिर संसार राग को साथ लाता है। यह अनादि चक्र अन्तवान् है परन्तु इसको दूर वही करता है जो ज्ञानवान् है ॥

अब राग की महिमा को देखो कि यह कहां २ कैसे २ कार्य करता है।

१—एक धनी पुरुष धन के राग से उचित स्थान में सार्वजनिक कार्य के लिए भी दान नहीं देता है, यहां पर राग ने लोभ का नाम पाया है।

२—संतान के योग्य होते हुए कुछ शारीरिक शक्ति से युक्त हो कर भी लोकोपकारार्थ अपने जीवन के कुछ भाग को भी न लगाना, संसार के सुधार में कुछ भी हाथ न बटाना और इस वैदिक नियम विरुद्ध अपराध को छिपाने के लिए बातें बनाना, सिद्ध करता है कि राग ने व्यामोह का रूप धारण कर के उस को संगृहीत किया हुआ है ॥

३—सन्तान युवा, विद्या और अधिकार प्राप्त होने पर वृद्धावस्था के समीप हो कर पुनः भोग वासना की लिप्सा से स्त्री के होना और अनुचित कार्य को कर के पीछे से रोना प्रकट करता है कि यहां पर राग ने काम का रूप धारण कर के विपरीत मार्ग में प्रवृत्त किया है ॥

४—कभी कहीं परस्पर के वाद विवाद से मनोवृत्ति कुटिल हो कर ऐसी विकट अवस्था को उत्पन्न कर देती है कि वह फिर हटाने से भी नहीं हटती । मुख से अपशब्दों को निकालना और नेत्रों में लालिमा का आ जाना, शरीर में कम्प का होना, और एक ने दूसरे के अहित करने का संकल्प करना, उस को मारना अथवा आप मरना, सिद्ध करता है कि यहां पर राग क्रोध के रूप में परिवर्त्तित हो गया है ॥

५—जिस का किसी वस्तु में प्रेम होता है, यदि कोई उस में रुकावट डालता है तो प्रेम की मात्रा में उतनी ही वृद्धि हो जाती है, परन्तु प्रीति की रीति टूटने में नहीं आती । यदि ठीक है सच्ची लगन से है । ऐसी अवस्था में बाधा करने वाली वस्तु के साथ सदैव उन का मनोमालिन्य रहता है ऐसी परिस्थिति में रागने प्रज्वलनात्मक द्वेषके पदको प्राप्त किया है ॥

६—धन, बल और विद्या सब को (या इन में से किसी एक ही को) प्राप्त कर के यथार्थ मार्ग का (जिस में लोकहित हो) अनुसरण न करना और जघन्य जनसमुदाय में अपने समय को बिताना, उन की ही अधूरी बातों के श्रवण में मन को लगाना और अनुचित व्यवहार की ओर को झुकते जाना सिद्ध करता है कि यहां पर राग प्रमाद के रूप में बदल गया है ॥

यह राग ऐसे अयुक्त कर्मों में मनुष्य को तभी लगाता है जब वह तमोगुण का सहारा पाता है। सतोगुण के साथ मिल कर यह सन्मार्ग में चलाता है। यह समस्त संसार इस का ही पसारा है । यह कभी जागृत, कभी सुप्त, कभी प्रत्यक्ष और कभी लुप्त है । किसी विशेष नियम के पालन किए बिना यह अपनी सत्ता को नहीं छोड़ता ॥

अब इस के आगे जीवात्मा मुक्ति पद को कैसे प्राप्त होता है इस का निरूपण किया जावेगा—

तत्त्वज्ञानात् मुक्तिरिति ॥६८॥

पूर्व में विपरीत ज्ञान को बन्धन का कारण कहा है। अर्थापत्ति से जो बात सिद्ध होती है उस का ही स्पष्टीकरण किया जाता है साधर्म्य, वैधर्म्य बोध के बिना यथार्थ वस्तुस्वरूप हस्तगत नहीं होता। बन्धन का कारण जो मिथ्या ज्ञान है उसका निराकरण यथार्थज्ञान से ही होता है, अन्य कोई भी उपाय नहीं है। जैसे अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश को नियत कारणता है, तद्वत् उपर्युक्त वचन में तत्वज्ञान को ही मुक्ति का निमित्त कहा गया है। इस पद की प्राप्ति ही सर्व वेदादि सच्छास्त्रों का संकेत और पुरुषकर्त्तव्य की परिसमाप्ति है। यह लौकिक व्यवहार की सिद्धि का हेतु और परमार्थप्राप्ति का साधन है। यत्र तत्र सर्वत्र उत्तमाशय पुरुषों का इसके लिए ही यत्न है, परन्तु यह एकजन्म के पुरुषार्थ का फल नहीं है। मुक्ति के अभिमान से भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता। शास्त्र बड़ी ही सूक्ष्मदर्शिता से काम ले रहा है, वह मुक्ति के मार्ग में आनेवाले अभिमान को हटाता है—

येन वा वद्धः संसरति यस्मान्मुक्तो मुच्यते स मृत्युः ॥६६॥

जिस से बन्धा हुआ मुहुर्मुहुः जन्म मरण की वेदना को सहता है, समय २ पर पश्चात्ताप करता हुआ भी जिस से मुक्त हुआ मोक्षपद को पाता है, वह मृत्यु है, पूर्वानुभूत विषय-वासनावशात् संसार में आता ही रहता है। एक शरीर का त्याग है, तो द्वितीय का ग्रहण है। जल प्रवाह के समान इसकी समाप्ति नहीं होती। केवल मनुष्य जन्म को उपलब्ध करके आत्मा को इस चक्र से निकालने का उपाय तो मिल सकता है, यदि प्रेम हो। अत एव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को इस प्रकार विषयों के अधिकार में न दे कि इस महान् उद्देश्य से भ्रष्ट होकर संसार प्रवाहावर्त्त में ही भ्रमण करता फिरे। मनुष्य को विषय अवश्य छोड़ेंगे परन्तु मृत्यु के मुख में देने के लिए बन्धन को कड़ा करते जायेंगे। सदा विषय समीप होते हैं, उनके भोगने की शक्ति जाती रहती है, परन्तु उनकी तृष्णा तरुण हो जाती है। ऐसी अवस्था में न स्थिति, न गति, और न मति है, करे तो क्या करे, जिये या मरे, प्रवाह बड़ा ही कठोर है इसको कैसे तरे। मर्यादा में न चलकर, अनुचित कार्यों में आगे बढ़ कर, अन्याय का साथ दिया, जो किया सो उल्टा किया, इस दशा में मृत्यु की जीवन पर चोट है, बचने के लिए न कोई सहारा है और न कोई ओट है। इस समय जो सहारा देता वह सद्विचार पास नहीं, और जो पास हैं उन से सहायता की कोई आस नहीं। संभलने के समय तो संभलते नहीं, जाना था कहां को, और चले गये कहीं। नौका पर बैठकर नदी के मध्यतीव्र प्रवाह में कर्णधार से लड़ना बुद्धिहीनता का काम

करना है ।

मेरे मित्र ! यह तो वह दशा है जब कि मनुष्य को विषय छोड़ते हैं फिर उसका सम्बन्ध संसार से जोड़ते हैं । जब बुद्धिमान् पुरुष अपने बल से विषयों को छोड़ता है, तब फिर उन तिरस्कृत विषयों की वासना बलवती कैसे हो सकती है । वासना के बिना विषय पुरुष का पीछा नहीं करते । समझदार ने विचार से काम लिया, मनुष्यजन्म के उद्देश्य को पूरा किया, उसको न पश्चात्ताप, न खेद, न संसार से लब्ध और न परमेश्वर से भेद है । जिस को आत्म-साक्षात्कार है, उसका उस से प्यार है, संसार उस के विचार में असार है । शिव सुख अनादि अनन्त का अधिकारी और उस जीवनमुक्त की विषयबन्धन से पृथक् होकर मोक्ष की तय्यारी है । सामने उजाला है, विचित्र है अद्भुत है और निराला है । अब न शरीर की रुकावट और न संसार परिभ्रमण की थकावट है । ज्ञान प्रकाश ने जिस को संभाला है, उसके लिए अपनी सामग्री सहित अज्ञान का दिवाला है ॥

'अज्ञान' राग और मृत्यु यह सब बन्धन के कारण होने से समानार्थक हैं । पूर्वोक्त वचन में मृत्यु शब्द इस लिए आया है कि प्राणिमात्र इस के आघात से बचना चाहता और इस के लिए अनेक उपाय करता है परन्तु सफल नहीं होता । यह तब होगा जब—

यदा मृत्योर्मृत्युरस्ति तस्मात् मोक्ष उपपद्यते ॥१००॥

जिस समय मृत्यु की मृत्यु हो जाती है तत्काल जीवात्मा स्वयं मोक्ष को प्राप्त करता है, उस समय उपायान्तर अपेक्षित

नहीं है। अब आप यदि विचार करें तो पता मिलेगा कि 'जीव' प्राणधारणे और 'मृङ्' प्राणत्यागे इन अर्थों में इन धातुओं का प्रयोग किया जाता है, जब तक आत्मा प्राण का ग्रहण और त्याग करता रहता है, तब तक इस की 'जीव' संज्ञा है। दो जन्म के मध्य में एक मरण और दो मरण में एक जन्म प्रत्यक्ष सिद्ध है परन्तु यह प्रवाह किस स्रोत से, किस समय, कहां से निकला ? इस का ठीक पता नहीं मिलता। अत एव शास्त्र इस को अनादि कहता है। यह कथन साधु सम जान पड़ता है परन्तु विचार करने से कुछ भिन्नता का द्योतक है। जन्म और मृत्यु दोनों का सन्नियोग है, इन की प्रवृत्ति और निवृत्ति भी साथ २ होगी। जब तत्त्व ज्ञान से अज्ञान के आवरण का नाश हो जाता है, तब मृत्यु के मरण से सदैव के जन्म का (जो सर्वबन्धविनिर्मुक्त है जिस का दूसरा नाम मोक्ष है) प्रकाश हो जाता है। इस प्रकार के अनेक व्यङ्ग वचन संसार में प्रचलित हैं जैसे-चिन्तातुर पुरुष के लिए नींद को भी नींद आ जाती है, यह कथन जागने को सिद्ध कर रहा है। सदैव आदिमान् का अन्त होता है, अनादि वस्तु अनन्त होती है. अत एव मृत्यु के अन्त से इस का आदि होना और इस से जन्म का आरम्भ सिद्ध होता है, जहां अनादि शब्द का प्रयोग है वहां वह प्रवाह का सूचक है॥

जब मृत्यु का मरण हो गया तो क्या सर्व प्राणी मुक्त हो जाएंगे—

रागरहितं प्रति तस्य मरणं, न अन्यं प्रति रागसहितत्वात् ॥१०१॥

वीतराग पुरुष के लिए मृत्यु का अदर्शन हो जाता है,

सराग होने से अन्य पुरुषों के निमित्त मृत्यु का कार्य सदैव बना रहता है। विपरीत ज्ञान का कार्य राग है और राग सांसारिक भोग प्रवृत्ति का बीज है। राग के दूर हो जाने से प्रवृत्ति स्वयं क्षीण हो जाती है, जैसे धान से जब छिलका पृथक् हो जाता है, तब वह आहार के कार्य में तो आ सकता है किन्तु बीज नहीं बन सकता। कार्य कारण भेद से राग का मध्यवर्त्तिविधान इस लिए है कि इसके हटा देने से पूर्वापर की सत्ता अपने आप जाती रहती है, जैसे वर्त्तमान को हटा देने से भूत और भविष्य का सद्भाव नहीं रहता-तद्वत् यह सत्य ही है कि विरक्त महात्मा (जो प्रकृत पद वाच्य हो) को जिस सुख का अनुभव होता है वह संसार की किसी वस्तु में नहीं, वह सुख स्व: स्वरूप में है और दूसरा सुख सांसारिक वस्तुओं के सहारे है, इनमें परिवर्त्तन होने से उसमें परिवर्त्तन हो जाता है, और वह अपरिवर्त्तनशील निरालम्ब है उसकी तुलना इस से नहीं हो सकती। सम्प्रति राग ने अपना पूरा बल बढ़ाया हुआ है, ऐसे महानुभावों का दर्शन दुर्लभ सा हो रहा है। उनके समान वेषधारी तो बहुत हैं परन्तु वह राग के पीछे ही चाहे वह किसी प्रकार का हो, भागते हुए देखे जाते हैं॥

पाठक गण! आपके सामने अनेक दृष्टान्त समय २ पर आते हैं जो राग को बन्धन का कारण जतलाते हैं परन्तु साधारण पुरुष उन से लाभ नहीं उठाते। यथा-किसी धनी पुरुष के द्वादशवर्षीय बालक ने वन से एक तीतर का बच्चा मंगवा कर पाला, उसको खाना देता है, देखकर प्रसन्न होता है और विनोद करता है। एक दिन उसको बिल्ली ने मार डाला,

जिस से वह बड़ा ही दुःखी हुआ उसके कारण गृह वाले भी क्लेश में हैं। बार २ यही कहता है कि मेरे तीतर को विडाल ने मार डाला है। माता पिता उस बालक के विनोदार्थ दूसरा तीतर मंगवा कर देते हैं तब कुछ शान्त होता है। उसके ही घर में कई बार बिल्ली चूहों को मारती थी, उनको देखकर वह कभी दुःखी नहीं होता था, इसका यही कारण है कि उनके साथ उनकी ममता नहीं थी। जङ्गल के पक्षी के साथ ममता-रूपी राग की रज्जु से जकड़ा गया है, यह मेरा है इस बन्धन से पकड़ा गया है। आप सर्व संसार में इसी व्यवहार को देखेंगे अतएव राग से पीछा छुड़ाना ही मुक्तिपद को पाना है॥ शास्त्र पवित्र मुक्तिपद के साथ होने वाले अभिमान को व्यतिरेकभाव से प्रायः हटाता है। अत एव—

वन्धननाश एव हि मोक्षो न कार्यभूतः ॥१०२॥

बन्धन का नाश होना ही मोक्षपद की प्राप्ति है। वह किसी कार्य का फल नहीं है, उपर्युक्त कार्य शब्द फल के अर्थ में आया है। जैसे मलिन वस्त्र को क्षार से मलकर धोना उसकी मलिनता को दूर करना है, श्वेत तो वह स्वयं सिद्ध है, यदि वह स्वरूप से स्वच्छ न हो तो शतशः यत्न करने पर भी शुक्ल नहीं हो सकता। इसी प्रकार सर्वत्र योजना करनी चाहिए। कर्म मोक्षप्राप्ति के निमित्त रूपान्तर से सहकारीकारण तो हैं, साक्षात्कार से नहीं। पूर्व में अविद्या को बन्धन कहा है क्या वह कर्म से दूर हो सकता है?

अविद्याया न कर्मणा नाशः दृष्टविषयत्वात्कर्मसामर्थ्यविपयस्य ॥१०३॥

अज्ञान का किसी प्रकार के कर्म से नाश नहीं होता है,

श्रौत हो या स्मार्त्त, समस्त हो या व्यस्त, कर्म की सामर्थ्य दृष्टविषय में हो सकती है अन्यथा नहीं। विचार करने से पता लगता है कि जिस मनुष्य को किसी वस्तु में भ्रम हो गया हो (जो एक प्रकार का अज्ञान ही है) वह भ्रम दान करने से और प्रातः उठकर भजन तथा पाठ से कदापि दूर नहीं हो सकता। उसका उपाय तो उस वस्तु का साक्षात्कार ही है, जो भ्रम का आधार है क्या यह बात लोक प्रसिद्ध नहीं है?

शरीर की रचना बड़ी ही विचित्र है। ध्यानपूर्वक इसका स्वाध्याय करने से मनुष्य उन्नति-पथ में गति करने लगता है और संसार के कार्यों में सुधार होता जात है। यह शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का छोटा सा चित्र है, जो उस पवित्र परमात्मा का विचारशील पुरुषों के लिए सदैव सूचक है। नेत्र दर्शन और शब्द श्रवण के अपने २ कार्य को बड़ी ही सरलता और सुगमता से सम्पादन करते हैं, सहस्रों यत्न करने पर भी नेत्र शब्द का और श्रोत्र रूप का ग्राहक नहीं हो सकता। यदि विचार से देखा जावे तो ठीक इसी प्रकार कर्म जन्म का निमित्त होकर सुख दुःख का कारण हो सकता है क्योंकि इस में उसकी शक्ति है, परन्तु अज्ञान का दूर करना उसकी सामर्थ्य से बाहर है, गवेषणा करने पर संसार में ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। अब प्रकारान्तर से भी उपर्युक्त विषय को स्पष्ट किया जाता है—

उभयोरविरोधः भिन्नविषयत्वात् ॥१०४॥

कर्म और अज्ञान का भिन्न विषय होने से परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं। न कर्म अज्ञान को मिटा सकता है,

और न अज्ञान ही कर्म के कार्य को हटा सकता है। जैसे–आने जाने वाली दो ट्रेन भिन्न २ लाइनों पर दौड़ रही हैं, किसी से किसी को भी आघात नहीं पहुंचता है। एक लाइन पर किसी विशेष नियम के बिना विरुद्ध चलने वाली दो ट्रेन परस्पर टकरा कर टूट फूट जाती और हानि पहुंचाती हैं। पर्वत में यात्रा करने वाली ट्रेनों में कहीं कहीं दो इञ्जन लगाए जाते हैं, उनका बल यदि सीधा एक ओर को होता है तब सुरक्षित गाड़ी आगे को बढ़ती जाती है, यदि उनकी शक्ति एक दूसरे के विरुद्ध (पूर्व, पश्चिम को) हो जावे तो गाड़ी की तथा तत्रस्थ जनसमुदाय की बड़ी ही हानि हो। अतएव कर्म और अज्ञान परस्पर विलक्षण होने से एक दूसरे के बाधक नहीं, प्रत्युत् किसी अंश में परस्पर सहायक हैं। यह मूलाज्ञान जो आत्म-साक्षात्कार में बाधक है, उसकी चर्चा है, इसके रहते हुए जन्म, मरण, प्रबन्धाभ्यास कदापि नहीं रुक सकता है, और तूलाज्ञान जो कार्य के अन्तर्गत रहता है इसकी बढ़ती हुई सत्ता से अभ्युदय और सांसारिक सुख-भोग से मनुष्यसमाज वंचित रहता है। जिस प्रकार मूल और तूल भेद से अज्ञान दो प्रकार का है, तद्वत् ज्ञान के भी दो भेद हैं, एक ससार वैभव का सहायक है, तो दूसरा मोक्षसुख का नायक है। मनुष्य के लिए दोनों मार्ग उपयोगी हैं। यदि यत्न करे तो प्रथमपद का अधिकारी प्रत्येक पुरुष है और कोई विरला वीतराग ही द्वितीय पद का अधिकारी होता है। अतएव अज्ञान को दुर करने के लिए सम्यक्-ज्ञान का सहारा लेना ही सर्वोत्तम है॥

ननु-- कहीं अज्ञान, कभी विपरीतज्ञान, कदाचित् अविद्या

और क्वचित् संशय ज्ञान को दुःख का कारण कहा गया है, तो क्या इन के दूर करने का उपाय एक है या उस में भी भेद है ?

नहीं वह एक ही है—

यदि ज्ञानाभावो यदि विपरीतज्ञानं, यदि वा संशयज्ञानं, अज्ञानमेव तत्, सर्वंहि तत् ज्ञानेनैव निवर्त्तते न तु कर्मणा ॥१०५॥

चाहे ज्ञान का अभाव, संशय ज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा अविद्या हो, यह सब अज्ञान के ही रूपान्तर हैं। इस कारण से यह समस्तवर्ग ज्ञान से ही दूर हो जाता है, कारणान्तर कोई नहीं है। अत एव इस के विमल हो जाने से संसार के समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं और मनुष्य जीवन का फल सामने आने लगता है, यह आत्मा का सर्वोत्तम गुण है इस के सबल होने से शेष सर्व गुणों में साधुता आ जाती है। संसार में उन महात्माओं के ही नाम विख्यात हैं, जो इस गुण से सुभूषित थे, और वे निन्दा के पात्र हैं जो इसके विपरीत दोष से दूषित थे। राम, रावण की कहानी इस का प्रसिद्ध उदाहरण है। वर्त्तमान में भी यह प्रत्यक्ष है कि जिन जातियों को इस का सहारा है वहां सुख सम्पत्ति और सर्व प्रकार के सुख साधनों की उत्पत्ति का पसारा है, और जिन जातियों से यह न्यारा है वहां सुख की न्यूनता दुःख की वृद्धि, समीपवर्त्ति मनुष्य समाज का परस्पर वैमनस्य, दरिद्रता और कलह का अखाड़ा है प्रत्यक्ष देख लो अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। इस गुण का गुणी हो कर ही जीवात्मा संसार सागर से पार हो कर मुक्ति पद का अधिकार प्राप्त करता है। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती, यह वैदिकी परिभाषा है और समस्त विद्वानों का इस

अंश में अविरोध है। भक्ति पर अधिक बल देने वाले भी इस बात से विरोध नहीं कर सकते कि ज्ञान पूर्वक भक्ति ईश्वर प्राप्ति का साधु साधन है॥

मोक्ष मनुष्य का परमध्येय और उस का सर्वोत्तम साधन ज्ञान है, यह सत्सङ्ग, स्वाध्याय, यथा शक्ति एकान्तासन और वाक् संयमादि गुणों के सेवन करने से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, इस की महिमा को शास्त्र अनेक प्रकार से गायन कर रहा है यथा—

ज्ञानं पुरुषस्य तृतीयं नेत्रमिति॥१०६॥

ज्ञान आत्मा का गुण तो प्रसिद्ध ही है, शास्त्र इस को तृतीय नेत्र भी बता रहा है। जब यह मन्द पड़ जाता है तब यह दोनों नेत्र बेकार से ही हो जाते हैं, यह उतना ही काम दे सकते हैं जितना इन के अधिकार में है। दण्डी विरजानन्द जी महाराज की प्रज्ञाचक्षु संज्ञा है, उन के दोनों नेत्र बन्द थे। ऋषि दयानन्द जी के समान शिष्य को संसार भर के लिए उपयोगी बनाना उन के नेत्र के विकास का ही फल था। जब तक संस्कृत का साहित्य रहेगा तब तक ऋषि की ख्याति रहेगी और वह अपने अनुशासन में दण्डी जी का नाम बड़े प्रेम और आदर से लेते हैं। यह चर्चा आदि हो कर भी अनन्त सी प्रतीत होगी। इसी प्रकार देशान्तरों में भी ऐसे महात्मा (जो नेत्र हीन हो कर) मनुष्य समाज के लिए बड़े ही हितकर सिद्ध और प्रसिद्ध हुए हैं। बाह्य अङ्ग हीन पुरुष को कष्ट तो होता ही है यह देखने में आ रहा है, परन्तु सर्वाङ्ग पूर्ण सुन्दर आकृति होने पर यदि ज्ञान नेत्र मन्द है, तब शरीर का कोई अङ्ग भी

अपने अधिकार में पूरा नहीं होता, अधूरा ही रहता है। ऐसी अवस्था में संसार का ही सुख नहीं तो फिर मोक्ष कहां ?

उन्मत्त पुरुष को देखें कि उस की सर्वांग चेष्टा में व्यङ्ग पाया जाता है इस की कमी से धन, बल और विद्या उत्तम पदार्थ होने पर भी हानिकारक सिद्ध होते हैं, जैसे उपनेत्र (चश्मा) उस के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, जिस के नेत्र में कुछ प्रकाश हो, दृष्टिहीन के लिए वह मूल्यवान् होता हुआ भी निष्फल है, एवं यह चर्म चक्षु भी ज्ञान नेत्र के चश्मा के समान ही है, उस के प्रकाश से यह प्रकाशित है, उस के बल से यह सबल है, उस के निर्बल हो जाने से इन में भी निर्बलता और उस के बिगड़ जाने से यह बिगड़ जाते हैं, इस में एक विचित्रता है कि यह ज्ञाननेत्र घ्राणादि इन्द्रियों के साथ मिल कर तत्सदृश अपने स्वरूप को बना कर कार्य सिद्धि का हेतु बन जाता है। इस की कैसी अलौकिक गति है, शरीर के अन्य बाह्य अवयवों में यह बात नहीं है, इस लिए मनुष्य को इस के सुधारने में सदैव यत्नवान् होना चाहिए। बाह्य नेत्रादि गुणविशिष्ट वस्तुओं के बोध कराने में तो समर्थ है, परन्तु ज्ञाननेत्र का स्थूल, सूक्ष्म, गुप्त, प्रकट तत्त्वार्थ जानने का अधिकार है । परमात्मा को वेदादि सच्छास्त्र दूर से दूर और निकट से निकट बता रहे हैं, विचार में नहीं आता परन्तु ज्ञान नेत्र से उस का साक्षात्कार हो जाता है, विद्युत् का विकाश, वाष्प की शक्ति का प्रकाश, इस के ही प्रताप से हुआ है। मनुष्य समाज को उन्नति के पथ में ले जाना, आलस्य प्रमादादि दोषों को हटाना, इस का ही काम है, इस के बिना दान करोगे तो पछताओगे, दया करोगे

तो जगत्के उपहासपात्र बन जाओगे। जिसने इसको अपनाया है, इस ने उस को ऊंचा उठाया है। जिस का यह मित्र है वह सच्चरित्र है और जिस से यह दूर है उस का मन ईर्ष्यादि मल से अपवित्र है। नेत्र का कार्य तब ही सिद्ध होता है, यदि इस को प्रकाश का सहारा मिले, अन्यथा वह समीपवर्त्ती वस्तु के भी जतलाने में असमर्थ सिद्ध होता है, परन्तु ज्ञाननेत्र को बाह्य उजाले की अपेक्षा नहीं है। बारीक विचार करने वाले मनुष्य के ध्यान में यदि कोई विषय नहीं आता, तब वह इन दोनों नेत्रों को निमीलन कर के कुछ सोचता है, यह देखने में आता है। बाह्यनेत्रों के सामने यदि किसी प्रकार का भी आवरण आ जावे तो इन का कार्य बंद हो जाता है, परन्तु ज्ञाननेत्र इस दोष से कदापि दूषित नहीं होता। कहां तक कहें, इस के प्रताप से सर्व प्रकार का संताप मिट जाता है। साधारण वस्तु से ले कर परमेश्वर पर्यन्त इस के विचार का विषय है॥

पौराणिकी गाथा है कि महादेव का तीसरा नेत्र है। इस प्रकार की कल्पना चित्रों में तो देखने में आती है जैसे मनुष्य के दश शिर, या आकार मनुष्य का और शिर हस्ति का। परन्तु यह वास्तव में सम्यक् नहीं है, अतः उपर्युक्त वचन का आशय यह जान पड़ता है कि महादेव नाम परमेश्वर का है, उस का साक्षात्कार उस पुरुष को ही होता है, वही उस के जानने का अधिकारी है जिसके लिए इस तृतीय नेत्र का विकाश हो जाता है, उपास्य के साक्षात्दर्शन से जब अभेदान्वय हो जाता है, तब उपचार से उस पुरुष की संज्ञा महादेव ही हो जाती है। उपचार नाम किसी गुण विशेष से उस नाम का नामी हो जाना है,

यथा भारतीय महिलाओं का गृह में अधिक रहने के कारण गृह ही नाम पड़ गया है । इस ज्ञान की महिमा का व्याख्यान सर्व शास्त्रों में विद्यमान है, इस लिए ज्ञान ही मुख्य रूप से सांसारिक सुख और परमेश्वरप्राप्ति का साधन है । इसे प्राप्त करने और इस के बढ़ाने का यत्न अवश्य ही करना चाहिए। भारत निवासियों और अत्रत्य सन्त महात्माओं के पास ज्ञान के विषय में ज़बानी जमा खर्च तो बहुत ही है, परन्तु इस की शिक्षा से तो अनभिज्ञ ही हैं ॥

जब जीवात्मा मुक्त हो जाता है, तब पुनः वह कहां जाता है ? और उस की क्या अवस्था होती है ?

मुक्तस्य न गतिः क्वचित् सर्वत्र अव्याहतगतिः ॥१०७॥

मुक्तात्मा किसी देश या स्थानविशेष में जा कर निवास नहीं करता, अपितु बन्धन रहित होने से स्वेच्छाचारी और स्वच्छन्द वृत्ति होता है ॥

ननु—यदि ऐसा मान लें कि मुक्तात्मा किसी ब्रह्माण्ड के किसी शुद्ध विशेष प्रदेश में जा कर सर्वदा सर्वथा आसीन हो कर निवास करते हैं तो क्या हानि है ? यह कथन कदापि श्रद्धास्पद नहीं हो सकता । आप विचारें कि बिना किसी प्रकार हलन चलन के बैठने का नाम यदि मुक्ति है, तो पुनः बन्धन किस का नाम होगा । शरीर आत्मा का बन्धन है, इस में भी तो कभी इधर उधर गमन की इच्छा होती है । स्वतन्त्र पुरुष को राजा यदि किसी अपराध से कारागार में भेज देता है, उस के अन्दर भी किसी अंश में भ्रमण की आज़ादी होती है, परन्तु बन्धन के कारण उस

की इच्छा पूर्ण नहीं होती । इस निदर्शन से मुक्त पुरुष का एक स्थान में ही रहना, इधर उधर न होना, मोक्ष पद को सिद्ध नहीं करता । यह तो एक प्रकार का कड़ा बन्धन है, जिसकी तुलना संसार में नहीं मिलती । इसका सहचार शरीर के साथ न होने से सुषुप्त भी नहीं कह सकते, तो क्या इसको समाधि कहेंगे ? कदापि नहीं । समाधि सिद्ध होकर तो मुक्ति-पद को प्राप्त ही किया है पुनः समाधि की आवश्यकता ही क्या है ? जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि से मुक्ति विलक्षण होनी चाहिए । कारण यह है कि शरीर के सहित होने से इन अवस्थाओं का आत्मा में आरोप होता है, वास्तव में नहीं ॥

जब आत्मा यमादि के सेवन द्वारा स्वरूप साक्षात्कार से बन्ध के कारण प्राप्तशरीर को त्याग कर शरीरान्तर को प्राप्त नहीं करता है, उस अवस्था को शास्त्र मुक्ति बता रहा है । चित्स्वरूप आत्मा की यह अवस्था प्रकृतिजन्य दोषों से रहित और पवित्र-उज्ज्वल निज शक्ति सहित होनी चाहिए । तात्कालिक आत्मा विना नेत्र के देखता है, श्रोत्र के विना सुनता है, विना बुद्धि के विचार और मन के विना संकल्पादि करता है, इस प्रकार सर्वत्र योजना करनी चाहिए । निज शक्ति के विकास से पुनः उसको भौतिक करणों की आवश्यकता नहीं रहती । अब वह स्वतन्त्र है सिद्ध संकल्प है स्वेच्छाचारी है, ग्लानि और हानि से सर्वथा पृथक् है, न श्रम से उस को थकावट है और न संसार की किसी वस्तु से उसको लगावट है । वह मुक्तात्मा यहां पर विद्यमान होकर सूर्यलोक में जाने के संकल्पमात्र से ही वहां पहुंच जाता है, प्रकृति का बन्धन

जो प्रतिबंधक था, अब वह उसके साथ नहीं रहा ॥

पाठक ! अब विचार करें कि अनेकजन्म प्रयत्न साध्य अविद्या के बन्धन को तोड़ा और मोक्षपद से सम्बन्ध जोड़ा, उसका फल यह ही हुआ कि किसी स्थानविशेष में जाकर बैठ जाना और पुनः इधर उधर को न सरकना। यह अवस्था चेतनता-शून्य जड़ वस्तु की तो हो सकती है, ज्ञानयुक्त की नहीं। कैसी विचित्र बात है कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए साधन तो चेतन करता है, उसका प्रतिफल यह निकलता है कि वह जड़ या उसके समान हो जाता है, अन्यथा उसका कुछ भी तो व्यापार होना चाहिए। जब तक इसका पता न चले तब तक इसमें भ्रान्ति बीज है। लोकाचार से यह बात सिद्ध है कि स्वेच्छा से कोई मनुष्य किसी स्थान में कितने ही समय तक बैठा रहे वह वहां किसी प्रकार का संकोच या खेद नहीं मानता। परन्तु यदि किसी को दबाव से यह कहा जावे कि तुम को यहां दो घंटे बैठना होगा, तो इस समय का बिताना उसके लिए भाररूप हो जाता है, उससे मुक्त होकर आनन्द मानता है। केवल बैठना, खड़े रहना, लेटना अथवा चलना सब बन्धन ही हैं, यदि एक के पश्चात् द्वितीय को विगति न होवे। बन्धन के समय जीवात्मा जिन शक्तियों से कार्य करता था उन सब की सत्ता का सद्भाव आत्मा के स्वरूप में विद्यमान था, उनके पूर्ण विकाश में शरीर प्रतिबन्धक था। जब यह रुकावट जाती रही तो आत्मा की निज शक्तियों का प्रकाश होना चाहिए था। परन्तु मुक्त पुरुष में इससे विपरीत देखने में आता है कि बैठने की शक्ति ने उदय होकर अन्य समस्त

शक्तियों का तिरोभाव कर दिया। अत एव इसका नाम मुक्ति नहीं है। यह तो एक प्रकार की किसी ने व्यर्थ उधेड़ बुन की कल्पना की है। मोक्ष, आज़ादी, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता और स्वेच्छाचारिता तत्त्व ज्ञान से प्राप्त होने वाली वस्तु का नाम मुक्ति है। इस से अतिरिक्त का नाम बन्धन है, जिस का सहयोग विपरीतज्ञान और मिथ्याविश्वास के साथ है॥

क्या मोक्ष में दुःख की निवृत्तिमात्र ही है? अथवा किसी प्रकार का सुख भी है—

सर्वदुःखात्यन्तनिवृत्तिः परमानन्दप्राप्तिः ॥१०८॥

मोक्ष पद का वास्तविक अर्थ या स्वरूप यह है कि इसमें सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति, और परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं कि जिस में दुःख का सम्पर्क न हो। समस्त कार्यजगत् बाधना, पीड़ा और ताप से घिरा हुआ है। यह विवेक दृष्टि से देखा जाता है और लोकोत्तर पुरुषों ने इसका व्याख्यान किया है। प्रथम जीवन की लिप्सा मृत्यु से घिरी हुई है, लोकयश में किंवदन्ती का अपवाद, धनवृद्धि में उसके नाश का विवाद है। स्वस्थता को रोग धमकाते हैं और वह अपने साथ दुर्बलता को लाते हैं। कुटुम्ब की अधिकता में धनाभाव और विद्याविलास में क्रूर स्वभाव है, युवावस्था यदि सर्व प्रकार से सुख का स्थान है, तो अल्प समय आगे चल कर वृद्धावस्था का कष्ट महान् और विष के समान है। द्वितीय ताप दुख जो सब को सताता है, अपने से अधिक धनवान् गुणवान् और बलवान् को देख कर द्वेष करना सिखाता और बेचैनी को बढ़ाता है। यह

मिथ्या विचारों की उत्पत्ति का स्थान है, परनिन्दा और स्वप्रसंशा करने वालों का आदर और सन्मान है। ताप दुःख से मनुष्य के अन्तःकरण में शान्ति भ्रान्ति में बदल जाती है। सुख की सामग्री होने पर भी उस के निकट प्रसन्नता नहीं आती। यह मनुष्य के स्वभाव में कटुता को लाता है और अपनों को बेगाना बनाता है। संस्कार दुःख पूर्वानुभूत विषय-भोग की वासना तो संस्कारवशात् बनी रहती है, परन्तु साधनाभाव अथवा अवस्थाभेद से उपभोग शक्ति का ह्रास हो जाता है और वह वासना तरुण हो कर सामने खड़ी हो जाती है और मृत्यु समय तक पीछा नहीं छोड़ती, पुनः जन्मान्तर के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। समस्त सांसारिक सुख इन क्लेशों से विच्छिन्न हो रहा है, आत्मा इन से छूटने का यत्न करता हुआ भी इनमें उलझता ही जाता है और सुलझने का कोई मार्ग हाथ नहीं आता। हाथ भी कैसे आ सकता है कि जब तक यह प्रवृत्ति, निवृत्त, राग, द्वेष, धर्माधर्म, संसार चक्र को चलाने और पुनः इसमें ही फंसाने वाले नियमों का साथ देता रहे॥ बुद्धिमानों ने दुःखों को मिटाने और सुख साधनों को वश में लाने के अनेकानेक यत्न किए हैं, परन्तु सृष्टि से लेकर आजतक कोई भी पूरे नहीं उतरे। जिस दुःख के हटाने और दूर भगाने का प्रयत्न किया जाता है, वह अनायास किधर से आजाता है, अद्यावधि इसका कोई भी पता नहीं मिला। कैसी अनोखी बात है कितनी विचित्र समस्या है, कि धनादि सम्पत्तिशाली विपत्ति से घिरे हुए देखे जाते हैं, और गरीब उनकी अपेक्षा किसी अंश में सुखी पाए जाते हैं। यह सत्य है कि इनको धनहीनता

सताती है, फिर भी बेचैनी इनके पास नहीं आती। इस दल से संसार को बड़ी ही सहायता मिलती है, यह अधिक मात्रा में किसी के कष्ट का कारण नहीं बनता है। धनी जो सर्व प्रकार सुख से युक्त होते हैं, उन में स्वार्थ की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और पुनः वह अपने सुख के सामने दूसरों के सुख, दुःख की चिन्ता नहीं करते। अत एव इस दल से संसार में कष्ट बढ़ता ही जाता है। इन लोगों ने उचितानुचित को ध्यान में न लाकर अनेक प्रकार के भोजनों का विधान किया है, निवासार्थ विचित्र २ स्थानों का निर्माण किया है, ईर्ष्या और द्वेषवश अनेक प्रकार के विवादों का उत्थान किया है, वस्त्रों की कांट छांट से बनावट ने सन्मान, द्रव्य की आंट बांट में छल छद्म ने स्थान लिया है। सिनेमा और नाटकों का विस्तार, सरकस और अखाड़ों की भरमार के दर्शन से पता मिलता है कि मनुष्यसमाज ने अपने को प्रसन्न करने के लिए इन सब की रचना की है, इन में बहुत अधिक भाग धनी पुरुषों का ही है। ग़रीब नागरिक लोगों को तो इन धनिकों के सहचार से भूखे रहकर भी इनके देखने का स्वभाव हो गया है, ग्रामवासियों को तो इन के दर्शन का ध्यान भी नहीं आता। इन सब सुख के साधनों को एकत्रित करने पर भी क्या दुःख की अनुगति को रोक दिया है? नहीं प्रभुसृष्टि की क्या ही अद्भुत रचना है। जिसके निमित्त सदैव यत्न किया वह पास नहीं रहा और जिसकी कभी इच्छा भी नहीं करते थे वह शत्रु सामने खड़ा है!! सब सुख साधनों को दबाकर इसकी बेसमझी पर मुस्करा कर पूछता है कि मेरे मित्र!!! बता तो वह सुख और उसके साधन कहां हैं? कुछ भी तो उत्तर दो,

उत्तर न मिलने पर पुनः पूछता है कि कहो खामोश हों या बेहोश हो ? मुझे भुलाकर क्यों प्रमाद किया ? स्वार्थ से औरों को कष्ट पहुंचा कर क्यों अपना दिल शाद किया ? जो उचित नहीं था। अब पछताने से कुछ नही बनता है। किए का फल पाओ, मत घबराओ और आगे को सन्मार्ग में आओ ॥

सुनो ! मैं तुमको उपदेश देता हूं कि अपनी सुख की दशा में जिस धनवान् को ग़रीबों और अनाथों का ध्यान है, वह पुरुष जगत् में महान् है; जिस सुन्दर युवा बली पुरुष के मन में दुर्बलों के लिए हित का स्थान है, उस से संसार का कल्याण है। जिस पुरुष को अपने सुखमय जीवन में मृत्यु का विचार है, वह उदार है, इस से सब को और सब से इसको प्यार है। इन नियमों के पालन करने से आत्मा मोक्षपद को पाता है और इनके विपरीत चलने से संसार के बन्धन में आता है। एतावत् कथन से यह सिद्ध हो रहा है कि संसार में सुख, दुःख के संयोग का कदापि वियोग नहीं हो सकता। यदि गहरी दृष्टि से इसका स्वाध्याय करके विचार किया जावे तो यह निश्चय सा हो जाता है कि सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा बहुत ही अधिक है। यदि परिणाम में जीवन सफल तत्त्वसाक्षात्कार से आत्मिकबल की वृद्धि हो जावे तो समस्त श्रम सुख में बदल जाता है, यह मनुष्यजन्म की विशेषता है। इस से वंचित हो कर संसार में चलने वाले मनुष्य को सर्व सुख दुःखमय हो जाता है, अत एव प्रभुप्राप्ति या मोक्ष के सुख में दुःख का सम्पर्क नहीं है कारण यह है कि उसमें अज्ञान का आवरक नहीं। वह सुख परिणाम से हीन, दीनता रहित और सर्वथा स्वाधीन है,

वह परमेश्वर का स्वरूप है उसके संयोग से जीवात्मा भी अद्भुत अनूप है। अब आत्मा क्षुधा, पिपासा, जरा और मृत्यु के आघात से रहित तथा परमानन्द के सहित है, निष्काम होकर वह आप्तकाम है, अब जीव संज्ञा से छूटकर मुक्त आत्मा उस का नाम है॥

ननु-मुक्ति में दुःख का अभाव हो जाता है क्योंकि दुःख का अत्यन्तविमोक्ष ही अपवर्ग है। तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ या मोक्ष है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा को प्रकृति संयोग के बिना दुःख का योग नहीं होता यह सांख्य दर्शन में लिखा है। परन्तु सुख की उपलब्धि का विधान नहीं मिलता॥

उत्तर—

त्वदृते न अमृता मोदयन्ते ॥१०६॥

सर्वशास्त्र शिरोमणि वेद का यह वचन है कि हे परमात्मन्! आपके बिना नाश रहित जीव हर्ष को प्राप्त नहीं होते। वेद के स्वतः प्रमाण होने से इसके आगे अन्य किसी भी शास्त्र को आदर नहीं मिल सकता। केवल दुःखाभाव कहने में शास्त्र का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि दुःख के आघात से पीड़ित हुआ मनुष्यमात्र उसके हटाने का लगातार यत्न करता है। कारण के सहित जब दुःख दूर हो जाता है, तब पुनः सुख के आविर्भाव में कोई निराला यत्न नहीं करना पड़ता, वह तो स्वयं सिद्ध है। जैसे कि-मलिन वस्त्र को क्षार से प्रक्षालन करके उसकी मलिनता को मिटाना होता है, श्वेतता के लिए कोई निराला यत्न नहीं किया जाता, वह स्वयं विद्यमान है।

यह अनुयोगी दृष्टान्त है, प्रतियोगी उदाहरण यह है—दीपक को प्रज्वलित करना चाहिए अन्धकार को हटाने का कोई उपायांतर नहीं करना पड़ेगा। रोग दूर हो जाने से बल स्वयं ही आ जाता है॥

प्रथम विचार—जब अज्ञान ने ज्ञान को दबा कर आत्मा को दुःखी बनाया, तब ज्ञान अज्ञान का अभिभव करके आत्मा को सुखी क्यों नहीं बनावेगा? परस्पर भेद होने से दोनों के व्यापार में भेद होना ही चाहिए।

द्वितीय विचार—मुक्त अवस्था में दुःख का तो अभाव है, और आत्मा सुख का अनुभव नहीं करता है यह आप को अभिमत है, ऐसी अवस्था में जड़त्वापत्ति सिद्ध होती है, क्यों कि चेतन के विचार का कोई न कोई विषय तो होना ही चाहिए। यह विचित्र बात है कि जब तक अज्ञान का साथ रहा तब तक तो अल्पज्ञ आत्मा सुख दुःख दोनों का अनुभावक रहा, किन्तु ज्ञानकी अवस्था में विशेषज्ञ होने पर भी चेतनता-शून्य जड़ हो गया। क्या अच्छी उन्नति हुई मोक्ष का कैसा उत्तम उपहास है?

दुःखाभाव को मोक्ष मानने वाले की यह कल्पना है कि ज्ञान और अज्ञान दो विरोधी पदार्थ हैं, परस्पर विपरीत चलते हैं। अज्ञानावस्था में आत्मा सांसारिक दुःख, सुख दोनों का अनुभव करता है इसका नाम ही बन्ध है। ज्ञान के उदय होने से यदि दुःख दूर हो जाता है, तब सुख भी दृष्टि में नहीं आता, यही सिद्धान्त ठीक है। अन्यथा सुख के मार्ग में ज्ञान और अज्ञान की समानता होकर विरोध नहीं रहेगा अत एव दुःखा-

भाव ही मोक्ष का स्वरूप है ॥

समाधि—यह प्रत्यक्ष विषय है कि प्राणि मात्र को सुख लिप्सा और दुःख जिहासा सर्वदा एक रस बनी रहती है, यह सत्य है कि दुःख के त्याग के साथ सांसारिक सुख को भी छोड़ना पड़ता है, परन्तु सुखस्वरूप परमात्मा के दर्शन से प्राकृतिक निमित्तशून्य स्वयंसिद्ध सुख का आविर्भाव हो जाता है। ज्ञान और अज्ञान का विरोध तो इस अंश में है कि एक मोक्ष का हेतु और दूसरा बन्धन का निमित्त है। एक बार बार संसार में लाता है और दूसरा परमेश्वर से मिलाता है। मूल प्रकृति को संसार विकृति है, प्रकृति अनन्तरूपा है और कभी भी एकरस नहीं रहती है। जीवात्मा भूल से आज जिसको सुख का साधन जानता है, कल उसको ही दुःख का कारण मानता है। इस प्रकार विचार कर इधर उधर होने से कभी सुखी कदाचित् दुःखी होता ही रहता है। यह परिणामी पदार्थों के योग का माहात्म्य है। परमेश्चर एक रस, एक स्व-भाव है परिणाम विकार रहित होने से उसके संयोग से न आत्मा में भूल है और न कोई वस्तु उस के प्रतिकूल है, अत-एव स्वः स्वरूप से निष्पन्न, ब्रह्मानन्द में मग्न और तात्कालिक उसको सांसारिक किसी भी वस्तु में लग्न नहीं है। यह जो ऊपर कहा गया है कि दुःख के साथ सुख भी जाता रहता है, यह ऐसाही है इसको कोई भी नहीं हटा सकता। यथा-जीवनमुक्त दशा को प्राप्त होने वाले विवेकी पुरुष को सांसारिक दुःख त्याग की इच्छा से पुत्रवित्तलोकैषणाजन्य सुख भो छोड़ना ही पड़ता है, तत्पश्चात् आत्मा निवातस्थ दीपशिखा के सामन

अचल हो कर अविराम अन्तस्थ सुख को साक्षात् करता है। क्या स्वर्ग और मोक्ष में कोई भेद है ? नहीं, वेद में तो मोक्ष, मुक्ति अपवर्ग और ब्रह्मप्राप्ति एकार्थवाची है, परन्तु पौराणिकी परिभाषा में आ कर इस शब्द का कुछ दूसरा रूप हो गया है, वहां स्वर्ग और नरक की जो कल्पना की गई है वह युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होती। वह किसी स्थानविशेष की जहां सर्वदा सुख अथवा सदैव दुःख ही स्वर्ग या नरक की कल्पना करता है। इस ब्रह्मचक्र में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जिस में सुख दुःख संभेद से होते हों। असङ्ग पुरुष परमात्मा को छोड़ कर जितना प्रकृति का कार्य है तज्जन्य शरीर परिणामी हैं, उन से एक रस सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? अत एव यह कथन उन्मत्त प्रलाप बालबुद्धि के समान है। यह कहना कि दुःख विरोधी सुखविशेष का नाम स्वर्ग और सुख विरोधी दुःख विशेष का नाम नरक है, ठीक ही है। ऐसे प्राणी सर्वत्र पाये जाते हैं जो न्यूनाधिक तुल्य सुखी या दुःखी देखने में आते हैं। इस ही भूमण्डल पर ऐसे मनुष्य जो प्रकृति से सुन्दर धनवान्, गुणवान्, बली, विद्वान् हैं परन्तु सर्वदा सर्वथा वह दुःखसे हीन हैं यह कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। प्रत्येक प्रकार का सुख दुःख से विच्छिन्न देखने में आ रहा है। यही दशा सर्वत्र जान लेनी चाहिए। इसलिये स्वर्ग या नरक सर्वत्र है और वैदिक मर्यादा में तो स्वर्ग नाम मोक्ष और बन्धनाम ही नरक का है॥

प्रथम परीक्षा—क्या स्वर्ग में पुरुष जो सुख का अनुभव करता है, वह शरीरसहित है या तद्रहित है। सहित मानने में यह दोष होगा कि प्रकृति का समस्त वर्ग परिणामी होने से

तन्निर्मित शरीर का विकृत होना स्वयं सिद्ध है। पुनः तत् सहचार से आत्मा स्थायी सुख भोग भागी कैसे हो सकता है। यदि शरीर रहित है, तो उसे मोक्ष कहना होगा॥

द्वितीय विचार–स्वर्गीय पुरुषों का आधार भूत स्थान जहां वह रह कर आनन्द मनाते हैं, वह नित्य है अथवा अनित्य है? नित्य स्वीकार करने में वह इस ब्रह्माण्ड से बाह्य होगा क्योंकि सर्व संसार उत्पद्यमान होने से विनाशी है, नित्य मान कर क्या वह कार्य है अथवा कारण? कार्य होने से तो संसार सम विनश्वर होगा। कारण मानने में कोई उस का कार्य होना चाहिए। वह अधिकरण ही जब परिणाम में आ कर विकृति में ढल जाता है तो वहां के निवासी सदा सुखी होंगे, यह कैसे सत्य हो सकता है?

तृतीय विचार–स्वर्ग सुख भोग के लिए वहां आत्मा को वही शरीर जिसको आत्मा ने मृत्यु के समय छोड़ा था, मिलता है या उस से भिन्न होता है? प्रथम शरीर तो ज्वरादि रोगों से जीर्ण शीर्ण हो चुका था, उस से सुख का अनुभव कैसे हो सकता है? द्वितीय उत्पद्यमान होने से जन्म दुःख सहित है, अतः वहां सर्वथा सुख ही है, यह सिद्ध नहीं होता है। यदि कहा जावे कि वही शरीर ईश्वरीय नियम से सुन्दर सुडौल युवा हो कर वहां पहुंच जाता है। ऐसी बे मेल कल्पना से सन्तोष किस को होगा। वह शरीर तो अग्नि में जला दिया, अथवा मृत्तिका में दबाया या पानी में बहा दिया गया, जिस की इच्छा में जैसा आया वैसा किया, आत्मा का उस के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उन के परमाणु छिन्न भिन्न हो जाने

से शरीर निर्माण के निमित्त कैसे हो सकते हैं ? और बिना किसी चेतन के अदृष्ट के उस जड़ शरीर में स्वर्ग पहुंचने की गति कैसे होगी ? क्या विचित्र बात है कि मनुष्य ईश्वरीय नियम को अपनी बुद्धि के अनुकूल बनाना चाहता है, जो सर्वथा असंगत है ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार, सृष्टि क्रम के विचार से जो बात सिद्ध हो, उस का मानना ही ठीक है । इसी प्रकार शिव-लोक और गोलोक की कल्पना की गई है । जो सत्य प्रतीत नहीं होती । प्रथम तो यह है कि सर्वत्र संसार में जीवात्मा शरीर के साथ तारतम्यता से सुख दुःख भोग भागी होगा । द्वितीय यह है कि आत्मा शरीर रहित दुःख से मुक्त परमार्थ सुख युक्त अपनी निज शक्तियों से स्वच्छन्द विचरेगा । तृतीय यह है कि प्रलयावस्था बद्ध जीवों के लिए सुषुप्ति के तुल्य होने से सर्वथा समान होगी, कई एक का मोक्ष के विषय में ऐसा भी सिद्धान्त है कि दीप शिखा के शान्त हो जाने के समान चेतनविशिष्ट देह का विनाश ही निर्वाणपद है, इस से अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष नहीं है । यह कथन तो कुछ सरल सा जाना जाता है परन्तु कई एक दोषों से दूषित है—

प्रथम—यह निर्वाणपद सदैव सबको अनायास प्राप्त है इस के लिए किसी को भी कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं है॥

द्वितीय--मोक्ष प्राप्ति के लिए शास्त्र कुछ साधनों का आदेश करता है वह आप्तोपदेश सर्वथा व्यर्थ हो जावेगा ॥

तृतीय—स्मृति का कोप होगा । परंपरा से यह श्रवण करते आये हैं कि सुकृत कर्मों के करने से ही आत्मा का कल्याण

है। उपर्युक्त सिद्धान्त इस मार्ग का बाधक हो कर अन्तःकरण की सत्प्रवृत्ति को दबा कर स्वेच्छाचार में चला देगा, जिस से संसार में अनेक प्रकार के उपद्रवों का उत्थान और मनुष्य समाज विपत्ति का स्थान बन जावेगा ॥

चतुर्थ—कुप्रवृत्ति और सत्प्रवृत्ति में कोई भेद न रहेगा, येनकेन प्रकारेण स्वार्थसिद्धि करना मनुष्यका ध्येय हो जावेगा ॥

पंचम—कोई भी निश्चय नय न होने से राजशासन में संकोच होगा क्योंकि यदि किसी ने किसी का वध किया तो उस को निर्वाण प्राप्त हुआ और यदि राजा ने मारने वाले को दण्ड दिया तो उस ने भी निर्वाण पद प्राप्त किया, इस निर्वाण नीति से तो सदा सब को भीति होगी। यह तो न कुछ लेना न देना मग्न रहना इत्याकारिका वार्ता हो गई। यदि यह कहा जावे कि संसार में दोषों का अनुपात न हो जावे, अत एव सुनियमों का पालन करना अत्यावश्यक है। यह विचार तो साधु है, परन्तु यह आप को ध्यान में लाना होगा कि जिन नियमों के पालन करने से संसार की मर्यादा स्थिर होती है, वही नियम निर्वाणपद के साधन हैं, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। इस से केवल शरीर त्याग ही मोक्ष है, यह सिद्ध नहीं होता ॥

मेरे मित्र ! अब आप विचार करें कि शास्त्र का संकेत तो रोग को दूर कर के मनुष्य को स्वस्थ बनाने, और आप का सिद्धांत रोगी को मार कर रोग मिटाने के समान है या नहीं ?

वैदिक सिद्धान्त मोक्षावस्था में आत्मा के साथ शरीर का संयोग नहीं बताता, और न प्रकृति के किसी भी कार्य का आत्मा के साथ तात्कालिक सम्बन्ध दर्शाता है, अपितु

स्वस्वरूप से आत्मा का आविर्भाव होता है, यह बताता है ॥

यदा प्रकृतिबन्धनात् विमुच्यते तदा स्वाराज्यमधिगच्छति ॥११०॥

विचार शील विद्वानों का यह सिद्धान्त वेदानुकूल है, कि जब विमल विचार से और शुभ कर्मों के अनुष्ठान से आत्मा प्रकृति के बन्धन से पृथक् हो जाता है, तब स्वाराज्य अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त करता है। स्वस्वरूप से प्रकाशमान हो जाता है। स्वाराज्य, स्वर्ग, मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग यह सब एकार्थवाची शब्द हैं। प्रकृति का यह स्वभाव है कि वह अल्पज्ञ जीव को उलझन में फंसाती रहती है, अथवा अल्पज्ञता के कारण जीव स्वयमेव उस के वश में होता जाता है। विशेषज्ञ को कृतकार्य जान कर स्वयं उससे दूर हो जाती है, अथवा वह स्वयं प्रकृति जन्य विषयवासनाओं से विमुख हो कर स्वाधीनता के महत्व को अनुभव कर के उस के काबू से बाहर हो जाता है। यह अलौकिक बात है, एका एकी ध्यान में आने वाली नहीं। जिस की समझ में आ जाती है, पुनः वह अधिक संसार को नहीं बढ़ाता, और न वह दर बदर भटकता ही फिरता है, वह अपने उद्देश्य की ओर दौड़ता है। साधारण जन प्रकृति के अनुचर हो कर विषमयी विषय रूपी धारा में बहे जाते हैं। यह प्रत्यक्ष होने पर भी सब की समझ में नहीं आती ॥

ननु—मुक्तात्मा तत्काल रूपादि के संसर्ग से सुख को अनुभव करता है या नहीं? यदि करता है तब तो अस्मदादि के समान ही है यदि नहीं तब जड़त्वापत्ति का विधान है ॥

उत्तर-करता है परन्तु आप के विचार में जैसा है वैसा नहीं। आपने सांसारिक विषय के साथ उस की तुलना की है ॥

मेरे मित्र ! जब उस को साधन सम्पन्न हो कर जीवन मुक्त दशा में ही इन से ग्लानि थी, तो क्या विदेह मुक्ति में उस का रुख इस ओर हो सकता है ? कदापि नहीं । वह चेतन है, अत एव उस के अनुभव का कोई विषय अवश्य होना चाहिए, अन्यथा जड़त्त्वापत्ति होगी ॥

इस को दृष्टान्त से समझें । आज कल भारतीय नवयुवक जिस के पास कुछ पैसे हैं, वह पाश्चात्य लोगों के गुणों से विहीन, बाह्य रहन सहन में लवलीन, थियेटर, नाटक, सिनेमा आदि के देखने में बड़े ही प्रवीण देखे जाते हैं, पर इतना ध्यान में रखना चाहिए कि सत्कारं प्रतिष्ठा, गौरव गुणों के पीछे दौड़ता है केवल, बाह्य व्यापार से इस को ग्लानि है । एक नवयुवक सिनेमा देखने को जाता है, मार्ग में उस की एक मित्र से भेंट हुई, उस ने पूछा कहां जाते हो । दूसरे ने बताया सिनेमा दर्शनार्थ । उसने कहा कि मित्र एक नया सिनेमा आया है, नगर में उस की बड़ी प्रशंसा हो रही है, "न भूतो न भविष्यति" वाली बात है । वह तुरन्त ही प्रथम विचार को छोड़ उस में अधिक सुख जान कर उसके साथ हो लेता है, यह संसार में दृष्टचर है । जब साधारण जन भी अधिक सुखलिप्सा से अल्प को छोड़ देता है, तो ज्ञानवान् आत्मा संसार के तुच्छ सुख की ओर मति क्यों करेगा ? पुनः उसके अनुभव का विषय क्या होगा ?

पाठक ! ध्यान से सुनें । प्रकृति गृह अतिगृह लक्षण बंधन का निर्माण करके अल्पज्ञ जीव को अपने वश में करती है । गृह नाम इन्द्रियों का, और अतिगृह नाम विषयों का है । इन दोनों

के आघात प्रत्याघात से अन्तःकरण विकल होकर कचित् कदाचित् सुख दुःख को अनुभव करता हुआ विराम तो चाहता है, किन्तु निर्बलता के कारण बार २ उस के बन्धन में आता ही जाता है। यह विषय इन्द्रिय संसर्गजन्य जो दबाव है, इसको जन्म समय जीवात्मा साथ लाता और मृत्यु के पश्चात् अपने साथ ले जाता है। बालपन में इसका आकार जिस प्रकार का होता है, युवावस्था में दूसरे रूप को धारण कर लेता है, और वृद्धावस्था में प्रकारान्तर में चला जाता है अर्थात् शरीर की वृद्धि ह्रास के साथ साथ इस में न्यूनाधिकता होती ही जाती है। जब तक मोक्षसाधन सम्पन्न होकर मनोवृत्ति यथार्थ में साध्वी न होजावे। जैसे एक युवा दीर्घरोगी की समस्त इन्द्रियें अशक्त हो चुकी हैं और उसको किसी प्रकार के विषय की लालसा नहीं है, क्या ऐसी अवस्था के देखने से आप यह विचारेंगे कि इन्द्रिय विषयजन्य जो खेंचतान थी वह सब जाती रही ? कदापि नहीं, वह सब आकर्षण कूर्माङ्ग संकोच के समान सर्वथा रोगी की जीवन इच्छा में जा समाता है, पुनः वही उसकी स्वस्थता में बाह्य व्यापार में आता है, यह प्रत्यक्ष है। बस प्रकृति का उपर्युक्त बन्धन इस ही रूप में जीवात्मा को विवश करता हुआ सुखी दुःखी बनाता ही रहता है, परन्तु क्षीण होने में नहीं आता। यथा बीज से अंकुर बाहर आता है, और पुनः बीज के रूप में हो जाता है। यही क्रम इन्द्रिय विषय भोग वासना का है, इस अभ्यास की समाप्ति तभी होती है जब सुकृत, पूर्वादृष्ट सहायक, वर्त्तमान संतसमागम, वेदान्त आदि शास्त्र का स्वाध्याय, एकान्त सेवन, वाक्संयम, विषयदोषदर्शन,

अहंता ममता का त्याग और मुमुक्षा में अनुराग से विषयभोग में ग्लानि हो जाती है। कदाचित् उपयोग में आने से उपरामता के कारण उसकी भावना अन्तःकरण में स्थिर नहीं होती। अत-एव प्रकृति के बन्धन से छूटकर आत्मा स्वाराज्य को प्राप्त होता है। यह सत्य ही है॥

अब पाठक उस क्रम पर ध्यान दें कि जीवात्मा चेतन स्वेच्छाचारी मुक्तावस्था में विषयों का अनुभव कैसे करता है? प्रथम शब्दजन्यसुख—सम्प्रति जितने प्रकार के वादित्रों का निर्माण होरहा है और उनमें अनेक प्रकार के मधुर सुरीले मन को प्रसन्न करने वाले शब्द तारतम्यता से सुनाई देते हैं, यह सब उस शब्द के प्रत्याभास रूप हैं, जो निरन्तर अविरत सदैव आकाश के अवकाश में होता रहता है, वह बड़ा ही विचित्र अद्भुत सुखप्रद है, जब इच्छा हो उसको सुनाता है। सितार, तानपुरा, हारमोनियम आदि बाजों के शब्द स्वर, सिनेमा, थियेटर में जो सुरीले गायक आदि गायन करते हैं, यह सब योगजशब्द पृथिव्यादि के संयोग और मनुष्य के बुद्धिकौशल से रचना में आते हैं, अत एव यह कुछ समय उपयोग के पश्चात् ग्लानिकर हो जाते हैं। उस शब्द में यह दोष नहीं है, वह शुद्ध आकाश का निज गुण है॥

अब स्पर्श के विचार पर ध्यान दें—लोग जितने प्रकार के स्पर्श को (पृथ्वी से लेकर वायु पर्यन्त कठोर कोमल, शीत, उष्ण) अनुभव करते हैं यह सब योगज हैं, यह उस असल की (जो वायु का निज गुण है) सब नकल हैं, अतः उसके समान इसमें सुख कहां हो सकता है। वह बड़ा मनोरम है मुक्तात्मा

की जब इच्छा हो उस स्पर्श का अनुभव करता है ॥

अब रूप का विचार करें-पृथिवी से लेकर अग्नि पर्यन्त हरित नील पीतादि अनेक भेद भिन्न रूप जो देखने में आते हैं, अपनी २ शोभा दिखा कर मन को लुभाते हैं यह सब वैकारिक हैं। अनुपम बिम्बस्वरूप आग्नेय के प्रतिबिम्ब हैं, अत एव कालान्तर में यह विकृत हो जाते हैं। वह अग्नि का स्वच्छ निजरूप मुक्तात्मा के विचार का विषय होता है ॥

अब रस का विचार भी इसी प्रकार है-सम्प्रति जो मधुरादि रस अनुभव में आते हैं, उनका प्रादुर्भाव पृथ्वी से लेकर जल पर्यन्त भूतों के हेल मेल से हुआ है, अत एव विकृत हैं। वह रस जो जल के स्वभाव में विराजमान है, जिस का द्वितीय नाम अमृत है, इसी लिये लोग स्वच्छ पवित्र जल के दर्शन, पान और स्नान से प्रसन्न होकर यह अमृत है, कह देते हैं। वह विचित्र और पवित्र रस मुक्तात्मा के विचार का विषय होता है, उस भोग का वही भागी है।

गन्ध का विचार भी इसी प्रकार है, पृथ्वी में निज गुण गन्ध है, वह बड़ा ही उत्कट है। वर्तमान में जो प्रकट हो रहा है वह सब भूतों के गुणों का विपरिणाम है, इस लिए उसके स्वाभाविक गुण का उदय नहीं होता, प्रत्युत् कदाचित् दुर्गन्ध से दूषित भी हो जाता है, जो इन भूतों के संग से रहित स्वयं सिद्ध है, वह अत्यन्त हर्षोत्पादक है, उसको मुक्तात्मा अनुभव करता है ॥

इस प्रकरण के साथ २ इतना विचार और भी कर लेना उचित ही है कि भूततन्मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण

अस्मदादि की इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकते। कारण यह है कि हमारी इन्द्रियें भी यद्यपि अतीन्द्रिय हैं, तथापि गोलक (जिन मार्गों से इन्द्रियें अपने २ विषयों का ग्रहण करती हैं वह सब) स्थूलभूतों के कार्य हैं, अत एव उनके स्वाभाविक गुण के जानने वा जतलाने में असमर्थ हो जाती हैं। दृष्टान्त से भी यह बात सिद्ध हो जाती है। यदि ख़शख़ाश को बालुका में मिला दें तो मनुष्य तो उसके पृथक् करने के अयोग्य है, परन्तु पिपीलिका उस के एक एक दाने को निकाल लेती है। उस के पास हमारी अपेक्षा औज़ार सूक्ष्म हैं। यदि लवण को पीस कर शक्कर के पास रखदें, तो मनुष्य कभी शक्कर के स्थान में दुग्ध में लवण को डाल कर धोखे में आजाता है परन्तु चिऊंटी उस ओर नहीं झुकती। बनावटी मूसे पर बिल्ली कभी भी हमला नहीं करती। मनुष्य को भ्रम हो सकता है। तब इस प्रकार भेद तो संसार में भी देखने में आता है, तब मुक्त और बद्ध की अवस्था में तो सर्वथा वैपरीत्य है॥

मुक्तावस्था में जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग से सर्वथा पृथक् होता है। दर्शनादि की शक्ति स्वयंसिद्ध उसके स्वरूप में विद्यमान है, उसका उपयोग करना उसके आधीन है और सांसारिक विषय दृष्टिपथ में आरहे हैं, इनका सूक्ष्मांश स्वभाव सुन्दर जिस के सहारे इस सृष्टि की सत्ता है, वह उसके विचार का विषय सदैव से विराजमान है, वह उसको अनुभव करता है। मुक्तात्मा लौकिक समस्त प्रक्रिया को देखता है, परन्तु उसको किसी के साथ भी संसर्ग नहीं। कारण यह है कि उसने उस अलौकिक शक्ति को सम्पादन किया है कि जिस के भूल

जाने से संसार चक्र में टक्कर खारहा था, अत एव वह सब को देखता है परन्तु उसका कोई भी दर्शन नहीं कर सकता ॥

क्या मुक्तात्मा को कभी नाटक सिनिमादि जो आज कल प्रचलित हैं इनके दर्शन की इच्छा होती है या नहीं ? इसका उत्तर यही है कि स्वतन्त्र स्वभाव में कुछ कहा नहीं जासकता; परन्तु इतना विचार करना ठीक ही है कि यह सिनेमा आदि के निहारने से उस पुरुष को तो लाभ हो सकता है जिस ने उसका निर्माण किया है परन्तु दर्शकजन (जिन का अनुभव अपरिपक्व है) तो द्रव्य देकर रात को जाग कर और मन्द संस्कारों को साथ लाकर अपने जीवन को अनुमन्द बनाते हैं। भारतीय कालिजों के विद्यार्थी जिन्हों ने विद्या को प्राप्त करके संसार के लिए कुछ उपयोगी सिद्ध होना था, सिनेमा आदि की वेदि पर बड़ी प्रसन्नता से यौवनारम्भ में उदय होने वाली शक्तियों की आहुति दे आते हैं। पश्चात् जब अपना ही जीवन बेकार निःसार परिभार हो जाता है तो दूसरे के हित की चिन्ता कौन करे ? थियेटरादि दर्शन कभी २ शिक्षाप्रद भी हो जाता है। यदि कोई उसको हित की दृष्टि से देखे। पर यह भारत के भाग्य में कहां ? कितने ही विद्यार्थी इन इल्लतों के इल्लती नहीं होते, वह विद्या में संलग्न, समय की परीक्षा में मग्न रहते हैं, परन्तु चंचलचित्त छात्र उनका पीछा नहीं छोड़ते। या तो उनको उस मार्ग में ले जाते हैं, अथवा उनको सताते हैं, और कोई २ समझदार तेजस्वी उनके वश में नहीं आते प्रत्युत विपरीत मार्ग से उनको बचाते हैं। इन भाग्यवानों से लोकहित की आशा हो सकती है, मनुष्य समुदाय उनको बड़ी आदर की

दृष्टि से देखता है। ऐसे उदार आत्मा जो अपने साथ शुभ संस्कारों को लाते और वर्त्तमान में भले पुरुषों के उन्नत विचारों से सहायता पाते हैं, वही परमेश्वरकृपा के पात्र कहलाते हैं। भारतवर्ष में ऐसे विनम्र विवेकी, विचारशील पुरुषों की न्यूनता ही हो रही है। इस वैज्ञानिक युग में हितकर पदार्थों के साथ २ जीवन को बिगाड़ने वाले सामान अधिकांश में फैल गए हैं, अन्तः विकारों को जगाने वाले वैर विरोधादि दोषों को उठाने वाले दृश्य जहां तहां देखने में आरहे हैं॥

पाठक विचार करें कि लेला मजनूं कब हुए, कहां पर हुए, ठीक पता नहीं चलता है परन्तु उनके चरित्र दर्शन का निदर्शन जिस प्रकार से आजकल इस देश में बताया जारहा है वह जनसमाज के संस्कारों को दूषित करने के लिए पर्याप्त है। मजनूं ने लेला को एक बार देखा था, उस दृश्य ने ही उसकी चित्तवृत्ति को सर्वसांसारिक वस्तुओं से हटाकर एकाग्र कर दिया, यत्न करने पर भी उसकी मनोवृत्ति अपने स्थान से हट कर दृढ़तर ही होती गई। अब मजनूं के विचार में समस्त जगत् बिम्बस्वरूप लेला का ही प्रतिबिम्बरूप है। गाथा है कि तत्रस्थ दो धनी पुरुषों में एक लक्ष रुपये के विषय में विवाद हो गया, जब किसी प्रकार भी निपटारा न हुआ तो दोनों इस बात पर सहमत हो गये कि चलकर मजनूं से पूछ लें, वह जिसको बतावे वही धन पावे। ढूंढने से जङ्गल में बैठा मिला बहुत लोग एकत्रित हो गए, पूछने पर कहीं कुछ बोलता है, उन्मत्त मदोन्मत्त के समान दृष्टि को कभी ऊपर ले जाता कभी नीचे लाता है। शरीर सर्वथा दुर्बल है, परन्तु चेहरे पर चमक

निराली है किस ख्याल का वह ख्याली है, कोई नहीं जानता। लोग उसकी चेष्टा को देख कर चित्र के समान देहाभिमान को त्याग कर इधर उधर उपस्थित हैं, यह धन किस का है ? इस का स्वामी कौन है ? किस को मिलना चाहिए ? बार बार पूछने पर उत्तर देता है, कि लेला का है उसको मिलना चाहिए। उस वीतराग पुरुष की इस अवस्था को निहार कर लोग चकित हो गए, कोई उसको प्रसन्नता से देख रहा है, कोई मुग्ध होकर खड़ा है, किसी के नेत्रों से आंसू गिरते हैं, किसी में से चलने की शक्ति जाती रही, कोई उस की प्रशंसा करते हैं, कई एक प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारी ऐसी दशा बना दे, संसार की मोह-ममता से छुड़ा दे, कोई झुरमट बांधे खड़े हैं, वह न कुछ किसी से कहता है, न नेत्र उठा कर निहारता है, कौन जाने वह क्या विचारता है ? न उस को भूख प्यास ही सताती और न सांसारिक किसी वस्तु की लिप्सा ही अपना प्रभाव जमाती है। बेफिकर-चिन्ता से दूर है, प्रकृति विशुद्ध बोध से भरपूर है, न लोकहिताहित का सन्ताप है, न वैर विरोध आदि का ही मन पर आघात है। मनुष्य जीवन के यथार्थ फल को उठा रहा है और अपने उदार चरित्र से जगत् को हंसा रहा है, कभी रोता, कभी हंसता और कभी फरयाद करता है, कोई नहीं जानता कि इस दशा में किस को याद करता है। अन्त में जगतुजन उस का साथ कब तक दे सकते थे हार कर थके, और पीछे हटे, लौट कर देखते आते और आगे बढ़ते जाते हैं। सब का यही परामर्श हुआ कि अब यह धन लेला को दे देना चाहिए। सब लोगों ने उस ओर रुख किया यत्न करने से मिले

और उसे कहा कि लेला ! मजनूं ने यह कहा है कि यह धन लेला का है उस को दे दो। उस ने धीमे से उत्तर दिया कि यह मजनूं का है उस को मिलना चाहिए और कुछ भी न कहा । एक पुरुष ने बड़े साहस से प्रश्न किया कि लेला ! तू इतनी कृष्ण वर्णा है । मजनूं का तुझ पर इतना अगाध प्रेम किस प्रकार हो गया ? उस ने हंस कर कहा, तुम मुझ को अपने नयनों से देखते हो यदि मजनूं के नेत्र से अवलोकन करो तो मेरे सदृश गौरवर्णा सुन्दरी किसी को नहीं पाओगे । इस का नाम ही दृष्टिभेद है । ऐसे पवित्र पुरुषों का जीवन नाटकों में जिस बेढंगे प्रकार से दिखाया जाता है, वह लाभ के स्थान में हानिकर हो रहा है। विद्यार्थी जीवन मनुष्य जीवन की आधार शिला है विद्योपार्जन का समय बड़ा पवित्र होता है, ध्यान से इस को सुरक्षित रखना चाहिए, इस के बिगड़ जाने से मनुष्य जीवन दोषों का स्थान बन जाता है पुनः 'न घर के और न घाट के, न राह के न वाट के' यह उक्ति चरितार्थ होने लगती है। शोक से कहना पड़ता है कि इस रोग का रोगी अधिकांश में विद्यार्थीदल ही देखा जाता है। इन का स्वभाव हट जावेगा, यदि भारत का भविष्य अच्छा होने वाला होगा, इन को समझ आ जावेगी, यदि भारत के भविष्य में कीर्त्ति और यश का विधान होगा ॥

अब इस अवान्तर गाथा को छोड़ पुनः प्रकृत विषय का अनुसरण किया जाता है। इस ब्रह्माण्ड में सदैव किसी मण्डल की उत्पत्ति और किसी का विलय होता ही रहता है। महाप्रलय समयान्तर्गत रात्रि दिन के समान इस की पहिचान है, उस

उत्पत्ति विनाश का दृश्य बड़ा अद्भुत और आश्चर्य जनक है। यह विचित्र नाटक मुक्त पुरुष के ज्ञान के सामने होता रहता है, जिस के विषय में आप का प्रश्न था। यह नाटक उस के आगे अल्प, तुच्छ और ग्लानिकर है अत एव वह उन विचित्र दृश्यों का दर्शक और तात्कालिक उत्पन्न होने वाले भय शोक से (शरीर रहित होने के कारण) पृथक् रहता है। उत्पत्ति विनाश के समय जो आश्चर्यजनक घटनायें होती हैं उन को कोई भी लौकिक पुरुष नहीं जान सकता। परमात्मा का ईक्षण होना और प्रकृति के अवान्तर वर्ग का चक्र में आने से किसी मण्डल का स्वरूप में आना और किसी का अदर्शन में जाना होता ही रहता है। जब समस्त मनुष्य वर्ग पश्चात् भावी है, तब उस समय के रचन प्रकार और पूर्वापर व्यवहार की यथार्थ विज्ञप्ति कौन दे, अत एव मुक्तात्मा के ज्ञान का विमल विस्तार और उस के प्रयत्न का अनथक व्यापार होने से उस के विचार का विषय तो समस्त प्रक्रिया हो सकती है, इस लिए इस तुच्छ नाटक दर्शन में (जो अल्पज्ञ पुरुषों की रचना है) इस की इच्छा कैसे हो सकती है ? यदि हो तो स्वच्छन्द वृत्ति में कुछ नहीं कहा जा सकता। उस ने जिस भी विषय को अनुभव करना होता है, संकल्प मात्र से उस के ज्ञान के सामने आता है॥

प्रश्न- क्या मुक्तात्मा माता पिता, बन्धु, भ्राता, स्त्री, पुरुष, गुरु, स्वामी राजादि सम्बन्धिजन्य जो सुख है, उसको कभी अनुभव करता है वा नहीं ?

हां करता है परन्तु वह कुछ सांसारिक सम्बन्ध से विलक्षण होता है। अलौकिक होने के कारण इस अवस्था में

किसी प्रकार से भी विशेष विधान नहीं हो सकता। केवल सामान्य कथन है, विशेषज्ञ मुक्तात्मा ही उसको समीचीनता से जानने का अधिकारी है, लौकिक सम्बन्ध कोई भी ऐसा नहीं, जो एक रस बना रहे जिस में कालान्तर में हलकापन न आजावे, अत एव इससे वह कुछ विचित्र है॥

लोक में होने वाले जितने भी सम्बन्ध हैं वह सब परमात्मा में संघटित होते हैं, इस लिये सर्वोपरि वेदों में माता, पिता, बन्धु, सखा, मित्र, स्वामी, गुरु, राजा, स्त्री, पुरुषादि नाम पाए जाते हैं और इनकी अर्थसत्ता का सद्भाव परमेश्वर में विद्यमान है, इन सम्बन्धों में भी जो कभी २ सुख की प्रतीति होती है, वह उस आनन्दघन सुखसरोवर की ही शीतलता है, जो एकाग्रचित्त में आस्वादित हो जाती है, परन्तु वह चंचलचित्त में आभा को नहीं पाती॥

अब मुक्तात्मा जिस दृष्टि से प्रभु की ओर निहारता है वैसे ही सुख का उद्भव होता हुआ प्रतीत होता है, वह एक ही समस्त गुणों का भंडार है। प्रत्येक सौन्दर्य का आधार है, सर्व प्रकार के सुखों का आगार है लोक में होने वाली सर्व प्रकार की विभूति विपरिणाम सहित है, परन्तु जिस को मुक्तात्मा अनुभव करता है वह विशुद्ध परिणाम विकार रहित है, यही विचित्रता है। स्त्री शब्द पर लोगों को कुछ आश्चर्य होगा मेरे मित्र! परमेश्वर के गौणिक नाम पुं, स्त्री और नपुंसकलिंग तीनों में मिलते हैं॥

यथा परमात्मा, सरस्वती और ब्रह्म इत्यादि जिसने अपनी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित और अपने आनन्द

से अनुच्छादित किया हुआ है, इस प्रकार से उसका नाम स्त्री है। यथा-आकाशस्थ सर्वमण्डल ध्रुव केतु के इर्द गिर्द चक्र लगाते हैं ठीक इसी प्रकार प्राणिमात्र सुखाभिलाषी अद्भुत अनुपम, आश्चर्यस्वरूप आनन्द भूप की ओर गति करते हुए भी इस भेद को नहीं जानते। अभिमानी स्तब्ध, बोध कराने से भी नहीं मानते। अविद्याधीन होकर बार २ फंसने के लिए स्वयमेव जाल तानते हैं॥

अब मुक्त पुरुष की पूर्वापर व्यवस्था का विचार किया जाता है—

मुक्तिमवाप्य पुनरावर्त्तते नवेति विचारः प्रवर्त्तते ॥१११॥

मुक्ति को प्राप्त करके आत्मा पुनः कभी संसार में आता है अथवा नहीं, यह विचार किया जाता है। यद्यपि संसार में अनेक मत मतान्तर प्रचलित हैं और उन सब में मुक्ति के सिद्धान्त पर भी कुछ न कुछ भेद भी पाया जाता है, तथापि मुक्ति से लौट कर फिर बन्धन में नहीं आता यह सबको अभिमत है, इस में सब की एकता है और दर्शनकार जो युक्तिवाद का ही सहारा लेकर चलते हैं, और प्रमाणसिद्ध बात को मानना ही जिनकी प्रतिज्ञा है, उन्होंने भी इस विषय पर पूर्णतया प्रकाश नहीं डाला, जिस से निर्धारित होकर विवाद जाता रहे। हां इतना तो प्रसिद्ध है कि बन्ध और इसका कारण, मुक्ति और उस के साधन बता कर जिज्ञासु को बन्धन से हटा कर मुक्ति तक पहुंचा कर यह कह दिया, कि अब नहीं आता। केवल यह वचन अपेक्षाकृत होने से सम्प्रति सन्तोषप्रद नहीं हो सकता, और न इससे विप्रतिपत्ति ही दूर हो सकती है॥

प्रथम विकल्प—अपेक्षा क्या है ? वर्गीकरण से जीवों की संज्ञा तीन प्रकार की हो सकती है। एक तो वह जो सकाम कर्मों के करने से तत्फलभोगार्थ शरीर का त्याग और ग्रहण करते हैं, संसार में आते जाते ही रहते हैं, उन को आप्रलयान्त विराम नहीं है इसका नाम ही प्रेत्यभाव है ॥

द्वितीय विकल्प—जो समस्त प्रलयान्त निद्रावस्था में सुषुप्त पुरुष के समान सर्वदुःख से निरभिमान होकर प्रकृति में विलीन रहते हैं। सृष्टिसमय उनका उत्थान ईश्वरीय नियम से प्रसुप्त प्रबुद्धवत् होता है। इन सब की समानावस्था तुल्य समय होती है। सृष्टिदशा में इनके कर्मभेद से सुख दुःख और तत्साधनों में भेद पाया जाता है ॥

तृतीय विकल्प – जो संसार की यथार्थ पहिचान से इस से छुटकारा पाने के ध्यान से, मुक्ति तत्साधनों के ज्ञान और अनुष्ठान से प्राप्तशरीर को त्याग कर देहान्तर का ग्रहण नहीं करते, वह सदैव जागरूक, ज्ञान प्रकाश से युक्त, सांसारिक सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त, स्वच्छन्द वृत्ति, स्वाधीन, स्वतन्त्रप्रकृति, यत्र तत्र सर्वत्र विचरते हैं। स्वाधीन को रुकावट कहां ? वह क्या उत्तम अवस्था है, कैसा पवित्र स्थान है, किस प्रकार का विचित्र व्याख्यान है, अद्भुत है आश्चर्य है निरूपण करते हुए आनन्द आता है, आत्मसन्मान जाग जाता है। मेरे मित्र ! विचार करें कि जिस वस्तु के ध्यान से ही सुख का भान होता है उसकी प्राप्ति में जो सुख होगा उसका वाणी से कैसे विधान हो सकता है। मुक्तावस्था भी सब के लिए समान होती है, उस में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। समान

साधन और तुल्य पुरुषार्थ के फल में एकता होती है, यह सर्व-तन्त्र सिद्धान्त है। बन्धनगृहीत और प्रकृतिलीन जीवों की अपेक्षा से यह कहा गया है कि मुक्तिप्राप्त आत्मा नहीं आता। कारण यह है कि मोक्ष कालावधि के अन्तर्गत सहस्रों वार सृष्टि और प्रलय होती रहती है। कुछ समय भेद से आने जानेवाले जीव विद्यमान हैं, उनके साहचर्य से यह कहना उचित ही था कि मुक्तात्मा अब नहीं आता। शास्त्र का आशय गम्भीर होता है अतएव उसने यह नहीं कहा कि कदापि नहीं आता। लोक में ऐसे निदर्शन पाए जाते हैं यथा—एक पुरुष कारागार में है उसकी अवधि समाप्त हो जाने से वह छोड़ दिया जाता है, तत्काल उसको यह तो नहीं कहा जाता कि तुम पुनः अपराध करके कारागार में आओगे। यदि कोई कहता है तो अनुचित करता है। एक पुरुष रोगग्रस्त है वैद्य उसको उपचार से स्वस्थ करदेता है। उसके कर्त्तव्य की यहां पर ही समाप्ति है, वह यह नहीं कहेगा कि जब फिर तुम रोगी होगे, तब मैं पुनः तुम्हारा उपकार करूंगा यदि कहता तो अयुक्त है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा बन्धन में है। शास्त्र अपने शासन के द्वारा बन्धन से छुड़ा कर यह कह देता है, कि अब तू संसार में नहीं आता। यहां पर ही शास्त्र का अधिकार समाप्त हो जाता है। देश काल वस्तु स्वरूप का ज्ञापकशास्त्र इस अयुक्त वचन को क्यों कहता, कि तुम फिर वन्धन में पड़ोगे। कल्प या ब्रह्म चक्र की आयु शतवर्षीय है। वर्ष के तीन सौ साठ दिन होते हैं, उसके एक दिन में सृष्टि और रात्रि में प्रलय होती रहती है, इस प्रकार छत्तीस हज़ार बार सृष्टि और प्रलय के पश्चात् यह कल्प समाप्त

हो जाता है, मुक्ति की अवधि भी यहां पर समाप्त होती है प्रलय और सृष्टि की अवधि चार २ अर्ब वर्ष की होने से समय आठ अर्ब वर्ष का होता है। अब ३६ हज़ार को ८ अर्ब से गुणा करने पर जो फल होगा वह मुक्ति और ब्रह्मचक्र की आयु का समय जान लेना चाहिए। अतएव यह ठीक जान पड़ता है कि बद्ध जीवों का तो अविराम शरीर के साथ संयोग वियोग होता ही रहता है, और प्रकृतिलीन प्रलयान्त सृष्टिसमय पूर्वकर्म योगात् देहधारी हो जाते हैं, और मुक्तात्मा कल्पारम्भ में आ जाते हैं। इसका नाम परान्तकाल भी है। इस के दो भेद हैं एक तो जब आत्मा मोक्ष साधन सम्पन्न होकर उपात्त शरीर को त्याग देता है, तब जन्म मरण प्रवाह की समाप्ति हो जाने से इस का नाम भी परान्तकाल है। दूसरा उपर्युक्त कल्प कालावधि जिस में मुक्तात्मा होकर आनन्द में रहता है, उसकी समाप्ति की भी परान्त संज्ञा है॥

ननु क्या मुक्ति समय की अवधि के समान उस का आनन्द भी कुछ २ न्यून होता जाता है?

उत्तर—नहीं।

कालविधानत्वे ऽपि मुक्तिसुखं न क्रमाकांक्षी लोकवत् ॥११२॥

काल का विधान होने पर भी मोक्षसुख को एक रस रहने से क्रम की अपेक्षा नहीं है उसमें कदापि न्यूनाधिक भाव नहीं आता, यह ही विचित्रता है। लोक में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। प्रथम सुषुप्ति अवस्था-मनुष्य जब सो जाता है तब उत्थान काल तक उसकी समान दशा है, कालक्रम तो विद्यमान है पर सुषुप्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं आता। इस हेतु से तो इस

को समवर्ती कहा है, और यही कारण है कि सुषुप्ति का एक घंटा और वर्ष, अथवा जितना भी न्यूनाधिक मानों, तुल्य होता है, और जितने सुषुप्त होंगे वह सब समान गति में होंगे ॥

द्वितीया घटिका यन्त्र आपके सामने है। जब चौबीस घण्टे के लिए उसमें चाबी लगा दी जाती है तब वह अन्त तक एक जैसी गति में रहती है। क्या कोई बता सकता है कि यन्त्र की सुई ने पहले घंटे का सफर जितनी देर में किया है, पश्चात् अन्त तक क्रमशः कुछ २ न्यून होता गया। नहीं समरस रहा है। यह कालक्रम परिणाम प्राकृतिक पदार्थों में तीव्र या मन्द-गति से भली भांति प्रतीत होता है, वस्तुभेद इसका भेदक है यथा बाल, युवा और वृद्ध सब अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ के होते हैं। नित्य पदार्थों में इसका कोई भी प्रभाव नहीं है सम्प्रति आत्मा में जो इसकी प्रतीति हो रही है, उसका कारण शरीरसंयोग ही है, वास्तव में नहीं। मुक्तावस्था में आत्मा किसी भी प्राकृत पदार्थ का संयोगी नहीं है, अत एव कालक्रम का तो अभाव है, और परमात्मा का सहचारी है। आनन्द परमेश्वर का स्वरूप है, इस लिए मुक्त आत्मा के आनन्द में क्रमशः ह्रास मानने से परमेश्वर को परिणामी मानना पड़ेगा, जो सर्वथा युक्तिविरुद्ध वेदादि सच्छास्त्र असिद्ध है इस कारण से यह सिद्ध होता है कि विदेहमुक्तिप्राप्त समय से लेकर अन्त तक मुक्तात्मा का सुख समान ही रहता है ॥

द्वितीय विकल्प– जब मुक्ति से पुनरावृत्ति होती ही है तब इसको प्राप्त करने में किसी को भी रुचि न होगी और इस का नाम मुक्ति नहीं हो सकता है—

पुनरावृत्तावपि कष्टनिवारणाय लोके प्रवृत्तिदर्शनात् ॥११३॥

उपर्युक्त कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त जनप्रवृत्ति को उस ओर यत्न करने से रोक देगा जिस से अनर्थोत्पत्ति और अर्थ की हानि होगी। कदापि नहीं, पुनरावृत्ति के होने पर भी कष्ट निवारणार्थ लोक में प्रवृत्ति के देखने से मुक्ति से पुनरावृत्ति सिद्ध सिद्धान्त जान पड़ता है।

प्रथम–मनुष्य दिन में कार्य करने के पश्चात् शयन करता है, क्या उसका कभी ऐसा विचार हुआ कि अन्त में जब पुनः जागना ही है तो ऐसे शयन से क्या लाभ? कभी नहीं, जागने के कष्ट को दूर करने के लिए उसको सोना ही चाहिए। यह अनिवार्य है हटाने से नहीं हटता है॥

द्वितीय–कार्यवशात् मनुष्य गृह से विदेश जाता है और कुछ काल के पश्चात् स्वस्थान को लौट आता है, क्या वह कभी यह सोचता है कि जब पुनः गृह को ही लौट आना है तो विदेश गमन व्यर्थ ही है, यह संकल्प छोड़ देना चाहिये। ऐसा नहीं होता है, जाना ही पड़ता है॥

तृतीय–मनुष्य प्राप्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए मार्ग में चलता हुआ अल्प समय के लिए विराम करता है, क्या उस को कभी यह विचार हुआ कि जब अन्त को चलना ही है तो इस बैठने के लिए यत्न करना व्यर्थ है? नहीं, करना ही पड़ेगा यह नियम टल नहीं सकता॥

चतुर्थ–जलपान से मनुष्य तृषा को हटाता है और क्षुधा के खेद को हटाने के लिए भोजन को बनाता है, क्या इसके

विचार में कभी यह नियम काम करता हुआ देखा जाता है कि जब फिर तृषा ने आ सताना है और क्षुधा ने भी कष्ट पहुंचाना है, तो यह जल पीने और भोजन बनाने का परिश्रम व्यर्थ है, निष्फल है, न करना चाहिए। ऐसा नियम संसार में चालू नहीं हो सकता ॥

पंचम—जन्म के कुछ समय पश्चात् मरण अवश्यम्भावी है, यह सबको सामान्य या विशेषरूप से ज्ञान है, इसको जानते हुए भी किसी के मन में यह तो कभी नहीं आता कि ऐसे जीवन की जिस का अन्त मृत्यु है, रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह मर्यादा कभी भी प्रचलित नहीं हो सकती। इसके विपरीत समस्त प्राणी जीवनरक्षार्थ यत्न करते हुए तो देखे जाते हैं। हां ऐसे भी कई एक मनुष्य देखे जाते हैं, जो अपने प्राणों को त्याग देते हैं, परन्तु शास्त्र इसको अनुचित-कर्म बताता है, आत्महत्या न करनी चाहिए यह सिखाता है। जो पुरुष मरने पर तुल जाता है वह किसी ऐसी गहरी चोट से चोटीला होकर जब उसके दूर करने और मिटाने का कोई उपाय नहीं देखता है, तो अपने आपको हत कर देता है। यह समझ से कार्य कर रहा है, या बेसमझी से इसकी जांच तो कठिन है, परन्तु यह सिद्ध है कि वह यथामति दुःख से बचने का उपाय करता है ॥

अब पाठक विचार करें कि जब सांसारिक कष्ट को अल्प समय तक मिटाने, और सुख के निकट जाने के निमित्त पुरुष यथाशक्ति प्रयत्न करता ही रहता है, तो इस दृष्टि सृष्टिवाद के अनुसार अतिदीर्घतम मुक्तिसमय के लिए पुरुष यत्नवान् न

होगा। उसकी प्राप्ति में उदासीनता पुरुषप्रवृत्ति में मन्दता हो जावेगी, यह कहना केवल बालबुद्धि का ही परिचय देना है ॥

मुक्ति को शास्त्र नित्य बताता है अत एव पुनरावृत्ति में नित्यत्व की हानि होगी और शास्त्र की आज्ञा का भंग—

महाकालविधान श्रवणात् न दोषायतनमिति ॥११४॥

मुक्ति समय का विधान अति प्रचुर, दीर्घ समय श्रवण से उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते । अल्प काल में संकोच अवश्य ही होता है । यथा किसी धनी पुरुष के यहां बालक उत्पन्न हुआ, आयु का विधाता परमात्मा है और यथार्थ में वह ही इस का ज्ञाता है, अन्य कोई भी नहीं जान सकता। किन्तु आज कल के ज्योतिर्विद् भी आयु का समय बताते और जन्म पत्रिका बनाते हैं। यह प्रपंच केवल उन की आजीविका के निमित्त ही फैला हुआ है । अन्य देशों में भी इस का कुछ २ प्रभाव है, परन्तु भारतीय जनता अधिकांश में इस जाल में फंसी है, अब इस का प्रकाश साधारण विद्या के अधिक हो जाने से कुछ मन्द सा पड़ गया है । आर्य समाज ने इन अधूरे विचारों को जो भ्रान्ति के बीज थे अपने उपदेश द्वारा हटाने का बड़ा ही प्रयत्न किया है, यह बात प्रसंग गत कही गई है। यदि अभिनव जात बालक की आयु को १०—२०—३० वर्ष वह बतावे, तब माता पिता को सुन कर खेद और संकोच होता यह प्रत्यक्ष है, परन्तु यदि वह बता दे कि इस बालक की आयु शत वर्ष से भी अधिक होगी, इस श्रवण से माता पिता को प्रसन्नता होती है, आह्लाद से द्रव्य वितरण करते हैं और बालक दीर्घजीवी है यह सब को सुनाते है ॥

अब पाठक विचार करें कि क्या यह बालक सदैव के लिए संसार में आया है, कदापि नहीं। शत वर्ष आयु के सुनते ही न उन को खेद ही है, और न किसी प्रकार का संकोच। कारण यही है कि समय की इयत्ता बड़ी है। यदि कोई वैद्य नवयुवक धनी के रोग को हटा कर तत्काल उस को स्वस्थ कर दे, परन्तु साथ ही यह भी बता दे कि यह रोग तुम को आगामी वर्ष इसी मास में आ घेरेगा। यह सुन कर तो उस को कष्ट होता है, पथ्य से रहता है, उदासीन है और मन प्रसन्न नहीं है। परन्तु यदि वैद्य यह कह दे कि अब तुम को यह रोग आजीवन नहीं होगा, तब यह सुन कर प्रफुल्लित मन हो जाता है दौड़ता है, खेलता और खाता है, किसी प्रकार का भी आघात मन में नहीं आता। उत्पद्यमान बालक और इस नीरोग युवक को संसार से तो कभी जाना और मृत्यु की चोट में आना ही होगा परन्तु इस खेद को विस्मरण करने का निमित्त काल की महत्ता ही है, अन्य कोई नहीं है। अत एव मोक्ष के महाकाल के पश्चात् पुनरावृत्ति कुछ संकोच को उत्पन्न करती और ग्लानि को लाती है, यह कथन किसी प्रकार भी सुचारु नहीं हो सकता है, संसार मर्यादा इस की द्योतक है॥

जहां शास्त्र मुक्ति को नित्य बताता है, वहां नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्तस्वभाव परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करता है। सांख्य शास्त्र में यह विशेषण पुरुष जीवात्मा के लिए भी आते हैं, परन्तु वहां प्रकृति के संयोग से दुःख का आविर्भाव हो कर इनका तिरोभाव सा होना बताया है जो एक देशी अल्पज्ञ का धर्म है। अभ्यासवशात् उस में दुःख की उत्पत्ति है। सुयत्नवान् उस

बन्धन से पृथक् हो कर मुक्ति पद प्राप्ति का अधिकारी होता है, अथवा अधिकारी हो कर मुक्ति पद को प्राप्त करता है। परमात्मा व्यापक, सर्वज्ञ सर्वथा अध्यास रहित होने से नित्य, मुक्ति का उस के स्वरूप के साथ सम्बन्ध है। जीवात्मा तो अविद्या अन्तराय को हटा कर प्रकृति से पीछा छुड़ा कर परमात्मा के मेल में जाकर मुक्त कहलाता है, यथार्थ में नहीं। अत एव यह कथन "कि मुक्त जीव कदापि नहीं आता" सत्य नहीं है॥

शास्त्रस्य अनर्थबोधकत्वम् ॥११५॥

यदि मुक्ति से अपुनरावृत्ति ही आप को स्वीकार है, तो शास्त्र अनर्थ का बोधक और विपरीत विचार का प्रसारक हो कर किसी भी विचारशील के आदर का स्थान न रहेगा॥

प्रथम विचार—बन्धन में जकड़े हुए जीवात्मा को अनेक साधन बता कर, रुकावट को हटा कर मुक्ति प्राप्त करने का शास्त्र बड़ी सुन्दर रीति से शासन करता है॥

ननु—यह बन्धन यदि जीवात्मा के स्वरूप में अनादि काल से विद्यमान है तब तो सहस्रशः उपदेश करने से भी इस का नाश नहीं हो सकता। कारण यह है कि नित्य सम्बन्ध यावद्द्रव्यभावी और अनपायी होता है अत एव एक के विनाश में दूसरे का नाश अवश्यम्भावी है। ऐसे प्रसंग में जब जीवात्मा ही न रहा तो शास्त्र पुनः मुक्ति का उपदेश किस के लिए करता है। यह तो वस्त्र को नाश कर के उस की मलिनता को दूर करने के समान बात है। इस से तो शास्त्र का सन्मार्ग प्रदर्शकत्व के स्थान में प्रतारकत्व सिद्ध होता है जो सर्वथा

अयुक्त है । अविद्या, अज्ञान अविवेक को ही शास्त्र बन्धन बताता है यह पूर्व में कहा गया है इस के संयोग का हटाना ही आत्मा का मुक्त हो जाना है । यह संयोग यदि आदि है, तो यत्न करने से इस का नाश हो सकता है, और यदि अनादि है तो अनेक उपाय और यत्न करने पर भी दूर नहीं हो सकता। अत एव अविद्यायोग से पूर्व जीवात्मा बन्धनरहित मुक्तावस्था में था । ठीक यहां पर शास्त्र को सफलता है । यथा जागृत अवस्था से पूर्व शयन था और निद्रावस्था से उत्तर जागरण होता है। जागना और सोना आदि अन्त सहित होने पर भी इस के पूर्वापर का सम्बन्ध अनादि है । अत एव वह कदापि दूर नहीं हो सकता और न शास्त्र इस के दूर करने का उपाय ही बताता है ॥

पाठक विचार करें कि जो सदैव जागरूक है वह कभी निद्रावस्था में नहीं जाता जैसे परमात्मा, और जो सर्वदा निद्रावस्था में है वह जड़ प्रकृति है, अब जीवात्मा की दोनों अवस्थाएं हैं कभी प्रकृति के संयोग से अविद्या में सोता या बन्धन में आता है, और कभी परमात्मा के मेल से विद्या में जागता या मुक्त हो जाता है यह प्रवाह अनादि है ॥

द्वितीय विचार—जो पुरुष संसार में वर्त्तमान हैं उनमें से कदापि कोई मुक्त नहीं हुआ, और जो मुक्ति प्राप्त हैं उन में से कभी कोई आया नहीं, न तो स्वयं किसी ने उस पदको अनुभव किया है, और न किसी अनुभावक ने आकर ही बताया है, यह आपका सिद्धान्त है, इसके विपरीत मानने में हानि है। ऐसी अवस्था में मोक्ष के संस्कारों का अन्तःकरण में उद्भव कैसे

हुआ ? इसका कोई भी निमित्त तो होना चाहिए। यथा मृत्यु के भय से मनुष्य को त्रास होता है जिस से सिद्ध होता है कि इस ने या तो स्वयं मृत्यु के आघात को सहा है, अथवा अन्य प्राणियों को मृत्यु के समय कष्टमय देखा है, अतएव उसके मन में भय जागृत हो जाता है। यह ठीक है होना ही चाहिए परंतु इसके विपरीत यह कैसी अनोखी बात है कि जिसने स्वयं मृत्यु के क्लेश को कभी जाना नहीं और न कभी किसी को मरते तथा दुःख पाते हुए ही देखा है, उसके लिए शास्त्र का शासन कैसे उपयोगी हो सकता है, इस प्रकार तो शास्त्र हास्यास्पद बन जावेगा। देखने में भी यह आरहा है कि सब प्रकार से शास्त्र की प्रवृत्ति और उसका तात्पर्य आत्मसाक्षात्कार द्वारा मुक्ति में है, फिर इसकी व्यवस्था क्या होगी ? या तो शास्त्रका मिथ्यात्वं सिद्ध होगा, या मुक्ति के प्रलोभन द्वारा संसार की मर्यादा को साध्वी बनाने में यत्नवान् होगा। कारण यह है कि मुक्ति के साधन जो शास्त्र बता रहा है, उनके ठीक प्रचलित हो जाने से मनुष्य समाज सरलता में जाकर अकारण किसी के दुःख का कारण नहीं बनता। अथवा अविद्या बन्धन गृहीत आत्मा को सत्य उपाय बता कर मुक्ति मार्ग का दर्शन कराना मात्र ही शास्त्र का अधिकार होगा, यत्न करना या न करना इसकी इच्छा पर निर्भर है, शास्त्र बालात्कार से किसी को इस ओर नहीं झुका सकता। यह तो उदासीन है, अतएव मुक्ति से लौट कर आना बताना शास्त्र के अधिकार में नहीं है॥

ननु—यदि मुक्ति से अपुनरावृत्ति का सिद्धान्त विचारार्थ मान भी लिया जावे तो अनुभूत विषय के बिना संस्कार जन्य

स्मृति की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जिस से शास्त्र सिद्धान्त का विलोप और प्रत्यक्ष का कोप होगा। अतएव यह सिद्धान्त कि न तो आत्मा पहिले कभी मुक्त भोग भागी हुआ है, और न अदृष्ट पूर्व मोक्ष को प्राप्त करके पुनः कभी बन्धन में आया है, नेत्र हीन पुरुष को प्रकाश के द्वारा मार्ग दर्शन के तुल्य होकर किसी भी विचारशील को अभिमत न होगा ॥

अब मुक्ति से अपुनरावृत्तिवादी को यह बताना चाहिए कि मनुष्यमात्र को क्वचित् कदाचित् कथंचित किसी खेद से खिन्न अथवा सत्संग विचार से मनोवृत्ति संसार श्रृंखला से भिन्न होकर इस प्रकार के संस्कारों का कैसे ध्यान आता है? कि इस संसार सागर से पार होने का कोई यत्न करना चाहिए, संसार में कष्ट बाहुल्य है, जन्म, जरा, मरणादि व्याधि का कष्ट साथ देता ही रहता है, इसके दूर करने का उपाय करना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है, आहार विषय वासनादि तो जीव को सर्वत्र प्राप्त है, केवल इन में फंस कर जीवन को बिताने से मनुष्य अपने उद्देश्य से दूर हट जाता है। यह सत्य ही है कि जो प्रधान कार्य को त्याग कर अप्रधान में संलग्न हो जाता है, वह बुद्धिमान्, विचारशील नहीं होता। मैं कहां से आया हूं? कहां जाऊंगा? इस विषय में स्वाधीन या पराधीन हूं किस प्रकार निश्चय हो, मृत्यु का त्रास सामने आते ही बल बुद्धि का ह्रास होने लगता है। इस आघात को सब सहते हुए विवश हैं, यह सब मुख से कहते जाते हैं, जितना कोई संसार में सुख भोग भागी होगा उसको उतना ही यह नियम भयानक जान पड़ता है इत्याकारक विचारों के आते ही कोई जिस का हृदय

पुण्य संस्कारों से मृदु, कोमल होता है नेत्रों से आंसू बहाता है। मैं कौन हूं ? कहां हूं ? तात्कालिक अपनी सुध बुध को भूल जाता है। किस प्रकार निस्तार, जन्म मरण बन्धन से उद्धार, संसार सागर से बेड़ा पार हो। मोक्ष से अपुनरावृत्ति मानने वाले को इसका यथार्थ उत्तर देना होगा। उपर्युक्त विचार सब के अन्तःकरण में उदय होते हैं, कोई उनको अनुभव में लाता है और कोई भूल जाता है, कोई उनका व्याख्यान कर सकता है और कोई इस विषय में असमर्थ है, परन्तु इनका प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है। यथार्थ उत्तर न मिलने से अपुनरावृत्ति का सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता। सिद्धान्त में यह बात सिद्ध है कि जब कभी आत्मा को मोक्षपद प्राप्त होता है, तब मनुष्य शरीर का ही द्वार इस में सहकारी कारण बनता है इसी निमित्त से इस में मोक्ष का स्मरण और उसकी प्राप्तिके साधनों का ध्यान आता है, अन्य कोई भी शरीर इस विचार के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। परमेश्वर की माया इसको भुलाती, सृष्टि की रचना बार बार प्रलोभन में फंसाती और विषय वासना समझदार को भी बलात्कार आ सताती हैं। मोक्षोपयोगी मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भी यथार्थ मति का उदय न होना, अन्त तक मोह निद्रा में ही सोना, अमूल्य रत्न को पाकर व्यर्थ खोना. प्राप्तव्य स्थान के समीप जाकर पीछे लौट आना, जिस कार्य को करना था उसको न करके व्यर्थ बातों में समय को बिताना, और अन्त समय में पछताना, फिर कुछ हाथ न आना ही होता है। अत एव मनुष्य को सावधान होकर संसार में गति करनी चाहिए॥

इस अवान्तर आलाप को छोड़ कर फिर प्रकृति विषय का अनुसरण किया जाता है ॥

ननु—यदि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है, तब इसका कोई निमित्त होना चाहिए यह ठीक है, परन्तु इसका बोध तब हो सकता है यदि प्रथम मुक्ति प्राप्ति के कारण का ज्ञान हो जावे ॥

ज्ञानपूर्वकं निष्कामकर्मणां फलं मोक्षः ॥११६॥

ज्ञान सहकारी निष्काम कर्मों का फल मोक्ष होता है, केवल ज्ञान अथवा कर्म मोक्षप्राप्ति का साधन नहीं बन सकता। यथा किसी को यह तो ज्ञान है कि अमुक स्थान का यही मार्ग है, परन्तु सावधान होकर चलता नहीं, दूसरा सन्मार्ग को भूल कर गति करता है, यह दोनों प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त नहीं कर सकते। कारण यह है कि ज्ञान कर्महीन होने से निष्फल और कर्म ज्ञानशून्य होने से विफल होरहा है। सफलता उसको होगी जो ज्ञान सहचारी प्रयत्न करने में यत्नवान् होगा। इस लोकप्रसिद्ध नय का अपवाद नहीं हो सकता। शरीर दर्शन से भी यह सिद्ध हो रहा है कि विधाता ने ज्ञान और कर्म सहकारी इन्द्रियों का ही (जो लोकव्यवहार की निर्वाहक हैं) विधान किया है, और न्याय सिद्धान्त में ज्ञान और प्रयत्न को आत्मा का सहचारी सर्वोत्तम गुण बताया है, इन दोनों के सुमेल से लोकयात्रा में भ्रमण करता हुआ पुरुष दुःख से बचता और सुख को प्राप्त करता है। यह व्यवस्था अपरज्ञान और अपरकर्म की है, अपरज्ञान में न्यूनाधिक भाव होता है और अपर कर्म में सकामता होती है परज्ञान समान और

परकर्म निष्काम होता है। प्रथम तारतम्य से लौकिक सुखोत्पादक है, दूसरा समानता से मोक्ष का सम्प्रापक है, सांसारिक सुख अपेक्षाकृत होने के तुल्यता से विहीन है और मोक्षसुख निरपेक्ष होने से नित्य नवीन है। सकाम और निष्काम यह दोनों विशेष्यरूप कर्म के विशेषण हैं, विशेष्य विशेषण और इन दोनों के सम्बन्ध का नाम ही विशिष्ट है, एक के अभाव से दूसरे का अभाव स्वयं सिद्ध है। यहां पर मोक्षसिद्धि का हेतुभूत निष्काम कर्म विद्यमान है, जिस प्रकार निष्काम कर्म का विशेषण है, तथैव निष्काम कर्म ज्ञानपूर्वक इस विशेष्यपद का विशेषण है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान पूर्वक निष्कामकर्म का फल मोक्ष है, केवल कर्म का फल मोक्ष नहीं है, उसकी शक्ति तो जन्म, मरण, सुख, दुःख प्रवाह में पतन करने की ही है, कर्म की तात्कालिक उत्पन्न करने वाली उपरोक्त शक्ति को ज्ञानप्रकाश क्षीण, बलहीन बना देता हैं। यह सत्य है परन्तु इससे कर्म का अत्यन्ताभाव तो नहीं हुआ, केवल इसके पुरुषार्थ से इतना भेद हुआ कि जिज्ञासु ने उत्तमाधिकार प्राप्त करके जन्म मरण के प्रवाह के निमित्तभूतकर्म को मोक्षबन्ध का कारण बना लिया है, यह इसकी बुद्धिमत्ता है, इसने मनुष्यजन्म से यथार्थ लाभ उठाया है। स्थूल दर्शी बाह्यवृत्ति और कुप्रवृत्ति वाले मनुष्यों के विचार का विषय नहीं हो सकता। यद्यपि शुभकर्मों की अपेक्षा अशुभकर्म मन्द कहलाते हैं, परन्तु मोक्षप्राप्ति के हेतुभूत निष्काम कर्मों के समक्ष इनकी भी संज्ञा मन्द ही मानी जाती है। यथा एक मनुष्य को किसी वस्तु की इच्छा तो है, पर उसके पास पूर्ति का साधन नहीं। यह इच्छाविघात से

दुःखी है, द्वितीय इच्छापूर्ति के साधन सहित होने से सुखी है। किन्तु जिस वीतराग पुरुष को इच्छा ही नहीं है, तदपेक्षा यह भी दुःखी ही माना जाता है, कारण यह है कि इसको साध्य-सिद्धि के निमित्तभूत साधन को सम्पादन करने में श्रम और उसमें आने वाली बाधाओं को परिश्रम से हटाना पड़ता है, अत एव यह खेद से विरत कभी नहीं हो सकता। यह दृष्टचर सिद्धांत है कि समस्त संसार और तत्रस्थ पदार्थ परिणामी होने से समरस कदापि नहीं रहते हैं॥

अब विचार यह है कि निष्काम विशेषण और कर्म विशेष्य का कर्त्ता जीवात्मा के साथ कोई सम्बन्ध तो होना चाहिए, सर्वथा सम्बन्धविहीन होने से मोक्षफल किस का माना जावेगा। फल की विद्यमानता में उसके कारण का सर्वथा अभाव कहना तो युक्त प्रतीत नहीं होता। ज्ञान से सकामकर्म निष्कामता के रूप में बदल गया है, इस लिए तो कहना पड़ता है कि निष्कामता में सकामता का सूक्ष्मांश विद्यमान है, विना उसके स्थूल हुए वह जन्म का कारण नहीं बन सकता है, उसको समय की प्रतीक्षा है। जैसे बीज भूमि में गिर कर अपने स्वरूप को खो देता है। यदि उसका सर्वथा अभाव ही हो जावे तो पुनः अन्त में बीज कैसे बनेगा ? यह एकदेशी दृष्टान्त एक अंश का पोषक और अन्य अंश का विघातक है। किसी बीज को अग्नि से जला कर या पानी में गला कर क्षेत्र में डाल दो, वह अंकुर को उत्पन्न नहीं करेगा। परन्तु रसायन के प्रकार में जाकर कोई बीज ५० वर्ष, कोई १०० वर्ष और कोई न्यूनाधिक समय के पश्चात् अंकुर की उत्पत्ति का कारण बन जावेगा।

इसी मार्ग से क्षेत्रस्थ बीजों को खाद्यबल पहुंचता है। ठीक इसी प्रकार सकाम कर्म ज्ञानाग्नि से जल गए हों या उससे निर्बल होगए हों समय आने पर सबल होकर जन्म के निमित्त हो जाएंगे। अब जैसे प्रकृति समस्त कार्य वर्ग और उसके उत्पत्ति प्रकार को अपने गर्भ में लेकर कालान्तर में इस आश्चर्यरूप कार्य को निकाल देती है, इसी प्रकार मुक्तात्मा के निष्कामकर्म सकामता में आकर जन्म के निमित्त हो जाते हैं। परमात्मा का ज्ञान इस विषय में विशेष काम करता है। जो सुख दुःख को अनुभव करता, विपरीत ज्ञान से बन्धन में आता और तत्त्वज्ञान से मोक्ष में जाता है उसका परिमाण क्या है?

परिमाणन्तु परं सूक्ष्मम् ॥११७॥

सूक्ष्म, मध्यम और महत्परिमाण के विधान से संदेह उत्पन्न होता है कि इन तीनों में से जीवात्मा का परिमाण क्या है? ह्रस्वदीर्घ को अपेक्षाकृत होने से इन तीनों के अन्तर्गत ही जान लेना चाहिए॥

परीक्षा—मध्यम परिमाण संयोगज, अपेक्षा कृत होने से सावयव तारतम्यता भाव सहित होता है। जीवात्मा उत्पत्ति विनाश शून्य होने से संयोगी, निरवयव होने से अवयवी और समान समतुल्य होने से सापेक्ष नहीं और अपरिणामी होने से सर्वदा सर्वथा मध्यम परिमाण विहीन है, अत एव मध्यम परिमाण संज्ञा का संज्ञी नहीं हो सकता। पृथिव्यादि समस्त प्रपञ्च इन्द्रियग्राह्य होने से मध्यम परिमाण भागी है, संयोग से वृद्धि में जाता हुआ अन्त्यावयवी पृथिवी पर्य्यन्त और विभाग से ह्रासाभिमुख होता हुआ अन्त्यावयव परमाणु में विराम को

पाता है, इस कारण से ही परमाणु को विकल विभाग कला कहा जाता है । मध्यम परिमाण विशिष्ट वस्तु उत्पत्ति सहित होने से विनाश रहित कदापि नहीं हो सकती, उस का कलेवर प्रतिक्षण परिवर्त्तन में ही रहता है जो वस्तु संयोग से प्रादुर्भाव में आती है और वह विभाग से तिरोभाव में जाती है, यह क्रम अनपायी, मन्द, मध्यम और तीव्र गति का सहायी होने से क्वचित् कदाचित् प्रतीति का विषय नहीं होता और कभी स्फुट प्रत्यक्ष में आता है। जो वस्तु स्वरूप से नित्य निरवयव है वह सावयव वस्तु के समान वृद्धि ह्रास को प्राप्त नहीं होती, यही दोनों में भेद है । अब यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाला माना जाये तो संकोच और विकास के साथ २ उस के स्वरूप का नाश स्वीकार करना ही होगा । पिपीलिका के शरीर में आत्मा का ह्रास और मनुष्यादि के शरीर में उस का विकाश होगा । यह प्राकृतिक वस्तु का नियम चेतन स्वभाववस्तु पर लागू नहीं हो सकता। ऐसी दशा में देह और देही की पहचान कर्ता, कर्म और तत्फल का ज्ञान भी न होगा। अत एव आत्मा मध्यम परिमाण वाला है, यह देहात्मवादीका पारिभाषिक शब्द सिद्ध होता है इसका विवरण देहात्मवाद में किया गया। मध्यम परिमाण मानने में इस प्रकार के दोषों का उदय होता है ॥

तदनित्यत्वात् मोक्षाभावभङ्गप्रसङ्गाच्च ॥११८॥

संकोच विकास अन्तःकरण वा सूक्ष्म शरीर का धर्म होने से आत्मा में यह नियम लागू नहीं हो सकता, प्रकृति का यह प्रथम कार्य स्थूलशरीर के प्रसार का निमित्त है ॥

प्रलयावस्था में इस का विलय तत्कारण प्रकृति में हो

जाता है, आत्मा को मध्यम परिमाण मानने में नित्यत्व की हानि और जड़त्वापत्ति दोष से मोक्ष भोगभागी कोई पदार्थ नहीं रहता है, और कृत कर्म का कर्ता के साथ सम्बन्ध होने से ही फलावाप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं । मध्यम परिमाण स्वीकार करने में आत्मा स्थिर स्वभाव नहीं रहता, जब ज्ञान पूर्वक निष्काम कर्म जिस का परिणाम मोक्ष है, उस का कोई सम्बन्ध नहीं रहा तो लौकिक सुखादि की तो गति ही कहां है ? इस प्रकार की कल्पना से तो मोक्ष स्वस्वरूपनाश का प्रसंग सिद्ध होता है, जो किसी भी मोक्ष सिद्धान्ताभिमत पुरुष को इष्ट न होगा । हो सकता है कि सांसारिक मर्य्यादा को सुचारु बनाने के निमित्त सुनियमों का पालन किया जावे, परन्तु उन नियमों में यथोचित बल तभी आ सकता है यदि शरीरातिरिक्त शरीरी आत्मा को स्थिर स्वभाव माना जावे। अन्यथा रुचि वैचित्र से चरित्र में स्वार्थ सिद्धि का मार्ग विस्तृत हो कर जनता को उचितानुचित सुख लिप्सा की ओर झुका कर अनेक प्रकार के उपद्रवों में फंसा देता है । संप्रति जो मनुष्य समाज स्वार्थाभिमुख हो रहा है इस का कारण भी यही है कि देहातिरिक्त जीवात्मा का यथार्थज्ञान और उसका अनुष्ठान नहीं है। अत एव जीवात्मा मध्यम परिमाण वाला नहीं है ॥

तो क्या इस का महत्परिमाण मानना चाहिए ?

उत्तर—नहीं।

सजातीयानां महत्परिमाणन्न युक्तं प्रत्यक्षविरोधात् ॥११६॥

समान जाति वाले अनेक पदार्थों का महत्परिमाण नहीं हो सकता । यथा आकाश, दिशा और काल यह तीनों

महत्परिमाण विशिष्ट, स्वरूप से भिन्न और एक एक हैं, केवल उपचार से इन में भेद की प्रतीति होती है, वास्तव में नहीं। आकाश एक है, परन्तु आरोप से यह लोक व्यवहार हो रहा है, कि आकाश के पूर्व की ओर मेघमण्डल हैं और पश्चिम की ओर स्वच्छता है । यथार्थ में आकाश का कोई छोर नहीं है, वह न कभी आंधी से मलिन और न वृष्टि से सलिन होता है, सदा एक रस समान है । दिशा में जो पूर्व पश्चिम का व्यापार हो रहा है, वह भी अपेक्षा कृत होने से तात्त्विक नहीं है केवल व्यावहारिक है । कारण यह है कि जो वस्तु पश्चिम की ओर देखी जाती है, वह अन्य वस्तु की अपेक्षा पूर्व या उत्तर में हो जाती है । यह सब प्रतीति उत्पद्यमान वस्तु के विधान में हो रही है । अत एव इस में भी समीचीनतया अनेकता का अंश भी नहीं है । काल का विचार भी इसी प्रकार जान लेना चाहिए । एक पुरुष जो ज्येष्ठ है, वह अन्य की अपेक्षा कनिष्ठ देखा जाता है, भाव वस्तु की अपेक्षा से एकत्व काल में भूत भविष्यत् का बोध हो रहा है, इस के अभाव में इत्याकारक प्रतीति नहीं हो सकती। किंचित् विचार दृष्टि से वस्तु भेद को मिटा कर काल, दिशा और आकाश की साक्षी रूप से विवेचन करें, तो इन तीनों में भेद कारक कोई भी रेखा सामने नहीं आएगी, अत एव यह तीनों पदार्थ व्यापक महत् परिमाण विशिष्ट हैं। यदि इन प्रत्येक में अनेकता होती तो महत्परिमाण का भंग हो जाता । शास्त्र में प्रकृति के सत्त्वांश में इन की गणना की है, यह सत्य ही है कि उपाधिभेद से कोई भी वस्तु स्वरूप से विद्यमान नहीं होती । निश्चय और व्यवहार नय

इस का द्योतक है, अत एव जीवात्मा अनेक और अनन्त होने से महत्परिमाण युत कैसे हो सकते हैं ?

ननु-शास्त्र इस को विभु बता रहा है और प्रत्येक मत वादी को यही अभिमत है, इस का निर्वाह कैसे होगा ?

व्यक्तिभेदेऽपि जातौ अभेददर्शनात् समीचीनमिति ॥१२०॥

शास्त्र का शासन तो साधु है, जीवात्मा अनेक होने पर भी उनमें रहने वाला आत्मत्वधर्म एक है, इसको लक्ष्य में लाकर शास्त्र संकेत कर रहा है, यह उसके कथन की शैली है। यथा अनेकों में रहने वाला अनेकत्व धर्म एक है, और इसको ही विभु कहते हैं। क्या विचित्र बात है कि अनेक एक में जा समाता और अनेक एक दृष्टि में आता है, समस्त संसार इस बुद्धि की तुलापर तुल कर सर्व वादों को मिटाता है ॥

त्रिविधेषु भवति साक्षीरूपेणानुभवतीति विभुः ॥१२१॥

जीवात्मा विविध प्रकार के शरीरों में जिनकी गणना अत्यन्त ही कठिन है, कर्म फल भोगार्थ प्रभुन्याय से जाता और साक्षीरूप से उसको अनुभव करता है इस कारण से जीवात्मा को विभु कहा गया है, व्यापकत्व धर्मविशिष्ट भाव से नहीं है। विभु परमात्मा सर्व विश्व का आधार, सर्वज्ञता से समस्त प्रपञ्च का साक्षी महान् है, अतएव वह एक अद्वितीय, सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य है। जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण कर्म करता हुआ भी भूल तो जाता है, परन्तु जब ईश्वरीय न्याय व्यवस्था से फल भोगार्थ कर्म का चित्र सामने आता है, तब वह स्वयं ही कर्मकर्त्ता और साक्षी बन जाता है। यदि यह जीवात्मा विभु होता तब परमात्मा के समान महान्

और सर्व ब्रह्माण्ड का साक्षी होता किन्तु ऐसा नहीं है, मध्यम परिणाम स्वीकार करने में तो विनश्वर होने से नित्यत्व की हानि और महत्परिमाण मानने में जन्म मरण व्यवस्था का भङ्ग और एकत्वापत्ति से अनेकता की हानि और अल्पज्ञता से प्रत्यक्ष विरोध का प्रसंग होगा, अत एव जीवात्मा का परिमाण परम-सूक्ष्म ही सिद्ध होता है ॥

ननु—सूक्ष्म शब्द से निर्वाह हो सकता था । फिर परं शब्द का प्रयोग किमर्थ है ?

परं शब्दस्तु असङ्गत्वबोधकः ॥१२२॥

परं शब्द इस विषय का निर्णायक है कि जीवात्मा किसी विभक्ति से विभक्त होकर सूक्ष्मपद को प्राप्त नहीं हुआ है, यह सदैव स्वरूप से ही असंग है, शरीरादिकों के साथ जीवात्मा का सहचार केवल अविवेक से है, वास्तव में नहीं । अत एव इस के दूर करने के निमित्त शास्त्र विवेक विधान बता रहा है । परमाणु सूक्ष्म तो इस कारण से माना जाता है कि उस का विभाग नहीं होता वह अखंड है, किन्तु द्व्यणुक के विभाग से बनता है, स्थिरस्वरूप नहीं है । जीवात्मा अखण्ड किसी के विभाग से नहीं बनता है, इस लिए संयोग विभाग विहीन सदा स्थिर स्वभाव है । परं पद इसी विषय का प्रकाशक है ॥

ननु--यदि परमाणु सूक्ष्म है तो उससे सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है—

परिमाणस्वभावविरोधात् ॥१२३॥

कारण यह है कि परिमाण के स्वभाव में विरोध होने से कार्योत्पादक शक्ति जाती रहती है । महत्परिमाण तो एक ही

होता है, इस लिए वह संयोगी नहीं। मध्यमपरिमाण संयोग विभाग भागी अपने से अधिक का उत्पादक होता है। अब यदि परमाणु मिलकर अपने से अधिक को उत्पन्न करता है, तब उसकी गणना मध्यम परिमाण में होगी, यदि नहीं तो यथा मध्यम परिमाण मिलकर अधिक हो जाता है, तथैव परमाणु भी मिल कर पूर्वापेक्षया अधिक सूक्ष्म हो जायेंगे। पुनः कार्य-वर्ग का स्थूल होकर दृष्टिपथ में आना अत्यन्त कठिन हो जायगा ॥

समाधान -

संयोगविभागयोस्तत्समानापत्तिः ॥१२४॥

पूर्व परमाणु का परिमाण सूक्ष्म कहा गया है, इस में मध्यम परिमाण से यह विशेषता है कि मध्यमपरिमाण विभक्त होकर भी संयोग शून्य कभी नहीं हो सकता। परमाणु विभक्त होकर संयोगी नहीं रहता। मध्यम परिमाण में संयोग विभाग की समापत्ति है, किन्तु परमाणु में नहीं। यही दोनों में भेद है। सूक्ष्म परमाणुओं के मेल से अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी, ऐसा नहीं—

विभागे संयोगनियमदर्शनात् ॥१२५॥

जो वस्तु स्वरूप से सूक्ष्म है, वह सदा एक रस बनी रहती है उसका सुक्ष्मतर भी नाम है, वह मेल जोल से पृथक् है। परमाणु में यह मर्यादा संघटित नहीं है, कारण यह है कि द्व्यणुक के विभाग से परमाणु प्रकट होता है। प्रत्येक विभक्त वस्तु में संयोग का नियम देखने से यह सिद्ध हो रहा है, कि जिसके विभाग से जो प्राप्त होगा, उसका संयोग पूर्व समान

हो जावेगा। यह प्रत्यक्ष है कि विभाग न्यूनता और संयोग अधिकता की ओर जाता है। प्रत्येक विभाग में संयोग और संयोग में विभाग का सूक्ष्मांश विद्यमान होता है, जो पुनः उनके मिलाने का सहकारी कारण है। द्व्यणुक बटकर परमाणु बना है, अतएव उनका परस्पर मेल द्व्यणुक को ही बना देगा, इस लिए कार्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं आती। अब प्रश्न यह होता है कि व्यापक आकाश परमाणु के अन्तर्गत है वा नहीं? यदि है तो एकांश परमाणु में खण्डत्वापत्ति और यदि नहीं है तब व्यापकत्व की हानि है॥

उभयथा विरोधात् सूक्ष्मविचारः ॥१२६॥

दोनों प्रकार से विरोध आता है, अतएव स्थूल पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थों का विचार भी सूक्ष्म होता है। आकाश, काल, दिशा यह तीनों व्यापक, महत्परिमाण, सूक्ष्म अयुत या स्वरूप सिद्ध पदार्थ हैं। पृथिव्यादिवाय्वन्त स्थूल पदार्थों के परमाणु सूक्ष्म और अयुत सिद्ध होते हैं। शेष समस्त संसार पञ्चीकृत मार्ग में जाकर युतसिद्ध स्थूल बन जाता है। आकाशादि व्यापक पदार्थ कार्य वर्ग में स्वरूप से और सूक्ष्म पदार्थों में अपनी सत्ता से विद्यमान होता है। केवल इतना ही भेद है॥

अब विचार यह है कि व्यापक वस्तु की सत्ता किसी अन्य वस्तु की सत्ता से स्थूल वस्तु के समान विरोध नहीं करती, तत्तुल्यतापत्ति होने से अभेद है, परन्तु विचार से उस का भेद सिद्ध होता है। यथा गणित विद्या के विधान में प्रत्येक अंक में विन्दु अपनी सत्ता से समानरूप में विद्यमान अंक की सत्ता का विरोध नहीं करता, और कहीं पर विन्दु स्वरूप से

स्थिर होकर कार्य का निर्वाहक है, विन्दु की सत्ता व्यापक है प्रत्येक अंक में विद्यमान और उन से पृथक् होकर भी स्वरूप से समान है। व्यापक सत्ता में संकोच विकास नहीं होता। अनन्त सूर्य चन्द्रादि पदार्थ आकाश में चक्र लगाते हैं उन के आने से आकाश की सत्ता कहीं को न जाती है, और न उनके जाने से कहीं से आती है। सर्व पदार्थों को अवकाश देना व्यापक वस्तु का स्वभाव होता है। स्थूल पदार्थों में व्यापक वस्तु स्वरूप से और सूक्ष्म पदार्थों में सत्ता से प्रतीति विचार दृष्टि से ही होती है। यह सर्व प्रपंच प्रभु की रचना है, अत्यन्त गंभीर है अतएव धीर पुरुषों के ही विचार का विषय हो सकता है। कार्योत्पत्ति के निमित्त आकाशादि पदार्थ अन्यथा सिद्ध या स्वयंसिद्ध माने जाते हैं। यथा कुलाल घटनिर्माणार्थ मृत्तिका को यत्न से लाता है, इस प्रकार आकाशादि को सम्पादन नहीं करता, वह स्वयं सिद्ध कार्य विधान में सहायक हैं, इनके विना किसी कार्य की उत्पत्ति या स्थिरता हो ही नहीं सकती॥

तृतीय विचार—सर्व सृष्टि प्रकृति की विकृति या कार्य है। उपादान कारण की सत्ता का प्रत्येक कार्य में होना अवश्यं भावी है यथा मृत्तिका से बने हुए सर्व घटादि पदार्थों में उस का सद्भाव देखा जाता है, इस प्रकार कार्य कारण भाव धारा की संगति सर्वत्र जान लेनी चाहिए। सर्वोपादान प्रकृति विकृत मार्ग में जाती हुई स्थूल कार्यान्त भूमि पर्यन्त विराम पाती है। अत एव पूर्व भाव पदार्थ की सत्ता का सद्भाव उत्तरोत्तर पदार्थ में होना ही चाहिए। यह दृष्टचर वाद से सिद्ध हो रहा है, प्रकृति का सत्वांश महत् कार्य आकाश की सत्ता का

सद्भाव रजस्तम प्रधान परमाणुओं में होना ही चाहिए ॥

चतुर्थ विचार प्रश्न–क्या परमाणुओं का भाग होता है, या नहीं ? भाग के होने से उनमें लम्बाई चौड़ाई की सत्ता चाहे वह कितनी ही हो अवश्य ही है इस के होने से परमाणु के नित्यत्व की हानि होगी। यदि नहीं तो उन का परस्पर संयोग कैसे होगा ?

समाधान–अन्तिम भाग का विचार भागी के समान नहीं होता । इस कारण से विभक्तांश रहित परमाणु पर यह विचार लागू नहीं हो सकता । दीर्घ, ह्रस्व, ओर और छोर पदार्थ के स्थूल गुण हैं, परमाणु की दशा में जब वह अपने स्वाभाविक गुणों को भी छोड़ देते हैं, उस अवस्था में स्थूल गुणों का तो कथन ही क्या है । आप विचार करें कि जब जलीय परमाणुओं में आर्द्रता और आग्नेय परमाणुओं में उष्णता, वायवीय परमाणुओं में स्पर्श गुण नहीं रहता, तब वहां पर उपर्यक्त स्थूल गुणों का विचार युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता । स्थूल पदार्थों के भेद के समान तात्कालिक कोई भेद नहीं है, इस लिए इस अवस्था का नाम समवर्त्ति है, यथा सुषुप्ति । इस समय वैशेषिक दर्शन प्रतिपादित विशेष पदार्थ सब को विभक्त करता हुआ सर्वथा स्थूलावस्था विहीन बना कर विराम पाता है। यह विशेष पदार्थ भेदकारक नित्य पदार्थों में ही रहता है ॥

प्रश्न–परमाणु का भी विभाग हो सकता है, जैसे तीन बिन्दु को मिला कर यदि पुनः उस को मध्य में से काट दें तो बीच के बिन्दु के दो भाग हो जाएंगे इसके समान तीन परमाणु

मिला कर यदि बीच में से विच्छेद कर देंगे तो मध्यवर्त्ती परमाणु कट जायगा ॥

उत्तर—कदापि नहीं। प्रथम तो यह कल्पना मात्र युक्ति व्यवहार में नहीं आ सकती। कारण यह है कि यदि तीन बिन्दु को मिला कर पुनः उस को काटने से बिन्दु का कट जाना मानते हो तो इस मन्द विचार से पूर्व बिन्दु को विभक्त कर के क्यों नहीं दिखा देते ? यह नहीं हो सकता है इस लिये तो आप क्लिष्ट कल्पना में जा रहे हैं ॥

मेरे मित्र ! जब तीन बिन्दु मिल जाते हैं तब वह रेखा बन जाती है, अब आप रेखा को काटते हैं उस पर व्यवहार बिन्दु का करते हैं इस लिए तो यह अधूरी कल्पना असाध्वी है। ठीक नहीं है। इसी प्रकार तीन परमाणु मिल कर त्रसरेणु पूर्वापेक्षया कुछ स्थूल सा हो जाय उस के विच्छेद से परमाणु का विभाग कैसे हो जायगा। कुछ विचार से काम लो तो पता लगेगा कि आप के कथन में कितनी विप्रतिपत्ति है। अन्यदपि—जो पदार्थ परस्पर मिलाया जाता है विच्छेद करते समय उस का ही विभाग होता है। आप बिन्दुओं को मिला रहे हैं और विभक्त करते समय अर्ध बिन्दु का व्यवहार कर रहे हैं। तीन परमाणुओं को मिला कर आप ने त्रसरेणु को अपनी कल्पना शक्ति से बनाया अब विभक्ति से अर्ध परमाणु को व्यवहार में लाते हो जो सर्वथा असंगत है।

॥ इति जीव गति समाप्त ॥

संसार गति

मूलोपादानस्य कार्यान्तपरिणामः सृष्टिः ॥१२७॥

प्रत्यक्षीभूत संसार के मूलकारण के कार्यान्तर परिणाम को सृष्टि कहते हैं, वह परिणाम सूक्ष्म पदार्थों में गति करता हुआ स्थूलपदार्थ पृथिव्यन्त विराम पाता है, यहां पर ही इसकी परिसमाप्ति होती है, इसके आगे जीव सृष्टि का आरम्भ होता है। प्राकृत पदार्थों को लेकर जिन वस्तुओं को मनुष्य अपने अनुकूल बनाता और कार्य में लाता है उसका नाम ही जीवसृष्टि है। इसका स्वरूप में आना प्राकृतिक नियम के ही आधीन है अन्यथा नहीं। प्रत्येक कार्य के निर्माणार्थ उपादान की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त वचन में मूल शब्द इस बात का द्योतक है कि जो सर्व कार्य वर्ग का उपादान कारण है, वह अमूल कारणरहित, स्वरूप से स्वयंसिद्ध है उसको सांख्य शास्त्र में प्रकृति और अन्य समस्त कार्य को विकृति नाम से कहा गया है। यदि इसके कारण को भी स्वीकार किया जावे तो उसकी अपेक्षा कार्य हो जावेगा। पुनः इस पर सर्वोपादानता धर्म नहीं आ सकता और अनवस्था दोष से कार्य कारण भाव की मर्यादा दूषित होकर विचार को न होने देगी, और तत्त्व-पक्षपातिनी बुद्धि अमर्यादित मार्ग में चलती हुई विकल हो जावेगी। अत एव मूल के मूल की विचार धारा जहां विराम लेगी वह अमूल मूलविहीन सर्व जगत् का मूल सिद्ध होगा। यह कार्य कारण भाव विद्या अत्यन्त गंभीर है। मनुष्य को

जितना इसका ज्ञान होता है उतना ही वह लोक व्यवहार में चतुर और उत्तरोत्तर विशुद्ध बोध का उदय होकर मनुष्य-समाज देश और जातियों के उत्थान का सहारा हो जाता है। ऐसे पुरुष जिनको इसका परिज्ञान हो जाता है, वह प्रायः एकान्त-सेवी, सत्संगप्रिय, अल्पभाषी, स्वाध्याय शील और व्यर्थवाद से दूर रहने वाले ही होते हैं। वह संसार की किसी वस्तु के व्यामोह में फंस कर अपने चित्त की शान्ति को भङ्ग करना नहीं चाहते। बहुभाषी, व्यर्थवादी स्वार्थप्रिय चाहे वह कितने ही विद्वान् क्यों न हों उनको इस मार्ग में चलना कठिन ही हो जाता है। यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। भारतवर्ष इसका उज्ज्वल उदाहरण है, जितनी परमसूक्ष्म अद्वितीय परमात्मा की चर्चा इस देश में हो रही है, उतनी अन्य किसी भी देश में नहीं है, और जितना धर्म का विचार जो सर्व प्रकार के सुखों का आधार है, भारतीयजन करते रहते हैं उतना विचार अन्य देशस्थ जन नहीं करते। इतने पर भी भारतवासी उत्तरोत्तर अपनी सुख सम्पत्ति को खोकर विपत्ति के जाल में फंसते जा रहे हैं। ठीक ही है जो प्रयत्नसिद्ध फल को बातों से प्राप्त करने का स्वभाव रखता है, वह विना जल के तृषा हटाना, विना भोजन के क्षुधा को मिटाना, विना पुरुषार्थ के गौरव को बढ़ाना और बिना कुप्रवृत्ति के छोड़े प्रशंसा को प्राप्त करना चाहता है, यह कैसे हो सकता है॥

इस मध्यवर्त्ति आलाप को छोड़ कर पुनः प्रकृत विषय का अनुसरण किया जाता है—

प्रकृति के गुण विकृति में, और कारण के गुण कार्य में

पाये जाते हैं, परिणामशीला प्रकृति का स्वभाव उस के समस्त कार्य में देखा जाता है । यथा बीज का परिणाम पाते हुए वृक्ष बन जाना, पुनः उस का बीज के रूप में आना देखा जाता है, तथैव इस साधारण परिवर्त्तन के अभ्यास को देख कर सर्व संसार के मूलोपादान में परिवर्त्तन का अनुमान होता है । यदि प्रकृति का यह स्वभाव न हो, तब संसार कदापि नहीं बनेगा, और यदि यह संसार किसी उपादान का उपादेय कार्य न हो कर स्वयं सिद्ध हो, तब इस का कोई भी अंग भंग न होना चाहिए । बनी हुई वस्तु का परिणाम द्वारा ही बिगाड़ में आना होता है, और जो वस्तु परिणाम रहित है, उस को सत् कहते हैं । इस कथन से तो परिणामवती प्रकृति के अनित्य या असत् हो जाने से वैदिक सिद्धान्त की हानि होती है । क़दापि नहीं आप विचार करें प्रकृति का स्वभाव आत्मसत्ता के समान सम रस अपरिवर्त्तनशील नहीं है । यदि यही स्वीकार करें, तो पुनः उस से संसार की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस लिए यह मानना होगा कि तत्तुल्यापत्ति नहीं है, और आकाशपुष्प के समान भी उस की सत्ता को मानने से संसार नहीं बन सकता । किसी भी काल्पनिक वस्तु, या सर्वदा अभाव या अभावाश्रित भाव से वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती अत एव प्रत्यक्ष संसार को देख कर कोई व्यवस्था तो करनी होगी ॥

प्रथम विकल्प—कार्य कारण में अभेद होता है, मृत्तिका से बने हुए सर्व पदार्थों में उस का सद्भाव पाया जाता है, इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिए । कुलाल की शक्ति से जो मृत्तिका में जलाहरणादि कार्य निर्वाहक शक्ति उत्पन्न हो गई

है, उस का नाम ही तो घट है । अब जब कोई पुरुष घट की अनित्यता, या सत्यता का व्यवहार करता है, तब उस के इस कथन का मृत्तिका पर कोई प्रभाव नहीं होता, केवल उस कार्य कारण शक्ति का (जो कुलाल के सहचार से मृत्तिका में उत्पन्न हो गई थी) भंग निरूपण करता हुआ असत् या अनित्य बता रहा है । कार्य रूप में परिणत प्रकृति में यह व्यवहार हो रहा है, मूल प्रकृति में इस का कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

द्वितीय विंकल्प-यदि प्रकृति से विकृति, और पुनः इस से प्रकृति बनती रहती है तो एक कारण, दूसरा कार्य इस बात की परीक्षा कैसे हो सकती है ?

इस का निर्णय इस प्रकार है। मूल प्रकृति सब का कारण और पृथिव्यन्त स्थूल कार्य हैं। मध्यवर्त्ती जगत् में कोई किसी का कार्य और वह अन्य का कारण बन जाता है । भेद केवल इतना ही है कि प्रकृति विषमावस्था में जाती हुई अनेक प्रकार के न्यूनाधिक भाव, सुख दुःख और तत्साधनों के रूप को प्रकट करती है, और विकृति प्रकृति में लौटती हुई सब भेद भाव को मिटा कर समानता में आती है । अनेकाकार कार्य और एकाकार कारण कहलाता है। यथा वृत्त दर्शन से उस के पत्ते, हरित वर्ण, पुष्प, मधुर फलादि की प्रतीति होती है, इस प्रकार उस के बीच में किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता ॥

इस कारण प्रकृति की समानावस्था और कार्य की विषमावस्था मानी जाती है। कारण सूक्ष्मावस्था को छोड़ कर कार्य की ओर झुकता जाता है, और प्रकृति सूक्ष्मावस्था में जा कर अनेक भेद भिन्न अग्नि जलादि पदार्थों को अपने गर्भ में ले

कर अनन्त काल तक स्वरूप में विद्यमान रहती है । इस की सर्वावस्था में परमात्मा का नियम सदैव जागरूक है। सृष्टि की परीक्षा अत्यन्त ही दुर्विज्ञेय है, यथा गति उस के कार्य को देख कर अनुमति होती है कोई उपायान्तर नहीं। प्रकृति की उपमा बीज से दी गई है, बीज का यह स्वभाव है कि पृथिवी में गिरते ही उस के दो भेद हो जाते हैं । एक सूक्ष्म भाग है जो तल में जाता है और दूसरा स्थूल भाग है जो स्थल में आता है। वृक्ष के स्वरूप को स्थिर सुन्दर बनाने और फल पुष्प लाने में यह प्रथम भाग ही काम करता है, इस के निर्दोष होने से वृक्ष निर्दोष और इस के सदोष होने में उस का सदोष होना अवश्य ही है । यह नियम वृक्षों में ही नहीं, प्रत्युत् किंचित् प्रकार भेद से सर्वत्र इस का निदर्शन हो रहा है । इस नियम की धारा का स्रोत भी प्रकृति में ही विद्यमान है । प्रकृति का प्रथम परिणाम 'महत्तत्त्व' स्थूल कार्य निर्माणार्थ पृथक् हो जाता है इस को 'हिरण्यगर्भ' अथवा 'समष्टिबुद्धि' के नाम से कहा है, यह अत्यन्त ही सूक्ष्म तत्त्व है, जो सुषुप्ति अवस्था में विद्यमान जीवों के कर्म फलाभिमुख होते हैं उन के साथ सम्बन्ध कर जाता है, और उन को कोई पता नहीं । इस की अपेक्षा स्थूल परिणाम अहंकार का उदय हो जाता है, इस अवस्था में जीवों को कुछ अपना बोध तो होने लगता है, परन्तु तत्काल साधन विहीन होने से प्रयत्न करने में सर्वथा असमर्थ हैं । इस की अपेक्षा इन्द्रियों का परिणाम कुछ स्थूल परन्तु अतीन्द्रिय होता है, इतने परिणाम के पश्चात् परमाणुओं में स्थूल कार्य निर्माणार्थ क्रमशः गति का संचार होता है। अब

वह स्थान को छोड़ते हुए एक दूसरे के साथ सर्वांश में मिलते हुए सूक्ष्म आकाश और पृथिव्यन्त स्थूल कार्य की उत्पत्ति के निमित्त हो जाते हैं, तत्पश्चात् यह आश्चर्य स्वरूप संसार मनुष्य पश्वादि वृक्ष वनस्पत्यादि सर्व वस्तु का भंडार प्रत्यक्ष हो जाता है । अब सुविचारार्थ इतना कथन करना उचित ही है, कि जब कोई राज नियम किसी अपराधी के निगृहीत करने का विचार करता है, वह महत्तत्त्व के समान है अपराधी को इस का कोई भी पता नहीं । और जब कर्मचारी उस के सामने आ जाता है, तब वह अहंकार के समान उस को अपने दोष से सम्बोधन कराता है । हथकड़ी या बेड़ी इन्द्रियों के समान है । पश्चात् कारागार का स्थूल स्थान है इस प्रकार का मेल जोल जिस का सृष्टि क्रम के साथ उदय होता और क्रम भङ्ग के साथ अस्त हो जाता है, इस सब उपक्रम में सर्वदा सर्वथा जागरूक परमात्मा का पराक्रम काम करता है ॥

सृष्टि निरूपण के पश्चात् इस की स्थिति और पालन का विचार किया जाता है—

योऽस्य उत्पादकः स एव संस्थापकः पालकश्चेति ॥१२८॥

जिसने इस सृष्टि की रचना की है, वह ही इसकी स्थिति और पालन का निमित्त है, अन्य कोई नहीं । यद्यपि संसार में एक वस्तु दूसरी वस्तु का आधार है और किसी से किसी का उपकार है यह देखा जाता है, तथापि जो सब का आधार और समस्त जगत् का सहारा है उसको परमेश्वर कहते हैं । यह विचित्र शक्ति अतुलबल आश्चर्य ज्ञानवान् और प्रचण्डतेज है, वही इसकी रक्षा का बीज है । उत्पन्न करने की अपेक्षा स्थिर

और पालन करना अतिसुगम है, यह स्थूल जगत् उन ही सूक्ष्म तत्त्वों के आधार पर जो प्रकृति के प्रथम परिणाम हैं, ठहरा हुआ है। शरीर में भी कार्य निर्वाहक सूक्ष्मतत्त्वांश ही है, उनकी गति से ही स्थूल शरीर में प्रयत्न का प्रकाश होता है, उनके मन्द पड़ जाने से बाह्य शरीर में गति की शक्ति जाती रहती है, इस उत्तरोत्तर सम्बन्ध का उपक्रम और परिसमाप्ति की पराकाष्ठा संसार निर्मापक परमात्मा में ही है। उसने इस अनन्त रचना को रच कर इसके स्थिर रखने वाले नियमों को बना कर, अनेकविध सुख साधनों से भरपूर कर दिया है। जहां तक मनुष्य की बुद्धि प्रकाश में आती जाती है, वहां तक उस महान् की महिमा सामने आती है। पाठक विचारें कि सूर्य की आकर्षण शक्ति से अनेक चन्द्र और उनके परिवार बड़ी तीव्र गति से चक्र लगाते हुए स्थिर हो रहे हैं और उन के परस्पर विकर्षण से सूर्य अपनी परिधि पर घूमता रहता है। इस ब्रह्माण्ड में अनन्त चन्द्र लोक अपने २ कुल के साथ एक सूर्य के आधीन विद्यमान हैं, इस की इयत्ता अत्यन्त ही कठिन है, अल्पज्ञ तथा अपूर्ण मनुष्य का परिमित ज्ञान उस पूर्ण परमात्मा की रचना से कहां तक परिचित हो सकता है? इन सूर्य परिवारों का परस्पर आकर्षण और विकर्षण है। अब विचार यह है कि यह अत्यन्त प्रचण्ड जड़वर्ग जो अपने कार्य का अद्भुतरूप से निर्वाहक है, इस में स्वयं ज्ञान शक्ति है, या किसी अन्य चेतनशक्ति के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने शासक को जता रहा है। यह समस्त कार्य जगत् पृथिवी, अप तेज वाय्वादि के पंचीकरण अर्थात् इन पांचों के हेलमेल से बना हुआ है। इन एक एक में

चेतनता का अभाव देखने से समुदाय में भी इस शक्ति का अभाव ही सिद्ध होता है। एक मनुष्य अग्निहोत्र प्रतिदिन करता है, यदि भूल से किसी दिन उसके वस्त्र पर कोई अग्नि का कण गिर जावे तो वह उसको जला देगा। गङ्गा का पूजन करने वाला, जो तरने से अपरचित है, फिसल कर उस में गिर जावे तो वह डूब जावेगा। इस निदर्शन से तो यह पता मिलता है कि कोई भी ज्ञानवान् स्वामी अपने सेवक (जो श्रद्धा से उस की सेवा करता हो) को खेद नहीं देता है, इस कारण से तो जलादि पदार्थों में चाहे गुण अद्भुत या अनेक हों, चेतनाशक्ति सिद्ध नहीं होती। अत एव इस महान् ब्रह्माण्ड में किसी अन्य चेतन शक्ति के संचार से इनमें केवल उस शक्ति का उपचार है, वास्तव में नहीं। इसलिए सूर्य चन्द्रादि पदार्थों की दूरी के माप विमाप का ज्ञान उनको कैसे हो सकता है कि उन को इतनी दूर होने से उन में आकर्षण और विकर्षण उत्पन्न होकर सुगमता से कार्य चलने लगेगा॥

मेरे मित्र! यह उस ही नियामक का नियम है जो सृष्टि निर्माण में चतुर है। किंचित् आप सृष्टि में विचार करें, इंजन का निर्माण बड़े ही बुद्धिमानों के हाथों से हुआ है, शरीर विधान के समान इस का ज्ञान है। इंजन अपनी शक्ति से गाड़ी को (जिस में सहस्रों पुरुष बैठे हैं) बड़ी ही तीव्रता से ले जा रहा है, परन्तु उसका चलन, वलन, हलनादि सब प्रकार से नियन्ता (ड्राइवर) के ज्ञान के अधीन है। जहां जहां इंजन को लौटाना आगे बढ़ाना, तीव्रता से ले जाना एक लाइन से दूसरी पर घुमाना होता है, वहां सर्वत्र समझदार मनुष्य कार्य

करते हुए दिखाई देते हैं। आपने अनेक बार देखा होगा कि स्टेशन पर अनेक ट्रेन भिन्न २ लाइनों पर खड़ी हो रही हैं, वह स्वयमेव वहां जाकर नहीं ठहरी हैं, प्रत्युत् किसी बुद्धिमान् मनुष्य ने विधि के साथ वहां लेजाकर स्थिर की हैं। अब जब उसके विचार का उन पर आघात न लगेगा, तब तक उनमें किसी प्रकार भी गति का आविर्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार घटीयन्त्र, स्टीमर, आकाशविमान अन्य अनेक यन्त्रों का अभ्यास करो तो सर्वत्र यही नियम काम करता हुआ देखा जावेगा। एवं आश्चर्यस्वरूप ब्रह्माण्ड चाहे वह कितने अद्भुत कार्यों का संबोधक है, उन सब में भी उस नियामक व्यापक परमात्मा का नियम ही काम कर रहा है, और वह ही अवधि पर्यन्त इस की स्थिरता का निमित्त है। इस संसार और समस्त जीवों के पालन का भी वह ही आधार है॥

प्रथम नियम—जीव अल्पज्ञ होने के कारण किसी भी पदार्थ के निर्माण और उसके यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान में असमर्थ है, अतएव परमात्मा ने उन पदार्थों को, और उनको उपयोग में लाने के ज्ञान को अपनी कृपा से ही प्रदान किया है ऐसा जानना चाहिए। इस विचार से मनुष्यों के अन्तःकरण में विनयभाव, जो आत्मा का उच्चतम गुण है, उदय होने लगता है, प्राणिमात्र का प्रेम जागता और वैर विरोध दूर भागता है, यह ही बन्धन से छूटने और मोक्षप्राप्ति का द्वार है। इस पर विचार करें कि किस प्रकार संसार का पालन हो रहा है। सूर्य की तीक्ष्ण किरण अनेक भूगोलस्थ पदार्थों को जो प्राणियों के जीवन का निमित्त हैं उत्पन्न कर रही है, इसके आघात और

प्रकाश से प्रत्येक वस्तु वृद्धि को प्राप्त हो रही है। उष्णता के सन्ताप से भूमितल में स्थित मूल शाखों से लेकर वृक्ष के उपरि भाग तक प्रत्येक शाखा और उपशाखा, पत्र, पुष्पफलादि में वाष्परूप होकर जल चक्र लगाने लगता है। सायंकाल के पश्चात् तापाघात के विराम से ऊपर को गए जलांश क्रमशः वर्धमान चन्द्रकिरण के द्वारा शीतल होकर लौटकर मूल शाखा के इर्द गिर्द एकत्रित होकर उसके सन्ताप को हटाते और जीवन शक्ति को बढ़ाते हैं, इससे सौरभ, पुष्प, सुरस सुन्दर फल वृक्ष की आकृति मनोहर, छाया निविड़ प्रत्यक्ष होने लगती है, यह नियम प्रतिक्षण इधर उधर होता हुआ आ प्रलयान्त कभी भी समाप्त नहीं होता है, जिस स्थान में इस नियम का विरोध है वहां पर यह विचित्रता देखने में नहीं आती। जैसे वृक्ष छाया में रहने वाले वृक्ष अपवाद को छोड़ कर सदैव पराक्रान्त देश के समान मलीन देखे जाते हैं। यह सूर्य चन्द्र पदार्थ वृद्धि विधान में समान कार्य करते हैं, यह सृष्टि रक्षा का सर्वोत्तम नियम सर्वदा नियामक के शासन में ही रहता है॥

द्वितीय नियम--सूर्य की किरण प्रतिक्षण जल को सूक्ष्म बना कर ऊपर फेंकती है और चन्द्रकिरण उसे नीचे को लौटाती है, जितनी सूर्यकिरण कठोरता में जाती है उतनी ही चन्द्र ज्योत्स्ना मृदुता में आती जाती है। अन्त में वायुदल के तीव्र आघात मेघाछन्न आकाश से गर्जन और तर्जन के द्वारा उस जल को (जो ऊपर को उड़ाया था) भूमि पर गिरा देते हैं। आप तृषित पुरुष को जल देकर शान्त कर सकते हैं, विश्व भर की तृषा को मिटाना उस विश्वनाथ का ही काम है। कारण

यह है कि जिस प्रकार उष्णता से संतप्तपुरुष शीतलछाया वाले स्थान में आकर उस के शीतांश को ग्रहण करता और आनन्द पाता है, उतना छाया में बैठा हुआ नहीं, जितना श्रम से क्लान्त मनुष्य जल स्नान से सुख को अनुभव करता है, उतना सुख से बैठा हुआ स्नान के सुख को नहीं जानता ॥

वृष्टि होगई सब प्रसन्न हैं। अब भूमि को ठीक करके उस में बीज डालो, अच्छे कर्म होंगे तो उपज अच्छी होगी। परन्तु अब विचार यह है कि यह बीज रसायनविधि से संपुटित हो कर आपको कहां से प्राप्त हुए ? विना परमात्मा के इस विद्या को कोई नहीं जानता। भला कोई तो बतावे कि इन बीजों में नीचे को जाने और ऊपर को आने वाला कौन सा भाग है। भूमि में गिरते ही एक नीचे को जाता और दूसरा ऊपर को आता है। यदि इन बीजों के साथ यह नियम भी काम करता होता कि यदि बीज सीधा डालोगे तो उपजेगा अन्यथा नहीं तो इससे कृषक को कितनी कठिनाई हो जाती। यदि इन बीजों को मनुष्य अपने स्वभाव से किंचित् विकृत करदे या अल्प चोट लगादे (चाहे उस का कुछ अंश भी पृथक् न हुआ हो) तो फिर वह अंकुर नहीं देते हैं। धान्य के छिलके को हटा दो फिर वह उपज के काम का नहीं रहता। यह सब नियम उसी शासक का प्रकाशक है। मेरे मित्र ! किंचित् यह तो विचार करो कि कोई पुरुष किसी को धन देकर और कोई लेकर, कोई सहायता देकर और कोई पाकर परस्पर प्रसन्न तो हो जाते हैं, परन्तु सब के प्रसन्न करने का उपाय किसी के पास नहीं है। पर पूर्ण चन्द्रमा को देखकर स्त्री, पुरुष, बाल, युवा और वृद्ध

सब मग्न हो जाते हैं। लघु शिशु जिसको कुछ भी बोध नहीं है दुग्धपान करके माता की गोद में अथवा उससे पृथक् हो कर हाथ पाओं को इधर उधर फेंकता, टिकटिकी लगा कर चान्द को देखता हुआ माता की गोद से निकला जाता है। देखो! जीवन सामग्री को उत्पन्न करता हुआ अपने शीतलांश से प्राणिमात्र को कितना प्रसन्न कर रहा है। यदि नीरोग मनुष्य स्वास्थ्य के नियमों को जानता और मानता हुआ चन्द्रकिरण का क्रम से सेवन करता है तो अधिकांश में दीर्घरोगी कभी नहीं होता। और यदि कोई रोगी पथ्यसेवी इसका अभ्यास करे तो वह स्वस्थता को प्राप्त हो जाता है। यदि शीतकाल में चन्द्रप्रकाश कुछ खेदप्रद जान पड़ता है तो रविकिरण मधुर हो जाती है, दोनों परस्पर मिल कर किस प्रकार स्वास्थ्य प्रदान करते हैं और अनन्त जीवन सामग्री से संसार को भरते हुए सृष्टि विधान में अति निपुण परमात्मा की महिमा को दर्शाते हुए सदैव अपनी २ कक्षा में विचरते हैं॥

तृतीय विचार–परमात्मा का धन्यवाद करो, वही हम सबका पूज्य है वही उपास्य है। उसका ही ध्यान मन में करो, उससे विमुख होकर मनुष्यसमाज सुखसाधनों से वंचित हो जाता है। यह सत्यवाद शास्त्र बताता है और प्रकृत पद वाच्य महात्माओं के उपदेश द्वारा भी सुनने में आता है। संसार में किंचित् उपकार करने वाले मनुष्य उसकी मर्यादा को दर्शाते हैं। उपकार करने वाला मनुष्य यदि अपने उपकार को विस्मरण कर दे, और जो उपकृत है वह कभी न भूले, तो इससे संसार की व्यवस्था में बड़ा ही सौन्दर्य और सामर्थ्य द्वारा दिगन्त व्यापी

यश का उदय हो जाता है। परमात्मा अनेकविध उपकार करता हुआ किसी को नहीं जताता परन्तु मनुष्य भूल जाता है, इस लिए भूल से ही अपने क्लेश को बढ़ाता है। यह प्रभु का गुण जिस पुरुष में हो वह महान् है, उसका ही कल्याण है, जिस भारतवर्ष में स्वयं उपकार करके भूल जाने वाले और दूसरों से उपकृत होकर कभी न भूलने वाले अनेक इस गुण के गुणी होते थे, आज इस देश में ढूंढने से भी नहीं मिलते, खेद है ग्लानि है, इस से बड़ी ही हानि है। पुनः इधर आओ, पुरुषार्थ करो, परस्पर झगड़े को मिटाओ, ऋषि के उपदेश को मन में धरो, एक दूसरे के सहायक होकर आगे बढ़ो। आलस्य आत्मा के उत्तम गुणों का विरोधी है। भारतीय जनों को इसने ही दबाया है, इसी दोष ने दासता के जाल में फंसाया है॥

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, पालनविधि निरूपण के पश्चात् प्रलय का निरूपण किया जाता है—

निरस्तसमस्तप्रपञ्चा प्रलयावस्था ॥१२६॥

पञ्चेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने से सर्व संसार का नाम प्रपंच है। इस कार्यावस्था का समस्त अंग भंग होकर जब अपने कारण में लय हो जाता है, उस अवस्था का नाम प्रलय है। कहीं २ उक्त विषय को विस्तार या पुनः कथन करने को भी प्रपंच कहते हैं। अथवा एकरूप प्रकृति का विस्तार में आ जाना संसार या प्रपंच कहलाता, और पुनः इसका कारण में समा जाना प्रलय माना जाता है। दिन रात्रि के समान सृष्टि-स्थिति अन्तर्गत अनेक उत्पत्ति और प्रलय होती ही रहती है। परन्तु एक समय सर्व कार्यवर्ग का बिगड़ कर मूलप्रकृति बन

जाने को महाप्रलय कहा गया है। उस समय कोई कार्यांश भी शेष नहीं रहता। यथा एक भूगोल में भूमि का कोई भाग जल के नीचे और कोई भाग जल के बाहर आजाता है और कालान्तर में वहां वृक्ष, पुष्प, फल, पशु, पक्षी और मनुष्यादि का निवास होने लगता है। इसी प्रकार कभी एक भूगोल नष्ट हो जाता है, और दूसरा उत्पत्ति में आता है, इसी प्रकार अचिन्त्य ब्रह्माण्ड से अनन्त भूगोल में बनते और बिगड़ते रहते हैं। इस समय भी कहां किस भूगोल की उत्पत्ति या किस का विनाश हो रहा है? इसको परमात्मा के बिना कोई भी यथार्थ रूप से नहीं जान सकता। जैसे एक भूगोल का समस्त कलेवर विनाश को प्राप्त होता है, वैसे एक सर्व चन्द्र परिवार का विलोप और दूसरे परिवार का उदय हो जाता है। बुद्ध मङ्गलादि ग्रह कई एक मिल कर चन्द्र परिवार संज्ञा को उपलब्ध करते हैं, चन्द्र के विनाश के साथ २ इनका विनाश अवश्यम्भावी है। इन सब में क्रमशः चन्द्र प्रकाश इस भूगोल के समान सदैव बना रहता है, ऐसे अनेक चन्द्र परिवार मिल कर सूर्य का एक कुल बनता है। कभी इस समस्त कुल का भी विलय हो जाता है। एक भूभाग की अपेक्षा भूमण्डल की, इसकी अपेक्षा एक परिवार की और इसकी अपेक्षा एक कुल की और इसकी अपेक्षा ब्रह्मचक्र की आयु अधिक होती है। जब कोई भूमण्डल अपनी अवधि पूरी करके नीरस, अशक्त हो जाता है, तब अन्य भूमण्डल जो अपनी नूतना से उन्नति की ओर जा रहा है उसकी आकर्षण शक्ति से उसमें समाकर वृद्धि का निमित्त भूत खाद्य का काम देता है, यथा बुभुक्षित भूभाग को सबल बनाने के निमित्त खाद्य

पदार्थ की आवश्यकता होती है। अन्यथा वह उपज के अयोग्य हो जाता है॥

इस निदर्शन से यह सिद्ध होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में कोई मण्डल क्षेत्र के रूप में जाता और कोई खाद्य के रूप में आता है, यह सब कुछ होते हुए भी इनके परस्पर आकर्षण में कोई भेद नहीं आता। कारण यह है कि एक के बिगाड़ में अन्य तत्काल बन जाता है। ऐसा न होनें पर अन्य भूगोल अति शीघ्र सेनादल के या कूज पक्षियों की उडान के समान अपनी परिस्थिति को परिवर्त्तित कर देते हैं, जिससे आकर्षण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इस व्यवहार में परमात्मा का नियम जो सदैव सावधान है, काम करता है। मेरे मित्र! आप ने धूमकेतु जिसको पुच्छल तारा कहते हैं देखा होगा, वह क्या वस्तु है? वह किसी तारे के सहयोग से एक लम्बी प्रकाशरेखा दूर तक चली जाती है। ऐसा दृश्य कभी २ देखने में आता है, जनता उसके देखने से चकित हो जाती है, और उद्ग्रीवा हो कर तद्दर्शनार्थ उत्साहित रहती है। वह मण्डल जिसका नूतन प्रादुर्भाव हो रहा है अपनी तीव्र शक्ति से उन भूमण्डलों को जिन की अवधि पूरी हो चुकी है, अपनी ओर खेंचता चला जाता है, और अपने प्रकाश से उन रेणुओं को जो सूक्ष्म होकर उस ध्रुव की ओर भागते जा रहे हैं, प्रकाशित कर रहा है। जब वह आहार से पूर्णता में आता है तब उसका कार्य समाप्त हो जाता है। कभी २ यह प्रकाश रेखा किसी ध्रुव के चारों ओर पूर्वादि दिशाओं में गई हुई होती है॥

ऐसा दृश्य उस समय प्रकट होता है जब किसी चन्द्र

परिवार का अस्त होकर दूसरे का उदय होने लगता है। एवं कभी वर्तुल (गोलाकार) रूप में प्रकाश किरण किसी ध्रुव के इर्द गिर्द एक के पश्चात् कुछ भेद से दूसरी, फिर तीसरी प्रकट होती है, ऐसा दृश्य इस बात का ज्ञापक है, कि कोई सूर्य कुल बिगड़ कर दूसरा बन रहा है, इस प्रकार का दर्शन मन्वन्तर परिवर्तन में अर्थात् ७२ चतुर्युगी बीत जाने के पश्चात् ही होता है। महाप्रलय के अवसर में सूत्रात्मा वायु के प्रचण्ड आघात से समस्त ब्रह्माण्ड अपनी स्थूलावस्था को छोड़ कर सूक्ष्मावस्था में गति करने लग जाता है, उस समय अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगते हैं, परमात्मा का ईक्षण ही इस में मुख्य कारण है। तात्कालिक ऐसे कई एक केतु जिनकी प्रकाशधारा पूर्वादि सर्व दिशाओं को चली जाती है, और अनेकशः प्रकाश शिखा सीधी सरल और कोई २ तिर्यगाकार होती है, इन में कभी २ रक्त नील, पीत, और हरितादि किरणें कम्पित स्वभाव से नीचे ऊपर इधर उधर गति करती हुई भी देखी जाती हैं। इस विचित्र आश्चर्यरूप दर्शन से मनुष्य स्वभाव में भी अत्यन्त परिवर्तन हो जाता है। छलछद्म से मनोवृत्ति हटकर सन्मार्ग की ओर झुकती जाती है। नास्तिकता की वृत्ति मन्द होकर आस्तिकता के भाव को दर्शाती है। वैर विरोध, ईर्ष्या, द्वेष को लोग छोड़ते जाते हैं, प्रेमप्रीति सुन्दर सुनीति की ओर गति को बढ़ाते हैं। सब भूमण्डलों में विद्यमान पुरुष ऐसा ही विचार करते हैं कि अब क्या होगा ? इस आपत्ति के समय कौन सहायक है ? किसी के वश की बात नहीं। प्रभु का स्मरण करो, विपत्ति में वही सबका सहारा है ॥

ऐसी अवस्था में न क्षुधा ही अधिक कष्ट पहुंचाती है, न तृषा ही सताती है, न किसी के मन में किसी का सन्मान ही है और न किसी के विचार में किसी का अवमान ही है, स्वभाव से तपस्वी, सब की प्रायः एकाग्र मनोवृत्ति, शुभ विचार में मानसिक प्रवृत्ति अल्प २ समय के पश्चात् इस संसार के नियन्ता परमात्मा की अनुवृत्ति होती रहती है । जीवन से उदासीन मृत्यु की प्रतीक्षा में लवलीन सर्वथा सहायता विहीन पराधीन हो, यही मार्ग बुद्धि दर्शाती है । सूर्य कुल के विनाश और मण्डलान्तर का प्रकाश अपने स्वभाव से अन्य भगोलस्थ मनुष्यों के सुख संचारक साधनों और विशुद्ध विचारों के उदय कराने में आचार्य का काम देता है । सूर्य चन्द्रादि के बिगड़ने और बनने में मुख्य तो परमात्मा का नियम जो सदैव जागरूक और सत्य है काम करता है, उस की व्याप्ति तो सदा एक रस है। द्वितीय प्राकृत पदार्थों में से सब को नियम में लाने और समस्त ब्रह्माण्ड को सम्भालने का बीज सूत्रात्मा वायु इस में सहायक है । यह सर्व संसार का आधार है जब यह अपनी प्रलय कारिणी तीव्र गति से आघात पहुंचाता है, तब उस मण्डल के सब अङ्ग भङ्ग हो कर अत्यन्त सूक्ष्म उस के वेग के साथ मण्डलान्तर में जाकर एकत्रित होते जाते हैं, जिनका नूतन आविष्कार हो रहा है ॥

यही वायु किसी के उद्भव और किसी के तिरोभाव का निमित्त है। जिसका विनाश करना होता है उसपर इस का तीव्रतम आघात होता है, और जिस को बनाना होता है उसके निमित्त इस का आघात अत्यन्त कोमल हो जाता है। यथा

कुलाल का हाथ मृत्पिंड के बिगाड़ने में कठोरतर और पुनः घट के बनाने और उसके संभालने के निमित्त अति मृदु हो जाता है, यही दृष्टान्त ठीक लागू होता है। आकाश तो वस्तु निर्माण में स्वयंसिद्ध है, वायु से अग्नि की उत्पत्ति है और यह पदार्थ विच्छेद में बड़ा ही सहकारी कारण है। अग्नि-वायु संयोग से जल वाष्प बनकर उड़ जाता है, इसके दूर होने से पार्थिव परमाणु संघातरूप में कभी नहीं रहते हैं, जिस से यह सिद्ध होता है कि सामग्री तो सब विद्यमान ही है भेद केवल प्रकारता धर्म का है कि एक स्थान से हटाना और स्थानन्तर में लेजाना, एक का अदर्शन दूसरे का दर्शनमात्र ही है। सृष्टि का कारोबार कैसी सुन्दर रीति से हो रहा है यह उस महान् की महत्ता को बता रहा है, किन्तु यह मनुष्य फिर भी अविद्या में सो रहा है। एक भूमण्डल का कोई भाग जलान्तर्गत हो जाता है और अन्य कोई भाग जल से बाहर आता है, उसको भी एक प्रकार की प्रलय कहते हैं। इसका कारण भूगर्भस्थ अग्नि ऐसी अवस्था प्रचण्ड भूकम्पानुकम्प से होती है। साधारण से नहीं। इसके तीन भेद हैं एक तो आगे को बढ़ता और कुछ पीछे को हटता है इससे पर्वतों के ऊपर के भाग गिर जाते हैं। वृक्ष स्थानादि विनष्ट हो जाते हैं, प्रान्तों का रूपान्तर हो जाता है॥

दूसरा भूकम्प समुद्रतरङ्ग के समान ऊपर उठता, और कुछ नीचे को होता है, इस से भूमि का कोई भाग विच्छेद में जाकर समविषम रेखाकार हो जाता है, और कोई भाग स्वल्प पर्वत के रूप में कहीं प्रकट हो जाता है। कभी आपने देखा

होगा कि समतल भूभाग में क्रोश दो क्रोश या कुछ अल्पाधिक में कुछ ऊंचे बड़े २ पाषाण पिंडों के साथ प्रतीत हो रहा है, उसको कम्प के प्रकोप ने भूमि से बाहर कर दिया, और शुष्क स्थानान्तर में एक बड़ा जलाशय (झील) बना दिया है। यह कभी सजल भूभाग को निर्जल और जलहीन प्रान्तों को सजल बना देता है।

तृतीय भूकम्प—इन दोनों से कुछ विलक्षण होता है। यह कुलाल चक्र के समान घूमता है इस से शतशः कोसों की दूरी में समुद्र जल भूमि को घेर लेता है और कोई अन्य प्रदेश जल से रिक्त होकर स्थल बन जाता है और कभी कहीं इसके तीव्र-घात से पर्वत माला में अग्निवृष्टि होने लगती है और कोई भूमि का भाग नीचे को हो कर जल वृद्धि से दलदलमय हो जाता है। वृक्ष, पशु और मनुष्यादि का वहां नाम को भी निवास नहीं रहता है, फिर कभी कालान्तर में वह प्रान्त निवास के योग्य बनता है। गतिमती भूमि के किसी न किसी प्रदेश में कम्प सदैव बना ही रहता है। यथा भूमि की गति नहीं रुकती है, उसी प्रकार इस का वेगनिरोध भी अशक्य है। इन कम्पों के तीव्र वेग से मनुष्यों का अन्तःकरण भ्रान्ति का स्थान हो जाता है। असमय में कम्प का भ्रम होने लगता है जिस से अनेक पुरुष विचारहीन हो जाते और जीवन की इच्छा से कार्य छोड़ कर इधर उधर भागने लगते हैं, यह प्रत्यक्ष हानि है। पर यह कम्प भूगति मर्यादा को स्थिर और इसके गर्भ में अनेक प्रकार की कानों के उत्पन्न करने में बड़ा ही सहायक है, जैसे वायु के वेग से अल्प हानि और अधिक लाभ होता है, तत्सदृश भूकम्प

से जान लेना चाहिए। जब सृष्टि नियम किसी भूभाग को जलमय बनाता और किसी भाग को स्थलरूप में लाना चाहता है, तब भूकम्प का प्रचण्ड वेग सागर तल में होने लगता है समुद्र तरंग आगे को ही बढ़ता चला जाता है, और कहीं २ जल आंधी चक्र के समान ऊपर को उठाता हुआ किसी भूभाग को जल शून्य बना देता है ॥

इन विचित्र कम्पों से नद नदी अपनी मर्यादा को छोड़ कर दूसरी ओर बहने लगते हैं और पर्वत माला में बड़े २ वेग से बहने वाले स्रोत नियत स्थान को छोड़ कर भूमि गर्भ के अन्तर्गत होते हुए भिन्न २ स्थानों में अपना मार्ग बना लेते हैं। कभी २ कहीं २ उन कम्पों से गर्भस्थ बालकों की प्रगति में बड़ा भेद हो जाता है, इसके प्रभाव से जो दोष उत्पन्न हो जाता है, उसका निवारण कदापि नहीं हो सकता। यह सब उपद्रव उस परमात्मा की महत्ता के द्योतक हैं, पुरुषों का उद्योग यहां पर विफल है इन सब कार्यों में मनुष्य समुदाय के कर्म भी सहायक हैं। इन सब को महाप्रलय के समयान्तर्गत अवान्तर प्रलय ही कहना ठीक है। जब किसी भूमि का कोई भाग जलमय हो जाता तब उसकी संज्ञा संलय और जब समस्त चन्द्रपरिवार बिगड़ जाता है तब उस की संज्ञा विलय और जब सूर्य मण्डल विनष्ट हो जाता है तब उसकी संज्ञा प्रलय होती है, और सर्व ब्रह्मचक्र का अदर्शन हो जाने से महाप्रलय मानी जाती है। जब अतिवृष्टि, अनावृष्टि अधिक रोग वृद्धि से हानि पहुंचती है, तब उन सबकी उपद्रव संज्ञा होती है ॥

कई एक विद्वानों का यह सिद्धान्त है कि संसार का कोई

भाग बनता और दूसरा बिगड़ता रहता है। समस्त संसार का कभी भी विनाश नहीं होता, उनके कथन का केवल इतना ही आधार है कि वह इस विषय को प्रत्यक्ष से देखते हैं। यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सर्व कार्य का निर्वाह हो जाता, तब तो यह सिद्ध सबल हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं है। देखने में तो यह आ रहा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने कार्य को पूर्ण करके शेष कार्य को जहां उसकी गति नहीं है, अनुमानादि प्रमाणों के अधिकार में देकर स्वयं पृथक् हो जाता है और पुनः परीक्षा की परिसमाप्ति समय आकर विद्यमान हो जाता है। अत एव सर्व प्रमाण मिल कर कार्य सिद्धि के हेतु तो बन सकते हैं, अन्यथा किसी एक को भी पृथक् करने से व्यवहार अपूर्ण रहेगा। महाप्रलय के समय का कोई नियम तो उद्बोधक नहीं है, केवल शब्दप्रमाण ही उसका द्योतक है॥

प्रथम परीक्षा—यदि प्रत्यक्षप्रमाण को ही आदर देना है, तो आप बतायें कि जो पुराकाल में महात्मा पुरुष जिन्हों ने संसार का बड़ा ही सुधार किया, उनका सम्मान करना तो उचित ही है, और कई एक ऐसे पुरुष हो चुके हैं, जिनके चरित्र से संसार को बड़ी ही हानि हुई, उन के होने में क्या प्रमाण होगा? यदि इतिहास की साक्षी दोगे, उनके बनाये हुए ग्रन्थों को बताओगे, तब प्रत्यक्ष सर्व व्यवहार का निर्वाहक है, यह कहना मिथ्या सिद्ध हुआ, इस लिये शब्द प्रमाण शिरोमणि वेद का यह वचन कि किसी समय समस्त संसार का लय हो जाता है, सत्य प्रतीत होता है।

द्वितीय परीक्षा—मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्षादि की

उत्पत्ति और विनाश तो देखने में आता है इसका नाम सृष्टि और प्रलय मानना होगा। किसी भी पुरुष ने समस्त भूगोल की उत्पत्ति या विनाश होते देखा ही नहीं। तो यह कथन कि कभी एक भूगोल विनष्ट होकर द्वितीय उत्पन्न हो जाता है, असत् सिद्ध होगा। यदि अनुमान से काम लिया जावे कि संसार की अनेक वस्तुओं को बिगड़ते और बनते देख कर सर्व भूगोल का विनाश होना उचित ही जान पड़ता है, तो इस निदर्शन से समष्टि की प्रलय में क्या आपत्ति हो सकती है?'

तृतीय परीक्षा—सृष्टि सामान्य शब्द है, इस की व्याप्ति समस्त उत्पद्यमान वस्तु के साथ है, इस का प्रतियोगी शब्द प्रलय है जो अपनी सहयोगिता से सर्व वस्तु पर लागू होता है। विशेष शब्द अपने विशेषण के साथ भेदकता को प्राप्त होता हुआ सामान्य से पृथक् हो जाता है, यथा उत्पद्यमान होने से भूगोल चन्द्रलोक या सूर्यमंडल विनाशी हैं, तद्वत् समस्त परिदृश्यमान जगत् कार्य होनेसे विनश्वर है इसमें क्या विरोध है?

चतुर्थ परीक्षा—अवयव समुदाय में अवयवी का व्यवहार और अनेक अङ्गों में अङ्गी का व्यापार होता है। उत्पद्यमान अवयवों के मेल से बना हुआ अवयवी और छिद्यमान अङ्गों से बना हुआ अङ्गी, कभी स्थिर स्वभाव नित्य हो सकता है? कदापि नहीं। वृक्ष की एक शाखा यदि परशुप्रहार से कट जाती है, तो समस्त वृक्ष भी कट जाता है। इस प्रत्यक्ष निदर्शन से यह समझ लेना चाहिए कि भू, चन्द्र, सूर्यादिलोक सृष्टि रूप अङ्गी के अङ्ग हैं, इन के समय २ पर बिगड़ जाने से सर्व कार्य का बिगड़ जाना अवश्यम्भावी है क्योंकि समष्टि के

गुण व्यष्टि में देखे जाते हैं ॥

पंचम परीक्षा—सर्व कार्यजगत् का उपादान कारण मूल प्रकृति है, उस की विकृति की पूर्वापेक्षा उत्तरोत्तर की आयु न्यून होती है, यथा भूमि अन्तिम विकृति है, इस की अपेक्षा जल प्रधान चन्द्र लोक की, उस की अपेक्षा अग्नि प्रधान सूर्य-लोक की, उसकी अपेक्षा वायुमण्डल प्रधान सूत्रात्मा वायु की, और उस की अपेक्षा सर्वाधार भूत आकाश की आयु अधिक होती है केवल इतना ही भेद है। आकाशादि पदार्थों की आयु के विधान से अनित्यत्वापत्ति होगी, नहीं—यह औपचारिकी संज्ञा है यथा आकाश प्रदेश, इस का निरूपण कुछ आगे होगा। जब यह सर्व विकृत जगत् प्रकृति की ओर परिवर्त्तित होता है, तब संसार का कोई अंश भी शेष नहीं रहता। सब का समावेश मूलोपादान में हो जाता है, इस उत्पत्ति प्रलय का क्रम मनुष्य-बुद्धि गम्य नहीं है, यह परमेश्वर के ही ज्ञान का विषय है, यह जगत् प्रलयावस्था से संसार के रूप में कब कैसे आता है? कोई जागरूक हो तो पता दे, अत एव यही कहना पड़ता है, कि जो इस का निर्माता है वही इस का ज्ञाता है। जब पृथिव्यादि पदार्थों का विच्छेद होकर सूक्ष्म स्वरूप बनता जाता है, तब परमाणु पर्यन्त विराम लेता है, उस समय भी किसी अंश में किंचित् चंचलता उन में बनी ही रहती है, जब तक अहंकार और महतत्त्व का समानावस्था में निवेश न हो जावे। फिर वे सर्वथा गुण हीन स्थिर स्वभाव हो कर आकाश में आच्छादित हो जाते हैं, जैसे पृथिव्यादि के परमाणु गुण रहित हो जाते हैं, वैसे ही आकाश में भी शब्द गुण नहीं रहता। अब

न उस में किसी पदार्थ का निष्क्रमण है न प्रवेश, केवल समानावस्था में प्रकृति का शेष है। यथा राई के चार दानों को मिला दें, एक राई के दाने के सम उस में छिद्र होगा। उस समय सर्वत्र आकाश का यही रूप चलनी के छिद्र के सदृश हो जाता है, पुनः उत्पत्ति समय महतत्त्वादि विकारों का जब उदय हो जाता है, तत्काल गति होने से इन परमाणुओं में संघात रूप और उनके निष्क्रमण और प्रवेश के निमित्त शब्द गुणक आकाश का उत्पन्न होनासा माना जाता है वास्तव में नहीं। अब इनका व्यवहार होने से सब की सत्ता भिन्न २ स्फुट प्रतीत होती है। काल और दिशाका भी विचार इसी प्रकार जान लेना चाहिए॥

प्रश्न—क्या सृष्टिकी उत्पत्ति में कालक्रमाकांक्षित है या नहीं?

उत्तर—नहीं। कारण यह है कि जब काल का निर्मापक कोई पदार्थ विद्यमान ही नहीं है, तो काल क्रम का बोध ही कैसे हो सकता है। यदि ऐसा है तो प्रकृति से महान्, फिर अहङ्कारादि का विधान किमर्थ है? यह केवल रचना प्रकार सृष्टिकाल के बोध कराने के निमित्त है, यथार्थ में नहीं। यथा स्वप्न सृष्टि का निरूपण जागृत में किया जाता है। इन दोनों में भेद है और यदि क्रम है तो परमात्मा के ज्ञान का विषय है, लोक मति उस के कथन करने में अशक्त परमेश्वर की कृति में पूर्वापर का संकेत नहीं हो सकता है॥

फिर सृष्टि की रचना का प्रकार कैसे है?

प्रकृति परिणामात् अचिन्त्यरचनारूपा सृष्टिः, तपोमयं ज्ञानं तत्र कारणमिति ॥१२०॥

इति शब्द इस विषय का द्योतक है, कि परमेश्वर के इस

रचना प्रकार में कालक्रम की अपेक्षा नहीं है, उस के ईक्षण रूप तपोमय ज्ञान से प्रकृति का परिणाम कार्यान्त में समाप्त हुआ। सुप्त प्रबुद्ध के समान सृष्टि प्रतीत होने लगी, सूर्य चन्द्रादि ग्रह, वृक्ष फल सहित, प्रत्येक औषध अन्न पुष्पादि से युक्त, पक्षी, मृग और पश्वादि इधर उधर चलते, फिरते, दौड़ते, स्वभावानुकूल गति करते, स्त्री पुरुष, युवावस्था में, पर्वत माला से दिगन्त व्यापी झर झर ध्वनि करते नद नदी समुद्र में मिलते हुए देखे गये। जीव सृष्टि से अतिरिक्त ईश्वरसृष्टि अपने २ नवयौवन में विद्यमान हो गई, उस से आगे काल क्रमाकांक्षी सृष्टि की रचना होने लगी।

प्रश्न—क्या उस समय मनुष्य पशु पक्ष्यादि का एक २ सहयोगी जोड़ा उत्पन्न हुआ था?

उत्तर—नहीं, अनेक थे, संख्या का परिमाण नहीं है॥

प्रथम मनुष्यादि की सृष्टि कहां पर हुई?

उत्तर—अन्य स्थानों की अपेक्षा जिन स्थानों में सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की सम समानता थी, वहां पर ही हुई। उन स्थलों का नाम त्रिविष्टप भी है। यथा इस भूमि पर कहीं गति की स्थिरता से दिन रात्रि सदा समान रहते हैं, इस कारण वहां शीत उष्ण तुल्य देखा जाता है, और सदैव वसन्त के सदृश समय बना रहता है, और कहीं २ अल्प विषमता और कहीं विशेषभेद पाया जाता है, इस प्रकार जहां २ गुणों की तुल्यता और अल्प न्यूनाधिकता होती है, वह ही स्थान सर्व प्रकार की आरम्भिक सृष्टि के निमित्त उपयोगी होता है, और उनकी जीवनयात्रा निर्वाहार्थ सामग्री यत्र तत्र विद्यमान होती है॥

ननु—युवावस्था में सृष्टि का होना समझ में नहीं आता है असंभव सी बात प्रतीत होती है ॥

अन्तारम्भयोः तुल्यतापत्तिः एकविषयत्वात् ॥१३१॥

सृष्टि की रचना बड़ी ही विचित्र है यह सब प्राणिमात्र के हित के लिए है, मनुष्य अपने शुभविचारों से ही हितसम्पादन कर सकता है। जहां तक इसके विचार और पुरुषार्थ निर्दोष होंगे, वहां तक लोकहित सामने आता जायगा अन्यथा नहीं। यह सत्य है परन्तु मनुष्य की बुद्धिपरिमित होने से इस रचना प्रकार को यथार्थ समझने में अशक्त है, अन्त और आरम्भ को एक विषय होने से समानतापत्ति है, अर्थात् अन्त के विचार से आरम्भ का पता मिल जाता है, इस लिए प्रथम सृष्टि के प्रलय काल का विचार करना ही ठीक है। जिस समय समस्त संसारचक्र विनाशाभिमुख जाता है, उस समय अनेक प्रकार के विपरीत आघात उत्पन्न होने लगते हैं। चन्द्र का पूर्णकला में ही उदय होना और सूर्य की किरण में से उष्णता की न्यूनता-पात्त, आकाश में कभी लाल, पीत नीली रेखाओं का दृष्टिपथ में आना, भयंकर वृष्टि, पुनः कभी कूप, तड़ाग, नदी, नद के जल का अल्प समय में वायु के वेग से ऊपर को उड़ जाना, प्रलयकारिणी वायु के व्याघात संयोग से वृक्षों का मूलोच्छेदन होकर आकाश मार्ग में चक्र लगाते रहना, पर्वतों के फट जाने, अपने स्थान से हट जाने के कारण प्रचण्ड अग्नि काण्ड का प्रकोप एकाएकी भूकम्प के अत्यन्त विनाशकारी प्रबल वेग से अनेक भूस्थलों का विलोप, इसी प्रकार समस्त ब्रह्मचक्र में उपद्रवों का चक्र चलने लगता है। ऐसी दशा में दुर्बल पशु, पक्षी

स्त्री पुरुषों की तो मृत्यु हो जाती है जहां तहां जो शेष रह जाते हैं, वह अपने को असहाय जान कर असमर्थ मान कर एकाग्र-चित्त से उस परमात्मा का अपने विचार में स्मरण करते रहते हैं, और मृत्यु को अनिवार्य जानकर कभी मुख से ऐसे शब्द कहते हैं। हे सर्व संसार के नियन्ता! उत्पत्ति विनाश के नियन्त्रण-कर्त्ता! अपनी दया से प्राणिमात्र के विभर्त्ता! आप अनन्त विज्ञान, महान् से महान् अपनी महिमा में सर्वदा समान हो। हे सर्व जगत् के स्वामी! रचना प्रकार के अन्तर्यामी! समस्त वस्तु आपकी आज्ञा के अनुगामी, आप सबके आधार स्वयं निराधार, सारशून्य सर्व वस्तु में विद्यमान आप ही एक सार हो। हे सर्वेश्वर मङ्गलस्वरूप महेश्वर पूर्ण परमेश्वर! साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से आप ही इस ब्रह्माण्ड के धाता, जीवों के कर्मफलप्रदाता, सत्यानृत मार्ग निर्माता हो। हे सर्वपूज्य निर्विकार! आकार में संसार को बनाकर भी निराकार, सत्य स्वरूप सद्विचार, आप न्यायकारी अपने सच्चे भक्तों के क्लेशहारी प्रेम के पुजारी हो। हे प्रकाशस्वरूप, अद्भुत अनूप, सर्वजगत् भूप! आप सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, समस्त सर्व वस्तु अनुभावक, सर्वदा सर्वथा संसार परिपालक हो। हे मङ्गलमय देव! हमारा मङ्गल करो, अमङ्गल हरो. आपको भुलाया इस कारण यह कष्ट सामने आया। आप दयालु हैं, हम को अपनी दया से बचाओ। आप कुशल हैं अपनी कृपा से इस सर्वतोमुखी विपत्ति को हटाओ। आप ज्ञाता हैं सब के पितु माता हैं, आप ही सहायक बन्धु और भ्राता हैं, अपने अनुग्रह से इस कलह को मिटाओ। हे सन्मार्ग प्रदर्शक! हे हित शासक अहित नाशक!

आपकी शरण ही इस भयंकर समय में सहायक है। हर प्रकार से भयभीत, अन्तःकरण से पुनीत, सबसे अलग होकर प्रभु के ध्यान में प्रीति, मनमें उसका सत्कार, हर समय उसके गुण-गायन का विचार, नेत्रों से जलधारा बहती इस समय वाणी कुछ न कहती, न कोई किसी को बुलाता और न कोई किसी के पास आता, न कोई सोता और न जागता, न कोई चलता और न भागता था। ऐसी अवस्था में शुद्ध विचारों के प्रभाव से परमेश्वर प्रेम के प्रादुर्भाव से मनोबल का विकाश, प्रत्येक की कुवासनाजन्य दौर्बल्यता का विनाश हो गया। अब वह सब कुछ नेत्रों से निहारते, किन्तु उत्साह को न हारते, इस समय केवल मृत्यु की प्रतीक्षा करते और किंचित् न डरते थे। अपने भावों को मृत्यु के लिए इस प्रकार प्रकट करते थे—

आ जा आ जा मृत्यु तुझे पुकारें वारंवार,
अब हमको कुछ काम नहीं है केवल तेरा है सत्कार॥
हम को तुझ से भीति नहीं है सब प्रकार से हैं तैयार,
दूर खड़ी क्यों मुसकाती है शीघ्रता से कर परिहार॥
कहते २ हंसते २ सुना गया एक शब्द अपार,
इसी ध्वनि के साथ साथ में नाश हुआ सारा संसार॥

इस में शेष यह है, प्रलय समय के कुछ काल पूर्व अनेक विघ्नों के उदय हो जाने से भयभीत होकर वृद्ध बाल, दुर्बल, तो मृत्यु का ग्रास हो जाते हैं। सबल युवा रह जाते हैं। पुनः पुनः भयंकर उपद्रवों के दर्शन से सन्तान उत्पन्न करने की सर्वथा इच्छा जाती रहती है किसी भी भोग की लिप्सा सामने नहीं आती। अत्यन्त भय के देखने से जो उनको क्लेश होता

है, उस कारण से पूर्वकृत पापपुञ्ज भोगे जाते हैं। सर्वोच्चम शुभकर्म परमात्मा का स्मरण कुछ काल तक समान चित्त से करते रहे, और सृष्टि के विनाश के साथ उनका विनाश हुआ, इस निमित्त से सृष्टिके उदय के साथ ही उनका उत्थान हुआ, वह प्रकृति की गोद में सो गये थे, वहां ही जागे। आरम्भिक सृष्टि के साक्षात् सम्बन्ध से माता पिता तो प्रकृति और परमात्मा हैं, परम्परा सम्बन्ध से तो सर्वोत्पद्यमान संसार के हैं, अतः आरम्भिक सृष्टि पित्रादि वंशविहीन होती है, पश्चात् जन्य जनक भाव सम्बन्ध का प्रवाह चलता है। उनको सृष्टि में लाने वाले कर्म तो विद्यमान थे, गर्भादि कष्टप्रद मार्ग से लाने वाले न थे। जैसे माता पिता की महत्ता, सन्तान की वैसी ही इयत्ता जाननी चाहिए। यह यावत् कथन किया गया है, कथन मात्र ही है वास्तव में अचिन्त्य, अशक्य और अनिर्वचनीय है। मनु-महात्मा की इस में साक्षी है, यह समस्त संसार तमोमय था। किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय और न किसी लक्षण से लक्षित होता था, और न तर्क से सिद्ध होने वाली बात थी, यदि जिज्ञासु को इतने पर सन्तोष नहीं है तो तुम उस दशा को सुषुप्ति के समान जान लो प्रतिदिन का अनुभव है॥

तम आसीत् तमसा गूढमिति ॥१३२॥

इस वेदवचन के आधार पर ज्ञेयाभाव से ज्ञाता, लक्ष्य के अभाव से लक्षण, तर्क्य के अभाव से तर्की का असद्भाव था, इस लिए सुषुप्ति का दृष्टान्त चरितार्थ होता है। यहां पर प्रलय का निरूपण समाप्त हुआ॥

अब मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के हेतुभूत वेद का व्याख्यान

किया जावेगा—

प्रश्न-क्या सांसारिक वस्तुओं का देख कर मनुष्यां का ज्ञान वृद्धि को प्राप्त नहीं होता ?

मनुष्यज्ञानस्य नैमित्तिकत्वात् स्वाभाविकज्ञानस्याल्पत्वम् ॥१३३॥

पश्वादिकों का ज्ञान स्वाभाविक होने से उनको किसी ज्ञापक की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्यों का ज्ञान इन से विलक्षण नैमित्तिक है, इस लिये इसके ज्ञान का उदय विना किसी निमित्त के नहीं हो सकता। अत एव मनुष्यों में उन्नति-कारक जीवन यात्रा निर्वाहक ज्ञान को किसी निमित्त की आवश्यकता है, अन्यथा उनका स्वाभाविक ज्ञान अभ्युदय सिद्धि का हेतु नहीं होगा, और पश्वादि में उनकी जीवनयात्रा का निर्वाहक उनका स्वाभाविक ज्ञान ही है। पुरुषों के संसर्ग से उनमें भी कुछ ज्ञान तो आता है, पर वह उन के लाभार्थ नहीं है ॥

कईएक दृष्टान्त इस पर प्रकाश डालते हैं—

प्रथम एक मनुष्य का बालक जिस ने अपनी युवावस्था तक कभी भी नद्यादि में जाकर स्नान नहीं किया, और न तैरने की विद्या का अभ्यास किया है, और एक गौ या भैंस का दो मास का बच्चा, जिस ने कभी तड़ागादि का दर्शन भी नहीं किया है, इन दोनों को गहरे जल में फेंक दें तो इनमें मनुष्य समझदार होता हुआ भी डूब जावेगा और वह तैरकर पार हो जावेगा ॥

द्वितीय-कुक्कुट और कोयल के बच्चे को पृथक् रखकर उसका पालन करें, और सजातीय पक्षियों का शब्द उनको

कदापि सुनने न दें, वह अपनी अवस्था में आकर वैसे ही शब्द का उच्चारण करेंगे जैसे उनके पूर्वजों का है। परन्तु मनुष्यबालक का स्वभाव इसके विपरीत है, यदि उसको मूक के अधिकार में दे दोगे, तो इसमें व्यक्तशब्द उच्चारण करने की शक्ति का उदय ही नहीं होगा। वह जैसा शब्द सुनता है वैसा ही अनुकरण करने लगता है॥

तृतीय—मकड़ी या रेंशम का कीड़ा कोई भी ऐसा नहीं है, जो आश्चर्यजनक, अत्यन्त सूक्ष्म तारों को तान, जाल बना कर उस में छोटे २ जन्तुओं को फसाने की विद्या को, और रेंशम को उत्पन्न करने की विधि को न जानता हो। परन्तु यदि बालक को वस्त्र निर्माणार्थ ताने बाने का विस्तार करना न सिखाया जावे तब उस के विचार में आ ही नहीं सकता है॥

चतुर्थ—मधुमक्षिका पुष्पों में से मधु और गृह निर्माणार्थ मोम को किस प्रकार से निकाल लाती है? और छत्ते में इधर उधर नीचे ऊपर बच्चों की परिस्थिति और शहद के आश्चर्यरूप गोल छिद्रों को इस बुद्धिमत्ता से बनाती है, कि उस में कोई भी व्यर्थ स्थान नहीं रहता। किसी रेखा गणित के ज्ञाता से पूछो कि यह कितना कठिन कार्य है, परन्तु मनुष्य अभ्यास के बिना गृहनिर्माण में असमर्थ है। मनुष्यसृष्टि से अतिरिक्त पश्वादि की यावत् प्रजा है वह जल में हो अथवा स्थल में हो, कुछ ही माता पिता की सहायता को पा कर अपने स्वाभाविक ज्ञान के अनुकूल अपनी जीवनयात्रा को चलाने के लिए स्वयं समर्थ हो जाती है। उन के जीवन, उत्पत्ति, रहन, सहनादि का प्रकार विचित्र और आश्चर्य जनक है, उन पर विचार करने से

परमेश्वर की माया का स्मरण होता है, और अद्भुत मानव-प्रजा किसी से उपदेश को पाकर अभ्यास में जाकर तो विचित्र विद्याओं, कार्यों की रचना में समर्थ हो जाती है, अन्यथा इस का उन्नति मार्ग में जाना तो स्वप्न दर्शन के समान मिथ्या है, और जीवन भी अनेक विघ्नों का स्थान बन जाता है, अत एव सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न मनुष्यों के स्वाभाविक ज्ञान में वृद्धि के निमित्त किसी सदुपदेश की आवश्यकता होनी ही चाहिए। यथा तोता, मैना अश्वादि किसी २ प्राणी में मनुष्य सहचार से कुछ नैमित्तिक ज्ञान का उदय तो हो जाता है, परन्तु वह उन के लिए हितकर नहीं होता, एवं किसी की सहायता के विना भी इस का स्वाभाविक ज्ञान इस के जीवन को उन्नत करने के लिए उपयोगी नहीं है। इस लिए ईश्वरीयज्ञान वेद जो सर्वदा जागरूक और सावधान रहता है, उन के अन्तः करण में उपदेश का कार्य करने लगा। इस आरम्भिक उपदेश का उपदेष्टा परमात्मा को ही मानना चाहिए। कारण यह है कि जब इस विचित्रसृष्टि की रचना करना उस के नियम के आधीन है, तो इन पदार्थों को उपयोग में लाने की विद्या का सामान्य रीति से बताना भी तो उस का ही कर्त्तव्य हो जाता है। सृष्टि के समस्त पदार्थों में ज्ञान विषयतासम्बन्ध से रहता है, इस लिए वह किसी चेतन के ज्ञान का विषय अवश्य ही होगा। परमात्मा तो सृष्टि विद्या का विधाता, और सर्वज्ञता से ज्ञाता है, उस के लिए तो यह रचना उपयोगी नहीं, और जो इस को उपयोग में लाने का अधिकारी है, उस को इस का यथार्थ ज्ञान नहीं, इस कारण सृष्टि की रचना निष्फल और परमात्मा में दोषापत्ति

आती है, अत एव जो अपनी कृपा से अनन्त पदार्थों को देता है, ज्ञान का दाता भी वही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। जब परमात्मा ज्ञान स्वरूप, अपनी सत्ता से सर्वत्र विद्यमान है, तो उस के ज्ञान का उजाला सर्व स्थान में समान होना चाहिए। यह सत्य है ऐसा ही है, इस में कुछ सन्देह नहीं है, परन्तु इस में किंचित् प्रकार भेद है। परमात्मा के जिस ईक्षण से प्रकृति में परिणाम होने लगा, वही ईक्षण जीवसृष्टि निर्माणार्थ मनुष्यों में पूर्व सृष्टिमर्यादा की स्फूर्ति में उद्बोधक हो गया। इस लिए सृष्टि की रचना और तत्रस्थ पदार्थों को उपयोग में लाने का ज्ञान परमात्मा से आरम्भ होता है, और जो कुछ जितना जिस प्रकार का आत्मा में बोध हुआ, उस सब का आधारभूत परमात्मा का वेद ज्ञान ही है॥

प्रश्न—वेद की प्रवृत्ति किस निमित्त से हुई ?

इष्टानिष्टप्राप्तिप्रतिषेधार्थं वेदस्य प्रवृत्तिः ॥१३४॥

इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिए वेद की प्रवृत्ति हुई। जीव अल्पज्ञ है, उस को उपर्युक्त विषय का विना किसी की सहायता के यथार्थ बोध नहीं हो सकता। जीवन निर्वाहार्थ साधारण बोध हो जाने पर भी आत्म साक्षात्कार, मोक्ष के सद्विचार का होना तो असम्भव ही है, और यही कल्याण का मार्ग है। जैसे पिता अपनी सन्तान के दुःख को हटाने, और सुख को प्राप्त कराने के निमित्त सदैव उसे उपदेश करता रहता है, एवं परमात्मा सब का सच्चा पिता अपनी सन्तान के समान जीवों को अन्तर्यामीरूप से अन्तस्थ हो कर सर्वदा उपदेश देता है, भेद केवल पूर्वापर का है। आरम्भिक-

सृष्टि बालक के तुल्य, और संप्रति युवा के समान है। इदानी-मपि अशुभ विचार या कर्म करने में अन्तःकरण में जो संकोच, भय और लज्जा की न्यूनाधिक प्रतीति होती है, वह परमात्मा की ही ओर से है, ऐसा ऋषि के 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है जो सत्य ही है। इष्ट सुख है, जो अपने साधनों से प्राप्त होता है। अनिष्ट दुःख है, जो साधनों के हटाने से दूर हो जाता है, परन्तु साधनों की सफलता या दुर्बलता से सुख दुःख सबल या दुर्बल हो जाते हैं, यह बात लोक में प्रत्यक्ष है, अत एव इष्टानिष्ट का यथार्थ बोध वेद द्वारा ही होता है॥

प्रश्न—क्या वेद एक है अथवा अनेक हैं ?

उत्तर—

अनन्ताः वै वेदाः, एक एव सामान्यात् ॥१३५॥

अनन्त वस्तुभेद से वेद को अनन्तता है और वह सामान्य रूप से एक है। इस समय तो यह बात प्रत्यक्ष ही होगई है कि बुद्धिमान् पुरुषार्थी मनुष्यों के उद्योग से विज्ञान का कितना प्रसार हो गया है। सामान्य रूप से एक अग्नि कितने प्रकार में प्रकट हो रही है, वायु के द्वारा विद्युत् के तीव्र आघात से शब्द को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने के लिए कितने भिन्न २ प्रकार के साधन उपस्थित हो रहे हैं। शीघ्र गमनार्थ स्थल, जल, आकाश में चलने वाले यान कैसे विचित्र बनाए गए हैं, इस प्रकार वर्णों का सौन्दर्य,पुस्तक निर्माणार्थ यन्त्रों का विधान, अद्भुत अनुपम विज्ञान का स्वरूप प्रत्यक्ष हो रहा है. आगे कहांतक इस का आविष्कार होगा ? इसका कुछ पता नहीं। ज्ञान के इस विशेष या सामान्यविशेष के अनन्त भेद से

वेद को अनन्ततापत्ति है, और सामान्यरूप से वह वेदज्ञान एक ही है। यथा वास्तव में वाष्प एक ही है जिस यन्त्र के साथ उसकी योजना कर दोगे वही कार्य करने लगेगा ॥

प्रश्न-ऋक्, यजु, साम और अथर्व भेद से वेदचतुष्टय और कहीं २ वेदत्रयी का व्याख्यान है इसकी क्या व्यवस्था होगी ?

उत्तर—

एकस्यैव वेदस्य प्रकारभेदात् नामभेदः, नहि
विवादास्पदमिति ॥१३६॥

एक ही वेद के प्रकारभेद से अनेक नाम हैं, इसलिए विवाद का स्थान नहीं है। पाठक विचार करें—

प्रथम—उन्नतिशील मनुष्यसमाज को पहिले वस्तु की स्तुति करनी अर्थात् उसके गुण गौरव का व्याख्यान करना होता है, यही ऋग्वेद का स्थान है ॥

द्वितीय—उन ज्ञातगुणों के सम्मेलन से किस २ शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसके उचित प्रयोग का परिज्ञान ही यजुर्वेद का विधान है ॥

तृतीय—वस्तु स्तुति और उन गुणों का परस्पर समावेश यथार्थ तब ही सिद्ध होगा, जब समता से फल अभिमुख हो जावेगा, इसका नाम ही सामवेद का गान है। इस से मनुष्य की गति उन्नति की ओर बढ़ती जाती है, और विश्वव्यापिनी प्रशंसा आनन्द को बढ़ाती है ॥

चतुर्थ—कार्यविधान में जो उन्नति हुई है, विचारपूर्वक संस्कारों के द्वारा नूतन गुणों का प्रकाश, और दोषों का ह्रास

करने में यत्न करना यह अथर्ववेद का समाख्यान है। अब जिन धातुओं से इन शब्दों की उत्पत्ति होती है उन पर ध्यान दें, 'ऋच् स्तुतौ' इससे ऋक्, 'यज सङ्गातिकरणे' इससे यजुः, इन में भिन्नता होने पर भी सामान्य वेद शब्द सब के साथ अन्वित है। परमात्मा की सत्ता के समान इस वेदज्ञान का भी विस्तार सर्वत्र है, जब अन्तराय दूर होकर मनुष्य की बुद्धि पर इसका प्रकाश पड़ता है, तब वह पुरुष उपर्युक्त मार्ग में चलता हुआ अभ्युदय को हाथ में लाता, और संसार की व्यवस्था के यथार्थ ज्ञान से सच्ची जिज्ञासा के उत्पन्न हो जाने से जन्म मरण के बन्धन से भी अपने को छुड़ाता है, यह यथार्थ वेदज्ञान का ही फल है। सम्प्रति जो ऋक् संहिता है, उस में सब मन्त्र स्तुति परक, यजुःसंहिता में योग परक, सामवेद समता का द्योतक, और अथर्ववेद में संस्कार ही हों ऐसा नहीं। इनके अर्थों में समय के हेर फेर से बहुत भेद हो चुका है। वैदिक समय की बोलचाल से इस काल की बोलचाल में बहुत भिन्नता हो गई है। तात्कालिक मनुष्य वैदिक परिभाषाओं और वेदार्थ के जानने में जितनी योग्यता रखते थे, आजकल के विद्वानों में वह शक्ति नहीं है। यही कारण है कि वेदों का गौरव जितना उनके मन में था, सम्प्रति वेदों के साथ उतना प्रेम नहीं। जो कुछ हो भी रहा है, यह सब ऋषि की कृपा का फल है। ऋषि के हृदय में तो यह था कि यदि आर्यजाति अपना सर्वस्व लगाकर वेदों की रक्षा कर लेगी, तो इसके पास सब कुछ है, और यदि ऐसा न हुआ तो सब कुछ होते हुए भी न होने के समान है, कितना मार्मिक विचार है॥

प्रश्न—जब वेदज्ञान सूर्य प्रकाश के समान सर्वत्र विस्तृत हो गया, तब तो उसका बोध सब को तुल्य होना चाहिए था, पुनः किसी को हुआ और किसी को न हुआ इसका कारण क्या है ?

पूर्वाऽदृष्टमेव तत्र कारणमिति ॥१३७॥

इति शब्द सबको समान ज्ञान न होने में पूर्वादृष्ट को कारण बता रहा है, किसी का अदृष्ट दुर्बलता के कारण प्रतिबन्धक हो रहा है, और किसी का अदृष्ट सबल होने से सहायक बन रहा है। जो पुरुष अनेक जन्म कृत कर्मों के अभ्यास से शुद्धान्तःकरण होते हैं, प्राप्तशरीर त्यागानन्तर फिर उनका न जन्म होता है, और न मरण, ऐसे जीवनमुक्त पुरुषों का यह अन्तिम जन्म होता है। अब उसका कोई भी कर्म स्वार्थसिद्धि या भोगवासना के निमित्त नहीं है, ऐसे पुरुषों के हृदय में यथार्थरूप से परमेश्वर का ज्ञान विकसित होता है, और वह ही उत्तम अधिकारी उस को अनुभव करते हैं ॥

प्रथम—यद्यपि ज्ञान प्रकाश की सत्ता का सद्भाव सर्वत्र था, तो भी अधिकार भेद से सर्वत्र प्राप्ति नहीं, जैसे सूर्य का प्रकाश वस्तुभेद से भिन्न २ आभा को देता है, दर्पण, जल, भित्ति और पाषाण में प्रतिबिम्ब समान होने से भी कहीं प्रचण्ड कहीं मन्द, कहीं विमल, कहीं समल प्रतीत होता है, वैसे ही तत्कालस्थपुरुषों की अन्तस्थ वृत्ति में ज्ञान की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए ॥

द्वितीय—जब रात्रि के समय वृष्टि होती है, तब कोई भूभाग गीला और कोई निमीला, और कहीं किसी गर्त में कुछ

पानी एकत्रित हो जाता है। इसी प्रकार किसी को उस ज्ञान का संकेत हुआ, और कोई उससे अचेत हुआ, और कोई विनय-सम्पन्न समाहित उससे सचेत हुआ। अत एव वह जिसके विचार का विषय उत्तरोत्तर होने लगा, उसको उस बात का अधिकारी जानना चाहिए। सम्प्रति भी यह ही बात देखने में आती है। एक ही अध्यापक अपने कई एक शिष्यों को समकाल में किसी प्रश्न के समझाने का यत्न करता है उनमें से कोई यथार्थ जान लेता है दूसरा ससन्देह जानता है। तृतीय ने सुना, परन्तु कुछ बोध न हुआ, समझने वालों में से भी कोई अनुमान करने लगा, और कोई उससे विमुख रहा, यह सब भेद अधिकारभेद से हो ही जाता है आश्चर्य नहीं॥

प्रश्न—जिन को ज्ञान हुआ उनकी प्रवृत्ति कैसी थी ?

लोकसंग्रहार्थं परहितसम्पादने स्वाभाविकी प्रवृत्तिः ॥१३८॥

यद्यपि संसार में उनका कोई भी कार्य शेष नहीं था, तो भी लोकमर्यादा स्थिर करने के निमित्त परहित सम्पादन में उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति हुई। वह ज्ञान उनको ईश्वर से प्राप्त हुआ, और उसमें ही इस बोध का बीज था कि इसका प्रचार सर्वत्र हो, इस हेतु से जो उनको प्राप्त हुआ था वह उसको अन्य जनों तक पहुंचाने में यत्नवान् हुए, और अब भी संसार में यह प्रत्यक्ष है कि जो जीवनमुक्त विद्या विशिष्ट होता है अल्पबोध रखने वाले पुरुषों को बोध कराना उस के विचार का विषय हो जाता है। संसार में जहां २ मनुष्यसमाज विद्यमान है, वहां २ मन्दता या उत्तमता से यही प्रकार प्रचलित है, यह सब आरम्भिक ज्ञानस्रोत की धारा है॥

प्रश्न क्या इस वेदज्ञान के ज्ञाता अनेक पुरुष थे या एक ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर ऋषि ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में दे दिया है, वही अभिमत है। ऋषि के उपदेशानुकूल कि वेद को ही मुख्यरूप से प्रधानता है, जो बात जांच पड़ताल करने से उसमें उपलब्ध हो उसका स्वीकार करना ही उचित है। अत एव विचारतरङ्ग की धीमी २ धार इस ओर रुख पकड़ती है जो सज्जनों के विचारार्थ ही उपस्थित की जाती है ॥

प्रथम विचारणा—

यो जागार तं ऋचः कामयन्ते, अग्निर्जागार यं ऋचः कामयन्ते ॥१३६॥

वेद से तो पता मिलता है कि एक ही था—

यह ऋग्वेद के दो मन्त्रों के प्रथम दो भाग हैं, इनका अर्थ यह है कि जो पुरुष अविद्या की निद्रा से पृथक् होकर विद्या में जागरूक हो जाता है, ऋग्वेद अपना अर्थ प्रकाशन के निमित्त उस पुरुष की कामना करता है, इसके उत्तर में द्वितीय मन्त्र के पूर्व का भाग है कि अग्नि जाग उठा जिस की ऋग्वेद कामना करता था। यहां अग्नि गौण की संज्ञा है, यथा "अग्निर्माणवकः" बड़े तेजस्वी चतुर सुबोध छात्र को कहते हैं, एवं उस पुरुष ने जन्म मरण प्रदात्र अविद्या को सत्संग, सद्विचार और सदनुष्ठान से दूर कर दिया, वह उस ज्ञान का अधिकारी था, उस की ही अग्निसंज्ञा हुई।

ननु-इस सिद्धान्त के स्वीकार करने में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों पर वेद प्रकट हुए, यह असत् सिद्ध होगा ?

नहीं इसकी व्यवस्था तो हो सकती है। पाठक विचारें।

ब्राह्मणग्रन्थों के इस वचन को सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में प्रमाणरूप से लिखा है। अग्नि और रवि तो अग्नि स्वरूप ही है, वायु से अग्नि की उत्पत्ति है जन्यजनकभाव सम्बन्ध से दोनों में ऐक्य हो जाने से वायु को भी अग्नि कह सकते हैं। 'आत्मावैपुत्र नामासि' यह प्रमाण विद्यमान है, अङ्गिरा "अंगानां रसः सारः अंगिराः प्राणः" सर्व शरीर में सार-भूत जीवनहेतु प्राण ही है, इस प्राण का नाम भी अग्नि ही है। उपनिषदों में प्रत्यक्ष आता है कि शयनकाल में कौन जागता है? उत्तर यह है कि "प्राणाग्नि" जागता है, इस प्रकार इन चार शब्दों में कोई भेद नहीं आता, यह सब समानार्थ के वाचक हैं। यथा एक वेद अनन्त वस्तुभेद से अनन्त और वही प्रकारभेद से चार हैं, तथैव एक ही पुरुष की व्याख्यानभेद से चार प्रकार की अन्वर्थ संज्ञा हो जाती है, सन्देह का स्थान नहीं। उपर्युक्त दोनों मंत्रों में ऋग् के साथ २ सामवेद का भी नाम है, और अग्नि शब्द के साथ दोनों का अन्वय है। यजुः और अथर्व की मध्यगृहीत न्याय से या अनेकान्तवाद से संगति ठीक हो सकती है शास्त्र की इस मर्यादा से किसी प्रकार का भी दोष नहीं आता॥

द्वितीय विचारणा—

प्रश्न—क्या इस वेदज्ञान के ज्ञाता अनेक पुरुष थे या एक?

वेद इसका उत्तर कुछ नहीं देता है, वह इस विषय में तटस्थ सा प्रतीत होता है। हां वेदों में कई एक स्थलों पर ऐसे संकेत, जो परमात्मा की व्याप्ति के समान उस ज्ञान को आवाप्ति को भी सर्वत्र समरस बताते हैं, मिलते हैं। इसके दो कारण हैं

प्रथम–परमेश्वर अत्यन्त ही सूक्ष्मतत्त्व है, उसकी सत्ता ने समस्त ब्रह्माण्ड को घेरा हुआ है, सब वस्तु उसमें विद्यमान और वह सब में विराजमान है, अत एव चितस्वरूप परमेश्वर की सत्ता के समान उसका ज्ञान सर्वत्र दीप्तिमान् होना ही चाहिए, यह सिद्ध होता है ॥

द्वितीय–जिस प्रकार प्रतिकार्य्य में, उपादान कारण की सत्ता का सद्भाव अयुत सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार निमित्त कारण अर्थात् कर्ता के ज्ञान का सद्भाव युतसिद्ध होता है, यह जान पड़ता है। ये ही तो कारण है कि परमेश्वर अपने स्वरूप, सत्ता और अपनी महत्ता से सदैव सर्वत्र विद्यमान और पश्चाद्भावी होने के कारण सृष्टि परिवर्तनशील और असिद्ध सम हो जाती है। इस लिये आरम्भक सृष्टि में होने वाले जन-सहकारीसाधनों की सहायता पाकर नेत्र, श्रोत्रादि से दर्शन-श्रवणादि व्यवहार और अन्तःकरण से संकल्पादि व्यापार तो करते थे, परन्तु इस सामान्यज्ञान को विशेष मार्ग में ले जाने और परमेश्वर रचित पदार्थों को उपयोग में लाने के लिए किसी विशिष्ट पुरुष की आवश्यकता थी, जो इस धीमी सी ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए नेतृत्व का काम देता, पदार्थ तो सब विद्यमान ही थे, केवल उपदेश की ही अपेक्षा थी। इस उपदेश के कार्य्य को वेद अग्नि के अधिकार में देता है, यहां पर अग्नि शब्द विशिष्ट-पुरुष का वाचक है।

(अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवतीत्यस्मात्) यह निरुक्त का प्रमाण है–यथा अग्नि शिल्पादि कार्य्यों में सब से आगे होने के कारण मुख्य अंग माना जाता है, तथा अग्नि नामक पुरुष

उद्देशादि कार्यों में सब से आगे है, यह दोनों में परस्पर समानता भी पाई जाती हैं। उपनिषदों में भी ऐसी गाथाएं देखने में आती हैं॥

अब पाठक वेदप्रमाण पर ध्यान दें, कितनी सुन्दर रीति से इस पक्ष को दर्शाता है, एक नहीं अनेक वेदमन्त्र इस विषय में मिलते हैं परन्तु उनका उल्लेख विस्तार भय से नहीं किया जाता है।

त्वमग्ने-वसून्-रुद्रान्-आदित्यान्-उत यज।

हे अग्ने विद्याप्रकाश से प्रकाशित विद्वन्-तू वसु-रुद्र आदित्य संज्ञक विद्वानों को उत्पन्न कर, बना या मिला। प्रथम-मध्यम-उत्तम यह तीन कक्षायें हैं—अथवा जब विद्यार्थी अध्ययन कार्य्य समाप्त करके स्नातक बनता है, तब उसको वसु-रुद्र या आदित्य, कोई भी उसकी योग्यतानुसार उपाधि दी जाती है। इस मन्त्र का सहारा लेकर ही ऋषि ने इस विषय को सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थों में दर्शाया है। प्रारम्भ सृष्टि में इस महत्कार्य्य को प्रकाश में लाने के लिए प्रकाशमान विद्वान् की ही आवश्यकता थी, वह अग्नि नामक विशिष्ट पुरुष न्यूनता रहित अशेष-वित् था, जिस ने प्रभुप्रेरणा से अनेक प्रकार की विद्याओं का प्रचार किया और जीवसृष्टि का मार्ग खोल दिया। अब पाठक, अग्नि शब्द के अर्थ गौरव पर ध्यान दें, कि इसकी व्याप्ति कहां कहां है—

अग्नि-राजा, आचार्य्य, अध्यापक, न्यायाधीश, सेनापति, दूत, विद्वान्, उपदेशक, पुरोहित, ऋषि, देव, विद्यार्थी, सूर्य्य, विद्युत्, भौतिकाग्नि इत्यादि अनेक नामों का नामी प्रत्येक कार्य्य

में अग्रगामी और निर्वाहक है।

ननु—इस बात को अङ्गीकार करने में वेदों में इतिहास सिद्ध होगा, और इससे वेदों को अनित्यत्वापत्ति होगी जो सर्वथा ठीक नहीं।

एतत्तु इतिहासविद्याबीजं न त्वितिहासमिति ॥१४०॥

यह तो इतिहास विद्या का बीज-मूल है। इतिहास की आशंका नहीं करनी चाहिए, जीवन के उस वृत्त का नाम इतिहास होगा जब ईश्वरीय सृष्टि के उत्तरकाल में मानवसृष्टि का व्यापार होगा, अतएव ईश्वरीय सृष्टि में इस प्रकार के संकेत भिन्न २ विद्याओं के विधायक हैं। किसी व्यक्ति की परिस्थिति का निरूपण नहीं करते ऐसी अवस्था में इसको इतिहास कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं। इतिहास का सम्बन्ध मानवसृष्टि के साथ होता है। यहां तो सर्व की अवस्था समान है, जब किसी ने किसी का उपकार या अपकार किया ही नहीं, तो इतिहास का उत्थापक कौन होगा? मूल के बिना मूली की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यहां तो अग्नि शब्द गौणिक है, किसी मनुष्यविशेष का नाम नहीं, अभी नामों की तो कल्पना ही नहीं हुई। पूर्व संसार के अन्तर्गत जिस का शुभ कर्मों के द्वारा विद्या प्रकाश से अविद्या अन्धकार दूर हो गया था, उसकी संज्ञा अग्नि है, और वही पदार्थों के यथार्थज्ञान का अधिकारी है सांसारिक वस्तुओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वेद ने इस मन्त्र में तो यह शासन किया है कि जिसका जैसा वृत्तान्त हो, उसको वैसा ही निरूपण करना इतिहास होगा। अतएव यह मन्त्र इतिहास विद्याविधायक है किसी फल के नहीं॥

मनुष्य समाज की जीवन यात्रा का निर्वाह सुखपूर्वक या दुःखमय होगा। कोई उद्योगशील मनुष्यसमुदाय उन्नति की ओर जावेगा, और कोई पुरुषार्थहीन अवनति की ओर आवेगा, किसी के यश का प्रकाश वा किसी के अपयश का विकास होगा। इस वृत्त के साथ २ जो अश्वादि पशुओं या किसी भूभाग का वृत्तान्त सम्बन्धित होकर जनश्रुति द्वारा कथन या पुस्तकाकार उल्लेख होगा, उसका नाम ऐतिह्य है, उसका सम्पादक कोई न कोई विशिष्ट पुरुष ही होगा, और संसार के समस्त इतिहास अपूर्ण ही होंगे। कारण यह है कि मनुष्य में भ्रान्ति बीज और राग द्वेष की सम्भावना है, और कालान्तर में सर्व लुप्तप्रायः हो जाते हैं, यही व्यवस्था सर्वप्रकार की विद्याओं की है। पुनः यदा कदापि उन विलुप्तसम विद्याओं का प्रादुर्भाव होगा, अग्नि नामक ऋषि के द्वारा ही होगा, अन्यथा नहीं। इतिहासादि सर्व विद्याओं का संसारान्तर्गत दर्शन होने से अनित्यत्व और समानता से उस के बीज को नित्यत्व है, अत एव यहां अग्नि शब्द इतिहास विद्या का नियामक है। इतिहास का साधक नहीं है॥

अब इस से आगे इस विद्या का विचार किया जाता है कि यह सुप्त प्रबुद्ध के समान सृष्टि की तुलना है, तब स्वयमेव रचना को देख कर पूर्वानुभूत विषय का स्मरण हो जायगा। उपदेश की आवश्यकता ही क्या है?

समाधान—

बहुधा अनुभूतविषयस्य तद्विस्मरणे प्रश्नत्वापत्तिः ॥१४१॥

लोक प्रत्यक्ष वार्त्ता का तो कदापि अपवाद नहीं हो

सकता। पाठक विचार करें कि किसी विद्वान् विचारशील बुद्धिमान् ने दिन, वार, तिथि या तारीख की गणना को बहुधा अनुभव किया हुआ है, और अनेक वार उस ने अन्य पुरुषों को बताया भी है, परन्तु जब उस को जङ्गल बन या पर्वतों में परिभ्रमण के कारण विस्मरण हो जाता है, तो क्या यह पुरुष स्वयं दिन या तिथि का निश्चय कर सकता है ? कदापि नहीं। वह अन्य पुरुषों से पूछ अपने सन्देह को मिटाता है। जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में संशय बना रहता है, तब तक उस की प्रवृत्ति किसी कार्य के करने में नहीं होती। बताने वाला उस ही बात को बताता है, जो पूर्व से उस के मन में विद्यमान थी, कोई नूतन नहीं। जब एक ही अवस्था में किसी विस्मृत विषय का स्वयं निःसरण होना कठिन है, तब प्रलय के पश्चात् सृष्टि काल में मनुष्य पूर्वानुभूत विषय स्वयमेव विचार लेंगे, यह कदापि सम्भव नहीं। अत एव पूर्व स्मृति की स्फूर्ति के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता है, यह सिद्ध हो रहा है॥

लाक ऽपि तद्दर्शनात् ॥१४२॥

जिस प्रकार ज्ञान प्रचार का आरम्भ सृष्टि काल में हुआ, वही उपचार लोक में भी देखा जाता है, उस से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आरम्भिक सृष्टि में भी किसी के द्वारा उपदेश एक से दूसरे तक पहुंचता है, अन्यथा नहीं। यथा एक पुरुष यह बता रहा है कि सत्य भाषण करना उत्तम कर्म है, यह सुख का उत्पादक और दुःख का विनाशक है, अत एव सर्व मनुष्यों को सत्य ही बोलना चाहिए, मिथ्या कहने से संसार के समस्त कार्य बिगड जाते है। अब उस से यदि यह प्रश्न किया जावे कि

मित्र ! आप ने यह उपदेश जो किया है कि विचार कर सदैव सत्य भाषण का ही स्वभाव बनाओ । यह तुम्हारे ही विचार का विषय है, या किसी अन्य विद्वान् से आप ने इस शिक्षा को प्राप्त किया है। इस का यह उत्तर तो कोई भी नहीं दे सकता कि इस नियम को मैं ने स्वयं ही जाना है,किसी अन्य पुरुष की इस में सहायता नहीं, यदि ऐसा कहता है तो वह सदोष है, बाल बुद्धि का ही परिचय देता है । कारण यह है कि उस विचार का बालपन में अभाव है । हां यदि वह समझदार है तो इस प्रश्न का यही ठीक उत्तर देगा कि मैं बाल काल में जब अध्ययन करता था तब उस समय सब छात्रों को अध्यापक यही बताते थे, और अनेक बार उपदेशकों के द्वारा भी यही उपदेश श्रवण किया है। इसी प्रकार कोई प्रेम को अच्छा और द्वेष को बुरा बता रहा है, दूसरा कहता है कि विद्या प्राप्त करना सुखप्रद अच्छा है, और मूर्ख रहना दुःखप्रद बुरा है, इन सब का एक ही उत्तर होने से उन से कोई कहे कि तुम ने तो अपने अध्यापकों या उपदेशकों से सुना उन्हों ने किस से सीखा ? अपने अध्यापकों से, यह प्रवाह अनुलोम पीछे को हटता हुआ आरम्भिक सृष्टि के साथ सम्बन्ध करेगा, उस समय उन को कहां से किस प्रकार प्राप्त हुआ ? यही विचार का विषय है—

अस्य उपदेशस्य परंपरायाः यत्र परिसमाप्तिः
तत्र देवज्ञानस्य शक्तिरिति ॥१४३॥

इस उपदेश परम्परा की जहां पर परिसमाप्ति हो जाती है, वहां पर ही वेद ज्ञान की शक्ति है, जितने भी संसार में

महत्त्व पूर्ण आश्चर्यजनक कार्य हो रहे हैं, उन सब का आधार उपदेश ही है । वह उपदेश एक से दूसरे के पास कभी कर्ण द्वारा और कभी पुस्तकों के द्वारा पहुंचते रहते हैं । सृष्टि की रचना और इस के पदार्थ भी इस नियम के सहायक हैं । सृष्टि के समय अद्भुत रचना को देख कर चकित हो रहे हैं जैसे सृष्टि विनाश के समय भयभीत हो रहे थे । दोनों अवस्थाओं में मनुष्य में विचार करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है । अत एव उनके लिए हितप्रदर्शक कोई भी अन्य शक्ति होनी ही चाहिए । तत्काल सब के सामान्य धर्म विशिष्ट होने से कोई किसी को समझाने की योग्यता नहीं रखता है, इस लिए उपायान्तर दृष्टि में न आने से यही मानना ठीक है, कि ईश्वरीय नियम जो सदा समान, एक रस, प्राणि मात्र के अन्तःकरण में विद्यमान था, वही पूर्व सृष्टि वृत्त को शनैः २ विचार पथ में लाने का निमित्त बन गया है । वेदान्त दर्शन इस में साक्षीभूत प्रमाण है कि वही ऋग्वेदादि शास्त्र का निमित्त (उद्बोधक) है । सर्व संसार का उत्पादक पालक होने से ज्ञान का प्रकाश जिस के बिना कोई भी वस्तु हित कर सिद्ध नहीं हो सकती, उस का देना भी उसी का काम है अन्य का नहीं । इस के पश्चात् ज्ञान की धारा एक से दूसरे के पास बहने लगती है अन्यथा नहीं ॥

क्या वेद में कोई अन्यथा बात भी है ?

उत्तर—नहीं—

सर्वज्ञज्ञानमयत्वात् न तत्र भ्रान्तिबीजामिति ॥१४४॥

परमात्मा सर्वज्ञ और वेद उसका ज्ञान है, अत एव वहां भ्रान्ति का स्थान नहीं है । भ्रान्ति होने से सर्वज्ञता की हानि

होगी, इस से सृष्टि की रचना का होना असम्भव होकर प्रत्यक्ष का विरोध करेगा, अतः परमात्मा में यह दोष लागू नहीं हो सकता, अपवाद को यहां आदर नहीं है। वादितोषन्याय का सहारा लेकर यदि उसमें भ्रान्ति का लेश माना भी जावे, तब कोई अन्य शक्ति जो सर्वज्ञतादि गुणों से युक्त और अविद्यादि दोषों से मुक्त, संसार निर्माण में निपुण हो स्वीकार करनी ही होगी। पुनः उस ही उपर्युक्त नियम का उसके साथ अन्वय हो जावेगा। अत एव वादी का कथन स्थिर नहीं हो सकता। परमात्मा सर्वज्ञ और उसका ज्ञान भ्रान्तिरहित है—

स तु अल्पज्ञधर्मः ॥१४५॥

भ्रम, भ्रान्ति, अविद्या तो अल्पज्ञ का धर्म है सर्वज्ञ इस दोष से कदापि दूषित नहीं होता। जैसे आदित्य प्रकाश में तम की सम्भावना नहीं, वैसे ही प्रकाशस्वरूप परमात्मा में सदैव विद्या का विधान है। इस से भिन्न शक्ति जो जीवात्मा है, उस में विपरीत ज्ञान है, इस हेतु से उसमें विपरीत कारिता है, इस निमित्त से ही वह बन्धन में आता है। सुख की इच्छा करता हुआ दुःख में उलझता जाता है, ऐसी शक्ति एक तो क्या अनेक भी मिलकर संसार की किसी भी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकती हैं, संसार निर्माण की तो कथा ही क्या है॥

अब इसके आगे सांसारिक व्यवस्था का निरूपण किया जावेगा—परमार्थ की जिज्ञासा सर्व पुरुषों को नहीं होती, सदैव इसके जिज्ञासु न्यून ही देखने में आते हैं, कारण यह है कि सच्ची जिज्ञासा अन्तःकरण की पवित्रता के विना होती ही नहीं। ऐसी अवस्था का होना अनेक जन्मकृत शुभ कर्मों का फल है। इस

नियम का दर्शन यत्र तत्र हो रहा है कि सामान्य जिज्ञासा उत्पन्न होकर फिर मन्द पड़ जाती है, इसकी चरम सीमा तक पहुंचना किसी भाग्यवान् का ही अधिकार है, और वह सच्चा जिज्ञासु इस पद का अधिकारी है। वेदादि सच्छास्त्रों का शिक्षण प्रधानतया इस पद की प्राप्ति के ही निमित्त है, प्रकृत पदवाच्य महात्मा और सच्चे धर्मात्मा पुरुषों के पास जाकर प्रेमभाव से दीक्षित होना एतत् लाभार्थ ही है। अनेक प्रकार के व्रत नियमों का पालन करना, सदुपदेश को श्रवण करके उस को अन्तःकरण में धरना, सत्कर्म करने में उत्साह और मन्द कर्मों से सदैव डरना तदर्थ ही होता है। तात्विक विचारों का मन में सत्कार, बुद्धिमत्ता से धनोपार्जन करना और यथार्थ मार्ग में उसका सहचार, सृष्टि की व्यवस्था को ध्यान में लाकर मुख पर प्रसन्नता का चमत्कार, इस पद को प्राप्त करने के लिए ही होता है। नियम पूर्वक पठन पाठन विधि का ध्यान, माता पिता को सन्तान के सुशिक्षित बनाने में सन्मान और आचार्य, अध्यापक, गुरुवर्ग को शिष्यों की स्तुति में अपना मान और उनके ही हित में अपने हित का ज्ञान भी इसके लिए होता है। व्यर्थ आलाप से दूर रहना, कटुवचन मुख से कभी न कहना और तापस होकर स्तुति, निन्दा, हानि, लाभ शीत और उष्णादि द्वन्द्वों के आघात को सहना परमार्थ प्राप्त्यर्थ ही होता है। शास्त्रों में इस संकेत का विधान आता, और सत्पुरुषों का चरित्र भी सबको यही सिखाता, और सृष्टि क्रम का दर्शन कार्यकारण भाव का विमर्षण भी सब को इस ही ओर ले जाता है। इस ज्ञान के ज्ञानी, इस ध्यान के ध्यानी पुरुष के जीवन का वृत्तान्त

नितान्त एकान्त इस वृत्त को ही सामने लाता है। किसी ने किसी का उपकार किया, एक ने दूसरे को विपत्ति के समय सहारा दिया और किसी ने यथार्थमार्ग में सर्वस्व को देकर भी अपना नाम तक न लिया। इन सबका प्रयोजन वही है, जहां इस यात्री की यात्रा समाप्त होती है।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जीवात्मा वासना वशात् यत्र तत्र सर्वत्र संसार में चक्र लगाता, सुख दुःख को अनुभव में लाता हुआ इससे पृथक् होने की लिप्सा करने पर भी मोहमयी माया के जाल में फंसता ही जाता है। बलवती माया बुद्धिमान् को भी विपरीत कर देती है, उस का ऐसा प्रभाव है कि उस के पास में उलझ कर यह पुरुष प्रसन्न होता है। बार बार उसके कठोर संघात को सहने पर भी उसके पीछे चलने में ही अपना सौभाग्य मानता है। इससे पीछा छुड़ाना, फिर बन्धन में न आना, मोक्ष भोगभागी बन जाना मनुष्य शरीर सहचारी जीव का मुख्य उद्देश्य है। कारण यह है कि इस पद की प्राप्ति तो इस शरीर के द्वारा ही हो सकती है अन्यत्र नहीं। अन्य सांसारिक सर्व प्रकार के सुखों की उपलब्धि तो देहान्तर में भी देखने में आती है और यदि विचारदृष्टि से देखा जावे तो मनुष्य की अपेक्षा कई प्रकार के प्राणियों में सुख के अनुभव करने का प्रकार सुन्दर प्रतीत हो रहा है। मनुष्य का जीवन सुख के साथ २ अनेक प्रकार की बाधाओं से घिरा रहता है, कई प्रकार की पीड़ा से पीड़ित होकर विविध वेदना को सहता है, यह अपने हाथों से कलह को जगाता और चिन्ता के चक्र में उलझता जाता है यह प्रत्यक्ष है कथनमात्र नहीं है।

अन्य पश्वादिवर्ग बहुत अंश में इस दोष से मुक्त हैं तथापि मनुष्य शरीर में यही विशेषता है कि इस उलझन को सुलझाने की इस में योग्यता है, यह अपूर्व फल इस शरीर के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। देहान्तर में जाकर जीव की यह शक्ति छीन ली जाती है। इस लिये उपनिषदों का यह व्याख्यान कि यदि मनुष्य शरीर को प्राप्त कर के ज्ञान प्रकाश से अज्ञानावरण को सुयत्न से दूर कर दिया तो यह बड़ा ही अलभ्य लाभ हुआ और यदि प्रमाद, आलस्य में फंस कर इस से विमुख रहा तो अत्यन्त ही हानि हुई। यह सत्य है तो भी इस अभीष्टपद की प्राप्ति का यह शरीर ही हेतुभूत और यह संसार ही मार्ग है, इस लिए शरीर को सुनियम पालन करने से सबल और अन्तःकरण को निर्मल बनाना और संसार मार्ग में व्यवहार शुद्धि से छल कपट अन्यायादि दोषों को मिटाना, लोक परलोक व्यवहार परमार्थ उभयथा सुख सम्पत्ति का साधन है, अत एव व्यवहारार्थ विचार करने की आवश्यकता हुई॥

ननु—मनुष्य इस बात को जानता हुआ भी इससे दूर हट जाता है, बातें तो बनाता परन्तु अनुष्ठान करने से घबराता है।

श्रेयांसि अनेका विघ्नाः प्रसिद्धाः ॥१४६॥

शुभ कार्यों में अनेक विघ्न आकर विद्यमान हो जाते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है नूतन बात नहीं। मोक्ष को उपनिषदों में श्रेयमार्ग कहा है इससे बढ़कर जीवात्मा के लिए अन्य कोई उत्तम स्थान नहीं है। प्रथम तो साधनों के सम्पादन करने में अनेक प्रकार के सांसारिक प्रलोभन बाधक हैं और द्वितीय एकान्त मोक्षस्वरूप में अनेकान्तवाद का प्रवेश हो गया। लोगों

ने विचारहीनता के कारण अपने को मिथ्या विश्वास के अधिकार में दे दिया, विपरीतकारिता से उत्तरोत्तर तात्त्विकमोक्ष-स्वरूप का अनेक प्रकार से निरूपण होने लगा, परमेश्वर के यथार्थस्वरूप और मोक्ष के वास्तविक रूप में मनुष्य ने अपने अज्ञान और विपरीत ज्ञान के कारण नानाविध की असाध्वी विपरीत कल्पनायें खड़ी कर दीं। जिस से दिनोदिन मनुष्यसमाज मनोमालिन्यता के कारण विचारभेद से परस्पर खेद का कारण बन गया। यह कैसे हो सकता था कि जो वस्तु मन की पवित्रता से प्राप्त हो सकती है, उसको पापी मन उपलब्ध करले। अखण्ड अछेद्य और अभेद्य वस्तु में भेद की कल्पना से कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती। प्रत्युत् अनुचित कल्पना करने वाला संसार में अपनी बेसमझी से दुःखों का स्थान और विघ्नों का धाम बन जाता है। भारतवर्ष इस का प्रत्यक्ष नमूना है॥ उपनिषदें अभ्युदय अर्थात् स्वसाधनों के सहित लौकिक सुख को प्रेयमार्ग बताती हैं। इन दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग में से श्रेय को श्रेष्ठ और प्रेय को तदपेक्षा कनिष्ठ बताया है। श्रेय प्राप्त्यर्थ अनुष्ठान कर्त्ता को उत्तम और प्रेय मार्ग को ही श्रेय जानने वाले को तदपेक्षाकृत हीन कहा है। वेदादि सच्छास्त्र व्यवहार संशोधन, और तदर्थ मनुष्य समाज को सम्बोधन करने के निमित्त बड़ा ही बल दे रहे हैं। जो पुरुष समुदाय व्यवहार कार्य में चतुर नहीं होता, यथार्थ में परमार्थ का हाथ आना उस के लिए असम्भव है। यथा बीज में फल छिपा होता है, तथैव शुद्ध लोक व्यवहार में परमार्थ का स्वरूप विद्यमान है केवल किंचित् अत्यल्प संभलने की आवश्यकता शेष रह जाती

है, अन्यत् सर्व कार्य को व्यवहार की पवित्रता सम्पादन कर देती है, इस लिए मनुष्य को बड़ी ही सावधानी से व्यवहार का निर्वाह करना चाहिए । जो लोग दुर्बल हाथों से इस को संगृहीत करना चाहते हैं वह स्वयं दुःखभोगभागी होकर औरों के लिए ग्लानि का स्थान बन जाते हैं। अत एव लोक व्यवहार को पुरुषार्थ बुद्धिमत्ता और परस्पर विचार से सबल, पवित्र और उज्ज्वल बनाने से लोक परलोक सम्बन्धी दोनों प्रकार के सुख सामने आ जाते हैं, इसलिए मर्यादान्वित लौकिक सुख परमार्थ सुख की सम्पत्ति है । परमार्थ से लोक की उत्पत्ति होती है इसलिए लोक में परमार्थ छिपा हुआ है केवल अहंता, ममता इस का आवरण है । बुद्धिमान् इस को दूर कर देता है परमार्थ उस के सामने आ जाता है । यथा एक से अनेक रूप संसार की उत्पत्ति होती है, अत एव यह कहना उचित ही है कि इस अनेकता में वह एक विद्यमान है केवल पूर्व पद को ही दूर करना है । जिस प्रकार एकता अपने में सार्थक है, उस प्रकार निषेधपदवाची "अ" सार्थक नहीं है, वह अपने अर्थ को छोड़ देता है, इसी प्रकार परमार्थ के सामने आते ही उस के निमित्त संसार अपनी प्रगति को छोड़ देता । शास्त्र की इस विषय में यह सम्मति है—

दुश्चरिताद् विनिवृत्तिः सर्वशास्त्रमर्यादा ॥१४७॥

दुराचार से पृथक् होना और इस के लिए सदैव पुरुषार्थ करना यह सर्व शास्त्रों की मर्यादा है। मर्यादा के पालन किए विना संसार का कोई अङ्ग भी ठीक नहीं होता । अङ्ग की निर्बलता से अङ्गी स्वयमेव अबल हो जाता है, यह निश्चित

सिद्धान्त है। मर्यादा मनुष्य समाज की उन्नति का एक अच्छा साधन है, यह अन्य सनियमों के दृढ़ करने का निमित्त है। मर्यादा पुरुष को सर्वप्रिय बनाती है। यह मनुष्य के जीवन को इतस्ततः जाने से बचाती है। यह संसार में स्वशरणापन्न की ख्याती को बढ़ाती है। महाराज राम मर्यादापुरुषोत्तम कहला गए, और सर्व संसार को अपने जीवन चरित्र से इसका पालन करना सिखा गये। परन्तु कितने शोक की बात है कि उन के अनुगामी सेवक अपने स्वामी की इस आज्ञा के पालन करने में विमुखता दिखा रहे हैं। यदि कोई पुरुष बुद्धिमान् तात्कालिक आर्य जाति के चरित्र और वर्त्तमान जनता के चित्र को एकान्त में अपनी विचार दृष्टि के सामने लाये, तो वह नेत्रों से आंसू बहाता हुआ मूकसम अपने को बना कर अपने मन में ऐसे प्रश्नों को उत्पन्न करेगा कि किस से पूछूं कौन बताएगा? विचारपथ में कोई बात नहीं आती है कि इतना पूर्वापर का भेद काल दोष से हुआ या अदृष्ट वशात्ः परुषार्थ हीनता से हुआ या दैवकोपात्, अथवा परस्पर विवाद से हुआ या 'सदुपदेशाभावादिति' जो कुछ कहें सो ठीक है। दोषों ने इस को आ कर सता दिया, इस को सन्मार्ग से भुला दिया॥

प्रथम--मर्यादा का भंग, कहां उन का विचार पूर्वक वचन कहना, और कहां हर समय बोलते रहना?

द्वितीय--कहां अनेक विघ्न आने पर भी वचन पालन करने में यत्नवान्, और कहां थोड़े लोभसे वचन भंग करने में सावधान॥

तृतीय-कहां प्रेम पूर्वक संघटन के बनाने में उद्योग करना, और कहां स्वार्थ के आधीन हो कर व्यर्थ बातों में

परस्पर लड़ना और झगड़ना ॥

चतुर्थ-कहां विद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस का अनुष्ठान करने कराने में आगे बढ़ना, और कहां सर्वोपरि विद्या के लाभ को न जान कर जीवन पर्यन्त मूर्ख रह कर मरना ॥

पञ्चम-कहां जीवन मृत्यु की व्यवस्था को जान कर प्रसन्न रहने का स्वभाव और कहां चिन्ता के चक्र को बढ़ा कर आह्लाद का अभाव ॥

षष्ठ-कहां सुरक्षित वीर्य हो कर शरीर को बलवान् बनाना, और कहां धातुदोष बाहुल्य से शरीर को रोगों का स्थान बनाना ॥

सप्तम-कहां अन्तर्विकारों के दबाने और उन को नियम पूर्वक काम में लाने के निमित्त सदैव यत्न शीलता, और कहां इन को जगा कर कलह को उठा कर सर्व प्रकार से दीनता ॥

अष्टम-कहां कर्त्तव्य के पालन करने में नित्य नवीन उत्साह दिखाना, और कहां उस से दूर भाग जाना ॥

नवम-कहां आत्मसम्मान और समानता के विधान से कभी भी दीनता में न आना, और कहां आत्मश्लाघा में फंस कर भेद भाव से पराधीनता में जाना ॥

दशम-कहां एक परमेश्वर की उपासना से अभयपद को प्राप्त करना, और कहां उस के महत्त्व को भूल कर प्रकृति की उपासना में ध्यान को लगाना और अनेक सम्प्रदाय के भेद से एक का दूसरे से बात २ में लड़ना और डरना ॥

एकादश-कहां विचारपूर्वक परस्पर मेल से और व्यवहार चातुर्य से संसार मार्ग को सुधारना, और कहां मनमानी रीति नीति और अधूरी कल्पनाओं से संसार मार्ग को बिगाड़ना।

इस परिवर्त्तन शील संसार में जो मनुष्यसमाज मर्यादा का पालन करता है, उस की परिस्थिति अच्छी सुखप्रदा हो जाती है और मर्यादा का सदोष हो जाना संसारव्यवस्था को दूषित करने का निमित्त है ॥

अब यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि मर्यादा के विधायक शास्त्र का क्या लक्षण है ?

उत्तर–

सन्मार्गप्रदर्शकत्वं शास्त्रत्वमिति ॥१४८॥

सीधे और सरल मार्ग का जो दर्शन कराता है, उस का नाम शास्त्र है। इति शब्द इस बात का प्रकाशक है कि सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के निमित्त शास्त्र की आज्ञा का पालन करें। यह वह सन्मार्ग है जिस का अनुसरण कर के मनुष्य समाज लोक और परलोक दोनों को बना लेता है, इस की तारतम्यता के अनुसार ही सुख दुःख की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है। आर्य जाति की भूल का यहां से ही आरम्भ होता है कि इस ने बुद्धि की कमी से श्वेत कागज के ऊपर स्याही से जो लिखा गया उस सब को शास्त्र ही मान लिया। फिर क्या था स्वार्थी मनुष्यों ने जो साधारण पुरुषों की अपेक्षा कुछ पढ़े हुए और अपना प्रयोजन सिद्ध करने में सावधान थे, संसार में व्यामोह को बढ़ा कर कई प्रकार की भ्रम मूलक बातों को सुनाने और नामोत्पादक छोटे और बड़े पुस्तकों को बनाने, आलस्य प्रसारक, पुरुषार्थ विनाशक गाथाओं के सुनाने से मनुष्य समाज के अन्तःकरण को संशय और सन्देह का स्थान बना दिया। यदि किसी बुद्धिमान् पुरुष ने उन के प्रतिकूल

खड़ा होने का यत्न किया तो उस को लोभ से, भय से या किसी उपायान्तर से हटाने की चेष्टा की। यदि वह किसी प्रकार भी उन के अनुकूल न हुआ, तब साधारण जनता को उस के विपरीत खड़ा कर दिया। सर्वसाधारण में उस की निन्दा करना अपना स्वभाव बना लिया। इतने पर भी यदि उस को सन्तोष न हुआ तो अपने अनुगामी धनी पुरुषों अथवा छोटे २ माण्डलिक राजाओं से प्राण दण्ड तक दिला दिया। इधर की उधर बात फैल जाने से कहीं २ समझदार जो अति विरले पुरुष थे, किंवदन्ती और मृत्यु भय से चुप चाप हो बैठे। दिनों दिन पाप की मात्रा बढ़ने लगी, उस का परिणाम जो देश के लिये होना था वह हुआ। महाभारत का युद्ध बड़े भारी पाप का फल था हो गया, परन्तु पाप का फल अति दुःख भोग कर भी इस ने पुनीत मार्ग में जो सुख का साधन था अपनी गति को न बढ़ाया, वही पाप के छोटे २ अंकुर जो शेष रह गये थे, पुरुषार्थविहीन जनता को पा कर बड़ी ही शीघ्रता से बढ़ने लगे। उन के उच्छेद करने का तो किसी को ध्यान न आया, प्रत्युत कोई २ पुरुष उन के पालन पोषण में तत्पर हो गए। यह सत्य ही है कि जब मनुष्यसमाज से हानि लाभ का ज्ञान, शत्रु मित्र का ध्यान, उचितानुचित की पहिचान जाती रहती है, तब उस के संभलने में संदेह ही होता है। शास्त्र इस को ही सिखाता है। जो इस का सहारा छोड़ देता है वह संसार में विकल हो जाता है। महाभारत के एक सहस्र वर्ष पश्चात् संभलने का समय था, परन्तु देश न संभल सका। आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व देश के सुधारने की शक्ति थी।

किन्तु विचार ने स्वच्छ मार्ग न पकड़ा। तत्सम काल में महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। जनता के जीवन में उपदेश का जिस प्रकार संचार होना चाहिए था न हुआ। उस समय भारत सम्राट् महाराजा अशोक का बौद्ध धर्म में प्रवेश हुआ, उन को क्या कठिन था, यदि वैज्ञानक रीति के साथ भारत को उन्नत करने में यत्न करते। यह न हुआ और देश का पांव न जमा फिसलता ही गया। अंग भंग धर्म की सहायता से किसी भी जाति का सुरीति से उत्थान नहीं होता। कर्म और विज्ञान इन दोनों के मिलने से यथार्थ धर्म का स्वरूप प्रकट होता है। इन दोनों की पृथकता से अंगहीन पुरुष के आकार में धर्म का प्रकार हो जाता है, जो सांसारिक उन्नति के लिए विशेष उपयोगी नहीं है। उस समय उपदेश अपनी रीति का अच्छा हुआ हो, परन्तु संसारमर्यादा को गौण करके मरने के पश्चात् के अधिक राग अलापने से अनेक प्रकार के बखेड़े खड़े हो गए, यह जनता का अभाग्य था। महात्मा का उपदेश तो ठीक ही था। २५ सौ वर्ष पूर्व फिर से संभलने की शक्ति का उदय हुआ। शंकराचार्य जी का उपदेश (बिगड़ी हुई दशा में जो महात्मा बुद्ध का उपदेश संसार में प्रचलित था उसको) अपने बल से हटाने लगा। जनता उधर से हट कर इधर को आने लगी और कुछ कलह को भी जगाने लगी। परन्तु इस समय के उपदेश से देश में हल चल बहुत ही अधिक हुई। उन्होंने जो वेदान्त का उपदेश किया है, उसके दर्शन से तो यह सिद्ध होता है कि वह उपदेश लोक और परलोक दोनों का सहारा है। यथा वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र में जो अथ

शब्द आया है, उसका अर्थ यह है कि विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति अर्थात्, शम, दम, तप, तितिक्षा, उपरति समाधान और मुमुक्षुत्व। इन सब में पूर्व विवेक है जिस की व्याप्ति लोक, परलोक, शुभाशुभ, हानि, लाभ, जीवन, मरण, शत्रु, मित्र, जीव, ईश्वर, प्रकृति में सर्वत्र विद्यमान है। इसके ठीक २ दीप्त हो जाने से कोई जाति संसार की उन्नति से वंचित रह सकती है? कदापि नहीं। किन्तु जब संसार को ही मिथ्या दृष्टि से देखने लगे, तो उसकी उन्नति का ध्यान कैसे हो सकता था? व्यवहार को बिगाड़ कर परमार्थ के सुधार की बातें करना किसी प्रकार भी उचित प्रतीत नहीं होता। वेदान्त जैसे सर्वोत्तम सिद्धान्त के विकाश होने पर भी संसार की अवस्था में दुर्बलता आ जावे, यह बात समझ में नहीं आती। हां अनुष्ठान शून्य केवल बातें बनाने या उपदेशों के सुनाने से लाभ ही क्या हो सकता है? पुरुषार्थ के विफल हो जाने से जनता हतोत्साह होकर अनेक प्रकार की विपत्तियों में उलझ जाती है। दो सहस्र वर्ष के लग भग समय बीत चुका है कि महाराजा विक्रमादित्य बड़े ही प्रतापशाली भारत के सम्राट् जिन्होंने कई प्रकार का सुधार किया, लोकहितैषी न्यायप्रिय हो गुजरे हैं। यह सब कुछ होने पर भी उन दोषों का जो देश और जाति के बिगाड़ने के निमित्त थे, विचारपूर्वक उनका उच्छेद न हो सका। भ्रम में फंसी हुई जनताका उस ओर ध्यान ही न गया। अविद्याकी बढ़ती हुई शक्ति यथार्थरूपमें न रुकसकी। अविद्याजन्य भेदभावसे सांप्रदायिक झगड़ों और बखेड़ों की उत्तरोत्तर उन्नति और परस्पर मेल की अवनति होती ही गई। अकर्मण्यता कर्तव्यहीनता के

कारण देश में विज्ञान का प्रकाश न हुआ। एक को दूसरे का हित करना जिस में देश का गौरव और जाति की प्रशंसा हो, ध्यान ही न आया। प्रान्तीय भेद, उसमें अवान्तरभेद, जातीय-भेद फिर उसमें उपजातीयभेदों के द्वारा खेद बढ़ता ही गया। उस समय विद्या विहीन, अविद्या आधीन प्रचलित मार्ग को रोक दिया जाता, तो क्या कठिन था। तात्कालिक सब कुछ अच्छा हुआ, परन्तु यह न हुआ। उसके पश्चात् थोड़े ही समय में जो विदेशी लोग नूतन उत्साह को लेकर खड़े हुए थे, भारतवर्ष की ओर झुकने और इसकी पूर्वापर व्यवस्था को ध्यान में लाने के लिये समय २ पर इसकी यात्रा करने लगे, परन्तु भारतीय जनता में दूरदर्शिता का उदय न हुआ। यदि किसी को देशोन्नति का ध्यान आया, तो दूसरा उसका सहायक न हो कर बाधक हो गया। उस समय कई पुरुष देश के संभालने और कई सुप्रबन्ध से चलाने में चतुर तो थे, परन्तु उनका सुचारुरूप से मेल न हुआ। यदि मेल भी हुआ तो इस सुनियम को विस्तार न दिया। अपने २ समय में तो काम अच्छा किया। किन्तु भविष्यत् पर ध्यान न किया। यह कैसे हो सकता था कि जो कार्य सुनियमों के मेल में होता है, वह उनके विच्छेद में भी वैसा ही हो। इसका परिणाम जो हुआ वह सबके समक्ष है। यह सर्व प्रकार के दोष जो देश में उत्पन्न हो गये इन सबका कारण शास्त्राभास में शास्त्रबुद्धि का हो जाना, मिथ्या और व्यर्थ बातों में समय का खोना ही हुआ। यत्किंचित् कभी कहीं वैज्ञानिक रीति से प्रचार भी हुआ तो उसको विचार से लाभकारी जान कर भी पुरुषार्थ से विस्तार

न किया गया। संप्रति ऋषि दयानन्द जी का लोगों के प्रति यह सन्देश है कि वेदादि सत्य शास्त्रों की अनभिज्ञता से यह सर्वप्रकार का उपद्रव खड़ा हो गया है। यदि इसको मिटाना और दूर हटाना चाहते हो तो उनकी ही फिर से शरण लो, परन्तु सुधारकों के हाथ में अभी तक सन्मार्ग नहीं आया। दोष साथ देते ही चले आते हैं ॥

शास्त्र का द्वितीय लक्षण यह है—

हितशासनात् शास्त्रत्वमिति ॥१४६॥

हित के शासन करने वाले का नाम शास्त्र है। इति शब्द इस बात को दर्शा रहा है कि यथा बुद्धिमान् माता पिता अपनी सन्तान का हित करते हैं, गुरु अपने शिष्य का ज्ञानपूर्वक शासन करता हुआ उसका सुधारक है, तथैव शास्त्र यदि उस को हितकारक जान कर सेवन किया जावे, तो मनुष्यसमाज के लिये लाभदायक हितकर संसार में अन्य कोई भी वस्तु नहीं है, इसकी ही कृपा से मनुष्य अविद्या के बन्धन से छूट कर मोक्षपद को प्राप्त करता है। सांसार में ख्याति का, तृष्णा को दबा कर सन्तोष का, दरिद्रता के दोष को हटा कर ऐश्वर्य का, परस्पर वैरभाव को दूर करके प्रेम भाव का, जीवन के प्रत्येक रहन सहन आहारादि साधनों का, संसार की समस्त वस्तुएं जो सुख दुःख प्रवृत्ति, निवृत्ति के निमित्त परमात्मा की रचना हैं, उनके यथार्थ दर्शन का, माता, पिता, सन्तान, स्वामी, सेवक, राजा, प्रजा के कर्त्तव्य का, यदि शास्त्र के विचारानुरूप चिन्तन किया जावे, तो यथार्थ लाभ होता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। जो कुछ जीवसृष्टि में स्थानादि का

निमित्त, कला कौशल का विधान, नाना प्रकार के यानादि की विभूति दृष्टिपथ में आ रही है, यह सब इस शास्त्र की कृपा का फल है। कितने शोक से कहना पड़ता है, कि भारत वासियों ने शास्त्र से विमुख हो किस प्रकार विपरीत मार्ग का अनुसरण कर लिया है। शनैः २ प्रकाश से पृथक् होकर अन्धकार में इन की गति होने लगी, कहीं एकादशी की कथाओं का भिन्न २ माहात्म्य दर्शाना, और कहीं सत्यनारायण की व्यर्थ महिमा को सुनाना, गंगा, यमुना, गोदावरी आदि नदियों को तीर्थ कल्पना करके उनमें स्नान करने से पुण्य होना, पाप मिट जाने के कुभाव का आ जाना, विचार हीनता से किसी स्थान विशेष को तीर्थ जान कर मिथ्या विश्वास को जगाना, वेदादि सच्छास्त्रों को न जानने के कारण पुराणों की रचना से रोचक और भयानक वचनों के बार २ श्रवण से यथार्थ पुरुषार्थ का आलस्य में परिवर्त्तित हो जाना, शास्त्रविरुद्ध रीति और नीति का व्यवहार में आकर जाति का कई प्रकार से विभक्त हो जाना, लौकिक सुख को ध्यान में न लाकर मृत्यु के पश्चात् के राग को अलापते रहना, श्राद्ध, पितर और देवतादि शब्दों के यथार्थ अर्थ को न सोच कर उसमें विपरीत भाव को लाना, अपने पूर्वजों के चरित्र को जो सर्वप्रकार से ठीक था, व्यंगभाव से बताना, बुद्धिवर्धक गणित, इतिहास और भूगोलादि विषयों का अभ्यास न करके यदा कदा पौराणिक गाथाओं का सुनना और सुनाना, शनैः २ विद्याभ्यास से सबका रुक जाना, विना काम के नाम की महिमा को बढ़ाना, इत्यादि शास्त्रविरुद्ध मर्यादा का विस्तार होता ही गया। इनमें भी जितना अंश

शास्त्र के अनुकूल था, उतना सुख प्राप्त हुआ। परिणाम में दुःख बहुत ही सामने आया। इसलिये ऋषि का यह सन्देश कि यदि सुख चाहते और गई हुई सम्पत्ति को पुनः अपने अधिकार में लाना चाहते हो तो शास्त्र का अनुसरण करो, उसके अनुकूल अपना आचरण बनाओ। सन्मार्ग प्रदर्शक और हितशासक वचन या उपदेश का नाम शास्त्र कहा गया है। इसकी आज्ञा का त्याग, और उसके विरुद्ध ग्रन्थों के अनुराग से भारतवर्ष का प्राप्तव्यस्थान दूर और अहित समीप हो गया॥

ननु—जब पूर्व में शास्त्र की मर्यादा ही प्रचलित थी तो फिर इस दुर्दशा का क्या कारण है?

शास्त्रं तु उदासीनं रवेरिव प्रकाशविषये ॥१५०॥

शास्त्र तो सर्वदा उदासीन होता है। यदि कोई अपना हित जानकर उसकी प्रतिष्ठा करेगा, वह आदर का पात्र होकर सुख पाएगा, और यदि कोई भूल से उस मान्य का मान न करेगा तो वह संसार में सुख-साधनों से वंचित होकर दुःख उठायेगा। शास्त्र का काम तो शासन करना है, बलात् किसी का हाथ पकड़ कर उसको चलाना नहीं है। यथा आदित्य प्रकाश अपनी किरण के द्वारा सब के शरीरों में हलचल उत्पन्न करके, यह शिक्षा तो अपनी उदासीनवृत्ति से दे रहा है, कि प्रातः समय शयन का नहीं है। यदि कोई पुरुष आलस्य में जाकर, वस्त्र को लेकर, शीत के भय से आठ बजे तक सोता ही रहे, तो क्या सूर्य उसकी ग्रीवा पकड़ कर हलचल से उसको उठायेगा? कदापि नहीं। बस शास्त्र की प्रवृत्ति इसी प्रकार है। वर्षा तो साधारण रीति से सर्वत्र गिरती है, परन्तु जिस क्षेत्र

में कृषक ने बीज ही नहीं डाला, तो वहां किस वस्तु को उत्पन्न करेगी। इसी प्रकार शास्त्र के नियम अपनी सत्ता से सर्वत्र अपने प्रभाव को तो डालते हैं, किन्तु जिस की अपने संभालने में प्रवृत्ति ही न हो, उसको शास्त्र से क्या लाभ होगा ? शास्त्र तो श्रवण मनन के पश्चात् अपना फल दिखाता है ॥

ननु—शास्त्र तो अनेक प्रकार से लिखे गए हैं। यह कैसे प्रतीत हो कि यह सच्छास्त्र है और यह कल्पित ?

वेदमूलकत्वम् शास्त्रस्य, विपरीतात् विपरीतमिति ॥१५१॥

शास्त्र के परखने की कसौटी यह है कि जो वचन, उपदेश या कोई लेख वेदमूलक (वेद के आधार पर) होगा, उसकी शास्त्र संज्ञा है इसके विपरीत होने से शास्त्राभास अर्थात् शास्त्र के समान प्रतीत तो होता है, वास्तव में नहीं है। जो ज्ञानपूर्वक वचन या विचारपूर्वक कथन नहीं है, वह उन्मत्त प्रलाप के समान निरर्थक या हानिप्रद होता है। अत एव जो वचन आप्तपुरुषों का होता है, वह संस्कृत, सत्यान्वित और मृदु होता है, वही मनुष्यसमाज का हितकारी होने से माननीय है, उसका ही सबको आदर करना चाहिए। यह अनुष्ठानान्वित होकर मनुष्यसमाज को सम्पत्तिशाली बनाता और विपत्ति से बचाता है ॥

ननु – क्या आप्तपुरुष अन्य पुरुषों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं ?

उत्तर — आकार तो उन का अन्य पुरुषों के समान ही होता है, परन्तु वह स्वभाव से साधारण पुरुषों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं। उनका यह लक्षण है—

यः स्वानुभवेन कात्स्न्र्यवस्तुस्वरूपनिश्चयवान् स आप्तः ॥१५२॥

जिस मनुष्य ने अपने अनुभव से समस्त वस्तुओं के यथार्थस्वरूप का निश्चय कर लिया है उसकी संज्ञा आप्त है; इतर की नहीं। यद्यपि वस्तु अनन्त हैं, सर्व का याथातथ्य भाव से बोध होना असम्भव जान पड़ता है, तथापि व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से समस्त वस्तुओं का उपयोग दो ही प्रकार से होता है। जो पुरुष यदा कदा जिस वस्तु का प्रयोग करता हुआ व्यवहार और परमार्थ नय का ध्यान रखता है, वह कभी भी न्यायपथ से विचलित नहीं होता, उसका ही नाम आप्त' है। अन्यथा कोई पुरुष भी एकदा या अपने समस्त जीवनकाल में सर्व वस्तु का प्रयोग कर ही नहीं सकता। इस लिए जो युक्तायुक्त वस्तु के उपयोग करने में बड़ा ही सावधान है. वह ही 'आप्त' है। सत्यासत्य, जड़, चेतन हिताहित के विवेचन की शक्ति ही परंपरा से साधारण मनुष्य को आप्त बनाती है. जब विशुद्ध सबल पूर्वादृष्ट वर्त्तमानकालिक यथार्थ पुरुषार्थ को जगाता है, तब मनुष्य इस पदका अधिकारी बन जाता है॥

रागादिवशादपि यो न मिथ्यावादी स आप्तः ॥१५३॥

जो मनुष्य राग द्वेष के वश में हो कर कभी भी मिथ्या मार्ग की ओर नहीं जाता, उस को 'आप्त' जानना चाहिए। ऐसे महानुभावों का उपदेश वचन रूप या पुस्तकाकृति में हो, वह आदरणीय है। मनुष्य जानता हुआ भी, रागद्वेष के आधीन हो कर विपथगामी हो जाता है। इतिहास ऐसी घटनाओं से संवलित हो रहा है। अहो! मनुष्य अन्तः विकारों से विवश हो कर कैसे उत्तम पद प्राप्ति से वञ्चित हो जाता है। उन

महानुभावों की रचना के देखने से यह सिद्ध होता है कि संसार संग्राम का स्थल है। बाह्य युद्ध की अपेक्षा से आन्तरिक युद्ध जो प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में सृष्टि आरम्भ से प्रारम्भ हो कर संसारान्त बना रहता है, जिस ने इस युद्ध में विजय प्राप्त की है, वह सच्चा विजयी है । इष्टात्मिका अनिष्टात्मिका प्रवृत्ति संघर्ष सदैव अपने को जगाने और दूसरे के दबाने में बना ही रहता है। आत्मा यद्यपि साक्षी है, तथापि दोषों का आभास उस में जा कर उस को भी विपरीतपथानुगामी सा बना देता है, जो इस दोष को विचारशीलता से दूर हटा देता है वह आप्त है । यह आप्त शब्द व्याप्त है, इस की शक्ति का संचार जिस कर्म में हो जायेगा वह सफल और सबल हो कर लोक व्यवहार में सरलता का उत्पादक और यश का विस्तारक बन जाता है। यथा एक व्यापारी, जिस में आप्तांश विद्यमान है, वह जिस वस्तु का भाव मोल या दर जो बतायेगा, समस्त मण्डी में पूछने से न्यूनाधिक न होगा और उस की हट्टिका में कोई वस्तु जिस प्रकार की लेने के लिये बाल, युवा, वृद्ध, समझदार अथवा बेसमझ जावेगा, उस के साथ किसी प्रकार का धोका न होगा । यह पुरुष अपने कर्म में आप्त है, ऐसे पुरुष की प्रवृत्ति परवञ्चनार्थ कभी भी नहीं होती । इस से विमुख हो कर मनुष्य छल छद्म करने में तत्पर हो जाता है। कितना सरल और सुखप्रद मार्ग है, जिस को मनुष्य ने कष्टमय बना लिया है। परम आप्त ईश्वर है, उस का ज्ञान वेद सर्वथा मान्य है, परन्तु वह युक्तियुक्त सृष्टिक्रमाविरुद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध होना चाहिए । जो पुरुष परमेश्वर के

यथार्थस्वरूप को अनुभव कर के जन हितार्थ उपदेश या किसी ग्रन्थ की रचना करते हैं. जिसमें स्वार्थ का किंचिदपि अंश नहीं होता है, वहां 'आप्त' शब्द की पराकाष्ठा है। नाना पुरुष भिन्न २ कार्यों को करते हुए यदि आप्त धर्म को संगृहीत करना चाहें, तो कर सकते हैं। अन्य देशस्थ मनुष्यों के कार्यों में यह आप्तत्व-धर्म अधिकांश में विद्यमान है, अत एव वह सुखी हैं। भारतीय पुरुषों में इस की मात्रा न्यून है. इसी से यह दुःखी हैं। अत एव मेरे मित्र ! यह सत्य है, निश्चित् है इस का अपवाद नहीं। जो पुरुष अपने कार्यों को सचाई से करेगा, वह अवश्यमेव सुखी रहेगा। परन्तु इस के लिए सन्तोष और श्रद्धा की आवश्यकता है॥

अब इस के आगे सामान्य विशेष रूप से मनुष्य-जीवन पर विचार किया जावेगा—

जनानां नानाभेदः गुणभेदतः ॥१५४॥

जन शब्द स्त्री पुरुष दोनों का वाचक है। सांसारिक कार्यों को सुधारते हुए मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त दोनों का समान अधिकार है, इस लिये गुण भेद से मनुष्य की अनेक प्रकार की संज्ञा हो जाती है। सामान्य रूप से उत्तम, मध्यम और अधम है, और विशेष रूप से ब्राह्मणादि या कार्यान्वयी संज्ञा हो जाती है॥

अब उत्तम पुरुष की क्या पहिचान है ? इस का निरूपण किया जाता है—

स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखपरिहाणाय यत्नवान् उत्तमः ॥१५५॥

जो पुरुष सर्वथा स्वार्थ को त्याग कर परदुःख निवारण

के निमित्त उत्साह और हर्ष से यत्न करता रहता है, वह उत्तम पुरुष है। ऐसे महात्मा, महानुभाव निष्कामकर्म करने में चतुर जिस देश में उत्पन्न हो जाते हैं, उस देश को बड़ा ही भाग्यशाली समझना चाहिए, उस पर ही प्रभु की महान् कृपा है, यह जाना जाता है। उन के हृदय की विशालता पर दृष्टिपात करने से साधारणमनुष्य का हृदय भी तो अल्पकाल के लिये सहर्ष उत्साहित हो जाता है। पुनः यदि उस गुण का गुणी हो जावे, तो उस की प्रशंसा कथन से बाहर है। संसार अपने को ऊंचा उठाने के लिए ऐसे उत्तमाशय पुरुषों का ही स्वागत करता है। संसारसुधार की शक्ति उन के हृदय में विद्यमान होती है, जिस की चमक उन के वचन द्वारा सर्व साधारण तक पहुंच कर जनता को कार्य करने और आगे बढ़ने के लिये उत्साहित करती है॥

ननु स्वार्थ का तो सर्वथा त्याग नहीं हो सकता किसी न किसी अंश में बना ही रहता है॥

इस का उत्तर आगे के सूत्र में है—

स्वार्थमपेक्ष्य परदुःखनिवारणाय कृतप्रयत्नो मध्यमः ॥१५६॥

स्वार्थ के सहचार से दूसरे का दुःख दूर करने के लिए जो प्रयत्नशील है, वह मध्यम पुरुषों की गणना में आता है। ऐसे सज्जनों के पुरुषार्थ से संसार की सुख मात्रा में कुछ न कुछ वृद्धि ही होती रहती है। यह कितना सुन्दर नियम है, कि मनुष्य का विचार पर हित के साथ अपने हित में हो, अतः परस्पर की सहायता से दोनों के कार्य सुधर जाते हैं। यह नियम प्रत्येक मनुष्य को कर्त्तव्य पालन करने की शिक्षा दे

रहा है। यथा किसी पुरुष ने एक वाटिका को सर्व प्रकार से स्वच्छ कराने के लिए चार भृत्यों को नियुक्त किया। मज़दूरी एक रुपया ठहरी, नियत समय में उन्होंने स्थान को परिमार्जित कर दिया। स्वामी ने आकर देख लिया, मज़दूरी लेकर वह घर को गए। देशान्तर निवासी प्रायः अधिकांश में इस नियम को हितकर जान चुके हैं, परन्तु यहां क्या हो रहा है? कि यदि काम करने वालों की कोई देख भाल करने वाला न हो, तो वह चुप चाप अपने कर्त्तव्य का ध्यान न कर के अत्यल्प कार्य करते हैं. और वह यदि काम करके किंचित् विराम चाहते हैं. तो वह जो उनके शिर पर खड़ा है दश भली बुरी बातें सुनाता और आराम कब करने देता है. दोनों भूल कर रहे हैं। ठीक है जैसा दाम वैसा काम. जैसा काम वैसा परिणाम, जैसा परिणाम वैसा नाम। यह बात चरितार्थ हो रही है। यहां मध्यमश्रेणी के पुरुषों में स्वार्थ, परहित सम्पादन करने के साथ २ न्याय संगत है, जो संसार के लिए उपयोगी है। उत्तम पुरुषों में स्वार्थ की गन्ध भी नहीं होती, यदि पर दुःख की निवृत्ति ही उनका स्वार्थ माना जावे, तो ऐसी बात हो जावेगी, कि किसी पुरुष ने जलकी याचना की उसने उत्तर दिया कि घड़े में तो जलका अभाव है, यह सुनकर उसने कहा कि जलका अभाव भी तो जल ही है। ऐसे जल से तृषा की निवृत्ति नहीं हो सकती। उत्तम पुरुष संसार के लिए बड़ा ही उपयोगी है, और मध्यम श्रेणी का पुरुष संसार के लिए कभी हानिकर सिद्ध नहीं होता॥

जो संसार के लिए हानिकर है उसका लक्षण यह है—

स्वार्थाय परार्थविघातकः अधमः ॥१५७॥

जो अपने स्वार्थ के लिए परहित की किंचित् भी चिन्ता नहीं करता वह अधम संज्ञक है। इस विचार के वशवर्ती जो देश हो जाता है शनैः २ उस के निकट दुःख आता है। जिनके मन में इस प्रकार के कुत्सित विचार उदय होते रहते हैं वह अनेक प्रकार की वेदनाओं को सहते हैं। यह ही दोष है जो मनुष्यसमाज को दासता की शृखला में फंसाता है प्रत्येक प्रकार के निन्दित मार्ग इस दोष के कारण विस्तार पकड़ जाते हैं। इस दोष से दूषित होकर मनुष्य जानता, सुनता, देखता, मानता हुआ भी ऐसी असंगत बात कर देता है जिससे सर्वतोन्मुखी किंवदन्ती की कालिमा से देश और जातियें अपनी स्वच्छ आभा की सत्ता को खो बैठती हैं। उस जाति पर प्रभु की अत्यन्त कृपा होती है अथवा उसका उच्चतम अदृष्ट सहारा देता है या उसका बड़ा ही प्रशंसनीय पुरुषार्थ समझना चाहिए जो इस दोष से जो मनुष्यसमाज का प्रबल शत्रु है मुक्त हो कर परहित लगन में मगन हो कर नूतन उमंगों के साथ आगे बढ़ती है। त्यागशील विरक्त स्वभाव भर्तृहरि जी महाराज अपने नीति शतक में उल्लेख करते हैं कि इन तीनों से अतिरिक्त कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं कि उन का कोई प्रयोजन सिद्ध हो या न हो अन्य को हानि पहुंचाना, दूसरे को दुःखी जान कर मन में हर्ष मनाना ही जिनका स्वभाव होता है उनकी संज्ञाको हम नहीं जानते। उस समय यद्यपि ऐसे पुरुषों की संख्या अति न्यून होगी परन्तु इस समय ऐसे ही पुरुषों की संख्या अधिक हो रही है यही खेद का विषय है। इस हेतु से वेद संसार की

मर्यादा को साध्वी बनाने के लिए अनेक प्रकार के सुन्दर उपदेश करता है उन में से एक वर्णाश्रम की व्यवस्था है इसका निरूपण किया जाता है—

वर्णाश्रमव्यवस्थाविधानमपि गुणादिभेदतः ॥१५८॥

वर्णाश्रम की व्यवस्था मनुष्यसमाज की परिस्थिति को अच्छा बनाने में बड़ी ही सहायक है। वेद मनुष्यसमुदाय को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभक्त करता है। यह परस्पर एक दूसरे के उपकारक हैं। इस वेद-मर्यादा का पालन करके प्राचीन भारत ने बड़ा ही विमल यश प्राप्त किया था। वेद की दृष्टि में यह सब मिलकर संसार की गति को संभालने में उपकारी सिद्ध हो सकते हैं। एक के विकल हो जाने से दूसरी श्रेणि में विकलता हो जाना स्वयं-सिद्ध है। जब तक एक दूसरे से आदर पाता रहा, अन्योन्य के द्वारा सब संसार का समस्त कार्य सुधरता रहा। जब से एक से दूसरे को संकोच अर्थात् मैं ऊंचा हूं, यह नीचा है, ऐसे भाव उत्पन्न होने लगे, तब से आपस में ग्लानि, एक दूसरे की मान-हानि, कर्त्तव्य-पालन में अरुचि, व्यवहार में अशुचि, प्रेममात्रा में कमी, चित्त में चिन्ता से गर्मी, संप्रति जो दुर्दर्शन होरहा है उसका कारण जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था का अधिकार, विना विद्या प्राप्त किए भोजनादि व्यापार में सत्कार, हम को दान देने से जगत् का कल्याण होता है, ऐसी व्यर्थ कल्पना का प्रचार ही जान पड़ता है। अनायास सम्मान के प्राप्त होने से परिश्रमसाध्य विद्या का अभ्यास, यत्नसे सिद्ध होनेवाले आत्मा के उत्तम गुणों का विकास, सत्याधीन संसारमर्यादा को स्थिर

करने के मूलमंत्र विश्वास का सम्पादन कौन करे ? सृष्टिक्रम तो यह सिखाता है, उसका यह संकेत कि गौरव गुणों के पीछे हाथ आता है, बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है, वह मनुष्यसमाज गिर जाता है, वह जाति अपनी मानमर्यादा को स्वाधीन नहीं कर सकती। उस देश में क्लेशों का शनैः २ निवास होने लगता है, जो उपर्युक्त नियम से विरोध करता है ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों ने तो मनुष्यसमुदाय को इसी मार्ग में चलाया था, कि अपने २ कर्त्तव्य को पालन करते हुए आगे बढ़ो, प्राप्तव्य स्थान निकट है, हतोत्साह होकर भय मत करो, अपने उद्देश्य से विमुख होकर परस्पर मत लड़ो, अपितु उद्देश्य को स्थिर बनाने और कर्त्तव्य को यथार्थरूप में समझाने वाली विद्या का साथ मत छोड़ो इत्यादि युक्तिपथ का अनुसरण करने से मानवजाति का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्या ही विचित्र दर्शन है, कितना विपरीत विमर्षण है कि भारतीयजन प्रकाश की सहायता से प्राप्त होने वाली वस्तु को अन्धकार में ढूंढते हैं। स्वस्थचित्त से देखने वालो वस्तु को विकल वेदना में देखना चाहते है। अद्भुत अपवाद है, कितना दुःखप्रद संवाद है कि मेल से मिलने वाली अलौकिक शक्ति को परस्पर झगड़ों से लाभ करना चाहते हैं। हंसी है या बेबसी है। सरोवर में विकसित होनेवाला कमल शैलशिखर पर नहीं खिलता, सागर जल से तृषा का कष्ट नहीं मिटता, हिमालय कभी फूंक से नहीं हिलता। मेरे मित्रो ! कुछ तो सोचो कि तैल की आवश्यकता के लिए बालू भी कभी कोल्हू में पीड़ा जाता है ? कदापि नहीं। यह तो मनोमोदकोपभोग मात्र है, इस में शरीर की रक्षा करने

वाली शक्ति कहां? इसलिए सुनीति का यथार्थ रीति का सहारा लो। वह यह है कि जब तक कर्त्तव्य विषय का पालन न होगा, तब तक विशुद्ध यश हाथ न आएगा। सत्करणीय विषय का जब तक सत्कार न किया जायगा तब तक जनसमाज आदर न पाएगा। जन्मसिद्ध अधिकार मिथ्या यश है सब को प्रत्यक्ष है कि भारतवर्ष इस दोष से दूषित होकर विवश है। वेद का उपदेश तो विचारपूर्ण है, जो उसकी आज्ञा में चलता है वह सदैव दुःखभाव से उत्तीर्ण है, वैदिक सिद्धान्त तो वर्णव्यवस्था की व्याप्ति विश्वभर में बता रहा है। जिस देश में इसका सुन्दर अंश जितनी मात्रा में विद्यमान है, उतनाही उसका सुख साधनों से सम्मान है, और जितना अंश उसका जहां पर मलीन है उतना ही वह देश सुख से विहीन है। ब्राह्मणादि शब्द बड़े सुन्दर हैं, इनका अर्थ बड़ा ही गम्भीर है। जिस देश में अर्थ और अर्थी का समानाधिकरण है वह देश सुखी है, सम्पत्तिशाली है, अमीर है, और जो अर्थशून्य केवल नाम का अर्थी है वह धनहीन है, दुःखी है, फकीर है, उसकी बिगड़ी हुई तकदीर है॥

अब इन में से प्रथम ब्राह्मण की स्तुति की जाती है—

ब्राह्मणः खलु वेदपारगः विद्याप्रियः तपोधनः ॥१५६॥

खलु शब्द यथार्थ बात का संकेत करता है। वेद के आशय को ठीक जानने वाला, विद्या से प्रेम रखने वाला और तपस्वी, पवित्र-जीवन-विशिष्ट जो व्यक्ति हो, उस की ही ब्राह्मण संज्ञा हो सकती है। वेद का यथार्थ आशय आत्मदर्शन और परमेश्वर प्राप्ति है । जिन साधनों के द्वारा दोनों बातों की सिद्धि होती

है, उन साधनों का सम्पादन करना, जो अपना मुख्य कर्त्तव्य मानता और मध्य में आने वाले सांसारिक प्रलोभनों को अशुचि, मलिन और विषवत् जानता है, वेद की दृष्टि में वह ब्राह्मण है। सन्तसमागम, सद्गुणागम से भी मनुष्य वेदार्थ को प्राप्त हो सकता है, यह सत्य है, परन्तु उस में संसारसुधार की शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, इस लिये विद्याप्रिय इस शब्द का उक्त वचन में निवेश किया गया है, विद्या का विस्तार और अविद्या का तिरस्कार करना प्रकृत पद वाच्य ब्राह्मण व्यक्ति का कार्य हो जाता। विद्या ही मंगलमयी कल्याणी, सुखप्रसारिका, दुःखहारिका, विमलकीर्तिवर्धिका है, जो इस सद्विचार को फैलाने और इस के साधन सम्पादन करने में यथाशक्ति सर्व को उत्साह दिलाने और इस विचार को कार्य रूप में लाने के लिए सदैव सन्नद्ध रहता, वह ब्राह्मण है॥

ननु--सम्प्रति कई पुरुष विद्वान् तो देखने में आते हैं, जनसमुदाय से सन्मान भी पाते हैं, अच्छे पर्यङ्क पर शयन, सुरस आहार और मित्रवर्ग से विनोदार्थ आलाप करना अथवा कुछ पढ़ना पढ़ाना मात्र ही जिन की दिनचर्या का स्वरूप है, क्या वे ब्राह्मण नहीं हैं ? इस का उत्तर यही हो सकता है कि उस पद के जिस का निरूपण हो रहा है अधिकारी नहीं, इस कारण उक्त वचन में तपोधन शब्द का प्रवेश हुआ है। तब तक विद्या बलवती कदापि नहीं हो सकती जब तक तपोबल का साथ न हो। तब ही मनुष्य परोपकार करने में आगे बढ़ता है, तब ही बड़े विकट मार्गों से निकल प्राप्तव्य स्थान तक पहुंच जाता है। कठिन से कठिन कार्य इस से सिद्ध

हो सकता है परन्तु तप का संपादन करना ही सब से कठिन है । ब्राह्मण का यह स्वभाव हो जाता है कि सन्मान या अपमान से सन्मार्ग को कभी नहीं छोड़ सकता । संसार का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है, कि अनेक विचारशील विद्वान् जिन्हों ने संसार सुधार की प्रतिज्ञा की, और जिन के पास हिताहित मार्ग प्रदर्शक विद्या का प्रकाश भी था, जिन्होंने कुछ काल तक निर्वाह भी किया, परन्तु सांसारिक प्रलोभनों के सामने आते ही प्रतिज्ञा भङ्ग का किंचित् ध्यान न करते हुए फुटबाल की वायु निकलने के समान अपना स्वरूप बना लिया, और कई एक उपकार करने के स्थान में अपकार करने पर उतारु हो गए । अल्प पुरुष ऐसे होंगे कि जिनके सामने संसार के प्रलोभन आते ही अपनी सत्ता को खो बैठते हैं ॥

वाह ! क्या विचित्र जीवन है कि जिन का नाम श्रवण करते और जिन का जीवन वृत्तान्त ध्यान में आते ही मन में प्रमोदप्रवाह बहने लगता है, यदि उस का चित्र अन्तःकरण में खिच जावे, तो इस से बढ़ कर मनुष्य का और सौभाग्य क्या हो सकता है ? बस वह पुरुष ही ब्राह्मण पद वाच्य है । ऐसे महात्मा उदारजीवन, मृत्यु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले, समय २ पर सर्वत्र सर्व देशों में पाए जाते हैं, और उन के ही हाथों से मनुष्यसमाज का उपकार होता है । इस श्रेणि के मनुष्य प्रायः न्यून ही होते हैं, परन्तु सम्प्रति इस दल की वृद्धि देखने में आती है, कितने आश्चर्य की बात है । इतनी संख्या में ब्राह्मण हों तो क्या कोई देश कभी भी दुरवस्था को प्राप्त हो सकता है ? कदापि नहीं । मेरे मित्र ! जो स्वयं विद्यादि गुणों

से उपकृत नहीं है, उससे मनुष्यसमाज का क्या उपकार हो सकता है ? हां इसकी व्यवस्था इस प्रकार कुछ हो सकती है : यथा—जजी में एक जज न्याय करने वाला होता है, उसके ही नाम से वह स्थान प्रसिद्ध है, शेष सर्व मनुष्य जो वहां रह कर कार्य सम्पादन करते हैं, वह सब उसी श्रेणि के मनुष्य माने जावेंगे। किन्तु न्याय का करना, विवाद का मिटाना, अपराधी को उचित दण्ड देना, निरपराधी को मुक्त करना इत्यादि कार्य तो जज ही करता है। शेष में उसकी शक्ति का आभासमात्र है॥ इसी प्रकार यथार्थ ब्राह्मण तो उपर्युक्त गुण विशिष्ट ही होगा, उसके सहचार से यथाशक्ति उस कार्य का निर्वाहक होने से उक्त वर्ग में ही गणना हो सकती है। यदि कोई किसी से प्रश्न करे कि तुम कौन हो ? इसका उत्तर इतना ही होना ठीक है कि ब्राह्मण। इससे आगे बढ़ना कौन ब्राह्मण ? सारस्वत इस प्रकार के कदलीस्तम्भवत् निःसार प्रश्न करना जिनका न कोई परिचय है न पहचान, केवल क्लेश का निदान होरहा है। इनको उत्साह के साथ त्याग देना ही ठीक है, इससे बहुत ही झगड़ा और बखेड़ा खड़ा हो रहा है। भारतवर्ष की दीनता का यह प्रबल कारण है, इस व्यर्थवाद का आघात सम्प्रति इस देश पर ही हो रहा है। सर्व कार्य सब देशों में होते हैं, जो यथार्थ मार्ग का अनुसरण करते हैं वे हंसते हैं, जो विपरीत मार्ग में जाते हैं वे रोते हैं। जो पुरुष यथामति विद्याविस्तार और उपकार करने में लगे हुए हैं, यदि उनका सन्मान है तो ठीक ही है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि जिनके हाथों से संसार में कई प्रकार के उपद्रव हो रहे हैं और जनता अनेक प्रकार भ्रम-

जाल में फंस कर दुःख भोगभागी हो रही है, वह भी आनन्द कर रहे हैं ऐसी दशा में देश के सुधार की आशा क्या हो सकती है ?

अब इससे आगे क्षत्रिय शब्द की व्याख्या की जाती है—

क्षत्रियस्तु वीर्यवान् न्यायप्रियः रक्षणे कृतप्रयत्नः ॥१६०॥

"तु" शब्द उक्त वचन को निर्दोष सिद्ध कर रहा है, जिस व्यक्ति में यह विशेषण विद्यमान हों उसकी संज्ञा क्षत्रिय हो सकती है। उसका प्रथम विशेषण वीर्यवान् है, वीर्य नाम सामर्थ्य का है, सामर्थ्य नाम समानता का है। जो पुरुष सुख दुःख की प्राप्ति से हर्ष विषाद में नहीं आता, वह वीर्यवान् कहलाता है। समबुद्धि, समाहितमति में ही यह विशेषता होती है। अन्यमति की इस मार्ग में गति नहीं होती। वीर्यवान् शब्द का अन्य अर्थ भी है। वीर्य शरीरस्थ सप्तम धातु का नाम है। यही सन्तान उत्पत्ति का उपादान कारण है, इसका आनन्द प्रायः लोगों के अनुभव का विषय है। जो इसके वेग को रोक सकता है, जो इस को संभालने में समर्थ है, वह वीर्यवान् है, उसके चित्त में बड़ा ही हर्ष रहता है। कारण यह है कि प्रसन्नता का चित्र जिस आधार पर लिखा जाता है, वह इसके शरीर में विद्यमान है। वीर्यवान् शब्द का एक अर्थ और भी है, जो अपने भेद को गुप्त रखने में समर्थ है वह वीर्यवान् पुरुष माना जाता है। इस मन्त्र से जो संसार का उपकार हुआ है वह अकथनीय है। शरीरस्थ धातु के संभालने में जितना बल ख़र्च होता है, उतना ही भेद को सुरक्षित रखने में आवश्यक है, अत एव वीर्यवान् को बलवान् होना ही चाहिए। केवल इतने से ही क्षत्रियपद

वाच्य कोई नहीं बन सकता। इस लिए दूसरा विशेषण न्याय-प्रिय है। यदि उसको कोई वस्तु अपने सर्वस्व और जीवन से भी प्रिय है, तो वह न्याय अर्थात् पक्षपात रहित आचरण ही है। इस नियम ने संसार को जितना संभाला है उसका निरूपण करना बड़ा ही कठिन है, उसके फल को देखकर या शास्त्र द्वारा अवलोकन करने से ही सन्तोष हो सकता है। अन्य विद्या दानादि जितने सुनियम हैं, वह सब इस नियम को निर्दोष बनाने के लिये हैं और उसकी छाया में रहकर ही अन्य उपकारी सिद्ध हुए हैं। यह आत्मा का उच्चतम गुण है, जिसके उदय होने से साधारण पुरुष महान् हो जाता है, और उत्तम गति को पाता है। केवल वीर्यवान् और न्यायप्रिय के मेल से कोई क्षत्रिय नहीं बन सकता है। जब तक तीसरे विशेषण से विशिष्ट न हो जावे, वह है प्रजारक्षण में तत्परता। साधारण प्रजा अपनी रक्षा करने में सदैव असमर्थ सिद्ध होती है। प्रजा को निरुपद्रव बनाने के लिये शासन की आवश्यकता होती है, और जो इसको सुन्दर निर्दोष, सरल बनाने के योग्य होता है वह व्यक्ति क्षत्रिय पद वाच्य है, इस वचन में विद्याप्रिय और तपोधन इन दो शब्दों को अनुवृत्ति आती है, इसके विना संसार कभी मर्यादा में चल नहीं सकता। शासन ही के द्वारा असाधुकर्म का निग्रह और साधुकर्मों का परिपालन हो सकता है, इस कारण से ही वेदों में क्षात्रधर्म का बड़ी सुन्दर रीति से उपदेश किया गया है। प्रजा संरक्षणार्थ दोषों की निवृत्ति के लिए युद्ध करना, विजयावधि या शरीरावधि कभी भी पराङ्मुख न होना वीर्य-वान्, महान्, बलवान् राजा का मुख्य कर्त्तव्य है। क्षत्रिय भी

एक श्रेणि है। वास्तव में एक सेनापति (जिसकी शक्ति का संचार तत्काल सर्वसेना में हो जाता है और वह उसकी आज्ञा पालन में सदैव तत्पर रहती है, उसके विना सेना की सत्ता स्थिर नहीं रह सकती, समर्थ होने पर भी अपने बल को ठीक ठीक उपयोग में नहीं ला सकती) को ही क्षत्रिय कहना चाहिए। शेष में उसका सहचार से आरोप है॥

अब इससे आगे वैश्य शब्द की व्याख्या की जाती है जो संसार मर्यादा को साध्वी बनाने में तृतीय अंग है—

व्यापारविधाने पशुपालने कृषिकर्मणि निपुणत्वात् वैश्यः ॥१६१॥

व्यापार करने में जो पुरुष कुशल है वह यथार्थ वैश्य शब्द का अधिकारी है यह श्रेणि संसार के लिये बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होती है, इस के विना संसार के सम्पूर्ण कार्यों में शिथिलता आ जाती है, वस्तु लेन देन एक स्थान से स्थानान्तर में ले जाना हो या एक देश से देशान्तर में पहुंचाना हो, इस के निमित्त जिन साधनों की आवश्यकता हो, उन का जो सम्पादन करता है वह वैश्य संज्ञा का संज्ञी है। इस हेतु से पशुपालन में 'तत्परता' द्वितीयपद सूत्र में आया है। एक तो यह बात है कि गौ, भैंस आदि पशुओं से दुग्ध घृतादि स्वादु बलवर्धक पदार्थ प्राप्त होते हैं, जिन के सेवन से बुद्धिवृद्धि शरीर में पुष्टि होती और अन्य कई प्रकार के सुरस पदार्थ बनते हैं, बैल आदि भार वाहन, यान चालन में और कृषिकार्य में बड़े ही सहायक हैं। उष्ट्र तो रेतीले मैदानों में जहां बैल अश्वादि अधूरे सिद्ध होते हैं, बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ। बकरी ने दूध के अतिरिक्त एक स्थान से दूसरे स्थान को बोझा ले जाने के निमित्त विकट

पहाड़ों के मार्गों में कितना अच्छा काम दिया है । पर्वतों की भेड़ बकरियों ने अपनी ऊन से संसार का कितना उपकार किया है । ऐसा जान कर इन उपकारी पशुओं का पालन करना वैश्य का कर्त्तव्य है । सम्प्रति बुद्धि वैभव ने एक स्थान से स्थानान्तर को पदार्थ ले जाने, सागर आर पार आने जाने के मार्गों को बड़ा ही सरल बना दिया है । यह समस्त कार्य वैश्य वर्ग के मनुष्यों का है । पशुपालन विद्या का निर्माण, उन से उपकार लेने का ज्ञान, और उन के लिए सर्व प्रकार के खाद्यों का विधान वैश्यवृत्ति जनसमुदाय के ही आधीन होता है । जिस मनुष्य की इस कार्य में रुचि की वृद्धि होती है वह वैश्य कहलाता है । परन्तु व्यापार करने या पशु पालने से ही वैश्य का कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता, जब तक कृषिविज्ञान में निपुण न हो । कारण यह है कि इस के आश्रित प्राणिमात्र का जीवन है यदि अन्न ही उत्पन्न न होगा तब मनुष्य पश्वादि सर्व प्राणी अस्त व्यस्त हो जायेंगे । इस कृषि विद्या के ही सहारे जीवन हेतु अन्न और रोग निवारक औषधियें प्राप्त होती हैं । देशान्तरस्थ वैश्यबुद्धि रखने वाले अनुभवी पुरुषों ने दूध की मात्रा को कितना बढ़ा लिया । अश्वादि पशुओं को सबल बना शीघ्रगामिता में कितना आगे चला दिया । यह सत्य ही है जब मनुष्य का मस्तिष्क प्रथम तरतीब में आ जाता है, तब समस्त वस्तुओं के सुधार का प्रकार स्वयं ही सामने आता है, इस से पुनः धन की वृद्धि होने लगती है । व्यापार में लक्ष्मी का निवास है, पशुओं की धन ही संज्ञा है, मनुष्य अन्नादि धन परमात्मा के इस भूमि कोष से जितनी बुद्धि हो उतना ही

निकाल सकता है । इस कोष की सहायता से हां राजों महाराजाओं के ख़जाने भरपूर हैं । रजत सुवर्णादि सर्व प्रकार के रत्नों की दात्री पृथिवी ही है, इस भूगर्भविद्या के आविष्कार से संसार को लाभ पहुंचाना वैश्य वर्ग का काम है । यथार्थ पद वाच्य वैश्य वही है जो व्यापार, पशु पालन, कृषि करने, भूगर्भ विद्या, के जानने में बड़ा ही चतुर और धनोपार्जन करने में बड़ा ही निपुण और पुनः धन को धर्ममर्यादा संस्थापनार्थ दान करता है, अन्य तत्कार्य सहकारिता से वैश्य संज्ञा के संज्ञी हो सकते हैं। यह श्रेणि उपर्युक्त नियम की प्रधान्यता से बनती है, किसी का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। सर्वत्र इस की सत्ता का सद्भाव है ॥

श्रमजीवी सर्वकार्यसंयोगी सेवाकर्मणि निपुणश्चेति ॥१६२॥

शूद्र श्रेणि से संसार का बड़ा ही उपकार होता है, कोई भी कार्य यथार्थ रूप में न आवेगा जहां इस का तिरस्कार होगा। इस का प्रथम विशेषण श्रम जीवी है । जो पुरुष श्रमी होता है श्रम से जीवन निर्वाहक सामग्री को उपार्जन करता है, उसमें सहिष्णुता और सन्तोष की मात्रा कुछ अधिक होती है। मनुष्य परिश्रम के कारण नीरोग और स्वस्थ रहता है । मेरे मित्र! आप किंचित् ध्यान से देखें तो पता लगेगा कि परमात्मा की रचना में कोई भी पशु पक्ष्यादि श्रम से शून्य नहीं । यह नियम इस बात को दर्शाता है कि श्रम करने के पश्चात् यदि क्षुधा निवृत्ति के लिये आहार ठीक २ मिलता है, तो शरीर सबल और सुन्दर हो जाता है, इस लिये श्रम जीवी पुरुष दल को देख उन से प्रेम करना चाहिए । द्वितीय विशेषण "सर्व

कार्य सहयोगी" है, संसार का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जहां इस का सहयोग न हो, किसी श्रेणी का कोई भी कार्य पूरा न होगा, जब तक वह इस को साथ न लेगा। छोटे बड़े सब कामों में इस की व्याप्ति है, मकान को बनाओ या वाटिका को लगाओ, सेना का निर्माण करो या कहीं को पदार्थों का चालान करो, इन को ठीक बनाने के लिये हर प्रकार शूद्र-दल की आवश्यकता है॥

तीसरा विशेषण इस का सेवा कर्म में चतुर होना है। शास्त्रों में सेवा-धर्म की बड़ी ही प्रशंसा की है। वह पुरुष जिस ने सेवा-भाव को अपनाया है, यदि वह समझदार न होगा तो वह कार्य जिस को वह कर रहा है, कैसे ठीक होगा? इस से तो यह जान पड़ता है कि शूद्र यद्यपि विद्या वृद्ध नहीं होता है तथापि उस को इतनी समझ तो होनी ही चाहिए कि जिस से कार्य को निर्दोष बना कर अपनी सच्ची सेवा का परिचय तो दे सके। सेवा करना तो सर्वोत्तम कार्य है, इस से साधारण पुरुष महात्मा पद को प्राप्त कर सकता है। व्यर्थ के अभिमान में आ कर जब कोई देश इस कार्य को त्याग देता या बेदिली से करता है, तो वह अपने स्वरूप को बिगाड़ लेता है। जिस २ श्रेणि को जिस २ वस्तु की आवश्यकता हो, उस २ का सम्पादन करना शूद्र का ही काम है॥

सामान्य रूप से यह चार प्रकार का विभाग निर्दोष हो कर सुख का और सदोष होकर दुःख का कारण बन जाता है, परन्तु इस बात का पता लगाना अत्यन्त ही कठिन है कि आर्य-जाति जो वैदिक धर्म को मानती थी उस से कैसी भूल हुई?

जबकि वेद ने बड़ी ही सुन्दर रीति से मनुष्यशरीर का दृष्टान्त देकर बोध कराया था। इन चारों का सम्बन्ध परस्पर इस प्रकार है, जैसे एक मानव शरीर के मुख, बाहु, उरू और पाद चार अङ्ग हैं। मेरे मित्र! किंचित् तो विचार करो कि इनका कितना घनिष्ठ और सुन्दर सम्बन्ध है। जिस प्रकार मनुष्य को अपने सब अंगों से प्यार है, और सबको सबल बनाने में सदा उसका विचार है, ठीक इसी प्रकार संसार में मनुष्यसमाज के यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चार अङ्ग हैं। इनमें से न कोई अच्छा है न बुरा, सब समान हैं और एक को दूसरे का सन्मान है। भारतवर्ष में इस वर्णव्यवस्था के इस मिथ्याभिमान ने जो उपद्रव खड़ा किया है, जिस से दिनों दिन कष्ट बढ़ता जाता है वह अकथनीय है। यह सब अज्ञान की ही महिमा है। इतना कहने पर ही सन्तोष होना चाहिए। वर्णव्यवस्था के इस मिथ्याभिमान ने इसको प्रथम तो यह समझाया कि अमुक २ कार्य यथा कपड़ा सीना, जूता बनाना, झाड़ू लगाना, कपड़ा धोना, मल मूत्रादि स्थान का साफ करना, लकड़ी और लोहे आदि के कार्यों का करना निन्दित है, अच्छा नहीं। इसके पश्चात् यह समझा दिया कि जो इन कार्यों को करते हैं वह भी निन्दनीय होते हैं इस विचार से आर्यजाति वेदों से बहुत दूर हट गई। "अदीनाः स्याम" के स्थान में "दीनाः स्याम" मन्त्र का जाप किया और फल भी सामने आगया। सर्वप्रकार के क्रियाकौशल से विहीन होकर जब दुःख सामने आया तो पश्चात्ताप किया, परन्तु मिथ्या अभिमान को न छोड़ा। 'रस्सी जल गई पर बल न गया'॥

ननु-मुख, बाहु, ऊरू, पाद भिन्न स्वरूप वाले कभी कोई दूसरे के स्वरूप में नहीं बदलता ॥

वाह ! क्या बुद्धिमत्ता है। वेद तो दृष्टान्त फल की समानता में देरहा है, उसको आप आकृति की तुल्यता में ले रहे हैं। यदि सन्तोष के लिए वादी की बात को स्वीकार भी किया जावे, तो जगन्नियन्ता की ओर से प्रत्येक व्यक्ति में मुखादि चार अङ्गों का दान समान है, जिस से यह सिद्ध हो रहा है कि समय आने पर योग्यता के अनुकूल सब पुरुष सब कार्य करने के अधिकारी हैं। जिन देशवासियों ने वेद के इस संकेत को जान लिया और अनुष्ठान किया, वहां अभ्युदय का प्रकाश हुआ और जो इस से दूर हो गए, वहां ऐश्वर्य का सर्वनाश हुआ। यह सत्य है कि सुख मेल के खेल की सन्तान है ॥

अन्यदपि—

मिथः अन्योऽन्यसहयोगात् सुखसंवित्तिः,

व्यङ्गात् सुखमङ्गप्रसङ्गः ॥१६३॥

यह संसार का संवाद निर्विवाद है कि परस्पर एक दूसरे के संयोग में सुख का उद्भव है, अन्यथा व्यक्ति के अंग के बिगड़ जाने से सुख का भंग हो जाता है। कितनी दृष्टचर बात है जो सर्वत्र सुलभ है. परन्तु इस को देख कर लाभ तो वह ही उठा सकता है, जिस का कुछ ज्ञाननेत्र खुला हो। नेत्र के बन्द हो जाने से पुरुषों की गति स्वयं मन्द पड़ जाती है। पंगु पुरुष देखता हुआ भी भयभीत स्थान से किंचित् भी नहीं सरक सकता। घटीयन्त्र कई पुर्जों से मिलकर बना है। मूल्यवान् है, उसमें से किसी एक पुर्जे को पृथक् कर देने से उसकी कोई भी

कीमत नहीं रहती। अब आप ही जानलें कि पचास रुपए घड़ी की कीमत उसके ठीक मेल में है, या उसकी भिन्नता में। मनुष्य-समाज अंगी है, चारों वर्ण उसके अंग हैं। परमात्मा ने इसकी रचना ही इस प्रकार की है, एक अंग के पीड़ित हो जाने से शेष कार्य करने में विकल हो जाते हैं। भारत देश में ऊपर के वर्णों ने शूद्रों को तो घृणा की दृष्टि से देखा, परन्तु इस बात पर तो विचार करें कि ब्राह्मण के स्वरूप में दीनता, क्षत्रियों में बलहीनता और वैश्यों में धनक्षीणता कैसी आगई? यह सब उस ग्लानि का ही प्रतिफल है, जो अन्याय से सामाजिक पुरुष के एक प्रबल अंग को धिक्कारा। इस कारण से ही इस देश से स्वतन्त्रता ने किया किनारा। दूसरे देश के ब्राह्मण दुःखी को देख कर स्वयं दुःखी हो जाते हैं। उसको प्यार से पास बुलाते और उसके दुःख को मिटाते हैं, इसके विपरीत यहां क्या होता है, किसी की दुःखितावस्था को देख कर ध्यान में न लाते। भजन, भोजन, भक्ति एकान्त में ही होती है, यह बात सुनते हैं, इस विपरीत बोध ने उदारता को कृपणता, वीरता को कायरता, सद्व्यवहार को छल और सेवा भाव को निर्बलता में परिवर्त्तित कर दिया। इसी से वर्णव्यवस्था अनवस्थित हो गई। इस का सुधार करना आर्यसमाज का काम था, इस निमित्त से ही उसका जन्म हुआ, परन्तु वह असावधान नहीं, तो तत्सम अवश्य ही है इसलिए समय व्यर्थ जा रहा है, किसी ठीक काम में नहीं आ रहा॥

मनुष्यप्रवृत्तिदर्शनात् इतरस्य कार्यमितरत्र दृश्यते ॥१६४॥

मनुष्यप्रवृत्ति के देखने से यह सिद्ध हो रहा है कि एक

के कार्य को दूसरा और उसको तीसरा कर सकता है। यथा कोई पुरुष कभी किसी बात को चुप चाप बैठा हुआ यथामति सोचता है तो वह ब्राह्मण, और कभी सावधान होकर स्वयं या दूसरे को भय से बचाने के कारण यष्टिका लेकर आगे बढ़ता है तो क्षत्रिय, और जब वह किसी वस्तु के लेन देन के सम्बन्ध में बात चीत करता है तो वैश्य, और जब भोजन शयनादि निर्माण का कार्य अपने या दूसरे के निमित्त करता है तो शूद्र के कार्य का सम्पादन करता है। इस से यह जान पड़ता है कि जिस गुण ने प्रधान रूप धारण करके अन्य को गौण बना दिया, वही उसकी संज्ञा हो गई। अत एव ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कई एक गुणसमुदाय की संज्ञायें हैं। उसका निवेश जिस २ व्यक्ति में विशिष्टरूप से हो जाता है, वह व्यक्ति उस संज्ञा का भागी हो जाता है, इन में न कोई बड़ा न कोई छोटा, ग्लानि करे जो वही जन खोटा॥

निष्कर्ष—विद्या विस्तार और धर्म प्रचारार्थ जो अच्छे नियमों को बनाता है वह ब्राह्मण है। उन नियमों का जो प्रजा के सबल बनाने में निमित्त हों, बल से जो अनुष्ठान कराता है वह क्षत्रिय है। सद्व्यापार से जो प्रजाहित के लिये पशु, कृषि, वाणिज्य को बढ़ाता है वह वैश्य है। कला कौशल अथवा शारीरिक काम से जो प्रजा का हित करता वह शूद्र है। यह सत्य है जिस ने इस वैदिकी मर्यादा को त्याग दिया, फिर लौकिक ऐश्वर्य ने उस का साथ न दिया। अत एव यदि भारत निवासी अपने को संभालना चाहते हैं तो इस मिथ्या अभिमान के त्यागने में यत्न करें। पश्चात् सन्मार्ग दृष्टि पथ में आवेगा।

यह साधारण बात नहीं इस के लिये श्रम की आवश्यकता है। इस विशेष कर्त्तव्य बोधार्थ सामान्यधर्म का जो मनुष्यमात्र के लिये समान है निरूपण करना उचित जान पड़ता है—

धर्मोऽपि पुरुषगुणः प्रियसुखमोक्षहेतुः ॥१६५॥

अपि शब्द निश्चयार्थ है। धर्म पुरुष का गुण है, जो इस के प्रिय सुख और मोक्ष का हेतु है। इस वचन में पुरुष शब्द से आत्मा का ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को जो प्यारा हो, वह धर्म नहीं, प्रत्युत आत्मा के निमित्त जिस नियम में प्रिय कारकत्व हो वह धर्म है, यह विषय कुछ विचारास्पद है॥

मेरे मित्र! आप विचार करें कि मनुष्यों को जो प्रेम धन में है, वह धन के लिये है, अथवा अपने लिये? धन के लिये यदि धन में प्रेम होता तो फिर इस का त्याग न किया जाता। निदर्शन तो यह है कि कोई धन के संग्रह में प्रेम जानता, और दूसरा उस के त्यागने में आनन्द मानता है, अत एव धन प्रेम की वस्तु नहीं, किसी अंश में प्रेम का साधन कहना ठीक होगा। इसी प्रकार इस नियम को आप सर्वत्र घटा सकते हैं। पिता को जो पुत्र में प्रेम है वह उस के निमित्त से नहीं किन्तु आत्मा के लिये है। स्त्री को जो पति में और पति को पत्नी में जो प्रेम है, वह तत् तत् निमित्त से नहीं, किन्तु अपने लिये है। अब आप किंचित् और समीप हो कर देखें कि मनुष्य को जो शरीर में प्रेम है वह क्या इस के लिये है? नहीं अपितु आत्मा के लिये है। इस से तो यह सिद्ध होता है कि धन, स्त्री, पुरुष पुत्र से पृथक् आत्मा ही प्रेमास्पद है, अन्यत्र इस के प्रेम का अध्यासमात्र है, उन के स्वरूप में प्रेम की कोई मात्रा नहीं है।

यह गोरखधन्धा किस की समझ में आ सकता है ? जब तक अध्यास न टूटे । साधारण जन तो इस प्रकार की बातें सुनने सुनाने वालों को पागल कहते हैं, कोई कुछ कहो यह बात मिथ्या नहीं हो सकती। दो और दो चार हैं। बस वह नियम जो आत्म-साक्षात्कार का परंपरा सम्बन्ध से हेतु हो जाता है, उस का ही नाम धर्म है, और सांसारिक सुख अर्थात् अनुकूल वेदनीयता का उत्पादक और इच्छापूर्त्ति का साधन है। आत्म साक्षात्कार से यदि पुरुष वीतराग हो जावे तो वह धन्य है। यदि एतावत् गति न हो तो भी राग द्वेष से वियुक्त, नेत्रादि इन्द्रियों से जो रूपादि विषयों का उपभोग करता है, उस की आत्मवशी संज्ञा है और सच्ची प्रसन्नता का वही पात्र है, यह गीता का अनुशासन है। साधारण पुरुषों के जाने का यह मार्ग नहीं, कोई स्थिरप्रज्ञ विरला पुरुष इस पथ पर गति करता है। अन्याय से दूर रहना आत्मवशी पुरुष का स्वभाव होता है॥

इतने पर ही धर्म की व्याख्या समाप्त नहीं होती । जो नियमप्रियता और लौकिक सुख साधन सहित देहावसान के साथ मोक्ष प्राप्ति का साधन हो, 'वह सर्वांग पूर्ण धर्म है। इस को ही कणाद महात्मा ने अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि का हेतु बताया है, जो ठीक ही है। यदि लौकिक सुख साधनसहित पुरुष को मोक्ष का ध्यान न हो तो वह संपत्ति चिरस्थायी नहीं होती है । यदि कुछ काल स्थिर भी रहे, तो उस से सुख की प्राप्ति नहीं होती । उस सम्पत्ति के साथ आलस्य, प्रमाद, अभिमान का सहचार और जघन्य जनों का सहवास हो जाने से वह दूसरों की विपत्ति का कारण बन जाती है, जिस से

लोकापवाद और भय से अन्तःकरण में चिन्ता ही चक्र लगाती रहती है। अनिष्ट कर्म फल भोगार्थ संसार का प्रवाह बड़े वेग से बहता है, अत एव जिस के मन में मोक्ष की जिज्ञासा होती है तन, मन, धन से परहित चिन्ता करना उस का स्वभाव बन जाता है। अनिष्ट-चिन्ता और मोक्ष की जिज्ञासा, इन दोनों का सहवास कदापि नहीं हो सकता। अत एव धर्म वही हो सकता है जो लौकिक सुख के साथ मोक्ष का साधन हो। वह यह है—

१—ईश्वर-चिन्तन।

२—श्रद्धा।

३—दया—यथाशक्ति परदुःखनिवारण, सुखोत्पादन में उत्साह करना।

४—इन्द्रिय दमन—कामादि अन्तः विकारों को दबा कर सन्मार्ग में चलाने के लिए सदैव प्रयत्न करना।

५—कर्त्तव्य पालन में रुचि।

६—जीवन मृत्यु की यथार्थ पहचान।

७—निर्भयता।

८—सत्यता।

९—सहिष्णुता।

१०—उदारता विश्व-प्रेम।

११—जीवन को नियमित बनाना।

१२—पवित्रता से प्रेम।

१३—कार्यारम्भ में परिणाम दर्शन का स्वभाव। इस सामान्य धर्म का पालन करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है यही विशिष्ट नियमों को विधिवत् पालन करने की आधार भूमि है।

जितने अंशमें इनकी सत्ताका सद्भाव होगा, उतनी ही सुन्दरता से मनुष्य अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करेगा। प्रथम माता पिता बालकों को इन सामान्य नियमों को सुनाने और पश्चात् उन के महत्त्व को समझाने का शनैः २ ध्यान देते रहें, इस के पश्चात् आचार्य इन नियमों के अनुष्ठान कराने में सुयत्न करे। मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये इनकी बड़ी ही आवश्यकता है इन में जितनी त्रुटि रहती है, मनुष्यपन में उतनी ही न्यूनता हो जाती है॥

सम्प्रति जो वर्णव्यवस्था अव्यवस्थित हो रही है उसका मुख्य कारण इन सामान्य नियमों का जो सर्व प्रकार के कार्यों को सफल बनाने में सहायक हैं, बिगड़ जाना ही सिद्ध हो रहा है। नियम के उल्लंघन में अनर्थ की उत्पत्ति का होना सम्भव ही है। जब यह सामान्य नियम साधारण आयु में जीवन के साथ मिल जाते हैं, तब विशेष नियमों का अनुष्ठान विशेषावस्था में बड़ा ही सुगम हो जाता है। यह प्रत्यक्ष वाद निर्विवाद है। क्रमप्राप्त अधर्म शब्द की व्याख्या भी धर्म के विपरीत समझ लेनी चाहिए। इस से मनुष्य बन्धन में आता है। इससे सुख की मात्रा घटकर दुःख बढ़ जाता है। जन्म मरण के प्रवाह से निकलने नहीं पाता, ईश्वर से विमुख कर देना इसका स्वभाव है। इसके प्रकोप से ही मनुष्य-समाज अनेक भागों में विभक्त होकर अपनी शक्ति को अपने हाथों से खो देता है, अधर्म के आधीन होकर मनुष्यजाति रागद्वेष से दूषित हो तत्त्व पक्षपात से रहित हो जाती है। यह विपरीत मार्ग प्राप्तव्य स्थान से जब मेल नहीं करता, तब उसको पुनः भटकना ही पड़ता है। यह

बात विचारणीय है, कि कोई अति विरला ही मनुष्य जो प्रभु-कृपा का पात्र हो याथातथ्य धर्म पालन में शक्त होता है। वह महात्मा उदारात्मा है, अन्यथा जितनी मात्रा में धर्म का सेवन करेगा उतना ही सुख और जितने अंश में अधर्म का साथ देगा उतना दुःख प्राप्त होगा। धर्म सुख का कारण और अधर्म दुःख का निदान है यह जानना चाहिए ॥

अब वर्ण विचार के अनन्तर आश्रम का निरूपण किया जाता है—

ब्रह्मचर्यमेव आधारभूमिः इतरेषामिति ॥१६६॥

ब्रह्मचर्याश्रम जिसको विद्यार्थी-जीवन भी कहते हैं वह गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की आधारभूमि है। इसके प्रताप से ही अन्याश्रमों का प्रासाद, सौन्दर्य में आकर अपनी शोभा को दिखाता है। इसके विकल हो जाने से बिगड़ जाता है अत एव उसकी रक्षा में मनुष्यसमाज सुरक्षित होता है। जिस प्रकार वेद ने मनुष्यसमुदाय को लोक-निर्वाहार्थ चार भागों में विभक्त किया है, ठीक इसी प्रकार एक मनुष्य को चार आश्रमों में अपनी आयु के बिताने की शिक्षा दी है। इन आश्रमों का यदि सुरीति से पालन किया जावे तो इन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षप्राप्ति का साधन बताया है। शिक्षा बड़ी सुन्दर है, मार्ग बड़ा स्वच्छ है, उपदेश बड़ा हितकर है, तथापि सर्व मनुष्यों की रुचि इस ओर हो जावे यह नियम नहीं हो सकता। कारण यह है कि अनादि भोगवासना बलवती मध्य में प्रतिबन्धक है। ब्रह्मचर्याश्रम का पालन तो ईश्वर-आज्ञा और राजशासन के अधिकार से यथाशक्ति सब को ही करना

चाहिए ॥

ब्रह्मचर्यमेव परमपुरुषार्थसाधनमिति ॥१६७॥

इति शब्द इस विषय का प्रकाशक है कि वेदादि सर्व शास्त्र इस नियम का आदर कर रहे हैं और सृष्टि के सर्व विद्वान् इससे सहमत हैं। ब्रह्मचर्य ही यदि उसका सांगोपांग पालन किया जावे तब यह परम पुरुषार्थ अर्थात् ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष सुख का साधन है, इसके प्रताप से ही यज्ञादि अन्य शुभ कार्य सफल होते हैं। संसार के समस्त कार्य जिस में प्रकृति सौन्दर्य की झलक दिखाई देती है, वह सब इसके प्रताप की ही महिमा है, और इसकी सहायता से विहीन होकर कोई भी कार्य सशक्त नहीं हो सकता। इस नियम का पालन करना जितना कठिन है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यह नियम गुप्त है, तथापि अपनी महत्ता को स्फुट दिखाता है। शत्रुओं पर विजयी होना इस का ही काम है। इतिहास जहां २ किसी की सुन्दरता अथवा किसी की ख्याति या प्रशंसा का व्याख्यान करता है, वह सब इसका ही सुनाम है। इस नियम के प्रधान स्थान भारतवर्ष में ही इसका ह्रास देखकर मन में बड़ा ही संकोच होता है। ऋषि दयानन्द जी महाराज ने इस को सबल बनाने में बड़ा ही यत्न किया, और स्थान २ पर इस की महत्ता को दर्शाया। इसके सुधरने में समस्त कार्य सुधर जाते और इसके बिगड़ने में बिगड़ जाते हैं। बड़े ही करुणामय शब्दों में बताया। भारतवासियो! यह हो तुम्हारा मित्र तुम्हारे पास नहीं, जिस कारण तुम्हारी सब आशायें निराशा में परिवर्तित हो रही हैं। इस लिए यदि दुःख से बचना और सुख को प्राप्त

करना चाहते हो, तो पुनः अपनी भूल पर पश्चात्ताप करते हुए इसको अपनाओ, इससे सुखी और यश के भागी बन जाओगे। यह सब कुछ हुआ परन्तु देश की दृष्टि में अभी तक सन्मार्ग नहीं आया, बनावट ने घेर ही लिया। बाल्यपन के अभ्यास में ही अच्छे गुण विद्याबल का निवास है। बालक स्वयं तो अपनी लाभ हानि को नहीं जानता, अब यदि माता पिता उसको अभ्यास न करायें तो वह समय उसका खेल कूद में निकल जावेगा, फिर उस अवस्था में जब कि जन प्रकृति स्वाभाविक सुख साधनों को चाहती है, विचार हीनतासे न तो धनोपार्जन की शक्ति, न परहित में अनुरक्ति, न ईश्वर भक्ति ही यथार्थ रूप में हो सकती है। इस कारण से बाल्यपन में विद्याभ्यास करना सर्वदा सर्वत्र अल्प या विशेष रीति से प्रचलित ही रहता है। यदि यह मार्ग विशुद्ध परिमार्जित हो जावे, तब तो जन-समाजका बड़ा ही कल्याण हो जाता है, अन्यथा साधारण रीति से जीवन निर्वाह होता है। विद्याहीन समाज की सत्ता स्वतन्त्र नहीं हो सकती है, उसको विद्वान् समाज के आधीन होना ही पड़ता है। इसलिए विद्याभ्यास कराने के स्थानों का नाम कहीं मकतब, मदरसा कहीं स्कूल, कहीं कालेज और कहीं पाठशाला गुरुकुलादि प्रसिद्ध है। इनमें अनेकविध विद्याओंके साथ २ उपयोगी शिक्षा भी होती थी। यथा रहन सहनकी रीतिको बताना, परस्पर प्रेमभावके वर्त्तावके लाभको दर्शाना, परस्पर बोलचाल में मृदुता और गम्भीरता का आना, शुद्ध स्थान, वस्त्रविधान और स्नान के लाभ को समझा कर अनुष्ठान करना, मानसिक पवित्रता और बुद्धि की विचित्रता को जगाना, समयानुकूल सेवाभाव

को मन से कभी भी न भुलाना, समयोचित व्यायाम से शारीरिक बल को बढ़ाना और जो व्यसन इस मार्ग में बाधक हों, उनको यत्न से हटाना आदि होता था। विद्या के साथ २ इस प्रकार की योग्यता का आना अच्छे समझदार विद्वान् गुरुओं के सहवास में ही होता था। गुरु और आचार्य पद का अधिकारी वह ही हो सकता है जिसको अपने पुत्र और शिष्य में कोई भेद प्रतीत न हो, गुरु ठीक वही होता है जो शिष्य की ख्याति में अपनी ख्याति को देखता है, शिष्य की योग्यता में ही अपना सर्वस्व जानता है। यह कार्य कठिन है साधारण नहीं। यह तबही पूर्ण हो सकता है जब आचार्य में आलस्य और प्रमाद का पंक न हो। सद्गुरु का स्वभाव इस प्रकार होना चाहिए, कि वह अपने रहन सहन, बोल चाल में किसी प्रकार भी ऐसी बनावट को न लावे, जिसका प्रभाव शिष्यवर्ग पर कुभाव को उत्पन्न करे। यह बड़ी ही जिम्मेदारी का कार्य है जो इसको असावधानी लापरवाही से करता है, वह इसके योग्य नहीं। बाल्यावस्था में जब कि उनका अन्तःकरण स्वच्छ, पवित्र, कुसंस्कारों से रहित होता है, उनके संभालने और सुधारने का भार जिस ने अपने हाथों में लिया है, उसको बड़ा ही चरित्रवान् आत्मवशी होना चाहिए। उसने जाति के मन्दिर को सुन्दर बनाने के लिये प्रथम उसकी बुनियाद (आधारभूमि) को ठीक बनाने की प्रतिज्ञा की है, उसको यह ध्यान होना ही चाहिए कि मूलभूमि के सीधे सरल, सुदृढ़ होने में ही प्रासाद में स्थिरता और प्रकृति सौन्दर्य आता है, अन्यथा उसके सदोष हो जाने से इमारत निर्दोष नहीं होती। कोई भी वृत्त जिसकी

मूल शाखा निर्दोष न हो, मनोरमाकृति नहीं हो सकता, उसके अच्छे फल पुष्प कदापि देखने में नहीं आते हैं, इस प्रकार शिक्षा के बिना विद्या कभी भी बलवती नहीं होती ॥

भारतवर्ष में विद्या का तो कुछ विस्तार हो रहा है, परन्तु शिक्षा की न्यूनता से वह कुछ लाभदायक सिद्ध नहीं हो रही। किसी कार्य में प्रयत्न करने से यदि उसका फल अनुकूल न हो तो ग्लानि और मानहानि के बिना और हस्तगत क्या होगा ? इसी प्रकार विद्याप्राप्ति के पश्चात् यदि उसका फल प्रत्यक्ष न हो, तो वह किंवदन्ती का ही निमित्त होती है, और लोगों का उत्साह विद्या-प्राप्ति में मन्द पड़ जाता है। विद्या के साथ २ यदि शिक्षा ठीक है तो उसका फल यह होगा—प्रथम विनय, सुशीलता, नम्रता, उदारता, पात्रता, द्वितीय अन्तःकरण की पवित्रता, प्रसन्नता, आस्तिकता, तृतीय धनोपार्जन की शक्ति और उसको धर्म कार्य में लगने की बुद्धि और रुचि, चतुर्थ सुख दुःख, लाभहानि में विकल न होने का स्वभाव, पंचम सत्कर्मों के फैलाने और मन्दकर्मों के दबाने में उत्साह, षष्ठ लोकहित में अपना हित समझना इत्याकारक विद्या गुणों के पश्चात् सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है। यह सत्य ही है कि इस प्रकार के गुण तो किसी ही व्यक्ति में आ सकते हैं सब में नहीं। यह भी ठीक है कि इसी नीति के लोकोत्तर पुरुष संसार सुधार में अग्रणीय होते हैं प्रत्येक नहीं। परन्तु यह तो होना ही चाहिए कि विद्या-प्राप्त पुरुष अनिष्ट चिन्ता, व्यर्थवाद, आलस्य प्रमाद, स्वार्थादि दोषों से तो दूर रहे। इसमें भी जनसमुदाय का हित है परन्तु आश्चर्य तो यह है कि जब पढ़े हुए अर्थ को त्याग

करके अनर्थ में जाते हैं यह सब विद्या के अङ्ग भङ्ग का ही फल है, अत एव विद्या शिक्षा प्राप्ति के लिये लगभग आठ वर्ष के बालक को गुरुकुलादि स्थानों में भेज ही देना चाहिए। सन्तान का इसमें ही सच्चा हित है, विद्या से जो मनुष्य को लाभ होता है इतनी संसार की कोई भी वस्तु हितकर सिद्ध नहीं हुई है। यदि माता पिता इसमें संकोच करते हैं तो वह शत्रु के समान हैं॥

प्रश्न—क्या जब बालक को विद्याभ्यास में लगाया जाता था तो वह विद्यासमाप्ति तक कभी घर में नहीं आता था?

इसका उत्तर यही है कि यह नियम सदा सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। प्राचीन काल में अल्प वयस्क बालकों के लिये विद्याभ्यास के स्थान, जहां का जल वायु समान होता था, छोटे २ तीन ग्रामों के मध्य में, बड़े ग्राम अथवा नगर के किसी पार्श्वभाग में बना लेते थे। प्रत्येक स्थान के साथ छाया-दार वृक्ष, अल्पपुष्प-वाटिका, जलाशय और खेलकूद के स्थान बड़े ही मनोहर होते थे। उनकी देख-भाल में पूरा ध्यान दिया जाता था, किसी भी बालक को अवकाश मिलने पर एक मील से अधिक मार्ग नहीं जाना पड़ता था। लोग स्वयं विचारशील होते थे, उन स्थानों पर आने के लिये सर्व उपद्रवों से रक्षा करना उनका स्वभाव था। कभी २ माता पिता आदि वहां जाकर स्वयं देख आते थे, विना निमित्त के कोई पुरुष भी वहां नहीं जाता था। इतनी साधारण शिक्षा सब के लिये अनिवार्य थी, अधिक विद्या प्राप्ति के निमित्त देशान्तर में जाना और समाप्ति तक वहां ही रहना उसके पश्चात् ही गृह को आना

होता था ॥

प्रश्न–क्या उनके वस्त्र पीतवर्ण होते थे ?

उत्तर–यह समयानुकूल जैसा चिह्न बना लें वैसा ही बन सकता है कोई नियम नहीं, किन्तु वस्त्र वही ठीक है जो शरीर के लिये हितकर हो और भद्दा प्रतीत न हो ।

प्रश्न–क्या ब्रह्मचारी को जटिल रहना चाहिए या मुण्डित ?

उत्तर–यह किसी समय की प्रथा होगी, अब भी कहीं २ देखा जाता है परन्तु अब इसकी अनुकूलता सिद्ध नहीं होती यह बात तो ठीक है कि विद्यार्थी जीवन बड़ा ही पवित्र है, इस में अधिक बनावट का होना हानिकारक है ।

प्रश्न–क्या सब ब्रह्मचारीभिक्षा वृत्ति से विद्याभ्यास करते थे ?

उत्तर–किसी २ स्थान को छोड़कर सर्वत्र यह नियम काम नहीं करता था । विश्वविद्यालय राजशासन या प्रजा की सहायता से सुनियम में चलते थे, परन्तु किसी विद्यार्थी को यह भान नहीं होता था कि मेरे घरवाले मुझे सहायता देरहे हैं । उस समय की जनता दिखावट और बनावट से दूर रहती थी । उसको यह ज्ञान था कि गुप्त सहायता ही बलवती होती है परन्तु सम्प्रति इस रोग से प्रायः सभी रोगी देखे जाते हैं इस लिए जैसा दाम वैसा काम हो रहा है । यत्न से विद्याभ्यास करने पर भी सब विद्वान् हों, सबकी मति तुल्य हो यह न कभी हुआ है और न होगा । पूर्वादृष्ट जन्य संस्कारों के भेद से वर्त्तमान काल में अवश्य भेद होगा, जिस किसी विद्यालय से कोई

भी ब्रह्मचारी विद्या और तप के साथ योग्यता को प्राप्त करता था, वह संसार के लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता था, विश्वजन उसका बड़ा ही आदर करते और उसके दर्शाए हुए मार्ग पर चलने में अपना सौभाग्य मानते थे। ऐसा न होने पर भी सत्या-सत्यका ज्ञान, अपने हिताहित का ध्यान तो सब को ही हो जाता था, अत एव बाल्यपन से विद्याभ्यास करना आवश्यक है ॥

प्रश्न—क्या शिखा और यज्ञोपवीत धारण करना भी आवश्यक है?

उत्तर—समय के हेरफेर से इन शब्दों का अर्थ और इस की प्रक्रिया ठीक उपलब्ध नहीं होती है, इसलिये इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न २ प्रकार से मिलते हैं जो जनता के लिए रुचिकर प्रतीत नहीं होते। शिखा-शिखर यह दोनों शब्द समानार्थक हैं। शिखर नाम ऊंचे स्थान का है। शरीर में शिर ऊंचा है उसपर केशों का रखना, सर्वथा मुण्डन न कराना ही शिखापद वाच्य है उसका प्रकार क्या होना चाहिए? यह निश्चय नहीं हो सकता। समयानुकूल यथारुचि इस बात का प्रचार होता है। विचारने से यह भी प्रतीत होता है कि कभी मनुष्यसमाज को मुण्डन कराने में रुचि हुई, समस्त केशों को मुंडाना ठीक न जान कर कुछ केशों को शिर के मध्य या किसी अन्य भाग में रखना उचित जाना। वह शब्द शनैः २ शिखामें रूढ़ हो गया ॥

इस प्रकार की साधारण पद्धतियों में परिवर्त्तन होता ही रहता है, अत एव इसपर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं। लोकरुचि भिन्न २ हुआ करती है, और कभी २ इन साधारण

बातों को इतना बताया गया कि लोक आन्तरिक सद्विचारों को भूल कर इनको ही सर्वोपरि मानने लगे, जिन से अनेक प्रकार के उपद्रवों का उत्थान हो कर मनुष्यसमाज दुःख का स्थान हो गया। यज्ञोपवीत भी एक प्रकार की प्राचीन रीति है वास्तव में यह पद्धति कब से कैसे प्रचलित हुई? ठीक ठीक पता लगाना कठिन है परन्तु उपनिषदों में जो लगभग पांच सहस्र वर्ष के व्याख्यान हैं उन में 'सत्यकाम' एक ब्रह्मचारी अध्ययनार्थ हारिद्रुम गौतम ऋषि के पास गया, किसी प्रश्न का उत्तर यथार्थ देने से आचार्य ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम ब्राह्मण स्वभाव हो, आओ तुम्हारा उपनयन करा कर अध्यापन कार्य प्रारम्भ करें, इससे यज्ञोपवीत धारण करना सिद्ध होता है। यज्ञोपवीत ऋषिमुनियों द्वारा आदिष्ट होने से सब आर्यों का उपादेय है परन्तु शुभकर्मानुष्ठान करने से ही इस की वास्तविकता है। प्राचीन आर्य जाति की पठन पाठन के समय (आचार्य अपने हाथ से ब्रह्मचारी के गले में यज्ञोपवीत डालता था) यह रीति थी इतना ही नहीं प्रत्युत तात्कालिक जनसमाज इस के साथ सुनियम पालने में तत्पर हो जाता था। सम्प्रति उसके विपरीत है इसका नाम व्रतबन्धन भी है आचार्य इसके साथ ब्रह्मचारी को विद्वान्, योग्य, गुणवान् बनाने और वह गुरु की आज्ञा पालन करता हुआ स्वयं योग्य बनने में संलग्न हो जाता था। क्या ही अच्छा समय था? कितना विद्या का मान था, विद्यार्थियों की आचार्य में कितनी ही श्रद्धा थी परस्पर सतीर्थ्यवर्ग में अत्यन्त ही प्रेम था। समानता के कारण कोई भी उससे अपना बल नहीं बढ़ा सकता था, सबका उद्देश्य

एक था अनेकता ने एकता की शरण में ही रहना स्वीकार कर लिया था। आचार्य को शिष्यवर्ग के साथ अपने प्राणों से भी अधिक प्यार था, इन कारणों से वे दिनों दिन सूर्य किरण से चन्द्र के समान उन्नति करते जाते थे आलस्य, प्रमादादि दोषों को समीप नहीं आने देते थे। क्या कहें विचित्र है सत्य होकर मिथ्या प्रतीत हो रहा है। सम्प्रति जो कई एक त्रिक के साथ अन्वय करके यज्ञोपवीत के लाभ बताए जाते हैं, वह रुचिकर सिद्ध नहीं हो रहे हैं। यथा जीव, ईश्वर और प्रकृति का ज्ञान, माता पिता और आचार्य का सन्मान इत्यादि, जब कि धारण करने वालों में इस योग्यता की कोई प्रतीति ही नहीं होती। यदि कोई किसी अंश में है, तो बिना इसके धारण किए देशांतरों में बहुत अच्छे पुरुष हैं, अत एव यह यज्ञोपवीत का नियम भी एक देशी सिद्ध होता है सर्वदेशी नहीं, जिस समय की यह प्रथा थी उस समय और आजकल में बड़ा भेद हो गया है। यथा इदानीं द्रव्य के लेन देन में प्रथम ब्याज का तय करना, स्टाम्प का लगाना, किसी से लिखाना दो गवाहों को बनाना इतने पर भी झगड़ों का हो जाना प्रत्यक्ष है, उस समय में गुप्त रूप से लेजाना और उसी प्रकार देजाना, इन्कार का कभी भी ध्यान तक न आना, न किसी को दिखाना, न झगड़ों को बढ़ाना प्रसिद्ध है। इस समय किसी ने कोई वस्तु किसी को दान करनी हो तो रजिस्ट्री कराओ, गवाह बनाओ और कई दिन तक कचहरी में चक्कर लगाओ। यदि कुछ समय के पश्चात् स्वार्थ आ घेरे तो मुनकिर होकर अदालत में जाओ, मिथ्या साक्षी बनाकर झूठ को फैलाओ और उस समय क्या था!

दान का ध्यान आते ही पांच पुरुषों के सामने हाथ में जल लेकर छोड़ दिया बस फिर उस दी हुई वस्तु का 'यह मेरी है' ध्यान तक नहीं आता था। पाठक ही विचार लें कि सरलता और साधुता किस में है? कहने की आवश्यकता नहीं, ठीक इसी प्रकार पुरा काल में यज्ञोपवीत धर्म का चिन्ह मान कर धारण करते और धर्म मार्ग में चलते थे। प्रायः ऐसी बातें देखने या सुनने में आती हैं कि कोई सेनापति विजयार्थ ऐसी प्रतिज्ञा करके गले में माला या हाथ में कोई सुचिह्न बांध कर प्रतिज्ञा करता है, कि जबतक मैं विजयी न हो लूं तब तक इस चिह्न को न उतारूंगा। तद्वत् यज्ञोपवीत परिधान भी शुभकर्मानुष्ठान करने के लिए प्रथा है। अब पुनः प्रकृत विषय का अनुसरण किया जाता है। उपनिषदों में शरीर सहित आत्मा को यज्ञ बताया है इसको सबल और पवित्र बनाने के लिए सत्यादि व्रत नियमों का यथेष्ट पालन करना ही यज्ञोपवीत कहलाता है, इसके आरम्भ करने के समय आचार्य स्मारक रूप में यह सूत्र गले में डाल देते थे, परन्तु अन्तःकरण विशुद्ध विचारों के बिना केवल बाह्य चिह्नमात्र से ही उत्कर्ष मानना कहां तक ठीक हो सकता है॥

अन्यदपि—

चरणे ब्रह्मचारिणी ॥१६८॥

यह महात्मा पाणिनि जी का सूत्र अष्टाध्यायी में है। ब्रह्म—वेद ज्ञान इस के अध्ययन या वृद्धि के लिये जिन व्रतों का विधान है, उन का जो आचरण करता है उस की ब्रह्मचारी संज्ञा है। वह सब मुख्य रूप से सत्य, स्वाध्याय और ईश्वरो-

पासनादि ही हो सकते हैं, यज्ञोपवीत पीतवस्त्रादि सब गौण ही हैं॥

यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ॥१६६॥

यह उपनिषद् का वचन है, इस का आशय यह है कि यदि कोई वस्तु अविनश्वर (जिस का नाश नहीं होता) है तो वह ब्रह्मचर्य ही है, अर्थात् इस के प्रताप से यदि इस नियम का यथार्थ रूप से अनुष्ठान किया जावे तो ज्ञान का उदय हो कर नित्य मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है अन्यथा कोई उपायान्तर नहीं है। इस लिये उपचार से ब्रह्मचर्य साधन में ही साध्य का आरोप कर के नित्यत्व बताया है। यह तो शास्त्र सिद्ध बात है कि यदि राजा सुशासन से प्रजा की रक्षा करता, यदि योद्धा रण भूमि में शत्रु पर विजयी होता है, तो वह सर्व ब्रह्मचर्य की ही महिमा है, उत्तमोत्तम विद्याओं का आविष्कार, यश, मान सब इस की ही कृपा का फल है, शरीर में सौन्दर्य का आना, उत्साह साहस का बढ़ जाना इस के सहारे ही होता है॥

कहां तक कहें इस का व्याख्यान शास्त्र बड़े सम्मान से कर रहा है, जहां इस की चमक है वहां ही कार्य सिद्धि की दमक है, यह समस्त संसार के विद्वानों की गमक है। जन्म के दो भेद हैं। एक तो शुक्रशोणित के परस्पर मेल से, माता पिता के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है, और द्वितीय आचार्य और विद्या के संयोग से आत्म साक्षात्कार का उदय होता है। यद्यपि पूर्व जन्म के होने से ही द्वितीय जन्म की सफलता है। तथापि द्वितीय को पूर्वापेक्षा उत्तम और पवित्र माना है, इस की योग्यता से ही मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को पदवी मिलती थी, जो इस से विहीन रह जाता था, वह शूद्र कहा

जाता था । इस लिये इस में सब का प्रेम था, कोई केवल ब्रह्मचारी नाम से ही सत्कार का पात्र नहीं हो सकता था, जब तक उस में सद्गुणों का आयान न हो, अत एव ब्रह्मचारी या विद्यार्थी जीवन को सफल बनाने के लिये इन पुनीत नियमों को जीवन में लाने का यत्न करना ही चाहिये ॥

प्रथम—विद्या को सर्वोपरि जानकर उस की प्राप्ति के लिये आदर पूर्वक यत्न करना ॥

द्वितीय—विद्या कभी भी बलवती और हितकारी नहीं हो सकती, जब तक उस के साथ सदाचार का सहवास न हो, यह जान कर सदाचार का अवश्य ही पालन करना ॥

तृतीय शनैः २ समयानुकूल व्यायामादि से शारीरिक बल को बढ़ाने में यह जान कर कि इस के बिना दुनिया का कोई भी पदार्थ हितकर सिद्ध नहीं होता यत्न करते ही रहना, स्वास्थ्य रक्षा अद्भुत नियम है ॥ जो लोग संसार में उन्नति शील हो चुके हैं उन सब ने प्रथम इस नियम पर ही ध्यान दिया और इसको परमहितकर जानकर इसका सत्कार किया ॥

चतुर्थ—परिश्रमी होना, मेहनत करने से कभी न घबराना, शरीर की रचना इस बात को सिद्ध करती है कि इस में प्रयत्न का होना अत्यावश्यक है, श्रम यदि विधि से किया जावे तो मस्तिष्क में विचार शक्ति का उत्पादक है ॥

पञ्चम—प्रभु इच्छा में सदैव प्रसन्न रहना, सुख दुःख हानि लाभ में अधिक हर्ष शोक से पृथक् रहना । अन्यथा 'राजी हैं हम उसी में जिस में तेरी रजा हो' इस नियम का भंग हो जाता है । २५ वर्ष की समाप्ति पर्यन्त इन गुणों का

गुणी हो जाना ब्रह्मचर्य्य या विद्यार्थी जीवन की परिसमाप्ति है। आगे जब तक मनुष्य की रुचि हो, आगे बढ़ता जावे यह इस की इच्छा पर निर्भर है। स्मरण रहे कि एवं गुणविशिष्ट पुरुष जिस जाति में उत्पन्न होंगे, वह जाति अग्रणी आगे बढ़ने वाली होगी। शेष उन के पीछे चलेंगी, यह सार बात है। ब्रह्मचर्य जीवन को सफल बनाने के लिये अनेक गुण सन्निपात की आवश्यकता है यह कहा गया है। परन्तु उन सब में मुख्य सुरक्षितवीर्य होना ही है। अत एव इस का निरूपण करना भी अत्यावश्यक जान पड़ता है मनुष्य शरीर की परिस्थिति को ठीक और नीरोग रखने वाली सात धातुएं शरीर में विद्यमान हैं जो आहार मनुष्य खाता है वह कोष्ठ अग्नि से परिपच्यमान हो कर ४॥ दिन में रस बनता है और ४॥ दिन में इस कोष्ठाग्नि से परिपक्व हो कर रुधिर भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी क्रम से इतने ही समय में मांस, मज्जा मेदः, अस्थि और शुक्र में वह आहार परिणत हो जाता है। अर्थात् जिस आहार को मनुष्य आज खाता है, उस का सार भूत शुक्र एक मास के पश्चात् बनता है यह ही मनुष्य शरीर का उपादान कारण परमेश्वर की महान् महिमा का सूचक है। यद्यपि इन सात धातुओं में शरीर रक्षा की शक्ति है, तथापि एक की अपेक्षा दूसरे और उसकी अपेक्षा तीसरे में अधिक २ उत्कर्ष है यह समझ लेना चाहिए। यथा पैसे की अपेक्षा रुपये में, और उसकी अपेक्षा सावरिन में, और उसकी अपेक्षा हीरे में अधिक उत्कर्ष है, और जो वस्तु जितनी मूल्यवान् होती है, उसकी रक्षा का स्थान उतना ही पवित्र और स्थिर होता है यह दृष्टचर

बात है। तथैव परमात्मा ने छः धातुओं के निर्माण के बाद जो इस सारभूत धातु का निर्माण किया है, इसमें कुछ विशेष उत्तमता और उपयोगिता है। धातु शब्द का तीन स्थानों में प्रयोग होता है, किन्तु सर्वत्र समान है प्रथम-शरीरस्थ धातु, द्वितीय धातु सुवर्णादि, तृतीय व्याकरण में प्रसिद्ध भू आदि हैं। प्रथम जो शरीर को धारण करती और नीरोग बनाती है उसका नाम धातु है। द्वितीय जो लोकव्यवहार का निर्वाहक और धारक है उसको धातु कहते हैं। तृतीय-जिसने शब्द कोष को धारण किया हुआ है उसका नाम धातु है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सुरक्षितवीर्य नहीं, उसमें सच्ची सामर्थ्य का उदय नहीं हो सकता, और जो हीनवीर्य है, रोग उसका पीछा नहीं छोड़ते, यह काम कठिन है। यदि पूर्णरूप से मनुष्य अपने को न संभाल सके तो संयम में चले, कुपथगामी होना तो किसी अंश में भी अच्छा नहीं है। अब पाठक दृष्टान्त से समझ लें—यह छः परदों में शुक्र को जो छिपाया है, वह कहीं प्रत्यक्ष है, कहीं न्यूनाधिक भाव से गुप्त प्रकट है। प्रथमनिदर्शन—आप एक पके हुए आम्र फल को लें तो आपको विचारने से पता चलेगा कि एक परदा जो धातुस्थानापन्न है पीत या हरित-वर्ण का उसका छिलका है, दूसरा उसके अन्दर की ओर जो रस और छिलके के मध्य में ऊपर के पर्दे से मिला हुआ है, जिसमें कुछ तन्तु से लगे हुए होते हैं, जो बाहरी छिलके और रस को पृथक् करता है। वह तीसरा परदारस है जिसको लोग चूसते या खाते हैं। चतुर्थ एक बड़ा ही कठोर और दृढ़ जिसको गुठली कहते हैं, जो अनेक रोगों में भी काम आती है।

अब यदि उस बक्स को तोड़ कर देखेंगे तो पता चलेगा कि उसके दोनों भागों में बारीक मलमल के सदृश एक पांचवां परदा होगा षष्ठ—एक मोटा गुदाज़ दो दल प्रतीत होंगे वह है उसके अन्तर्गत एक चावल के दाने के बराबर वस्तु विद्यमान होगी जिससे वृक्ष बनता है यह शुक्र स्थानापन्न है जिसकी रक्षा के लिये परमात्मा ने इन छः परदों का निर्माण किया है। अब आप ही विचार कर इस छोटी सी वस्तु के मूल्य का अन्दाजा करें। जिन लोगों ने इसके महत्त्व को नहीं जाना और इसको काम में लाने के प्रकार को नहीं पहिचाना वे कभी संसार में उन्नतिशील हो सकते हैं ! कदापि नहीं। इसके परिपक्व या इसके असली रूप में आ जाने से ही प्रत्येक वस्तु में यथार्थ सौन्दर्य स्वाद और जीवन आता है॥

सम्प्रति मनुष्यसमाज इस पथ से कुछ अधिक हट रहा है, इसका कारण यह है कि गिरावट के निमित्त स्थान २ पर बहुलता से मिलते हैं, जिसके कारण प्रायः जनसमुदाय बहिर्मुख हो रहा है और अपनी भूल से यथार्थसुख को अपने हाथों से खो रहा है। नियम में चलने वाला पुरुष ही लौकिक सुख को ठीक ठीक अनुभव करता है बार २ भोजन आहार से जिसकी क्षुधा मन्द होगई हो उसको किसी भोजन में सुख की प्रतीति नहीं होती। वैसी ही दशा प्रत्येक कार्य की है॥

द्वितीय निदर्शन—आप एक वाटिका में चल कर देखें कि एक गुलाब की कलिका जो अपनी आभा से खिल कर पुष्प हो चुकी है, उसकी मनोहराकृति उत्कट सुगन्ध, दीर्घजीवन, रङ्ग लाल और श्वेत प्रत्येक पुरुष के मन को आह्लादित करने वाला

होता है। इसका कारण यही है कि पूर्णमूल शाखा से रस लेकर अपनी यौवनावस्था में खिली है, इस लिये ही इन गुणों का उसमें समावेश हो गया है। एक बालक किसी वाटिका में जाकर कलिका को, जिसको दो दिन खिलने को शेष हैं, दो अंगुलियों के बीच में लेकर अंगूठे से दबाकर उसको फूल बनाता है, बाहर के दबाव से वह पुष्पाकार तो होगई परन्तु न तो उसका सुन्दर आकार है, न अधिक जीवन, और न सुगन्ध ही अच्छी है। इसका कारण यही है कि प्राकृतिक नियम से विरुद्ध बाहर के आघात से खिला है। ठीक आजकल के नवयुवकों का यही हाल है, कि कुसङ्ग, विषयोत्पादक ग्रन्थों के पढ़ने, गाथाओं के श्रवण और मर्यादाहीन नाटकों के दर्शन से उनकी मनोवृत्ति विषय वासना से वासित होकर उनको जीर्ण शीर्ण बनाने का काम करती है। जीवन सुख से हीन, शरीर बल से विहीन हो जाता है। गृहस्थ का यथार्थ सुख हाथ से जाता रहता है हर समय डाक्टर, वैद्य और औषधियों का स्वागत करना ही उनका काम हो जाता है। दीर्घजीवन की आशा मन्द पड़ जाती है, इन सारे उपद्रवों को समय से पूर्व बाहर का दबाव ही लाता है। पवित्र विद्यार्थी जीवन ही जब अपवित्र हो गया, तो पुनः गृहस्थ कैसे अच्छा हो सकता है? यही भूल है जो मनुष्य के भाग को प्रतिकूल बना देती है। यही भूल है, जो मनुष्यसमाज को बन्धन में लाती है, यही भूल है जो हर प्रकार से सताती है, यही भूल है जो मनुष्य को सत्कर्मों से हटाकर बुरे कर्मों में लगाती है, सत्य ही है कि जब मूल में भूल होगई तो उसका सूद ठीक कैसे हो सकता है?

तृतीय निदर्शन - दुग्ध बुद्धिकारक, बलवर्धक, स्वादु और अच्छी वस्तु है। यदि विधि से इसमें दधि मिला दें तो समस्त दुग्ध सुन्दर स्वादु खाने के योग्य दधि बन जाता है, और यदि बेकायदे उस में दधि गिर जावे तो दूध फट कर फेंकने के योग्य हो जाता है। इससे विद्यार्थी जीवन में किसी प्रकार भी मन्द व्यवहार का कथन, श्रवण दर्शन कदापि न करना चाहिए॥

चतुर्थ निदर्शन--आप विचार करें कि शीतकाल में कठिन घृत पर अपनी एक अंगुली को धर दें, तो अल्प समय में घृत अपनी कठोरता को छोड़ कर नरम होने लगेगा। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारियों के अन्तःकरण में कर्ण द्वारा जब मन्द बातों का स्पर्शाघात होता है, तब उन की गति विपरीत मार्ग में हो ही जाती है। यह सत्य है कि शक्ति की रोक थाम के लिये शक्ति की ही आवश्यकता होती है। उपद्रवकारी हाथी हाथियों की ही टांगों से बांधे जाते हैं, बैल और घोड़े उन को नहीं रोक सकते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा का वेदादि सच्छास्त्र बड़े आदर से गान कर रहे हैं, इसके सुधरने में सब का सुधार, और इस के बिगड़ जाने से सब में बिगाड़ उत्पन्न होता है। मुख पर वर्चस्, मन में प्रसन्नता, काम करने में उत्साह, अति-विषम समय में भी चित्त में विकलता का न आना, समय को व्यर्थ न खोना, सांसारिक वस्तुओं के संयोग वियोग में अधिक न हंसना न रोना आदि गुण इसी नियम के आधीन हैं। सारांश यह है कि जिसका विद्यार्थीजीवन व्यर्थवाद में फंस कर चोट खा जाता है, उसकी जीवनयात्रा तो बड़ी ही दुःखमयी होती है और जो इस जीवन में कुछ संभले रहते हैं वह भली भांति

कमाते, खाते और उपकार के कार्य भी करते हैं परन्तु मनुष्य जाति की ट्रेन खेंच ले जाना, और दुर्दशा में फंसे हुये देश को निकाल कर, सन्मार्ग में लाना तो सच्चे ब्रह्मचारी का ही (जिस ने विद्यार्थी जीवन को असली रूप में रक्खा हो) काम होता है ॥

अब इस के निरूपण के पश्चात् गृहस्थ की विधि का कथन होगा—

गृहस्थस्तु पुण्यभूमिः, अन्नादिदानैःसर्वेषां परिपालनाच्च ॥१७०॥

गृहस्थाश्रम बड़ा ही पुनीत है, अन्न वस्त्रादि दान द्वारा इतर आश्रमों का पालन इस ही से होता है। यह लोक प्रसिद्ध बात है कि सहायता पाने वाले की अपेक्षा सहायता देने वाला उत्तम माना जाता है । यह ही तो कारण है कि मनु महाराज इस आश्रम को ज्येष्ठ सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। अनेक कार्यों से घिरा हुआ भी गृहस्थ जब सब का पालन पोषण करता और उन के विपरीत वचनों को सुन कर सहता और डरता भी है, तब विचार करने से पता चलेगा कि इस को कितनी सहिष्णुता की आवश्यकता है । अपने लिये अनेक उपायों से धनादि पदार्थ उपार्जन करने, स्वयं उस को उपयोग में लाने, और अन्य के निमित्त संभाल कर रखने में कितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है, परन्तु आज गृहस्थ में जो गुण होने चाहिए थे, वे विद्यमान नहीं हैं, इस कारण से सुख की न्यूनता और दुःख की वृद्धि हो रही है। यह अपरोक्ष बात है कि जब रक्षक ही असावधान हो गया, तब रक्ष्यपदार्थ जो उस के आश्रित हैं, वह कैसे सुव्यवस्था हो सकते हैं। कार्य तो सब ही हो रहे हैं, पर वह

अपने स्वरूप में नहीं। स्वास्थ्य विगड़ जाने से इसकी संज्ञा रोगी हो जाती है। कुछ भोजन आहार, जलपान कभी बात चीत भी करता है, परन्तु वह अपनी व्यवस्था में नहीं। यही दशा गृहस्थआश्रम की है। यह एक आधार मर्कज़ था, जिस पर तीन आश्रम सुरीति से गति करते थे, जब उसमें ही हलचल उत्पन्न हो गई, तो उन का डावांडोल होना तो स्वयंसिद्ध ही है। मनुष्यसमाज के शरीर में गृहस्थ प्राण के समान है, अन्य आश्रम इन्द्रियों के तुल्य हैं। प्राण की स्थिति में सब का स्थान इस के सबल होने में सब बलवान्, और इस के कूच में सबका निर्याण स्वयं ही हो जाता है। इदानीं भारत का गृहस्थ अपनी सुदशा में नहीं यह ही कारण है कि अन्य आश्रम विदशा में गति कर रहे हैं। सुधार का कोई मार्ग दृष्टिपथ में नहीं आता, यत्नशील प्रयत्न तो कर रहे हैं, परन्तु देश उत्थान की ओर नहीं जाता। कहां दोष है वह स्थान इसके हाथ नहीं आया, अथवा उसका निदान ठीक नहीं हो पाया, या इसने अनुष्ठान करने में अपने को योग्य नहीं बनाया। विचित्र रोग है, जिसके दूर करने का उपाय किया जाता है वह तो बढ़ जाता है, और जिसकी वृद्धि का उपाय सोचा जाता है, वह घट जाता है। ऐसी विपरीतगति को परमात्मा के विना कौन संभाले? वह अपनी जीवन यात्रा को कैसे सुरक्षित करे, जिसका दैव ही दिवाला निकाले। लोग स्वयमेव इस प्रकार की बातें सुनाते हैं, कि सहस्रों वर्षों का रोगी है एकाएकी रोग कैसे हटे? इतने दिनों के अशुभ कर्मों का फल बिना भोगे कैसे कटे? बात तो सुन्दर कहते हैं, श्रवण में कुछ अच्छी लगती है, परन्तु यह नहीं विचा-

रते कि पूर्वादृष्ट तो विना भोगे नहीं जाता है। सृष्टिक्रम यह ही सिखाता है, जो समझ में भी आता है परन्तु आगे को मन्दकर्मों के करने से मनोवृत्ति को हटाना, और पुनः उधर न ले जाना, और सत्कर्मों में चित्त को लगाना. लगे हुए मन का पुनः मन्द मार्ग में न जाना और इत्याकारक प्रयत्न करना तो मनुष्य-समाज का काम है, फिर फल देना ईश्वर का काम है॥

अब उन दोषों का जो भूल से अथवा दुर्विपाक से इसमें आ गए हैं विचार करना ठीक प्रतीत होता है—

प्रथम—गृहस्थ बड़ा ही पवित्र स्थान है, इसको यदि सबल-संभले हुए युवा युवती धारण करें, तो उनका सन्मान है। यह अङ्ग गृहस्थ को उत्तम बनाने में प्रधान है, इसका तिरस्कार करने से गृहस्थ में दौर्बल्यता आगई। यह किसी के ध्यान में न आया कि इस बेसमझी और लापरवाही का परिणाम क्या होगा? विना सोचे उधर को झुकता ही गया, अब जब सुधारने का विचार आता है, तब अपने को सर्वथा बलहीन पाता है। सन्निपातज्वर की भांति इसको ऐसे विरोधी दोषों ने घेरा है कि यदि एक को हटाते हैं, तो दूसरा शिर उठाता। यदि उसको दबाते हैं तो तीसरा अपने बल को बढ़ाता है॥

द्वितीय दोष—यह है कि प्रान्त और जाति के भेद ने गुणों की समानता का विच्छेद कर दिया। सन्तान के निमित्त माता पिता ने इस प्राकृतिक नियम का जो मनुष्य की मति में गति करता रहता है, प्रबल विरोध किया। सन्तान का अयोग्य होना इस का ही फल स्वरूप है अयोग्य पुरुषों के हाथों से कार्य में योग्यता कभी नहीं आती है॥

तृतीय दोष—युवक और युवती को परस्पर मिल कर गृहस्थ को संभालना है। उन्हें आजीवन प्रेम पूर्वक निर्वाह करना है। गुण साम्य की न्यूनता से खिन्न मन हो कर यदि गृहस्थ का पालन भी किया, तो उस से यथार्थ लाभ नहीं हो सकता। उन की सम्मति, जो गृहस्थ में प्रवेश करने वाले हैं, प्रधान होनी चाहिए थी। परन्तु माता पिता ने समस्त भार अपने ऊपर ले कर अल्प आयु में विवाह करना आरम्भ कर दिया। भारत वासियों ने सृष्टि क्रम के विरुद्ध कितनी गहरी भूल की। इस भूल का फल भी बड़ा ही प्रतिकूल हुआ। यह बाल्यकाल के विवाह की प्रथा कब से कैसे चली, इस का पता लगाना तो कठिन है, किन्तु इस की आधार भूमि मिथ्या-विश्वास ही है। बाल्य विवाह और गृहस्थ इन दोनों का समानाधिकरण हो ही नहीं सकता। नियम विरुद्ध करने वाला धोखा खाता है, पीछे से पछताता है, परन्तु कुछ बन नहीं आता। यद्यपि गृहस्थ कुछ अपने को संभालता तो रहा, परन्तु भूल के रहते हुए कहां तक संभाला जा सकता है। जिस दीवार के भीतर से पानी आ रहा हो, उस के बाहर मिट्टी लगाने से कहां तक सुधार हो सकता है? जिस लकड़ी के भीतर घुन लगा हुआ हो, उस के ऊपर पालिश करने से क्या लाभ होगा? दुर्बलता काम करने लग गई बाहर से सुधार का विचार करते रहे॥

चतुर्थ दोष—विवाह की प्रथा पर अधिक व्यय करने के विचार से हर समय चिन्ता की वृद्धि रहती है। पुनः उस के निमित्त हर प्रकार उचितानुचित उपाय करना ही होता है।

साधारण पुरुष तो छोटे बच्चों को ठीक आहार, जिस से बालकों का शरीर पुष्ट हो, न दे कर उन के विवाह के निमित्त धन को जमा करता है । एक तो ठीक आहार के अभाव से, बालकों के शरीर में दुर्बलता आ गई, और पुनः उन का विवाह कर दिया। अब उन दोनों के संयोग से सन्तान बलवती नहीं हो सकती । धनी पुरुषों के विवाह की रीति में लेन-देन जाहरदारी अधिक बढ़ गई है, जिस को देख कर अन्य पुरुषों की मति भी वैसी ही होती जाती है। उधार लाते हैं, जायदाद को बेचते हैं, परन्तु विवाह उसी प्रकार से करना चाहते हैं । यह रिवाज अच्छा नहीं । मनुष्यसमाज को एक तंग मार्ग से निकालने का उपाय है । कन्या ने माता पिता के गृह में सदैव आना जाना है, उस को जो वस्तु जितना द्रव्य चाहें दे दें ठीक ही है, किन्तु विवाह के समय दिखा कर धन, वस्त्र भूषणादि का देना अच्छे मार्ग को संकोच में लाने के ही समान है। विवाह एक ईश्वरीय नियम है। इस का यदि कुछ मूल्य हो सकता है, तो बालक बालिका की समानता है, जिनके मन परस्पर एक हो रहे हैं, अन्य कोई वस्तु नहीं है। पशु, पत्ती मनुष्यादि जब युवावस्था में पहुंचेंगे तो गृहस्थनियम पालन करने के निमित्त परस्पर मिलेंगे, रोकने से क्लेश मानेंगे और नहीं रुकेंगे। इस प्रकार की वस्तु जिस पर कुदरत की चित्रकला बनी हो, उसका कुछ मूल्य हो सकता है ? नहीं ! जो इसका मूल्य करता है, वह भूल में पड़ता है, अत एव इस प्रथा को जो जाति को संकोच में डाल रही है, ऐसा मार्ग स्वीकार करना चाहिए, जिस में सुगमता से गुजर जायें॥

पंचम दोष—ऐसे बालक जो शरीर से पुष्ट, प्रकृतिसुन्दर, बात करने में चतुर है, अल्पांश में पाये जाते हैं। परन्तु वह धनहीनता के कारण आजीवन विद्याहीन ही रहते, और धनी पुरुषों के बालक धन मिलने के कारण पठन के साथ २ व्यसनी हो जाते और अन्यों को बनाते हैं, विद्यार्थी को आवश्यकता से अधिक धन देना उसके स्वभाव को बिगाड़ने का ही कारण देखा गया है। अत एव धनी पुरुषों को चाहिए कि वह किसी एक होनहार बालक को जो धनाभाव से अध्ययन से रुका हुआ हो, पढ़ाने का उपाय करें। यह पता नहीं कि किधर से कोई आकर जाति के उत्थान का कारण बन जाएगा ॥

सुधार की प्रथम रेखा—सदाचार का पालन करना तो सबके लिए समान ही है। परन्तु गृहस्थ को (जिसने अन्य तीन आश्रमों का पालन पोषण करना, सन्तान को संसारोपयोगी बनाना है) अनेक प्रकार सृष्टि के भले बुरे प्रलोभन जब कि साथ दे रहे हैं, बड़ा ही सावधान रहना चाहिए। गृहस्थ को सुनियम से पालन करने के कई लाभ हैं ॥

प्रथम—सन्तान का सुन्दर सुडौल और नीरोग होना।

द्वितीय—माता पिता का आजीवन स्वास्थ्य अच्छा रहना और वृद्ध अवस्था हो जाने पर किसी प्रकार रोगों से अधिक न सताया जाना ॥

तृतीय—परस्पर सम्मेलनजन्य विषय सुख का (जिसका आतंक सम्प्रति संसार पर बहुत ही हो रहा है) अनुभव अधिकतर होना, मनुष्य इसमें तब ही सफल हो सकता है यदि विद्यार्थी जीवन में संभल कर गृहस्थ में प्रवेश करे।

अन्यथा इस नियम का पालन करना बहुत ही कठिन है। पशु पक्षियों में यह नियम बड़ा ही चरितार्थ हो रहा है, यही कारण है कि वह सदैव तन्दुरुस्त रहते हैं, मर तो जाते हैं, पर बीमार अधिक नहीं होते। वह सृष्टिक्रम को पहचानते हैं। मनुष्य इसके विपरीत चलता है, इस कारण से ही इसको रोग सताते हैं। इन्द्रियों के विषय में अधिक फंस जाने से मनुष्य में विषयलिप्सा मात्र ही रहती है, विषय सुख का यथार्थ स्वरूप सामने नहीं आता है॥

चतुर्थ–स्त्री पुरुष दोनों के मस्तिष्क में विचार शक्ति, शरीर में कार्य करने की सामर्थ्य और मन में प्रसन्नता बनी रहेगी। यह मनुष्यसमाज को उत्तरोत्तर योग्य बनाने का नियम है। यदि इसको अपनी उन्नति का ध्यान हो॥

पंचम–रोगों की वृद्धि से जो औषधियों और वैद्य डाक्टरों की फीस का व्यय होता है उस भार से मनुष्यजाति बचेगी। सम्प्रति जन समुदाय में जो विचित्र २ रोगों की वृद्धि हो रही है कामचेष्टा का अवधि से बढ़ जाना ही उसमें निमित्त है, इस से पीछे हटो संभल जाओ आराम मिलेगा॥

षष्ठ–इस प्रकार संभले हुए माता पिता की जो सन्तान होगी लोग उसके सौन्दर्य को देखकर प्रश्न करेंगे कि यह किस की सन्तान है? सन्तान के दर्शन से माता पिता का गौरव होना कितने यश की बात है॥

सप्तम–जिस मनुष्य ने अपने विचार से काम जैसी प्रचण्ड शक्ति को भी स्वाधीन कर लिया दूसरे विकार उसपर अपना बल नहीं बढ़ा सकते हैं। जहां इसका व्यत्यय देखा जाता है,

वहां कोई प्रतिबंधकांतर विद्यमान होगा ॥

सुधार की दूसरी रेखा—सन्तान को उत्तम बनाने के लिये माता पिता को परस्पर प्रेमपूर्वक रहना चाहिए, अधिक रोष करना, व्यर्थ वाद से परस्पर लड़ना और कई दिन तक विवाद के कारण को दूर न करना, अयुक्त किंवदन्ती का बढ़ना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। यह सन्तान के सुधार में बड़ा ही बाधक है। स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम का स्वरूप हैं। यदि किसी भूल से उनमें भी विवाद बना रहे तो सन्तान के अच्छे होने की आशा ही क्या हो सकती है ?

सुधार की तीसरी रेखा- स्त्री पुरुष के स्वभाव में कटुता का होना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है। साधारण बात तो कभी नीरस हो ही जाती है। कारण यह है कि मनुष्यों को भूल करने का स्वभाव है, परन्तु इस प्रकार की प्रकृति अधिक बढ़ जाने से अति हानिकारक हो जाती है। पाठक विचार करें कि गर्भावस्था में स्त्री को बड़ी ही सावधानी की आवश्यकता है। यह तब ही पूरी हो सकती है, जब पुरुष इस बात में सहायता करे, अन्यथा नहीं। गर्भस्थ बालक माता के विचारों से प्रतिक्षण धीमी गति के साथ अपने आन्तरिकभावों, अङ्गों को और उसके आहार से बाह्य प्रत्यङ्गों को ईश्वरीय नियम के आधीन होकर पुष्ट कर रहा है। इस स्थान को पवित्र कहो या अपवित्र, साधारण कहो या विचित्र, शुभ गुणों का आधार है या कारागार, संकोच का स्थान है पर इसको वहां पर ही अपने जीवन का ध्यान है, भूल ने सताया, प्रभु की माया ने भुलाया है कैसी बात है कोई नहीं पहचनता। सब इसी मार्ग में आए हैं परन्तु

कोई नहीं जनता है, शास्त्र इसको ही माया बताता है कि हर प्रकार से अनुभव की हुई बात को भूल जाता है ॥

बड़ा ही कठोर दृढ़ बद्धमूल माया का जाल है, जिस में प्रत्येक प्राणी फंसा हुआ हर प्रकार से बेहाल है। कुछ समय पूर्व तो स्वयमेव उस स्थान में निवास करते थे, कोई बता तो दे कि वहां आराम था या खेद। कोई सावधान या बुद्धिमान् हो तो सुनादे कि कुछ मिलता है भेद। वहां न कोई अपना न बेगाना। इस भेद को जानने में न कोई मूर्ख है न स्याना, सत्य है इसकी पहचान मनुष्यबुद्धि का काम नहीं। जिसने इसको जान लिया, वह कोई ख़ास होगा, आम नहीं, सच्चे महात्मा पूरे योगी ही इसको अनुभव करते हैं। परन्तु वह प्रकट करने में डरते हैं, क्या करें इस का वाणी से कथन करना ही भूल, यदि कहें तो सब विषय हो जाता प्रतिकूल। कोई तो भूल जाता है और जिसको अनुभव है वह भय से नहीं सुनाता है, दोनों समान हैं। फिर यह कहना कि मैं विद्वान् हूं यह मूर्ख है व्यर्थ का ही अभिमान है। इस उलझन को जो सुलझने वाली नहीं है, छोड़ और प्रकृत विषय का अनुसरण कर !! यदि उस समय दम्पती में परस्पर रोष और उसके कारण परस्पर में कोप और कभी शब्दों से एक दूसरे में आरोप, कभी एक ने भोजन न बनाना और कभी बनाने पर भी दूसरे ने न खाना, इस प्रकार अव्यवस्थित गृहस्थ से जब स्त्री के मन में ग्लानि और बाह्य शरीराकार में म्लानि हो जाती है, तो गर्भस्थ बालक को गृहस्थ के मन्द व्यवहार से कितनी चोट लगेगी। जब कि रोष से कोपाग्नि उस के इर्द गिर्द जाग जावेगी। नौ मास के पश्चात्

बालक की उत्पत्ति होगी, इतने समय में बार बार परस्पर विवाद होते रहने से सन्तान का अच्छा होना मनोरथमात्र ही है। गर्भावस्था में स्त्री पुरुष को बड़ी ही प्रसन्नता और सावधानी से रहना चाहिए। यह बड़ा ही विषम समय है। सर्व साधारण इस विद्या से अनभिज्ञ हैं। बड़ी ही सुचारु रीति से इसका निर्वाह करना चाहिए। इसी तृतीय नियम के आधीन होकर यदि माता पिता कृष्णवर्ण हैं तो सन्तान गौरवर्ण हो जाती है, माता पिता का शरीर यदि कृश है तो सन्तान पुष्ट हो जाती है। आयु की वृद्धि, स्वभाव में उत्तमता, इस नियम के ही आश्रित है, और इसके विपरीत चलने से पुष्ट माता पिता की सन्तान दुर्बल और अच्छे स्वभाव वालों की सन्तान व्यसनों में फंसी हुई देखने में आरही है। जहां किसी साधारण, माता पिता की सन्तान बड़ी ही सुयोग्य, सुंदर स्वभाव सरल देखने में आती है, वहां गर्भावस्था के काल की संभाल ही कारण है। वह स्वभाव से ही, अदृष्टवशात् हो, प्रभुकृपा से हो, सुनियम से हो, प्रसन्नता से हो, दम्पति का आनन्द में समय बीत गया। सन्तान का अच्छा होना उसका ही फल स्वरूप है॥

सुधार की चतुर्थ रेखा—स्त्री पुरुष की प्रकृति में स्वभावतः यह ध्यान तो होता ही है कि उन की सन्तान सुन्दर सबल, गुणवान्, आज्ञाकारी हो, परन्तु यह केवल ध्यान मात्र से नहीं हो सकती इस में उपायान्तर भी अपेक्षित है। माता पिता के वैपरीत्य भाव से सन्तान में दोष आ जाते हैं। दोनों में वार्तालाप करते समय परस्पर के मनोमालिन्य से कोप बढ़ गया। यह उन के मन पर बार बार चोट करता है, यदि उस के

शान्त करने का उपाय हस्तगत न हो जावे, तो कभी २ जन अपने प्राणों को भी हत कर देता है यह सब को प्रत्यक्ष है। कोपाग्नि इन्धन के समान शरीर मन आदि को जला देता है। इस अवस्था में मोह ने कोप को तो कुछ दबा दिया, और गृहस्थ नियम का पालन किया, यदि इस समय गर्भ की स्थिरता हो गई, तो जो बालक उत्पन्न होगा, वह अच्छे स्वभाव का कभी नहीं हो सकता, हठीला होगा या क्रोध की मात्रा हर समय उस के मुख पर बनी रहेगी। अथवा शरीर से कृश होगा या कोई अंग भंग होगा और यदि गर्भ न रहा, तो एक बार के समागम में शरीर की शक्ति का अधिकांश में ह्रास होगा। इस का कारण यह है कि कोपाग्नि के संचार से उष्णता की व्याप्ति समस्त धातुओं में विद्यमान हो गई। मोह ने अपने बल से अन्य स्थानों में से तो उष्णता को दूर कर दिया परन्तु धातु में उस का सद्भाव बना रहा, उस के दूर होने के लिये कुछ अधिक समय अपेक्षित है। पाठक दृष्टान्त से समझें आप जल, पाषाण और तेल को समान तपा कर पृथक् पृथक् रख दें कुछ समय के पश्चात् आप को पता लगेगा कि जलादि में गर्मी शान्त हो गई है, पर तैल में बनी हुई है उस को शान्त होने के लिए कुछ अधिक समय की आवश्यकता है। इसी प्रकार शुक्र स्निग्ध पदार्थ है कोप के कारण जो उस में आघात पहुंचा था वह उस का सहचारी था, वह धातु सन्तान के शरीर का उपादान बनते समय सदोष थी, अब जो उस का प्रभाव होगा उस का दूर होना अतीव कठिन है। अत एव सन्तान उत्पत्ति के उपाय में बड़ी ही सावधानता की आवश्यकता है। इसी

प्रकार लोभ, मोह, भयादि दोष भी सन्तान के सुधार में बाधक हैं ॥

सुधार की पंचम रेखा—मनुष्य की अपेक्षा स्त्री के स्वभाव में मृदुता, दया, श्रद्धा और हठ की मात्रा कुछ अधिक ही होती है, यदि ऐसा न होता तो सन्तान का पालन पोषण सुनियम के साथ कभी भी न हो सकता । अत एव मनुष्य को अपने कुत्सित व्यापार से स्त्री के मन को आघात पहुंचाना किसी प्रकार भी उचित नहीं । गृहकार्य तब ही ठीक होगा, यदि मनुष्य किसी अंश में स्त्री के अनुकूल हो कर रहेगा । सन्तान माता की शिक्षा का आदर करती है, पिता को तो पहचानती भी नहीं, माता के बार बार कहने से पिता के पास बालक आने जाने लगता है, इस लिए दम्पती प्रेममय आलाप से एक दूसरे की प्रसन्नता के हेतु बने रहें । यदि पुरुष का साधु स्वभाव हो तो पुनः स्त्री के साध्वी होने में कोई भी सन्देह नहीं । कहीं २ इस का अपवाद भी देखने में आता है । पुरुष का उदार स्वभाव होने से स्त्री को जो प्रसन्नता होती है, पुरुष के कुमार्ग में जाने से उतना ही अधिक उसे कष्ट होता है, अत एव यदि स्त्री को यह ठीक पता लगे कि उस का पति मन्द मार्ग में जाता है, मदिरा पानादि में व्यर्थ व्यय करता है, तो इस प्रकार बार २ चिन्ता की आवृत्ति से स्त्री का अन्तःकरण ग्लानि का स्थान हो जाता है । पुनः सन्तान के उत्तम होने की आशा ही क्या हो सकती है ? इस लिये सुधार के विषयों को समझने वाले पुरुषों को इस ओर ध्यान देना चाहिए ॥

सुधार की षष्ठ रेखा—सन्तान के अच्छा होने के लिए

गृहस्थ में भी ब्रह्मचर्य के नियम का पालन करना ही चाहिए। पाठक विचार करें कि गृहस्थ को विचारपूर्वक कार्य करने के लिए कितनी शक्ति की आवश्यकता है, वह कितनी बाधाओं से घिरा हुआ है, कितने आश्रमों का इस पर भार है, यदि यह विचारहीन हो जावे तो अन्य का शक्ति विहीन हो जाना स्वयं सिद्ध है। अतः विचार के लिये इस के पास क्या सामग्री होनी चाहिए? अन्धकार प्रकाश से जाता है, यह सब जानते हैं वह प्रकाश विद्युत् का हो, गैस या घृतादि का हो। अब प्रश्न यह होता है कि अन्धकार के हटाने में यथाशक्ति सब ही समर्थ हैं, परन्तु इन के गुणों में कोई भेद है या नहीं? जब इन में सामग्री भिन्न २ जल रही है तो भेद कहना ही ठीक है। रोगी के पास मिट्टी का तेल जलाओगे तो रोग को बढ़ायेगा। घृत का दीपक जलाओगे रोग के हटाने में सहायता करेगा। इस का ज्ञान समझदारों को है। जिस सुरक्षित गृहस्थ ने अपने को सन्मार्ग में चलाया हुआ है, उस का शरीरस्थ धातु कुछ तो सन्तानोत्पत्ति के निमित्त काम आता है, और शेष उस की विचार अग्नि का इन्धन हो जाता है, उस के प्रकाश में वह प्रत्येक वस्तु यथार्थ रूप में देखता है, यह संसार के लिए बड़ा ही उपकारी सिद्ध होता है। अब जो वीर्य हीन पुरुष है, जिस ने विषयाधीन हो कर अपने को संभाला नहीं है उस के विचार का इन्धन शुक्र तो है नहीं, मज्जा, मेदादि ही हो सकते हैं इन के प्रकाश से सन्मार्ग सद्विचार, सदाचार कैसे हाथ आ सकता है? इस के बिना लोक सुख कहां? अत एव मनुष्य को नियम के साथ गृहस्थ का पालन करना चाहिए॥

यदि पाठकों को इस कथन पर विश्वास न हो तो अपने को संभाल, मस्तिष्क को प्रयत्न में लाकर तो देखें कि विचार शक्ति कितनी उज्ज्वल और तीव्र हो जाती है। कितना ही मनुष्य पतितावस्था में क्यों न हो, जिस समय सावधान होकर इस नियम का पालन करेगा अल्प समय के पश्चात् ही फल सामने आवेगा। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि संभलना नाम इस बात का है कि मन, वचन और कर्म से उन कुत्सित संस्कारों का उदय ही न हो, इस प्रकार का संभलना ठीक नहीं है कि चोर ने चोरी को तो त्याग दिया, परन्तु हेरा-फेरी के स्वभाव को नहीं छोड़ता, इससे कुछ लाभ नहीं हो सकता। सुनते हैं यूनान देश के प्रसिद्ध महात्मा अफलातून के हां जब एक पुत्र उत्पन्न हो गया तो उसके पश्चात् उन्हों ने गृहस्थ नियम का परित्याग कर दिया था। जब बालक द्वादश-वर्ष का हो गया तब उसकी माता ने अपने पुत्र को समझाया कि तुम अपने पिता से जाकर कहो कि पिता जी यदि मेरा एक भाई और होता तो बड़ी खुशी की बात होती। हम दोनों मिलकर बड़े अपूर्व कार्य करते, माता पिता के नाम को संसार में विख्यात करके स्वयं यश के भागी और लोकोपकार में बड़े ही अग्रसर हो जाते। जब दो मन एक हो जाते हैं तो पर्वत को भी तोड़ देते हैं, यह लोकोक्ति है, अफलातून अपने पुत्र की इस युक्तियुक्त बात को सुनकर हंसा और भाव को ठीक समझ कर उसे गोद में लेकर उत्तर दिया कि जाकर अपनी माता को कहदो कि मैं जानता हूं कि एक बच्चे के उत्पन्न करने में मेरी कितनी शक्ति का ह्रास हो गया है और मेरे मस्तिष्क

में विचारशक्ति की कितनी न्यूनता हो गई है। यदि मैं इसको भी उत्पन्न न करता तो मैं सूर्यादि लोकों में इस शरीर से जब चाहता भ्रमण कर आता। इसकी कमी से अब मैं विचार तो सकता हूं किन्तु जा नहीं सकता। परमेश्वर को ठीक २ जानता हूं परन्तु अब साक्षात्कार नहीं कर सकता। आत्मा को पहचानता हूं परन्तु हस्तामलकवत् स्फुट प्रतीति नहीं हो सकती है, मैं लोकोपकार के कार्यों को जितना करना चाहता था, उतना अब नहीं कर सकता। बस अपनी माता से कहदो कि मैं इससे आगे इस मार्ग में नहीं चल सकता। हो सकता है कि इस कथन में कुछ अत्युक्ति हो, परन्तु यह उपदेश उस महात्मा की उदारता को दर्शा रहा है, साधारण पुरुष जिन्हों ने इस शुक्र की अवस्था को परिपक्व ही नहीं होने दिया और अपने ही हाथों से बरबादी के बीज को अपने अन्तःकरण के क्षेत्र में बो लिया है, उसका फल तो उठाना ही पड़ेगा। वेद ऊर्ध्वरेता होने. वीर्यरक्षा, और ब्रह्मचर्य के पालन करने का व्यर्थ ही उपदेश नहीं सुना रहा। यह कोई अमूल्य वस्तु है जिसके सुधरने से सब सुधर जाते हैं, वह यही है मनुष्य केवल इसी से ही मृत्यु को जीत सकता है। यह ही नियम है जो दुनिया को सम्बोधन करके सुना रहा है कि मैं अपने शरणापन्न की हर प्रकार से रक्षा करता हूं, उसको विपत्ति से बचाता हूं, यश का भागी बनाता और परमेश्वर से मिलाता हूं। परन्तु जो सच्चाई से मेरे सामने आता है मैं उसका ही पक्षपाती हूं, बनावटी का नहीं। एक आम्र का वृक्ष था जिसके फल मधुर थे, लोग उसकी बहुत प्रशंसा करते परन्तु उसके गुणों से अपरिचित थे, जब

आषाढ़ का मास आता धूप की उष्णता से आम पीले होकर कुछ अधकच्चे ही गिरने लगते, तब सब फलों को तोड़ कर घास में दबा देते थे, उसकी गर्मी से कुछ नरम, बेडौल, सुडौल, सरस, और नीरस हो जाते थे। लोग उनको खाते और मुख से प्रशंसा करते। अगले वर्ष आषाढ़ मास में जब लोग उनको तोड़ना चाहते थे, एक साधु महात्मा वहां आगये उन्हों ने पूछा कि क्या आम आचार के लिये तोड़ रहे हो? उन्हों ने उत्तर दिया कि नहीं, महाराज! इनको पकायेंगे। सात दिन में पक कर बड़े अच्छे हो जायेंगे। आप यहां ही निवास करें और चूसें। महात्मा ने उनको बेसमझी पर हंस कर कहा अरे भले पुरुषो! यह अभी कच्चे हैं मत तोड़ो, तुम इनको यथार्थरूप में नहीं जाने देते। इसके असली स्वाद को नहीं पहचानते। मैं तुम को १५ दिन तक नहीं तोड़ने दूंगा। इसके पश्चात् तुम खाओगे तो आनन्द पाओगे। साधु के इस कथन को प्रायः लोगों ने अच्छा न समझा। एक वृद्ध ने कहा कि कोप मत करो, महात्मा है तुम्हारे हित की ही कहता है कुछ काल प्रतीक्षा करो, पश्चात् तुम ने ही खाने हैं लोग मान गये। सात दिन के पश्चात् वृष्टि होगई फल पुष्ट हो गये पांच दिन के पश्चात् सुरस, सुगन्धित होकर गिरने लगे। लोग खाते हैं पूर्व समय की अपनी बेसमझी को सामने लाकर कुछ काल तक तो मूक सम हो जाते हैं, पुनः महात्मा की प्रशंसा मुखोन्मुखी करते हैं महात्मा जी! हम तो इस बात को नहीं जानते थे और न आम्र फल की इस सुन्दरता और मधुरता को ही पहचानते थे, यह आपकी कृपा का ही फल है जो हमने इस मर्म को

जाना, पिछली बेसमझी पर हम पछताते हैं परन्तु आपकी कृपा से यह फल हमको आगे के लिये हंसाते हैं। ठीक इसी प्रकार जो वीर्य की यथार्थ सत्ता को जानते ही नहीं, उसके असली समय को पहचानते ही नहीं, तो यह पृथग्जन इतस्ततः भ्रष्ट होकर उस नीरस आम्र के सदृश जिस सुख को अनुभव करते हैं, वह असली पके हुए आम्र के समान वीर्यवान् के सुख की तुलना कैसे कर सकते हैं? छोटी आयु में विवाह करना, पीछे से माता पिता ने प्रेम से उनको एकान्त स्थान में एकत्रित कर देना, जैसे घास की उष्णता से आम्र फल के पक जाने का भ्रम सा हो जाता है यही दशा अल्पायु के विवाह की है। न सन्तान अच्छी, न सबल, न रूपवान्, न धनोपार्जन की बुद्धि, न लोकोपकार करने की मन में शक्ति, यदि किसी ने भय दिखाया तो डर जाते हैं, आपस में लड़ने के लिये हर बात में अड़ जाते हैं, न शत्रु को उन से भय होता है और न मित्र को आशा ही होती है। प्रभु कृपा से विवाह तो सब का ही होता है परन्तु इस मार्ग में फिसला हुआ जनसमाज अहर्निश रोता ही रहता है॥

सुधार की सप्तम रेखा—जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य का पालन न करता हुआ विषयसेवन में प्रवृत्त होता है वह अपना सर्वस्व ही खोता है। यह ऐसी ही भूल है जैसे एक पुरुष पैसों को इस इच्छा से जमा करता है कि वह उन से रुपये बनावे, पुनः रुपयों को एकत्रित करने का वह अपना प्रयोजन यह बताता है कि वह सावर्न को प्राप्त करेगा, अशर्फियों को जमा करके हीरा मोल लेने की उसकी इच्छा है। इतने यत्न करने के

पश्चात् जब इस से पूछा गया कि अब इसको क्या करोगे तो उसने उत्तर दिया कि अब इसको किसी कठोर औज़ार की चोट से तोड़ फोड़ डालने का पूरा ध्यान है। पाठक विचार करें कि परमेश्वर ने मूल्यवान् से मूल्यवान् सृष्टिनिर्माणार्थ मनुष्य के शरीरमें सारभूत जो वस्तु उत्पन्न की है, बहिर्मुख होकर विषय-सेवन ही उस का उद्देश्य बना लेना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं है। वह हीरे को पाषाण से तोड़ने के ही समान है। गुलाब का इत्र प्रथम बार जब बनाते हैं, उसकी कीमत कम होती है, जब दोबारा उसी को पुनः भट्टी पर चढ़ाते हैं, तब उस की कीमत अधिक हो जाती है, जब तीसरी और चौथीबार उसी को चढ़ाते हैं तब उसका मूल्य पचास रुपया तोला भी होजाता है, इस प्रकार यत्न करने वाले से किसी से पूछा कि ऐसे परिश्रम से तय्यार किये हुए इत्र को आप क्या करेंगे उस ने उत्तर दिया कि अब मैं इसको किसी नालिका में डाल दूंगा। ठीक इस पुरुष के सामान इत्र के तुल्य बहुमूल्य, परमेश्वर के ज्ञान से जिसका निर्माण हुआ सन्तान के शरीर के उपादान कारण का, जो कामान्ध होकर उपयोग करता है वह उस पुरुष के ही समान है जो श्रम से बनाए हुए इत्र को नालिका में फेंकता है॥

अब इन्द्रियों के विषय में अधिक प्रवृत्ति से जिन दोषों या गुणों का उदय होता है उन का साधारण रीति से वर्णन किया जाता है—इन्द्रियों की गति यदि विषय-संयम में होती हैं तब उस के गुण यह हो जाते हैं॥

१—तत्त्ववित् ।

२—मानी ।

३—मनोरम, गुणवान् ।

४—उदार ।

५—शूर ।

६—जनताप्रिय ।

७—प्रसन्नहृदय ।

८—दृढ़वपु ।

९—कुलीन ।

१०—स्वाधीन—इन गुणों का वहां पर प्रकाश होता है । जो पुरुष यत्न करता है, वह आत्मवशी इन्द्रिय के भोग में संयमी ही होता है ।

जब जनता मर्यादा हीन हो कर विषय-सेवी हो जाती है तब—

१—दासता ।

२—हीन सेवा ।

३—अधर्म वृद्धि ।

४—निन्दनीय कर्म ।

५—स्वार्थ ।

६—विवाद ।

७—शरीर दौर्बल्य ।

८—आलस्य ।

९—मनोराज्य ।

१०—कुसंग आदि दोषों का उसमें आविर्भाव हो जाता है ॥

इन सबका एकत्रित होना तो असम्भव सा जान पड़ता है तथापि यह सत्य ही है कि इन्द्रियों की कुप्रवृत्ति से गिरावट और सुप्रवृत्ति से ही उत्थान होता है। कारण यह है कि विषय-भोगाभ्यास से किसी को कभी शान्ति नहीं हुई, किन्तु भोगाभ्यास से इन्द्रियों के कौशलभोगलिप्सा की वृद्धि से पीछा छुड़ाना बड़ा ही कठिन होजाता है॥

इस आन्तरिक विषय को समाप्त करके कुछ बाह्य विषय का निरूपण किया जाता है—

१—गृहस्थ में परस्पर विवाद न होना चाहिए। यदि कदापि हो जावे तो शीघ्र ही मिटाने का यत्न करना चहिए यह दोष है इस से बड़ी ही हानि होती है॥

२—गृहस्थ को भोजन के बनाने में अधिक ध्यान देना चाहिए। इसके स्वच्छ, पवित्र, सुरस बनाने से शरीर स्वस्थ रहता, सबल होता और क्षुधा की रुचि को बढ़ाता है। भोजन ही सबका जीवन है, यही सब प्रकार के कार्यों की आधार-भूमि है॥

३—गृहस्थ को चाहिए कि अपने कार्यों को अधिकांश में स्वयमेव सम्पादन करे। यदि भृत्य है तो उन कार्यों की सहायता के लिये है, न कि उसके होने पर स्वयं पुनः अपने हाथ से कुछ काम ही न करना। आर्य्यजाति में प्रायः यह दोष आगया है कि थोड़ी सम्पत्ति होने पर स्वयं कार्य करना छोड़ देती है। अधिकांश में स्त्रियों का तो यह स्वभाव है कि कुछ न करना, थोड़ा लड़ना और बढ़कर बातें बनाना, इसी दोष से दूषित होकर आर्यजाति दासता के मार्ग में चली गई॥

४–गृहस्थ को पवित्रता से प्रेम होना चाहिए, वस्त्र, पात्र सब स्वच्छ हों, स्थान परिमार्जित हो। यह नियम स्वास्थ्य और मन की प्रसन्नता के लिए बड़ा ही हितकर है जिन्हों ने सफाई की महिमा को जान लिया, उन्हों ने खुदाई को पहचान लिया॥

५–गृहस्थ को स्वास्थ्य के नियमों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। जिन जातियों ने उन्नति के लिये अपने को आगे बढ़ाया उन्हों ने सब से पहले इस नियम को ही अपनाया। स्वस्थ शरीर में रोगों की अधिक आवृत्ति कभी नहीं होती है, और उसमें अच्छे विचारों का उत्थान होता है, और वह अपने पर भरोसा रखता है। इसके नियमों में एक यह नियम बड़ा ही उपयोगी है, यदि जनसमाज अधिक नहीं तो सात दिन में एक समय का आहार सेवन न करे। परन्तु जब तक पुरुष मिताहारी न हो, यह कैसे हो सकता है? जिन्हों ने इधर पकौड़े खाये, उधर पापड़ चबाए, न सोडा वाटर के विना गुज़र हो और न कहीं भी सिगरट पीने में कोई उज़र हो उनको इस नियम का पालन करना कठिन है॥

६–गृहस्थ को उचित है कि वह प्रतिदिन न्यून से न्यून एक घंटा जो समय उपयोगी हो सब परस्पर मिल कर धर्म चर्चा, हानि लाभ का विचार, कुछ कथा प्रसंग, विनोद वार्त्ता, भविष्यत् के कार्यों का विचार, कुछ सृष्टिक्रम के नियमों का सुगम रीति से बालक को ज्ञान कराए, अब यह प्रीति प्रायः आर्यजाति से दूर होगई है॥

७–बच्चों का पालन करना, जिस प्रकार आयु वृद्धि के

साथ २ उस में शिक्षण पद्धति में भी योग्यता आती जावे, उन उपायों को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। बच्चों का ज़िद करने का स्वभाव न हो। रोना कभी २ लाभकारी भी होता है परन्तु इस की अधिकमात्रा हानिकारक और स्वरूप को बिगाड़ने वाली ही है, बच्चों का मन स्वच्छ है, स्नान का स्वभाव प्रथम से ही डालना चाहिए हाथ और मुख बच्चों का पांच बार प्रति दिन समयानुकूल धोना चाहिए, जब कुछ चलने की शक्ति हो पुनः अधिक गोद में उठाना ठीक नहीं है। उसके आहार में सुनियम होना चाहिए। गृहस्थ की दृष्टि कन्या और बालक में समान होनी चाहिए यह क्रम ८ वर्ष तक का है॥

गृहस्थ प्रकरण समाप्त्यनन्तर क्रमागत अब वानप्रस्थ का निरूपण किया जायगा—

वानप्रस्थस्तु श्रमोपशान्त्यर्थम् ॥१७१॥

वानप्रस्थ आश्रम तो श्रम के उपशमनार्थ है। गृहस्थ के कार्य बाहुल्य और अनेक प्रकार के भार से आक्रान्त होने के कारण जो थकावट हो गई थी, उस को शान्त करने के निमित्त इस आश्रम का वेदों में विधान है। अधिक विचार विस्तार से पूर्व पठित शास्त्र के अभ्यास में जो शिथिलता आ गई थी, पुनः उस के जागृत करने के निमित्त मनुष्य इस आश्रम को ग्रहण करता है। गृहस्थ में विचित्र २ चित्तवृत्ति के उत्थान से ईश्वरोपासना में जो त्रुटि आ गई थी, उसे संभालना और पूर्ण करना इसी आश्रम का काम है। पूर्व विषय भोग जन्य वासनाओं की जो समय २ पर स्मृति होती रहती थी उस का निरोध करना इस के ही अधिकार में है॥

गृहस्थ से निकलते समय वनस्थ होने की इच्छा से जो प्रतिज्ञा करता है, उस का पालन करना यथा शक्ति उस का काम हो जाता है, वह प्रतिज्ञा यह है–प्रतिदिन अग्निहोत्र, ईश्वरोपासना, स्वाध्याय, सत्संग, एकान्त सेवन, अतिथि-सत्कार, वाक्संयम, व्यर्थवाद और चिन्तात्याग, मिताहार, अधिक भ्रमण से विराम, नियत समय पर समीप आने वाले पुरुषों को अध्यापन कर्म अथवा उपदेश करना होता है। स्थिति का स्थान पवित्र, वृक्ष तल या नदी तट, शुद्ध वस्त्र ही होना चाहिए। शिर पर केश हों या न हों, यथा रुचि है। वनस्थ की प्रकृति सब प्रकार दिखावट और बनावट की न हो॥

क्या इन चार आश्रमों का निर्माण मनुष्य मात्र के लिये है ? यह नियम नहीं हो सकता है न हुआ और न होगा। कारण यह है कि सांसारिक व्यामोह का बन्धन बड़ा ही प्रतिबन्धक है । वही स्त्री वा पुरुष आगे बढ़ता है, जिस का विचार और अपने कल्याणार्थ मन में सत्कार हो । पांच यज्ञों का विधान गृहस्थ में तो मुख्य रूप से है वनस्थ में आ कर गौण हो जाता है, कारण इस का धनाभाव है । ब्रह्म यज्ञ-वेदों के प्रचार से ईश्वरोपासना, और आस्तिक भाव को जगाना, देव यज्ञ-विद्या द्वारा अच्छे पुरुषों की सहायता से अग्नि, विद्युत जलादि के गुणों का आविष्कार करना, पितृयज्ञ–कार्य करने में चतुर, प्रत्येक कर्म में निपुण मनुष्यों की उन्नति का ध्यान, अतिथि यज्ञ–विद्वान् मनुष्यों के द्वारा उपदेश के प्रकार को प्रचलित करना और उन का सत्कार, बलिवैश्वदेव यज्ञ-मनुष्यों की सन्तति और उन के साथ सम्बन्ध रखने वाले पशुओं को

बलवान् सुडौल और उपकारी बनाना, इस यज्ञ के द्वारा ही होता है और इसी से सुख प्राप्त होता है । इन सब कार्यों को पूरा करने के लिये ब्राह्मण विद्या से, क्षत्रिय राज शासन नियम से, वैश्यवर्ग धन और शूद्रवर्ग अनुष्ठान से इनको बढ़ाने में यत्न करते थे । सब से सब का प्रेम था, अन्याय पूर्वक किसी को किसी से भीति न थी उस समय शास्त्र के विपरीत जगत् में कोई भी रीति न थी ॥

अब चतुर्थ आश्रम संन्यास का निरूपण किया जाता है—

उपकारार्थनित्यभ्रमणकारी मोक्षपदाधिकारी यः सः परिव्राट् ॥१७२॥

लोकोपकार के निमित्त जो नित्य भ्रमणकारी और परमपद मोक्ष का अधिकारी है, उस की संज्ञा परिव्राट् अर्थात् संन्यासी है । नित्य शब्द इस बात का द्योतक है कि नित्य, परिणाम विकार शून्य परमेश्वर में ही उस को मनोवृत्ति भ्रमण करती है, और उस को प्रायः सांसारिक पदार्थों में अरुचि होती है, नित्य शब्द से यह भी प्रकट होता है कि उस को स्वस्थावस्था में शयन, जागरण और आहारादि के समान सम्यक् उपदेश करना भी आवश्यक ही होता है । वह अपने सुख के निमित्त कहीं स्थानविशेष बना कर निवास नहीं करता है, यथा वनस्थ को प्रायः स्थिति में लाभ है, उसी प्रकार संन्यासी के भ्रमण में लोकहित का भाव है ॥

ननु—इस आश्रम की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती है क्योंकि मनुष्य-समाज का कोई भी हित इस से सिद्ध नहीं होता प्रत्युत हानि ही है—

१—क्या विचित्र बात हो रही है कि भिन्न २ प्रकार का

उपदेश होने से जनता में भ्रम फैलता जाता है और सन्मार्ग हाथ नहीं आता।

२—संन्यासी धनी और गृहस्थ निर्धन देखने में आते हैं।

३—संन्यासियों के तो बड़े २ स्थान और गृहस्थ बिचारे लामकान देखे जाते हैं।

४—संन्यासी आनन्द पूर्वक स्वादु पदार्थों का आहार करते हैं, और अनेक गृहस्थ लोग भूखों मरते हैं।

५—आश्चर्य है कि गृहस्थ कमाते हैं और यह बैठे हुए आनन्द से खाते हैं।

६—गृहस्थ को कैसा उलटा समझा दिया कि हमारी सेवा करने से तुम्हारा कल्याण है, हम को देना ही कार्य महान् है, स्वर्ग की प्राप्ति का यह ही अंग प्रधान है, ईश्वर प्राप्ति की यह ही सोपान है। इस प्रकार की अनेक बातें बता कर सच्चे रास्ते से भुला दिया।

७—संन्यास का यह बड़ा ही अद्भुत खेल है कि गृहस्थ के समान इन में भी अनेक जातियों का बे मेल है। कुम्भ के समय गंगा स्नानार्थ जा कर यदि देखो तो पता लगेगा कि उन का आपस में कितना धक्कापेल है।

८—जो पराकोटि के नहीं उन को हर समय याचना करने की लिप्सा बनी रहती है जिस से गृहस्थ तंग हो रहा है।

९—साधु लोग अच्छा खाना, पीना, रहन, सहन, स्थान बनाने में सदा तत्पर हैं पुनरपि गृहस्थ यह कहता है कि यह सत्य पर हैं।

१०—द्रव्य को एकत्रित करना सूद के द्वारा फिर उस का

बढ़ाना और यदि खटपट हो जावे तो फिर न्यायालय में जा कर लड़ना, जागीर, हाथी, घोड़े, गौ, भैंस सभी बन्धे हुए हैं यह कौतुक देखने में आ रहा है। इन में अनेक महात्मा भी हैं परन्तु वह भी उस ही उलझन में फंसे हुए हैं और उन के ही भाव उन के मन में बसे हुए हैं। जिस से संसार की हानि हो उस आश्रम के विधान की वेद आज्ञा दे यह कैसे हो सकता है?

मेरे मित्र! संन्यास तो त्याग प्रधान आश्रम है, त्याग से अमृत पद की प्राप्ति होती है, यह वेदादि सच्छास्त्रों का आदेश है। संन्यास और धनादि पदार्थों की लिप्सा यह दोनों प्रतियोगी पदार्थ हैं, एक के होने में दूसरे का अभाव और एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव है। संन्यास शब्द तो इस अर्थ का अर्थी है। अब यदि कोई इस के स्वरूप को बिगाड़ कर स्वेच्छाचारी हो जावे तो इसमें संन्यास शब्द का क्या दोष है? इसका कारण यह है कि गृहस्थ स्वयं शास्त्र तात्पर्य से अनभिज्ञ हो गया, उस में किसी प्रकार परीक्षा करने की शक्ति न रही, फिर जिस ने जैसा समझाया वैसा ही मानने लगा। यह सत्य ही है कि लोभी देश में बहकाने वालों की अधिकता हो ही जाती है। जब गृहस्थ ने अपने प्रकारताधर्म को ठीक २ न सम्भाला, तब उस से उत्पन्न होने वाली सन्तान माता पिता की सेवा और गृहस्थ का निर्वाह न कर के साधुओं के दल में जा मिलती है, यह दोष तो गृहस्थ की ओर संकेत करता है इस लिये गृहस्थ का सुधार तो सच्चे संन्यासियों के उपदेश से और इन का सुधार सुलझे हुए गृहस्थियों के द्वारा ही हो सकता है, यदि अपनी उन्नति का ध्यान हो अन्यथा नहीं। जैसे

उपदेश होने से जनता में भ्रम फैलता जाता है और सन्मार्ग हाथ नहीं आता।

२–संन्यासी धनी और गृहस्थ निर्धन देखने में आते हैं।

३–संन्यासियों के तो बड़े २ स्थान और गृहस्थ बिचारे लामकान देखे जाते हैं।

४–संन्यासी आनन्द पूर्वक स्वादु पदार्थों का आहार करते हैं, और अनेक गृहस्थ लोग भूखों मरते हैं।

५–आश्चर्य है कि गृहस्थ कमाते हैं और यह बैठे हुए आनन्द से खाते हैं।

६–गृहस्थ को कैसा उलटा समझा दिया कि हमारी सेवा करने से तुम्हारा कल्याण है, हम को देना ही कार्य महान् है, स्वर्ग की प्राप्ति का यह ही अंग प्रधान है, ईश्वर प्राप्ति की यह ही सोपान है। इस प्रकार की अनेक बातें बता कर सच्चे रास्ते से भुला दिया।

७–संन्यास का यह बड़ा ही अद्भुत खेल है कि गृहस्थ के समान इन में भी अनेक जातियों का बे मेल है। कुम्भ के समय गंगा स्नानार्थ जा कर यदि देखो तो पता लगेगा कि उन का आपस में कितना धकापेल है।

८–जो पराकोटि के नहीं उन को हर समय याचना करने की लिप्सा बनी रहती है जिस से गृहस्थ तंग हो रहा है।

९–साधु लोग अच्छा खाना, पीना, रहन, सहन, स्थान बनाने में सदा तत्पर हैं पुनरपि गृहस्थ यह कहता है कि यह सत्य पर हैं।

१०–द्रव्य को एकत्रित करना सूद के द्वारा फिर उस का

बढ़ाना और यदि खटपट हो जावे तो फिर न्यायालय में जा कर लड़ना, जागीर, हाथी, घोड़े, गौ, भैंस सभी बन्धे हुए हैं यह कौतुक देखने में आ रहा है। इन में अनेक महात्मा भी हैं परन्तु वह भी उस ही उलझन में फंसे हुए हैं और उन के ही भाव उन के मन में बसे हुए हैं। जिस से संसार की हानि हो उस आश्रम के विधान की वेद आज्ञा दे यह कैसे हो सकता है?

मेरे मित्र! संन्यास तो त्याग प्रधान आश्रम है, त्याग से अमृत पद की प्राप्ति होती है, यह वेदादि सच्छास्त्रों का आदेश है। संन्यास और धनादि पदार्थों की लिप्सा यह दोनों प्रतियोगी पदार्थ हैं, एक के होने में दूसरे का अभाव और एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव है। संन्यास शब्द तो इस अर्थ का अर्थी है। अब यदि कोई इस के स्वरूप को बिगाड़ कर स्वेच्छाचारी हो जावे तो इसमें संन्यास शब्द का क्या दोष है? इसका कारण यह है कि गृहस्थ स्वयं शास्त्र तात्पर्य से अनभिज्ञ हो गया, उस में किसी प्रकार परीक्षा करने की शक्ति न रही, फिर जिस ने जैसा समझाया वैसा ही मानने लगा। यह सत्य ही है कि लोभी देश में बहकाने वालों की अधिकता हो ही जाती है। जब गृहस्थ ने अपने प्रकारताधर्म को ठीक २ न सम्भाला, तब उस से उत्पन्न होने वाली सन्तान माता पिता की सेवा और गृहस्थ का निर्वाह न कर के साधुओं के दल में जा मिलती है, यह दोष तो गृहस्थ की ओर संकेत करता है इस लिये गृहस्थ का सुधार तो सच्चे संन्यासियों के उपदेश से और इन का सुधार सुलझे हुए गृहस्थियों के द्वारा ही हो सकता है, यदि अपनी उन्नति का ध्यान हो अन्यथा नहीं। जैसे

उष्णता से सताये हुए पुरुष को शीतल छाया और वायु की आवश्यकता होती है । इसी प्रकार सन्मार्ग से फिसले हुए लोकसुख से खिसले हुए भारतीय गृहस्थ को अपने कल्याणार्थ सत्यवादी निश्छल, दोष रहित, उपकारार्थ नित्य भ्रमणकारी, संन्यासी के उपदेश की आवश्यकता ही है। ऋषि दयानन्द जी महाराज के उपदेश को साठ वर्ष हो गए, उन के उपदेश से चलता हुआ जहाज फिर थोड़े पानी में आ कर ठहर गया है। अब किसी महात्मा की उपदेश रूपी लहर से अपने स्थान को छोड़े तो आगे बढ़े । पता नहीं कि वह महात्मा कब किधर से आता है ? मेरे मित्र ! रोगी के दर्शन से यह अनुमान नहीं हो सकता है कि यह कभी नीरोग नहीं था । ठीक इसी प्रकार वर्तमान संन्यास आश्रम को देख कर, वेद विहित संन्यास आश्रम भी ऐसा ही था, यह कहना उचित नहीं है । वेद के संकेत में संन्यासी वही है कि जिस की इस प्रकार की प्रतिज्ञा हो—

१—मैं संसार की मोह ममता को छोड़ कर मोक्ष पद का अधिकारी हूं।

२—मुझ से किसी प्राणी को भय न हो।

३—मुझे न लोकैषणा सताती, न पुत्रैषणा दबाती और न वित्तषणा ही मेरे सामने आती है। क्या इस प्रकार का मनुष्य संसार के लिए कभी अहितकर सिद्ध हुआ है ? कदापि नहीं। संन्यास का मुख्य प्रयोजन यह है कि मनुष्य को संसार से पृथक् होते समय किंचित् कष्ट न हो। मनुष्य जिस वस्तु को अपने हाथ से छोड़ता है, उसके त्याग में सुख भान होता है

और जो इससे बलात्कार छुड़ाई जाती है, उसके त्याग में यह दुःख मानता और रोता है। यही निदर्शन वेद का है कि तुम संसार में सदैव रहने के लिए नहीं आए, इसका त्याग करना ही होगा। अपनी इच्छा से छोड़ोगे तो आराम पाओगे अन्यथा प्राकृतिक आघात से पृथक् किए जाओगे, रुदन करोगे और पछताओगे। मृत्यु से पहले मृत्यु को मारना संन्यासी का काम है। संसार की ममता ही मृत्यु है, जो इसको छोड़ देता है वह सच्चा संन्यासी है, ऐसे संन्यासियों से तो संसार की कोई हानि नहीं होती॥

अब इसके आगे सामान्य गतिका निरूपण किया जावेगा। इसमें साधारण उपदेश के द्वारा हितोपदेश होगा॥
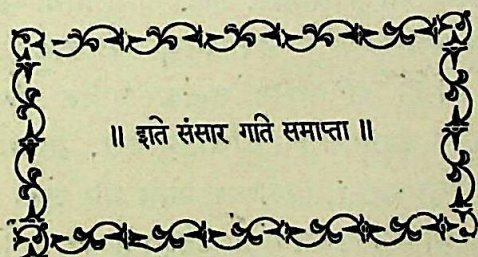
॥ इति संसार गति समाप्ता ॥

सामान्य गति

किसी समय अनेक पुरुषों ने किसी महात्मा के समीप जाकर बड़ी ही श्रद्धा और जिज्ञासु भाव से यह प्रश्न किया कि भगवन्! मनुष्यसमाज दुःख के त्याग और सुख प्राप्ति की इच्छा तो सदैव करता है, परन्तु इसके विपरीत मनुष्य समाज की दुर्दशा, जातियों की दुरवस्था और देशों का अधःपतन देखने में आता है इसका क्या करण है? कृपया इसका उत्तर दें—महात्मा का वचन यह है कि—

विवेकवैराग्यनिष्कामकर्मशून्यत्वात् ॥१७३॥

विवेक, वैराग्य और निष्काम कर्म के त्याग देने से सुख अपने साधनों के सहित दुःखावस्था में परिणत हो जाता है। यथा रुग्ण अवस्था में आहार, जल, वायु प्रायः सब ही प्रतिकूल और स्वस्थावस्था में सब अनुकूल हो जाते हैं, एवं विवेकादि गुण आत्मा को नीरोग बनाकर प्रत्येक वस्तु से लाभ उठाने के योग्य बना देते हैं। उचितानुचित, हिताहित, सत्यासत्य की परीक्षा करना, परमेश्वर प्राप्ति और जन्म मरण बंधन की हानि करना मनुष्य का मुख्य उद्देश्य है यह विवेक का काम है। यह एक नेत्र है जिससे प्रत्येक वस्तु यथार्थरूप में देखी जाती है॥

मनुष्य ने जिस वस्तु को दुःख या सुख का साधन निश्चित कर लिया है, यदि यत्न से उसके त्याग या ग्रहण में सफल हो

जाता है, तो वहां विवेक सार्थक और सच्च वैराग्य का उदय होना माना जावेगा। इस के पश्चात् बुद्धि शुद्धि द्वारा इस को यह ज्ञान हो जायगा कि रागसहित कृतकर्म चाहे वह शुभ ही हों, जन्ममरण का बीज हैं। इस विचार से वह सकाम कर्मों को सदोष जान कर निष्काम कर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। उपर्युक्त तीनों नियम लौकिक और पारलौकिक सुख के साधन हैं, इन से वंचित होकर संसार में दुःख की वृद्धि हो जाती है। उन पुरुषों के प्रश्न का महात्मा जी ने यह सारभूत उत्तर दिया। यह बड़े ही विचार का काम है कि कर्म करना और उस के बन्धन में न आना, प्रत्येक की समझ में आने वाली बात नहीं है। वेदादि सच्छास्त्र इस बात के बड़े ही पक्षपाती हैं। इनकी मात्रा में जितनी तारतम्यता हो उतना ही सुख दुःख सामने आवेगा॥

विवेक का विरोधी अविवेक है अब इसका विचार होगा—

अविवेकः परमापदां पदम् ॥१७४॥

विवेक विरोधी पदार्थान्तर अविवेक हर प्रकार की विपत्तियों का बीज, दुःखों का निदान और वैर विरोध का स्थान है। अविवेक वस्तु के यथार्थ स्वरूप को छिपाता है और पुनः रंजनात्मक राग को जगा कर स्वार्थसिद्धि के लिए तत्पर कराता है, यह मनुष्यसमाज का परम शत्रु मित्रसम प्रतीत होता है। महाभारत का युद्ध इस खिलाड़ी का ही सारा खेल था। यत्न करने पर भी वहां कहां मेल था। यथार्थ मार्ग से हटाना इसका काम है, उलटे मार्ग में चल कर फिर कहां किस को आराम है? पाठक विचार दृष्टि से यदि देखेंगे तो पता

लगेगा कि जहां इस की सत्ता बढ़ी हुई है वहां समस्त दुःखों का स्थान है। यह प्रबल प्रचण्ड शत्रु दुःखोत्पादक हानिकारक तो है परन्तु विवेक के उदय होने से मुरझा जाता और स्वयमेव अपने स्थान को छोड़ जाता है इतनी इस में दुर्बलता है॥

अन्यदपि—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१७५॥

विवेकशील सन्तों के वचन हैं कि जो मनुष्यसमाज विवेक भ्रष्ट हो जाता है शतशः प्रकार से उसमें गिरावट होने लगती है। उपद्रवों के आने जाने के अनेक मार्ग खुल जाते हैं। जैसे-एक बर्फ की शिला को बल से पाषाण पर फेंक दें तो वह टूट फूट कर खण्ड २ हो जाती है, इसी प्रकार विवेकहीन देश का प्रत्येक अंग भंग होकर पुनः उनके मिलने मिलाने का ज्ञान जाता रहता है। सात कोटि अछूतों की समस्या, जो हिन्दुओं के अंग हैं जिन को हिन्दुपन का अभिमान है, दिनों दिन कैसी जटिल होती जाती है जो सुलझने में ही नहीं आती। इस का कारण यह है कि सुधारक स्वयमेव सुलझे हुए नहीं हैं, केवल नामधारी हिन्दुओं के हम-ज़बानी हैं हमदिली नहीं हैं। जो प्रेम रखते हैं उनकी संख्या अत्यल्प है। हां में हां मिलाने, बढ़ २ कर बातें सुनाने वाले तो बहुत ही हैं, परन्तु वह समय पर काम आने वाले नहीं हैं। विवेकहीनता का ही यह सब पसारा है। भारत देश को तो इस ने ऐसा बिगाड़ा है कि संभलने का न कोई उपाय ही सूझता और न कोई सहारा ही है अब क्या करना चाहिए?

पुरुषार्थं कुरु यदि सुखमिच्छसि ॥१७६॥

यदि सुख की इच्छा है, तब तू पुरुषार्थ कर। अर्थात् विवेक, वैराग्य और निष्कामकर्म सम्पादन करने में पुरुष को सदैव तत्पर रहना चाहिये। शास्त्र में पुरुषार्थ की बड़ी ही प्रशंसा की है, कहीं इसको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से कहा है। इन चारों के अन्तर्गत संसार के समस्त पदार्थ आ जाते हैं। अथवा पुरुष का जो अर्थ हो उसका नाम भी पुरुषार्थ है, वह सुख की लिप्सा और दुःख की जिहासा है, जो सर्वदा अन्तःकरण में एकरस बनी रहती है। मर्यादापुरुषोत्तम राम अपने पुरुषार्थ से ही रावण पर विजयी हुए। पुरुषार्थ के ही बल से गमनार्थ समुद्र, भूमि और आकाश के मार्ग कितने सुगम और सरल होगए हैं। पुरुषार्थी अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये कभी भी हतोत्साह नहीं होता है। मनुष्य की बनावट को देखने से यह सिद्ध होता है कि परमात्मा ने इसको पुरुषार्थ करने की आज्ञा दी है। जो उस शासक, सर्व वस्तु निर्मापक की आज्ञा का भङ्ग करेगा, वह सुख से वंचित रहेगा। अत एव पुरुषार्थ सर्व कार्यसिद्धि का हेतु है इसका कभी भी परित्याग न करना चाहिये—

श्रमं विना नास्ति महाफलोदयः ॥१७७॥

यह पूर्व कथन का सहायक वचन है। उद्योग, श्रम, पुरुषार्थ, उद्यम, प्रयत्न सब समानार्थक हैं। साधारण जीवन यात्रा तो संसार में सब की ही होती है परन्तु महाफल स्वाधीनता का उदय तो श्रम के विना कदापि नहीं होता इसलिए श्रम के विना सुख की इच्छा करने वाला मनुष्य शुष्क वृक्ष से छाया

की आशा करता है जो कभी भी पूरी नहीं हो सकती है। केवल श्रम से जो कार्य सिद्ध हो वह चिरस्थायी नहीं होता है जब तक इसका सहयोगी साथ न दे। वह क्या पदार्थ है?

सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिरिति ॥१७८॥

श्रम का सहयोगी सत्य है। सत्य की प्रतिष्ठा, इसकी महत्ता वेदादि सच्छास्त्रों में स्थान २ पर आई हुई है। सत्य परमात्मा का स्वरूप हैं। सत्य के सहारे संसार खड़ा है, सत्य ही से संसार का व्यापार चलता है। वही मनुष्यसमाज प्रतिष्ठा का भागी होता है जो सत्य को साथ लेता है। सत्य को भूल कर ही आत्मा जन्ममरण के बन्धन में आता है, और इसकी छाया में जाकर ही अमृतपद को पाता है। अत एव सत्य ही अमृत है इस लिए तो यह कहा है कि सत्य और श्रम दोनों मिल कर सर्वार्थ सिद्धि के हेतु हैं। सत्य के विना श्रम और श्रम के विना सत्य, अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं होता है॥

अब सुख और उसके साधनों की परीक्षा कैसे हो?—

प्रमाणतो ऽर्थप्रतिपत्तिरिति न्यायविदां संकेतः ॥१७९॥

प्रमाण के द्वारा ही अर्थ का ज्ञान होता है। यह न्याय-शास्त्र के जानने वालों का संकेत है। साधारण वस्तु से लेकर परम सूक्ष्मतत्त्व की परीक्षा का यही प्रकार है। प्रमाण के कथन से प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति का बोध होना ठीक ही है। जो प्रमाण के साथ किसी वस्तु की परीक्षा करता है, उसको प्रमाता कहते हैं, और जिस वस्तु की परीक्षा की जाती है उस की संज्ञा प्रमेय है, और वस्तु का यथार्थज्ञान प्रमिति कहलाता है, और जो ज्ञान के साधन हैं उनका नाम प्रमाण है। इन चारों

में से यदि प्रमाता या प्रमाण विकल होगा, तो फिर प्रमेय का यथार्थ बोध नहीं हो सकता है। वास्तव में प्रमाता परमात्मा है, उसका ज्ञान प्रमाण है, प्रमेय प्रकृति आदि वर्ग हैं, उनका यथार्थ प्रपंच के रूप में परिवर्तित हो जाना ही प्रमिति है, यह सर्वथा निर्दोष है। प्रपंचावस्था में जीवात्मा अल्प ज्ञान के कारण किसी अंश में सदोष बना ही रहता है, जब तक विशेषज्ञ न हो जावे। इसके दूषित होने के साथ प्रमाण ठीक होने पर भी दूषितसम हो जाता है। प्रमेय और प्रमिति अपने स्वरूप में समान ही रहते हैं। प्रमाता और प्रमाण के सहचार से यह सदोष माने जाते हैं। जीवात्मा को यथार्थ विशेषज्ञता तब ही जाननी चाहिए, जब कि वह स्वयं प्रमाता, उसका ज्ञान प्रमाण, स्वस्वरूप प्रमेय, और उसका साक्षात्कार प्रमिति है ये परस्पर यथावत् रीति से समन्वित हों। यह ही मुक्ति प्राप्ति का मार्ग है। अन्यथा जीवात्मा सांसारिक पदार्थों का कितना ही ज्ञाता हो जावे संसार मार्ग से पृथक् होकर मोक्षपद का अधिकारी नहीं हो सकता है। आत्मस्वरूप ज्ञान के अनन्तर परमेश्वर साक्षात्कार के लिए पुनः प्रयत्नान्तर की अपेक्षा नहीं है। संसारावस्था में जो जीवात्मा प्रमाता, अन्तःकरण सहित नेत्रादि इन्द्रियां प्रमाण, रूपादि विषय प्रमेय, और उनका यथार्थ ज्ञान प्रमिति कहलाता है। अभी अनुमानादि प्रमाणप्रक्रिया में जाकर इन्द्रियों की प्रमाणता गौण हो जाती है। अन्तःकरण मुख्यरूप से सहायक हो जाता है। जैसे किसी वस्तु को देख कर कुछ विचारने के समय नेत्र निमीलन कर उसके पूर्वापर को विचारता है। प्रथम—वस्तु ज्ञान में मन और नेत्र दोनों प्रमाण

थे, अब नेत्र विषयविहीन किसी बात को जानने के निमित्त मन तो कार्य कर रहा है, नेत्र का कोई सम्बन्ध न रहा, कभी प्रमेय की पहचान में किसी इन्द्रिय के असमर्थ हो जाने से इन्द्रियान्तर सहायक बन जाता है, जैसे किसी पुरुष ने वसन्त को अनेक बार देखा है परन्तु उस के नेत्रों में दोष आ जाने से अब वह ठीक नहीं पहचान सकता है। परन्तु जब कोयल ने शब्द किया तब उस को यथार्थबोध हो गया कि यह वसन्त ही है। यहां नेत्र के दूषित हो जाने से प्रमाता सदोष सम हो कर प्रमेय को ठीक नहीं जान सकता है। इन्द्रियों के ठीक होने पर भी यदि मन असावधान हो तो भी किसी वस्तु का बोध नहीं होता है। इस से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा को बाह्य स्थूलविषयों को जानने के लिए सब इन्द्रियों की सहायता लेनी पड़ती है। स्थूल पदार्थों के सूक्ष्मांश को जानने के लिये मन के संबन्ध को भी छोड़ देना होता है। यहां तो केवल योगज धर्म ही जीवात्मा को अग्रसर करता है, कोई उपायान्तर नहीं। पुनः उस को प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्दप्रमाण सिद्ध कहो या साक्षात्कार कहो ठीक ही है। उपर्युक्त वचन में जो न्यायशब्द आया है उस का क्या लक्षण है?—

पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः ॥१८०॥

पक्षपात से रहित आचरण को न्याय कहते हैं। राग द्वेष से पक्षपात करने का मनुष्य का स्वभाव हो जाता है, जो सर्व पापों का बीज है, जिसके साथ मनुष्य का राग हो जाता है, उसकी मिथ्या बात को ठीक मानता और जिसके साथ द्वेष होता है, उसकी सत्य बात को भी मिथ्या जानता है। ऐसी

अवस्था में संसार की मर्यादा कैसे ठीक रह सकती है। मनुष्य समाज के लिए यह असन्मार्ग दुःखोत्पादक है, अत एव मनुष्य को सदैव सत्य का पक्षपाती होना चाहिए। यह न्यायशास्त्र का वाद बड़ा ही युक्तियुक्त है॥

प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः ॥१८१॥

प्रमाण के द्वारा अर्थ की यथार्थपरीक्षा करना न्याय कहलाता है। अर्थ–सुख, दुःख और इनके साधनों का नाम है, पूर्व भी कहा गया है। प्रमाणों की संख्या में कुछ व्यत्यय देखने में आता है। कभी इन की प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव यह आठ संख्या थी, और सम्प्रति ऐतिह्यादि अभावान्त प्रमाणों को प्रत्यक्षादि चारों के अन्तर्गत कर के निर्वाह किया जाता है। कहीं उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मान लिया जाता है, क्वचित् प्रत्यक्ष और अनुमान को आदर दे कर शब्द को भी छोड़ दिया जाता है, और किसी ने केवल प्रत्यक्ष को ही माना है। यह अपनी २ विचार शक्ति है परन्तु समझने से सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने विना निर्वाह नहीं हो सकता है॥

इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के पश्चात् यदि आत्मा को यथार्थ बोध हो जावे तो उसको प्रत्यक्ष कहते हैं॥

सहचर नियम दर्शन के पश्चात् कुत्रचित् एक अंश के देखने से द्वितीय अ का आत्मा को यदि अविपरीत बोध हो जावे तो उसका नाम अनुमान होगा॥

किसी आप्तोपदेश के पश्चात् यदा कदा तुलनात्मकदृष्टि से वस्त्वन्तर का याथात्म्यभाव से यदि आत्मा को भान हो जावे

तो उसकी उपमान संज्ञा है ॥

आप्तोपदेश का नाम (जो वचन परकीय हित को सामने ला, अहित को हटा कर कहा जावे) शब्द प्रमाण है। यह चारों प्रमाण सांसारिक वस्तुओं की परीक्षा करने में यदि प्रमाता सावधान है तो पर्य्याप्त हो सकते हैं। इन चारों का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है, एक के न होने से सर्वपरीक्षा प्रकार उलझन में पड़ जाता है और स्थान २ में भ्रान्ति की सत्ता जाग पड़ती है। इन की व्याख्या दर्शन ग्रन्थों में भली भांति की हुई है ॥

ऐतिह्य—नाम इतिहास का है, यदि यथार्थ में किसी के जीवन वृत्तान्तादि का प्रकाशक हो ॥

अर्थापत्ति—नाम एक अर्थ से अर्थान्तर के बोध हो जाने का है। यथा गुरु ने शिष्य को कहा कि वस्त्र मलिन हो रहे हैं उसने कहा कि धो डालता हूं। मूर्ख रहना अच्छा नहीं अर्थात् विद्याभ्यास करो ॥

संभव—यथा बड़ी संख्या में छोटी संख्या का होना संभव ही है, परस्पर प्रेम में सुख की संभावना ही है ॥

अभाव—किसी समानाधिकरण वस्तु का व्यधिकरण में जो अदर्शन है, उसका नाम अभाव है, यथा गोशृंग का गर्दभ में न होना है ॥

प्रसंगागत अभाव पदार्थ का भी निरूपण करना ठीक जान पड़ता है इसके भेद (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव) चार हैं—

प्रागभाव—उत्पद्यमान वस्तु की सत्ता उसकी उत्पत्ति

से पूर्व अपने कारण में विद्यमान है, जैसे घट मृत्पिण्ड में, पट तन्तुओं में, और घटिकायन्त्र अपने पुर्जों में वर्त्तमान है इसका नाम प्रागभाव है ॥

प्रध्वंसाभाव—उत्पद्यमान वस्तु जब किसी आघात या दैव के कोप से विनाश को प्राप्त हो जाती है, उसका नाम प्रध्वंसाभाव है–यथा घट या काचपात्र का गिर कर टूट जाना अथवा शयन करने के पश्चात् फिर न उठना आदि ॥

अन्योऽन्याभाव—एक वस्तु का वस्त्वन्तर के रूप में कभी भी बोध न होना अन्योऽन्याभाव कहलाता है, जैसे घट पट और पट घट कभी नहीं हो सकता है ॥

अत्यन्ताभाव—शश शृङ्ग और वन्ध्यापुत्र का कभी भी दृष्टपथ में न आना, अन्यन्ताभाव कहलाता है ॥

संसर्गाभाव—इन चारों से कुछ पृथक् है, संसर्ग के विच्छेद से जब किसी को बोध हो, तब उसकी संज्ञा संसर्गाभाव है, यथा चैत्र दुकान और मित्रगृह में रहता है, जब किसी ने उसकी खोज की, न मिलने से जो बोध हुआ उसको संसर्गाभाव कहते हैं ॥

प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा होती है, यह पूर्व कहा गया है। अत एव अर्थ का लक्षण अवश्यमेव करना चाहिए ॥

अर्थस्तु सुखं सुखहेतुः दुखं दुःखहेतुश्च ॥१८२॥

सुख और उस के साधन, दुःख और उस के हेतु को अर्थ कहते हैं । यद्यपि दुःख और उस के कारण को अनर्थ कहना उचित है, तथापि प्रमाणों से इन की परीक्षा समान रूप में होती है, इस लिए दोनों को अर्थ कहा गया है । साधन के

विना साध्य की सिद्धि नहीं होती है, यह यथार्थ बात है। इस लिए सुखप्राप्तिकी इच्छा से उस के साधन को प्राप्त करना और दुःख निवृत्ति की लिप्सा से उस के कारण को हटाना ही होता है, अन्यथा मनुष्यप्रवृत्ति सफल नहीं होती। इस परीक्षा में जो मनुष्य उत्तीर्ण हो जाता है, सर्व प्रकार से सुख उस के सामने आ जाता है और जो इस के समझने में अयोग्य है वह दुःख भोगभागी है। तुल्य बल विरोध में समानता है। सुख दुःख का सामान्य ज्ञान तो प्रायः सब को ही है। विशेषज्ञान में भूल का व्यापार है, यही तो कारण है कि मनुष्य अपने सुख के सामने अन्य के सुख दुःख की उपेक्षा करता है॥

सम्प्रति विद्या और धन वृद्धि के साथ २ इस स्वार्थ ने बड़ा ही बल बढ़ा लिया है, जिस से मनुष्य चिन्तित और क्रूर कर्म हो रहा है॥

इस दोष को दूर करने का उपाय-

अर्थवादस्तु अनर्थनिवारणायैव भवति॥१८३॥

अर्थ का निरूपण करना अनर्थ की निवृत्ति के निमित्त ही होता है। यथा ब्रह्मचर्य से विद्या का पढ़ना उत्तम होता है, इस से यह सिद्ध हो रहा है कि अल्पायु में विवाह करना, और विद्या से वञ्चित रहना ठीक नहीं है। पवित्र रहना स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही हितकर है, इस से बुद्धि की वृद्धि होती है, यह वचन इस की निवृत्ति करता है कि मलिनता बुद्धि को मन्द करती है, और रोग को बढ़ाती है। परस्पर का प्रेम सुख की मात्रा को बढ़ाता है, इस से यह जाना जाता है कि द्वेष दुःख का निदान है, उस को छोड़ना ही ठीक है इत्यादि॥

भूतार्थवादस्तु इतिहासे भवति ॥१८४॥

भूतार्थ–सिद्धार्थ का कथन करना इतिहास में होता है। यथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम द्वितीय वार किसी से वचन नहीं कहते थे, वह सत्यवादी थे, प्रत्येक पुरुष को उन का अनुकरण करना चाहिए, यह प्रकट हो रहा है। परन्तु कितना खेद का समय है, कि उन के पीछे चलने वाले किस प्रकार सत्पथ को छोड़ कर कुपथ गामी हो रहे हैं। राम और भरतादि का परस्पर बड़ा ही प्रेम था। यह ही कारण है कि परस्पर मेल से रहने और विपरीत कर्म करने वाले रावणादि उन के हाथ से पराजित हुए। महाभारत का युद्ध लोभादि दोषों के बढ़ जाने से हुआ जिस के धक्के से आर्यजाति अद्यावधि फिसलती ही जाती है। यह वृत्त इस बात का प्रकाशक है कि उन ही स्वार्थादि दोषों के रहते हुए क्या यह अपने को संभाल सकती है? कदापि नहीं? उस का त्यागना ही श्रेयस्कर है॥

चरितार्थवादस्तु वर्तमाने भवति ॥१८५॥

यथा–वसन्त विद्यार्थी अध्ययन में बड़ा ही चतुर, स्वभाव सरल, प्रकृतिसुन्दर, शरीर सबल और अपने कर्त्तव्य पालन में कभी सुस्ती नहीं करता है। वर्त्तमान में यह सब बातें जिस में चरितार्थ हो रही हैं, उस का कथन अन्य विद्यार्थियों के सुधार के निमित्त है॥

कृतार्थवादस्तु फले भवति ॥१८६॥

यथा–प्रेमप्रकाश बड़ा ही बुद्धिमान् है, उस ने अपने पुत्र को योग्य देख कर अपनी सर्व सम्पत्ति को उस के अधीन कर दिया, और आप बड़ी प्रसन्नता से एकान्त सेवन करने लगा।

विष्णुमित्र की कोई सन्तान नहीं, वह अपनी सर्वसम्पत्ति को जनता के हितार्थ दे कर सन्त समागम में अपना समय बिताने लगा। यह कथन अन्य पुरुषों की रुचि को सन्मार्ग में लगाता है॥

सर्वार्थवादस्तु ब्रह्मणि भवति ॥१८७॥

परमेश्वर व्याख्यान में सर्वार्थवाद का विधान है॥

प्रश्न–किस के जान लेने से सर्व वस्तु का ज्ञान हो जाता है?

उत्तर–यह फल परमेश्वर ज्ञान में है कि जिस के जान लेने में अज्ञात वस्तु ज्ञात के समान ही हो जाती है अन्य किसी भी अर्थ में यह नहीं है, इस में किसी भाग्यवान् की ही गति होती है। यद्यपि प्रत्येक पुरुष इस का अधिकारी है। इस विचार में चल कर मनुष्य को बड़ा ही आनन्द होता है, वह प्रत्येक वस्तु को उस के यथार्थ स्वरूप में देखता है, तो भी अनेक जन्म की वासनाओं के विघ्न बाहुल्य से सब को यह पवित्रमार्ग हितकर नहीं जान पड़ता है॥

प्रश्न–संसार में सुख और दुःख का ही पसारा देखा जाता है इस की उत्पत्ति का मूल क्या है?

शुभाशुभकर्मणां फलं सुखं दुःखञ्च ॥१८८॥

यह बात शास्त्र सिद्ध और लोक प्रसिद्ध है कि शुभ-इष्ट कर्मों का फल सुख और अशुभ-अनिष्ट कर्मों का फल दुःख है। कर्मों का विचार बड़ा ही सूक्ष्म है, इस गोरखधन्धे में फंसे हुए जीव का छुटकारा अत्यन्त ही परिश्रम साध्य है। भूल से इस उलझन को जितना सुलझाओगे यह उतनी ही उलझती जावेगी। अत एव विना युक्ति के मुक्ति कहां? कर्म विचार दुर्गमपथ

होने पर भी विचारशील पुरुषों ने इस को सुगम बनाने का यत्न किया है। मन, वाणी और शरीर से कर्म का सम्पादन किया जाता है। प्रथम कर्म का अंकुर मन में उत्पन्न हो कर वाणी और शरीर के द्वारा प्रकट होता है। इसलिए यदि मन की भूमि पवित्र है तो उस से शुभ कर्मों का और यदि मलिन है, तो उस से मन्द कर्मों के अंकुर का उदय होगा। यह कोई आवश्यक नहीं है कि कर्म के जो संस्कार मन में स्थान पकड़े वह वाणी या शरीर के मार्ग से हो कर प्रकट ही हों, मन में ही उन का संकोच विकाश हो कर वहां ही मुरझा जावें, अथवा आगे बढ़ने के लिए अपना बल ही न बढ़ाएं, परन्तु वाणी या शरीर का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है कि जिस में मन का सम्पर्क न हो। प्रथम मन्द मानसिक कर्मों में स्वार्थ मुख्य है, अन्य सब कृपणता, परोत्कर्ष में मनोमालिन्य, चिन्ता, दीनता, अविश्वास, मनोराज्य इत्यादि इस की ही सन्तान हैं। उत्तम मानसिक कर्मों में मुख्य परहित है। प्रेम, हर्ष, उत्साह, उदारता, निर्भयता, श्रद्धा और प्रभु प्रेम उस के आश्रित हैं। वाणी के मन्द कर्मों में मुख्य व्यर्थालाप है मिथ्या भाषण, कटु वचन, निन्दा और दोषोत्पादक पुस्तकों का पठनादि उस के आधीन है। वाणी के उत्तम कर्मों में मुख्य विचार पूर्वक भाषण करना है सत्य, प्रिय, हित, मधुर वचन स्वाध्यायादि उस के अंग हैं। शारीरिक मन्द कर्मों में मुख्य हिंसा अन्याय पूर्वक किसी को कष्ट पहुंचाना है स्तेय, आज्ञा के विना छिप कर या बलात्कार किसी की वस्तु को ले लेना, प्रतिषिद्ध मैथुन, अधिक विषय सेवन अपवित्रतादि उस की सन्तति है, शरीर के उत्तम कर्मों

में मुख्य सेवा धर्म है यह सर्व प्रकार के सुधार का आधार भूमि है, दान, पवित्रता और सच्चरित्रता यह सर्व शुभ कर्म यदि ज्ञान-पूर्वक किए जाते हैं, तब तो हितकर सिद्ध होते हैं, अन्यथा इन का फल भी विपरीत ही होता है । जिस प्रकार तीव्र वायु के आघात से महावृक्ष मूल से गिर जाता है, ठीक इसी प्रकार सुख की इच्छा से किए हुए उत्तम कर्म भी यदि उन को ज्ञान की सहायता न हो तो दुःखप्रद ही सिद्ध होते हैं। इसलिए मनुष्य समाजको ज्ञानका पुजारी होना ही चाहिए। यदि विश्वास नहीं तो किञ्चित् विचार नेत्र खोल कर निहार लो कि भारतवर्ष एक अर्ब से कुछ ऊपर प्रतिवर्ष दान करने वाला कैसी दुर्दशामें फंसा हुआ है ॥

नैत्यिक और नैमित्तिक भेदसे कर्म दो प्रकार का है, प्रथम वेदादि सच्छास्त्र प्रतिपादित पञ्चमहायज्ञ हैं, जिन का संकेत हम पहले भी कर चुके हैं, और जो मनुष्य समाज के लिए (यदि उनका अनुष्ठान विचार पूर्वक किया जावे तो) बड़े ही हितकर हैं ॥

ब्रह्मयज्ञ—एक तत्त्व ईश्वर का पूजन करना, यही सर्वोत्तम कर्म है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य इसी से पूरा होता है। ऐसा जान कर यदि अनुष्ठान किया जावे तो मनुष्य के अंतःकरण में अनिष्टात्मिका प्रवृत्ति का उत्थान कदापि नहीं होता । वेदादि सच्छास्त्रों का पठन-पाठन एतदर्थ ही होता है । यह नियम जन-समाज के लिए बड़ा ही सुखप्रद और हर्ष वर्धक है, इसी से साधारण पुरुष लोकोत्तर पद को प्राप्त करते हैं ॥

देवयज्ञ—विद्वानों का सत्कार करना पवित्र कर्म है यह

नियम विद्यावृद्धि के लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। विद्वानों के द्वारा ही संसार का उपकार होता है, साधारण जन इसमें असमर्थ ही देखे जाते हैं, सृष्टि में जिस वस्तु का आदर होता है, उसकी ही वृद्धि हो जाती है। यह प्रत्यक्ष है। भारत जनता ने भूल से विद्या के स्रोत को बन्द किया, और उसका अनिष्ट फल भी इसके सामने आया। परन्तु देवता उसकी ही संज्ञा हो सकती है, जो अविद्या आश्रित अनेक भेद भिन्न मनुष्य समाज के एकीकरण की बुद्धि रखता हो केवल विद्वान् का नाम नहीं॥

पितृयज्ञ—प्रथम योग्यता के साथ गृहस्थ में प्रवेश करना और सन्तान को योग्य बनाने में यत्नवान् रहना, पुनः सन्तान का माता पिता की आज्ञा पालन करने में तत्पर होना। इस यज्ञ का यह फल है कि मनुष्यसन्तति का सुधार होकर समस्त संसार सुधर जाता है। देव और पितर शब्द में इतना ही भेद है कि देव विद्या प्रकाश में और पितर उसके अनुष्ठान करने कराने में चतुर होते हैं॥

बलिवैश्वदेवयज्ञ—इससे मनुष्यजीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाले गौ अश्वादि पशुओं की नसल को अच्छा बनाना होता है, घृत दुग्धादि पदार्थ आहार में मिल कर शरीर को सबल सुन्दर बनाते और सोचने की शक्ति को अधिक उत्पन्न करते हैं, एक स्थान से स्थानान्तर आने के लिए अश्व, बैल, आदि बड़े ही उपयोगी हैं, इन सब को सबल बनाने में सदैव श्रम करना और समय २ पर इन में आने वाले दोषों को हटाना होता है॥

अतिथियज्ञ—विद्वान् धार्मिक जो परहित चिन्ता से उपदेशार्थ नित्य भ्रमण करता है, जिसके आने जाने का कोई समय नियत न हो उसकी अतिथि संज्ञा है। श्रद्धापूर्वक उसका मान और उसके वचन सुनने में सन्मान करना होता है। जैसे वृक्षमूल में जल मिलने से वह प्रफुल्लित हो जाता है, इसी प्रकार सत्कार से अतिथि सेवन करना मनुष्यसमाज को ऊंचा उठाता है। यद्यपि यह पंचमहायज्ञ साधारण जान पड़ते हैं, परन्तु विचार पूर्वक संस्कार करने में इनमें सर्व विद्याओं का आधारभूत बीज विद्यमान है॥

इन के अतिरिक्त एक भूतयज्ञ है जिसका अन्वय सब यज्ञों के साथ है, इसके विना संसार कभी भी उन्नति पथ में नहीं जाता है। इसका प्रकार यह है विद्वान् लोग एकान्त सेवी होकर पृथिव्यादि पंचभूतों के गुणों का आविष्कार करने में सदैव यत्न करते हैं, यह संसार की उन्नति का प्रबलोपाय है, यह नियम वेद प्रतिपादित होने से सिद्ध है, हमारे लिये श्रम-साध्य है, इसकी सिद्धि की शक्ति विद्वानों के मस्तिष्क में तो है यदि वह हरकत में आजावे। उत्तमाशय पुरुष जिनके द्वारा संसार का मङ्गल होता है, आते हैं। वह संसार को सीधा मार्ग दर्शाकर चले जाते हैं, उन के उपदेश को यदि मनुष्य समाज ग्रहण करले तो इसका हित है, प्रमाद करे तो इसका मन्दभाग्य है। परन्तु भविष्यत् के लिए समझदार बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाने में यत्न करना एक मुख्योपाय है। पठनावस्था में बालकों की स्वाभाविक प्रकृति को देखकर उनकी प्रवृति को उधर ही लगाना और १०-११ वर्ष के समीप बाह्य वातावरण

से आनेवाले दोषों को जो उनकी बढ़ती हुई प्रवृत्ति को मन्द करने या विपरीत ले जानेवाले होते हैं, उनको हटाना होता है। इस नियम के परीक्षक वही हो सकते हैं, जो लोकव्यवहार में बड़े ही चतुर हों साधारण पुरुषों को न इस प्रकार का ज्ञान ही होता है, न उनके हाथों में ऐसे पुरुष बन ही सकते हैं। जो देश इस व्यापार में निपुण नहीं है, उसके सामने धर्म देशोन्नति कभी भी नहीं आ सकती। बहिर्मुख अन्तःकुटिल, स्वार्थ के दास, इस धारा में नहीं तर सकते है, बातें बनाने में होशियार, अन्तः अशुचि, मन्द व्यापार से लाचार, इस कार्य को नहीं सम्भाल सकते हैं। उनके हाथों से शुभ कार्य में भी अल्पसमय में अनेक प्रकार के उपद्रव खड़े हो जाते हैं, जो फिर संभलने में नहीं आते ॥

प्रसङ्गवश एक नियम का जो उक्त विषय का पोषक है लिखना आवश्यक ही जान पड़ता है, यद्यपि ऐसे बालक जो शुभ संस्कारों को साथ लाते हैं, प्रायः अल्प ही होते है। तथापि संस्कारों की अति धीमी गति बच्चों की प्रकृति में चमकती होती है, उसके अनेक भेद हैं। जैसे किसी बालक में पढ़ने की और दूसरे में लड़ने की प्रवृत्ति होती है, एक स्वभाव से निर्भय और दूसरा भीरु प्रतीत होता हैं। किसी में पवित्र रहने का भाव है और दूसरे का मलिन स्वभाव है। एक बोलने बैठने में सावधान दूसरा चंचलचित्त और हठी जान पड़ता है। इत्याकारक बालकों की बहुत चेष्टायें देखने में आती हैं, अत एव मन्द संस्कारों की प्रवृत्ति को भले पुरुषों के संसर्ग से दबाना और उत्तम संस्कारों को ऊंचा उठाना चाहिए। इस मार्ग में जो

देश गति करता है, उसमें अच्छे समझदार पुरुष उत्पन्न होने लगते हैं। जितना वे अपने स्वभाव विद्या विचार से ऊंचे होते हैं, जिस देश के साथ उनका सम्बन्ध होता है उस देश का उतना ही गौरव बढ़ जाता है। भगवान् मनु की इसमें साक्षी है कि विद्यार्थी की प्रकृति को देख भाल कर आचार्य उस को उसके योग्य पदवी देता है, परन्तु आज इस क्रम का भंग देखा जाता है॥

पाठक इसे दृष्टान्त से समझें—किसी एक हलवाई ने कढ़ाई में दूध डालकर नीचे अग्नि जलादी अल्प समय के पश्चात् दूध में एक ऐसा कच्चा जोश उत्पन्न होता है कि वह सावधान न हो तो दूध कढ़ाई से बाहर निकल जावे अत एव वह अपनी हानि जानकर एक ऐसा उपाय करता है कि एक हाथ में पात्र लेकर दूध को उसमें भर कर ऊपर से शनै २ कढ़ाई में डालता है, और कुछ आंच भट्ठी में धीमी कर देता है। १५ मिनट इस अभ्यास के पश्चात् दूध शांत हो जाता है। अग्नि नीचे जलती है दूध पर मलाई आती जाती है पर वह फिर बाहर की ओर नहीं आता । दार्ष्टान्त–बालकों को १२–१३ वर्ष के लगभग एक कच्चा जोश उत्पन्न होता है। यदि माता पिता आचार्य उस समय सम्भाल कर बाहर के दूषित वातावरण से बचा लें तो पश्चात् बालक की प्रकृति बड़ी ही साध्वी हो जाती है। ऐसे ही पुरुष देश की ट्रेन चलाने के लिए इञ्जन का काम देते हैं। परन्तु अच्छे बालकों का अधूरे पुरुषों के सहवास से स्वभाव बिगड़ता ही देखा जाता है। इस लिए ये कहना ठीक ही है कि बालप्रवृत्ति तो स्वभाव से

(संस्कार प्रभाव को छोड़ कर) अच्छी ही होती है। ये सब कुछ तभी होता है, जब प्रभुकृपा सहायक हो। मनुष्य को सोच समझ कर पुरुषार्थ करना ही उचित है॥

नैमित्तिक कर्म–किसी निमित्त से जो किये जाते हैं उनकी संज्ञा है। जैसे अध्ययन अध्यापन कर्म तो नित्य ही होता है, वर्ष के पश्चात् विद्यार्थियों की परीक्षा का होना; भोजन प्रतिदिन किया जाता है किसी निमित्त से विशेष भोजन का विधान, इत्यादि नैमित्तिक कर्म हैं। ये एक प्रकार के उत्सव होते हैं, इससे मनुष्यसमाज में हर्ष और उत्साह की वृद्धि होती है। अग्निहोत्र नित्य करने की जिसकी प्रतिज्ञा हो, उसको दर्श-पौर्णमास इष्टि में विशेष करना होता है। इन नैमित्तिक कर्मों में अल्पाधिक समय अपेक्षित होता है। जैसे इस समय अमरीका देश में विज्ञान-विधान-प्रदर्शनार्थ बड़े २ विद्वानों के निरीक्षण में वृहद्यज्ञ किया जारहा है जिसका आरम्भ किंचिद्वर्ष पूर्व एक अत्यन्त लघु योजना के रूप में हुआ था। आज उसका रूप कितना महान् है। इस काल में इसके अवान्तर अनेक बार परीक्षण हुए होंगे। इस नैमित्तिक परीक्षा प्रकार ने उनके नित्य कर्मों को इतना सबल बना दिया कि आज उनकी ज्ञानवृद्धि के आगे रोग तुच्छ प्रतीत होता है। इसमें समस्त भूमण्डल के विद्वानों को निमन्त्रित किया गया है कि आप पधारें, अपने २ धर्म की व्यवस्था को सुनावें। यदि कोई युक्तियुक्त ठीक बात करेगा तो उसका वैसा ही सत्कार किया जावेगा, और जो बातें बुद्धि की तुला पर पूरी उतरेंगी, उनको वैसा ही मान दिया जावेगा। इसमें उनकी कितनी उदारता प्रकट होती है।

कहा नहीं जा सकता है कि (जहां साइंस बड़े सजधज के साथ सामने खड़ी है) किस की बात ठीक जचे ? इनका ही राजसूयादि यज्ञ है जो भिन्न २ समय में राजा महाराजाओं के अधिकार से परिश्रमसाध्य, समय के पश्चात् साधुकाल में सिद्ध किये जाते थे। इसका ही नाम अदृष्टदर्शन और अपूर्वोत्पन्न फल होता है। परन्तु मीमांसा के अदृष्ट और अपूर्व फल का कुछ पता ही नहीं चलता। सत्य है, मार्ग छोड़ कर चलने वाले को प्राप्तव्य स्थान कहां प्राप्त हो सकता है ?

पुनः शुभ कर्म के निष्काम और सकाम दो भेद हैं। सकाम सांसारिक सुखोत्पादक, और निष्काम कर्म तत्सहित मोक्षप्राप्ति का हेतु है। इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है, जैसी उसकी रुचि हो, वैसा करे। अब मनुष्यस्वभाव को सामने लाकर विधिवचन प्रवृत्त होता है—

सुचरितं चर दुश्चरितं त्यज ॥१८६॥

मनुष्य को चाहिये कि वह अच्छे कर्म का आचरण और बुरे कर्म का परित्याग करे। मनुष्य स्वभाव से सदैव दुःख से बचने और सुखप्राप्ति की इच्छा करता है। यह तब ही हो सकता है जब उक्त नियम का पालन किया जावे अन्यथा नहीं। यह कितनी भूल की बात है कि दुःख दूर करने की इच्छा तो हो परन्तु उसका कारण जो अनिष्ट कर्म है उसका त्याग न किया जावे, और सुख प्राप्ति की इच्छा से सुकर्म को आदर न दिया जावे। केवल मनोरथमात्र से तो कोई प्रयोग सिद्ध नहीं होता। सर्वव्यवहार प्रयत्नसाध्य हैं। विपरीत ज्ञान से जनसमुदाय सुख की इच्छा करता हुआ दुःख में उलझता जाता है॥

प्रश्न—दुःखफलं जानन्नपि पापं करोति कस्मात् ॥१६०॥

इस कर्म का फल दुःख होगा, यह अनुचित्त कर्म है, इसके करने में दोष है, यह अपयश का प्रसारक है। अनिष्ट करने से मनुष्य को भय करना चाहिए—इस पूर्वापर को जानता हुआ भी मनुष्य पापकर्म में किस कारण से प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—कामक्रोधलोभमोहादिदोषेण दूषितत्वात् ॥१६१॥

इन दोषों से दूषित होकर मनुष्य जानता हुआ भी न जानने वाले के सदृश हो जाता है। काम—विषय भोग में अधिक प्रवृत्ति, क्रोध—बढ़ती हुई भोग लिप्सा में रुकावट आ जाने से मनोवृत्ति, लोभ—उचितानुचित विचारविहीन भोगसाधनों के संग्रह में अनुवृत्ति, अथवा कार्य्यदोष से संपत्तिशाली होकर भी शुभकार्य्य में दान न देने की रुचि। मोह—अज्ञानपूर्वक किसी वस्तु में मन की फसावट का नाम है। इनके वेग को संभाल लेने से पुनः मनुष्य पाप कर्म करने के लिए कदापि यत्न नहीं करता है। यह अन्तर्विकार शत्रु के समान हैं किन्तु मित्रवत् प्रतीत होते हैं। जिसको इनके वेग को रोकने का ज्ञान है, वह पुरुष महान् है ॥ अत एव—

कर्मवैचित्र्यं विचित्रफलदर्शनात् ॥१६२॥

संसार में नाना, विविध, विचित्र फल दर्शन से, कर्म की विचित्रता का बोध होता है। एक पुरुष धनी तो है, परन्तु विद्याविहीन है। और दूसरा विद्वान् है पर धनहीन है। कोई पुरुष देखने में बड़ा सुन्दर, पर बुद्धिरहित, दूसरा कुरूप, किन्तु बुद्धिसहित है। किसी को स्वयं न खाकर दूसरों को भोजन कराने का स्वभाव है, और किसी को न देकर केवल अपने ही

खाने का भाव है। कई एक धनवान् होते हुए भी दुःखी देखे जाते हैं, और कई निर्धन होकर भी सुखी नज़र आते हैं। कोई युवावस्था में विवेकी और वैरागी है, और दूसरा वृद्धपन को प्राप्त होकर भी भोग लिप्सा में अनुरागी है। एक में शरीर से पुष्ट होने पर भी साहस की कमी, दूसरा शरीर से दुर्बल, पर हिम्मत का धनी है। एक साधारण पुरुष भी दाता का नाम पाता है, और कोई धनवान् होकर भी कंजूस कहलाता है। कोई दूसरों के सुख दुःख में शामिल होता है, और दूसरा सदा अपना ही रोना रोता है। एक जन्म लेकर संसार को सुख पहुंचाता है और किसी का जन्म संसार के लिए भार हो जाता है। कोई धर्मात्मा जनता के हितार्थ यत्न करता हुआ, अपना नाम तक प्रकट नहीं करता है, और कोई धर्मध्वजी हर बात में लड़ता और नाम के लिए मरता है। कोई पुरुष सर्व प्रकार सुख सामग्री सहित पर क्षुधा मन्द, किसी के पास अन्नादि की कमी पर भूख दोचन्द है। कोई अपने घर में भी बेगाना है, और दूसरा परघर में भी स्याना है। किसी को स्वाधीनता से प्यार है और कोई पराधीनता से लाचार है। कहां तक कहें प्रत्येक प्राणी कर्मव्यवस्था के आधीन है। दाना अपने को समझा कर, कोई बेसमझ अपनी विकलता को बढ़ाकर, कोई हंस कर हंसा कर, कोई रोकर रुला कर, कोई किसी को दुःख दे और कोई दुःख पाकर, सब प्राणीवर्ग एक प्रकार का नाटक सा दिखाकर संसार से पृथक् हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि कुछ समय के लिए यहां अपना खेल दिखा कर, सर्व प्रकार से अपना पीछा छुड़ाकर, किसी दूसरे अखाड़े

का खिलाड़ी बनने के लिए अपनी सुध-बुध भुलाकर शीघ्रता से जारहा है। क्या किसी की शक्ति है जो इस भेद को खोले, संसार में कोई बुद्धिमान् नहीं जो इस बात को समझने के लिए मुख से बोले। उन पुरुषों का जन्म बड़ा ही उज्ज्वल और पूर्व-संचित अति पवित्र होता है, जो धन, बल, गुण, विद्या आदि सुख साधनों के सहित होकर परहित करने में तत्पर रहते हैं किन्तु वे विरले ही होते हैं॥

कर्म की व्यवस्था बड़ी ही गम्भीर है, इसको सम्यक् रूप से तो वही जान सकता है, जो प्राणिमात्र के कर्मफल का प्रदाता है। शास्त्र का संदेश तो इतना ही है कि यावत् सुख दुःख है वह सब शुभाशुभ कर्मों का फल है, इससे आगे बढ़ने में उसको संकोच है॥

अब किंचित् आचरण का विवरण किया जावेगा—

छलकपटादिदोषरहितं सत्यन्यायादिगुणसहितं यत्तदेवाचरणम् ॥१६३॥

छल कपटादि दोष रहित और सत्य न्यायादि गुण सहित जो मनुष्य का व्यवहार होगा उसका नाम ही आचरण है। दोष के साथ जो 'आदि' आया है, वह स्वार्थ, वैर, विरोध, और कुप्रवृत्ति का सूचक है, और गुण के साथ जिस 'आदि' का संबन्ध है, वह प्रेम, उदार, हर्ष, सद्भाव प्रकाशक है। इस कसौटी के विना आचार शास्त्र का कोई भी पता नहीं मिलता। कारण यह है कि—

लोके भिन्नप्रवृत्तिदर्शनात् ॥१६४॥

संसार में मनुष्य समाज की भिन्न २ प्रवृत्ति और रुचि देखने से किस बात को ठीक माना जावे ? इस में से प्रथम

मांस भक्षण है। इस को संसार में मनुष्य समाज का एक बड़ा भाग अच्छा मानता है और दूसरा समुदाय इस मांसाहार को ठीक नहीं जानता है। पाठक अब इस के प्रकार भेद पर ध्यान दें, कोई कहता है कि यदि पश्वादि को इस प्रकार बध किया जावे तो उस का मांस खाना उचित है अन्यथा पाप है, किसी का यह विचार है कि जिस प्राणी को मनुष्य अपने हाथ से हत कर ले, उस का मांस खाना तो पुण्य है, अपनी मृत्यु से जो मर जावे उस के मांस खाने में पाप है। कोई यह बताता है कि जो मृत्यु से मरा हो, उस के खाने में पाप नहीं होता है, जीवित को मार कर खाने में अपराध है। किसी का ऐसा निश्चय है कि अमुक पशु आदि का मांस खाना अच्छा है, और अमुक के मांस खाने का निषेध है। किसी ने इस विधि को अच्छा समझा है कि किसी प्राणी को देवी देवता पर चढ़ा कर या परमेश्वर का नाम सुना बध करने और उस का मांस खाने में पाप नहीं, प्रत्युत् पुण्य है। किसी ने इस को ठीक जाना है कि जिस का मांस प्रकृति के अनुकूल हो खा लेना चाहिए और बातें सब झंझट की हैं। यह विचारधारा मांसभक्षण करने वालों की है. जो मांसाहार का निषेध करता है उस का तात्पर्य्य इस बात में है कि किसी भी प्राणी को सताना अच्छा नहीं है। परन्तु विचारने से पता चलता है कि यह नियम सृष्टि के साथ २ ही लगा चला आता है। भेद केवल इतना ही है कि कभी महात्माओं के उपदेश से जब मनुष्य सत्प्रवृत्ति में जाता है तो इस की कमी और जब संसार बहिर्मुखता की ओर आता है, तो दुष्प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती

है, ठीक इसी प्रकार यह नियम सृष्टि के साथ उदय होकर वृद्धि ह्रास के मार्ग में गति करता हुआ सृष्टि के साथ अस्त हो जाता है। सर्वथा मांसाहार प्रवृत्ति का अभाव कभी नहीं होता है ॥

मांसाहार ठीक नहीं, इसका न करना ही धर्म है ॥

मांसाहारी पुरुष न्यूनाधिक भाव से सर्वत्र पाए जाते हैं, परन्तु मांसाहार न करने वाला यदि खाने वाले को घृणा की दृष्टि से देखता है, तो वह अपने अच्छेपन को अपने हाथ से खो देता है। अन्य देशों में ऐसे पुरुष जो मांससेवी नहीं हैं, विद्यमान हैं, परन्तु वे खाने वालों को बुरी भली दृष्टि से नहीं देखते हैं, यह उन में विशेषता है। पाठक विचारें कि अब आचार शास्त्र इन दोनों दलों में से किसका पक्षपात करेगा? समय को परीक्षा में जाकर तटस्थ प्रतीत होता है ॥

पशुहिंसकों का विचार इस विषय में यह है कि मांस के सेवन से शक्ति की वृद्धि होती है। वह सिंहादि का दृष्टांत देते हैं और कोई यह कहता है, कि इसमें स्वाद अधिक होता है, कि जो इसका सेवन करता है वह फिर इसको छोड़ नहीं सकता ॥

सिंहादि का उदाहरण तो लागू नहीं हो सकता, उनकी प्रकृति निराली है। पहाड़ के लोग प्रायः मांसाहार करते हुए दुर्बल देखे जाते हैं, मांससेवी सिंधी शक्तिशाली नज़र नहीं आते। इसके विपरीत रोहतकादि प्रान्तों के जाट मांसभक्षण तो नहीं करते, परन्तु बलिष्ठ प्रतीत होते हैं। इस अन्वयव्यतिरेक से तो यह निश्चय हो रहा है, कि बल का निमित्त तो यह है, कि जो ठीक भोजन करके शरीर को हर्कत में लावेगा वह

बलवान् हो जाएगा। चाल-चलन अच्छा होना इसका सहायक है। मांससेवी पाश्चात्य लोग जो बलवान्, बुद्धिमान् और विद्वान् देखे जाते हैं, उसका कारण उनके अन्य गुण हैं, यथा समयानुकूल कार्य करना, गुणग्राहकता, उदारता, सफ़ाई, कर्त्तव्य पालन में रुचि, विद्याभ्यास, व्यर्थ चिन्ता से मुक्त और सदा उद्योग से युक्त इत्यादि हैं, मांसाहार नहीं। जो खाता है वह उसको अभ्यास से नहीं छोड़ता है, इसका निमित्त मांस की लज़्ज़त नहीं है। यदि ऐसा ही है. तो आप बताएं कि तमाखू पीने, खाने, और सूंघने में क्या लज़्ज़त है, इसका उपयोग करने वालों को छोड़ना अत्यन्त ही कठिन है, किंचित् दृढ़ विचार का पुरुष हो तो सब छोड़ सकता है और अनेकों ने छोड़ दिया है। इस में यदि किसी अंश में व्यसन की प्रवृत्ति मानी भी जावे तो आप बताएं कि जिस पुरुष को मिट्टी खाने की आदत हो जाती है वह दुर्बल तो होता जाता है, पर समझाने से भी नहीं छोड़ सकता है। किसी व्यसन का छोड़ना या न छोड़ना मनुष्य के अभ्यास पर ही निर्भर है। अत एव मांसाहार में लज़्ज़त या शक्ति का होना तो सिद्ध नहीं होता है, परन्तु मनुष्य अभ्यास से खाने लगता है यह कहना ठीक है। जैसे मदिरा, अफ़ीमादि मारक पदार्थ भी मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के प्रतिकूल और अभ्यासजन्य प्रवृत्ति के अनुकूल हो जाते हैं, ऐसा ही सर्वत्र जान लेना चाहिए। इसको दो उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है—एक बालक को उत्पत्तिसमय से ५ वर्ष पर्यन्त कभी भी मांस का दर्शन न कराया जावे और एक कुत्ते या बिल्ली के बच्चे को लेकर इसी प्रकार दुग्धादि से

पाला जावे कि उनको कभी किसी के मांस का दर्शन न हो। अब परीक्षार्थ उनको ऐसे स्थान में जहां जानवर मारे जाते हों लेजाएं तीनों की समानाऽवस्था है। उन में से मनुष्य का बच्चा तो उस दृश्य को देखकर डरेगा, भागेगा, विकल हो जावेगा, श्वान और बिल्ली का बच्चा मांस को देखकर उस ओर झपटेगा, रोकनेसे भी नहीं रुकेगा, एकाएकी वहां से नहीं निकलेगा, यह स्वभाव की परीक्षा का निदर्शन है॥

द्वितीय--मनुष्य उन ही पशु पक्षियों का मांस हितकर बताता और खाता है जिनका आहार अन्न तृणादि है। सिंहादि मांसाहारी पशुओं के मांस भक्षण में दोष है, वह हितकर नहीं, ऐसा बताते हैं। कहीं इस नियम का अपवाद भी देखा जाता है, परन्तु बहुधा ऐसा ही है। अब पाठक विचार करें कि सेर भर दूध में जो शक्ति है, उतनी ही ताकत पाव भर मावे में है, यह दोनों समान हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि एक सेर दूध में तो शक्ति है, मावा सदोष हो जाता है, तो वह भूल पर है। ठीक इसी प्रकार अन्य पशुओं के सेर भर मांस में जो ताकत है वह सिंहादि के पाव भर मांस में होनी चाहिए, कारण यह है कि उन का मांस तो मांस से ही बना हुआ है, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इस से बल वृद्धि का प्रश्न भी जाता रहता है। मनुष्य केवल अर्थवाद को सुन कर प्रवृत्त हो जाता है। किसी प्रकार से खाओ, हिंसा के बिना मांस उपलब्ध नहीं होता है। मरे हुए पशु का मांस खाने से भी फिर जीवित पशु को मार कर खाने का स्वभाव हो जाता है। अब प्रश्न हिंसा का शेष रह जाता है, इस का निवृत्त होना कठिन जान पड़ता है। कारण

यह है कि काम क्रोधादि की वृद्धि के साथ २ इस की प्रवृत्ति भी बढ़ती ही जावेगी, रुक नहीं सकती । इस का निदर्शन इतिहास में तो प्रसिद्ध है और आज कल समाचार पत्र इस की साक्षी दे रहे हैं । लोभादि की प्रवृत्ति को जब रजोगुण अपना बल देता है तो ऐसा होता ही है कोई नूतन बात नहीं है ॥

संप्रति चर्म का व्यापार बहुत ही बढ़ रहा है और विज्ञान इस का साथ दे रहा है । इस लिए मनुष्य को अपना काम निकालने के लिए जिन पशुओं से चमड़ा मिलेगा तदर्थ उन को हत करना ही होगा । जब तक विज्ञान किसी रीति से ऐसी वस्तु का आविष्कार न कर दे जो चमड़े के सम तुल्य काम दे, हिंसा का रुकना असम्भव सा जान पड़ता है । अथवा सृष्टि नियम के अधीन हो कर मनुष्य प्रकृति में ही कुछ हेर फेर हो जावे । परन्तु उस समय का (जब मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ति के लिए किसी के सुख दुःख की चिन्ता करता ही नहीं है) आना कठिन जान पड़ता है ॥

अभी वह किसी नियम की प्रतीक्षा कर रहा है। अन्यदपि-

भ्रान्तः प्रामादिकः प्रेक्षावानिति ॥१६५॥

संसार में लोग तीन प्रकार से हिंसा में प्रवृत्त होते हैं ॥

प्रथम-हिंसा भ्रान्ति से होती है। जिस का ऐसा विचार है कि किसी प्राणी को देवता या परमेश्वर के नाम पर बध करना अच्छा है, यह उस की आज्ञा है, इस का पालन करना हमारा धर्म है, वह भ्रान्त है । अपनी अधूरी कल्पना से परमात्मा में न होने वाली बात की सत्ता को मान रहा है। परमात्मा की पवित्र शक्ति का उस को परिज्ञान नहीं है। एक

तो अपराध करता है और दूसरा उस को परमात्मा की आज्ञा बताता है। कैसी विचित्र बात है?

द्वितीय—प्रमाद से होती है। जब कोई मनुष्य इस बात को जानता हुआ कि हिंसा कर्म तो अच्छा नहीं है किन्तु क्या किया जावे, इस के खाने से मेरे शरीर में शक्ति की वृद्धि होती और मांसाहार से मुझे आनन्द आता है, अत एव विवश हूं मैं स्वयं नहीं मारता हूं, मारने वाला तो कोई अन्य ही है। ऐसा विचार प्रमाद अर्थात् ला परवाही से होता है। संसार में जब अच्छे २ पदार्थ स्वादु और बलवर्द्धक विद्यमान हैं, जिन के आहार से स्वास्थ्य अच्छा, प्रकृति सौन्दर्य की वृद्धि और बल प्राप्त होता है। चिन्ता त्याग, प्रसन्नता, अधिक विषय सेवन में अरुचि इस के सहकारी कारण हैं। जीवन के किस अंश को बनाने के लिए इस मांस का सेवन किया जाता है, यह बात विचार तुला पर पूरी नहीं उतरती है॥ यह प्रथम की अपेक्षा कुछ अच्छा है॥

तृतीय—प्रेक्षावान् है—जैसे राजा न्याय नियम की रक्षा के लिए किसी अपराधी को दण्ड देता है। अधिक अपराध हो तो प्राण दण्ड की आज्ञा भी देता है। यह हिंसा प्रजाहितार्थ है। इस हिंसा से अहिंसा को स्थिर करना प्रेक्षावान् का काम है। डाक्टर किसी रोगी को नीरोग बनाने के निमित्त उस का आपरेशन करता है। जैसे गुरु या मास्टर अपने शिष्य को योग्य बनाने के निमित्त अपराध करने पर दण्ड देता है। यह शिष्य के कल्याणार्थ है। जैसे उपदेश श्रवण के समय पुरुष शोर मचाते हैं, किसी ने कहा कि भाई बोलो मत, चुप हो कर सुनो,

सब के चुप होने के साथ वह स्वयं भी मौन हो जाता है। इसी प्रकार जो हिंसा अहिंसाव्रत को स्थिर करने के निमित्त हो वह हिंसा हिंसा में नहीं गिनी जाती है, शास्त्र इस की आज्ञा देता है। इस नियम के विना संसार की मर्यादा साध्वी नहीं हो सकती है॥

वेदों में आम मांस-भक्षक की निन्दा की है, अर्थात् कच्चा मांस खाने वाला पापी है, यदि ऐसा है तो मांस को पका कर खाने वाला अच्छा होगा, इस से तो अनर्थापत्ति होगी। शास्त्र का तात्पर्य यह है कि यदि कोई मनुष्य बुरी रीति और नीति से दूसरे पुरुष को या एक मनुष्य समुदाय दूसरे पुरुष दल को घृणित शब्दों से, अपने दुर्व्यवहारों, अनुचित धिक्कारों से अहर्निश चिन्ता के चक्र में डाल कर उन के शरीर को दुर्बल और उन के मुख के लावण्य का विनाश कर दे, तो उस मनुष्य या मनुष्य समाज की आम मांस भक्षक संज्ञा है॥

अब पाठक बताएं कि लाखों की संख्या में अल्पायु की विधवाएं जो चिन्ता की अग्नि से दग्ध हो रही हैं, प्रकृति सौन्दर्य होने पर भी उन के शरीरों की दुर्दशा हो रही है, इस का कारण तो केवल वही लोग हैं जो इस दुःखप्रद हानिकारक नियम को आदर दे रहे हैं। बस उन्हीं की आम मांस भक्षक संज्ञा है। द्वितीय–इन विचारे अछूतों से काम तो सर्व प्रकार के लिए, परन्तु हर समय की धिक्कार और ग्लानि ने उन को ऐसा दुर्बल और कुरूप बना दिया कि चमड़े से ढके हुए अस्थिपञ्जर के विना और कुछ नजर ही नहीं आता है। कहीं उन विचारों को पानी का कष्ट देना, और कभी समीप आ जावे तो 'तू बड़ा भ्रष्ट

है' ऐसे शब्द कहना, मनुष्य को कहां तक योग्य है ? जिन के कारण उन की ऐसी दुर्दशा हो गई, वेद के विचार में उन की आम मांस भक्षक संज्ञा है ॥

द्वितीय मदिरापान—कोई मदिरापान करने को पाप जानता है, और कोई अमुक रीति से पीने में पुण्य मानताहै। किसी का ऐसा विचार है कि केवल व्यसन है, पाप पुण्य का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी दशा में आचार शास्त्र की प्रवृत्ति किस की ओर होगी ? कहा नहीं जा सकता ॥

तृतीय विवाह-किसी ने युवावस्था में विवाह को ठीक माना, और किसी ने इससे पूर्वही बालक बालिका का विवाह करना पुण्य कर्म जाना है, कोई लड़की वालों से धन चाहता है और कोई द्रव्य के लेने देने को अच्छा नहीं बताता है। ऐसी अवस्था में आचार शास्त्र की क्या नीति होगी ?

१-अहिंसा—समाधि के अंगों में सब से पूर्व है इसको निर्दोष बनाने के लिए अन्य सर्वाङ्गों का पालन किया जाता है। यदि मनुष्य के मन से अनिष्ट चिंता, द्वेषवृत्ति दूर हो जावे तो ठीक, अन्यथा, हिंसा की ही प्रतिष्ठा है ॥

२-मदिरादि सेवन से-बुद्धि का ह्रास होता है यह सत्य ही है। यदि अन्य अच्छे गुण साथ दें तो कुछ इसका बल न्यून होता है, अन्यथा इस से बड़ी ही हानि होती है। आलस्य की वृद्धि, धन का व्यय होता और कार्य करने की शक्ति जाती रहती है इस लिए यह त्याज्य ही है ॥

३-विवाह-यदि सन्तानोत्पत्ति के लिए मुख्य है तो आप की अवस्था परिपक ही होनी चाहिए, और बालक बालिका

बाहोश हों यही ठीक होगा। विवाह जैसी पवित्र रीति में जिस पर संसार की परिस्थिति है द्रव्य का लेन देन निन्दनीय कर्म सर्वथा अयुक्त है, इसका त्यागना ही ठीक है॥

मनु की इसमें साची है कि मनुष्य की मांस मदिरादि सेवन में स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। पर जो इन दोषों से पृथक् हैं वे उत्तम हैं, यदि अन्य गुण भी साथ दें, विचार से सर्वत्र समझ लेना चाहिए॥

त्यागे धर्मः प्रतिष्ठितः ॥१६६॥

धर्म सुख का कारण है, उसकी प्रतिष्ठा त्याग में है। छल, कपट, वैर विरोध, मिथ्याऽभिमान, व्यर्थचिन्ता, दोषदर्शन, छिद्रान्वेषण, अभक्ष्य भक्षण, अपेयपान को छोड़ना ही उचित है। दानादि शुभ कर्मों को फल की इच्छा न करने से धर्म अपने स्वरूप में प्रकाशित होकर मनुष्य समाज के लिए बड़ा ही हितकर हो जाता है॥

सत्यान्विता श्रद्धा पुरुषस्य मनोव्यापारः ॥१६७॥

श्रद्धा पुरुष का मनो व्यापार है. सत्य से युक्त अन्तःकरण की वृत्ति का नाम श्रद्धा है। यदि मिथ्या प्रवृत्ति से युक्त हो तो उसका नाम अश्रद्धा है, इस से बड़े ही अनर्थ उत्पन्न होते हैं, अत एव मनुष्य को श्रद्धा से प्रेम. और अश्रद्धा से ग्लानी करनी चाहिए॥

श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धमिति ॥१६८॥

जो श्रद्धा से कार्य किया जाता है उसका नाम श्राद्ध होता है। यह बड़ा ही बलवर्द्धक और सुखप्रसारक कर्म है, परन्तु भारत निवासियों ने मृतक शब्द का श्राद्ध के साथ अन्वय

करके बड़ी भारी भूल की। इस विपरीतकारिता का फल दुःख, सामर्थ्य हानि एक से दूसरे को ग्लानि हुई। पिता, माता, भ्राता इत्यादि संज्ञाएं जीवसहित शरीर की हैं, और इनमें ही प्रयोग होता है। जीव तो किसी का माता पिता आदि नहीं होता है, वह तो सर्वथा एकरस उत्पत्ति विनाश शून्य है। मृतक शरीर में उसका व्यापार नहीं, उसका दाहादि कर्म कर दिया जाता है। पुनः श्राद्ध की उनके साथ कैसे संगति होगी॥

शंका- यदि मृतक श्राद्ध नहीं है तो 'जीवित पितरों का श्राद्ध करो' ऐसा विधान कहीं दिखाओ॥

प्रसङ्गे सति निषेधो भागी भवति ॥१९९॥

प्रसंग के होने से निषेध भागी=सार्थक होता है। यथा कोई अपने भृत्य को कहे कि गौ का दूध लाना, आप बतायें कि इसके साथ इस शब्द के कहने की कि जीवित गौ का लाना क्या आवश्यकता है ? यह तो संभावना से सिद्ध हो रहा है, ऐसा प्रयोग करने वाला बेसमझ सिद्ध होगा। इस लिए श्रद्धा-पूर्वक सेवा करने की संभावना ही जीवित में है, मृतक में हो ही नहीं सकती है, तो फिर निर्विवाद स्थान में विवाद करना तो बुद्धिमानों का काम नहीं है॥

शङ्का—पुत्र गुरुकुल से स्नातक होकर आया और पिता ने संन्यास ग्रहण कर लिया, इस अवस्था में पिता के जीवित होते हुए भी श्राद्ध नहीं होगा—

विरोध एकत्र नियमदर्शनात् न संशयः ॥२००॥

विरोध प्रसंग में एक में नियम दर्शन से व्यवहार की सिद्धि होगी। प्रथम तो सब स्नातक होकर आएं और सर्व

तीलापन उत्पन्न होता है। अधिक जल से स्नान करना उत्तम है, शरीर को क्षारादि से मर्दन करने के पश्चात् स्नान करना मलके दूर करने में बड़ा ही उपयोगी है। आगे यथा समय, यथास्थान, यथावस्था सब प्रकार से विचार करलेना आवश्यक होगा। ध्यानं-यह नियम स्नान के पश्चात् अनुष्ठान में आवे तो अच्छा होता है। अन्यथा यथासमय इस का प्रयोग तो होना ही चाहिए। इसका प्रकार यह है-एकान्त स्थान में साव-धानता से बैठकर प्रथम आश्चर्यरूप संसारकी रचना का विचार, पश्चात् इसके रचयिता का मन में सत्कार करना होता है, इस का नाम शुक्ल ध्यान है। इसका समय ४५ मिनट होना चाहिए, इसका अभ्यास यदि प्रेम और पूरी लग्न से किया जावे, तो अन्तःकरण की भूमि स्वच्छ होकर इसको निर्विषय ध्यान का अधिकारी बना देती है। फिर अन्तःकरण वृत्तिशून्य होकर आत्मसाक्षात्कार में सहायक बन जात है॥

शम-मन में सद्विचारों और सुसंस्कारों के प्रभाव से, दुर्व्यवहार और कुप्रवृत्ति के तिरोभाव से मन में जो प्रसन्नता का उदय होता है, उसका नाम है। उक्त नियम धर्म को दूषित वातावरण से सुरक्षित रखते हैं॥

अन्यदपि—

विद्यातपोभ्यां क्लेशहानिरिति ॥२०५॥

विद्या और तप के योग से सर्व क्लेशों की हानि हो जाती है। यद्यपि क्लेशों के अनेक भेद हैं तो भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन पांचों के अन्तर्गत ही सबका समा-वेश हो जाता है। इन्हीं से प्राणिमात्र कष्ट उठाता है, इस कारण

से ही इनका नाम क्लेश है, इनके दूर करने का उपाय उपर्युक्त सूत्र में बताया गया है। इनका विवरण—अविद्या-विपरीत बोध, अस्मिता-देहादि में आत्मभावना, राग-परमेश्वर प्राप्ति में जो बाधक पदार्थ हैं, उनमें मन की फसावट, द्वेष—जो मोक्ष के साधन हैं उनमें अरुचि ग्लानि, अभिनिवेश-मृत्यु से भीति अनिवार्य है, अवश्यंभावी है, यह ठीक बोध न होने से मन में भय की उत्पत्ति का होना। अल्पज्ञ आत्मा के साथ इनका सम्बन्ध होता है, विशेषज्ञ होने पर यह स्वयं ही दूर होजाते हैं, यत्नान्तर अपेक्षित नहीं। विद्या का क्या स्वरूप है ?

यथार्थप्रत्यायिका विद्या ॥२०६॥

जो वस्तु जैसी हो उसमें वैसी ही प्रतीति कराना विद्या का काम है। जब इस से अविद्या दूर हो जाती है, तो शेष क्लेश स्वयं ही मुर्झा कर सारशून्य हो जाते हैं, उनकी उत्पत्ति अविद्या के क्षेत्र में ही होती है। विद्या के विना अविद्या का विनाश नहीं होता है, इस लिए वेदादि शास्त्र इसकी महिमा को बड़े ही आदर से गायन कर रहे हैं ॥

अब तप का लक्षण किया जाता है—

मनश्चेन्द्रियाणां वशवर्तित्वमिति ॥२०७॥

मन और इन्द्रियों का परस्पर विरोध होना अर्थात् मन के आधीन इन्द्रियों की प्रवृत्ति और मन की अशुभ संकल्पों से निवृत्ति होना तप कहलाता है। तप से विद्या बलवती, और विद्या से तप निर्दोष हो जाता है। पुनः इन दोनों के सहयोग से जीवात्मा संसार से पार हो जाता है। धर्म की व्याख्या समाप्त हुई ॥

अत्रैव परिसमाप्तिः पुरुषकर्त्तव्यस्येति ॥२०८॥

इससे आगे जीवात्मा का कोई कार्य नहीं, उसके पुरुषार्थ की यह चरमसीमा है। इस पद की प्राप्ति के लिए ही यह सदैव यत्नवान् रहता है, परन्तु भूल से किया हुआ यत्न सफल नहीं हो सकता है। इसका नाम मोक्ष है, यह परमात्मा का स्वरूप, अदृश्य है, नीरूप है। वास्तव में जीवात्मा इसी भिक्षा का भिक्षु है, यह वस्तु उस परमात्मा के द्वार से ही मिल सकती है, अन्यत्र इसका पता नहीं मिलता है। यह उसकी ही कृपा का फल है जो सर्व प्रकार सब से सबल है। उसकी महिमा अपार है, उसके ही ध्यान से इस आत्मा का उद्धार है। वह सब का पूज्य है, उसके ही पुजारी बनो। वही सबका उपास्य है, उसकी ही उपासना करो। वही ध्येय है, उसका ही ध्यान धरो। संसार के खेल की परिसमाप्ति का यही स्थान है, इसको भूल कर जीवन बिताना ही अज्ञान है। अत एव जगत्स्वामी की सेवा में मोक्ष का मेवा, उसका स्मरण-फिर न जीवन और न मरण है, अपवर्ग का धाम है जहां पर ही समाप्त सब काम है॥

अब दृष्टिसृष्टिवाद से अल्प व्याख्यान किया जाता है—

भ्रमतें चक्रवत् ॥२०९॥

परिदृश्यमान समस्त संसार परिवर्तन शील है, इस कारण से ही इस का नाम संसार चक्र या ब्रह्म चक्र शास्त्र बता रहा है। परमात्मा के विना संसार की कोई भी वस्तु स्थिर स्वभाव नहीं है। स्वरूप से अपरिवर्तन शील जीवात्मा अविद्यादि दोषों से दूषित हो कर इस चक्र में भ्रमण करता हुआ अनेक विध जन्म मरणादि क्लेशों के साथ २ विद्युत् रेखा

के समान विषय जन्य सुख का अनुभव करता हुआ इस से युक्त होने का उपाय सोचता ही रहता है, परन्तु जब तक यथार्थ मार्ग हाथ न आवे, यह मनोरथ कैसे सफल हो सकता है। इस से पृथक् होने का निमित्त वेदादि सच्छास्त्र भली भान्ति निरूपण कर रहे हैं, उन के यथावत् अनुष्ठान से ही चक्र-युक्त जीवात्मा मुक्त हो कर आनन्द में मग्न हो जाता है, यहां पर ही इस के कर्तव्य की परिसमाप्ति और परागति की प्राप्ति है। इस महत् चक्र का प्रवर्तक अनादि, अनन्त, वर्तमानसम, समस्त ब्रह्म ही है, उस का यथार्थ परिज्ञान, समाहित चित्त से ध्यान, प्राणिमात्र का रक्षण और त्राण, स्वाध्याय सत्संगादि शुभ कर्मों का विधान शास्त्र विहित उपाय हैं, इन का सहचार मुमुक्षु के उद्धार कारण है॥

आर्य्यों का परमेश्वर भक्ति में अनुराग, इस की प्राप्ति के लिए सर्वस्व का त्याग, मोह ममता से सर्वथा बे लाग, उन का विवेक और वैराग कितना उच्चतम था, वेद, उपनिषद्, दर्शन ग्रन्थों के विचारने से ही ठीक परिचय मिल सकता है। उपायान्तर कोई नहीं। आर्य्यों की प्रवृत्ति विमल, विद्या, उज्ज्वल, शरीर-सबल और स्वभाव-सरल होता था। पुरुषार्थ करने में सदैव जागरूक, परनिन्दा सुनने सुनाने में बधिर और मूक सम रहते थे। आर्य्य शब्द के गर्भ में यह सब अर्थ विद्यमान है, और वेद इस शब्द की महत्ता का संकेत कर रहा है।

यद्यपि इन नियमों के नियामक सब तो नहीं हो सकते हैं, ऐसा कथन तो सृष्टि क्रम का विरोध करता है, तथापि वैदिक समय में प्रत्येक श्रेणि में ऐसे उत्तमाशय अधिकांश में

विराजमान थे, जिन के अभाव से मनुष्य समाज को दूषित करने वाले दोष अपना बल नहीं बढ़ा सकते थे। दोषों के दबाने और गुणों के उठाने में सदैव तत्पर रहते और अपमान सूचक शब्द आवेश में आ कर मुख से कभी नहीं कहते थे। उस समय देश बड़ा पवित्र, सच्चरित्र, बिना स्वार्थ के एक दूसरे का मित्र था ॥

संसार की कोई भी वस्तु एकरस नहीं रहती है, यह प्राकृतिक नियम बता रहा है। इस चक्र ने भारत देश और आर्य्य जाति को भी आ घेरा, इस दुर्गति और अल्पमति की अवस्था में पूर्वकाल का परिचय देना उपहास ही जान पड़ता है ॥

अदृष्टदोषात्–दैवकोपात् वा इसने सन्मार्ग को भुलाया, असत्यपथ में अपनी गति को बढ़ाया, कंटकाकीर्ण जंगल था, इसके भविष्य में अमंगल था, पैर छलनी हो गए चलने की शक्ति जाती रही अन्त में थक कर वहां ही गिर गया। ऐ समय तू ही बता भारत को यह क्या हो गया, न उठता है न बोलता है न नेत्र ही खोलता है। यह बेहोश मूर्च्छित हो गया है। या कोई मादक द्रव्य खाकर सो गया है। न विचार परिणाम पर जाता है और न बुद्धि में कुछ आता है, अत एव मैं बार २ तुम से पूछता हूं, इस का कुछ उत्तर दो? अयि समय? तेरी व्याप्ति सर्वत्र है, तू सब के कर्मों का साक्षी है, संसार के बिगाड़ने या बनाने में तू एक प्रबल कारक है। कुछ तो संकेत कर जिस से कुछ संतोष हो और भ्रम दूर हो। ध्वनि सी हुई, हृदयावकाश में उत्तर मिला? वेदोक्त धर्म को छोड़, मनमानी

कल्पनाओं से संबन्ध जोड़, कर्म-पालन से दूर आलस्य और प्रमाद में आरूढ़, राग द्वेष को उठा कर, वैर विरोध को बढ़ा कर, विषय-भोग में ही सुख मानने लगा, कभी किसी ने दूसरे का उपहास किया, और कभी किसी ने किसी को त्रास दिया, यह सब सृष्टि क्रम का विरोध करने और व्यर्थवाद में पड़ने का ही फल है ॥

विपरीत कल्पना– १–कहीं ईश्वर का अवतार, वह भी अनेक प्रकार ॥

२–कहीं नदी, सरोवर, और समुद्र जल स्नान से पाप की निवृत्ति, और इस में अधिक प्रवृत्ति ।

३–कहीं तीर्थ यात्रा निमित्त विदेश भ्रमण, और इस को पुण्य कर्म मान कर व्यर्थ मन मग्न ।

४–कहीं बाल विवाह की कुत्सित रीति का उत्थान, और हर प्रकार इस भूल का सन्मान ।

५–कहीं गुण कर्म का निरादर, और स्वयं सिद्ध जन्म का आदर ।

६–कहीं पुरुषार्थ से हट कर विज्ञान वृद्धि का तिरस्कार, और भाग्याधीन हो कर आलस्य का सत्कार ।

७–कहीं व्यर्थ आडंबर अनुचित फलित ज्योतिष के आगे मस्तक झुकाना, और उस की अधूरी बातें सुन कर प्रसन्न होते जाना ।

८–कहीं कलियुग में भले पुरुषों ने दुःख ही पाना है, यह सुनाना, और साधारण जनता ने उन की हां में हां मिलाना ।

९–कहीं भूतशब्दार्थ से अनभिज्ञ हो कर, व्यर्थ मन में

त्रास, कभी जीवात्मा शरीर को त्याग कर भूत बन जाता है सर्वथा मिथ्या बात में विश्वास।

१०–कहीं ईश्वर न्याय से, (स्वकृत कर्माश्रित जीव देह को त्याग कर कहां जाता है) कोई नहीं जानता है, परन्तु यह अल्पज्ञ मनुष्य समाज किसी स्थान विशेष में उन को वस्त्र भोजनादि पहुंचाना मानता है कैसी उज्ज्वल अज्ञानता है।

११–कहीं मनुष्यों को मनुष्यों से ग्लानि, जिस से सर्वथा दुःख की वृद्धि और सुख की हानि, फिर भी इस के छोड़ने में आनाकानि।

१२–कहीं उपवास के गुणों को न जान कर एकादशी आदि व्रतों की महिमा का व्याख्यान और पुनः उस दिन मावा रवड़ी आदि स्वादिष्ट पदार्थों का खान पान।

१३–कहीं गुणों के विना गौरव की याचना जिस का सर्वथा व्यर्थ है आलापना यह है, खद्योत-अग्नि से शरीर का तापना।

१४–कहीं स्वास्थ्य रक्षा के नियम पालने से घबराना और इस भूल से रोगों के बढ़ जाने से दुःख उठाना।

१५–कहीं विधवा धर्म, इस अरुचिकर शब्द का विस्तार, और इस चिन्ता के चक्र में फंस कर मनुष्य समाज दुःखी और लाचार।

१६–कहीं समय की परीक्षा का अपरिज्ञान, बाल और वृद्ध विवाह से इस की पहचान।

१७–कहीं प्रान्तीय भावों का बढ़ जाना, जिस देश के यह प्रान्त हैं उस का ध्यान न आना यह दोष विद्वानों में अधिक विद्यमान हैं, जो हानिकर हैं।

१८–कहीं धनी पुरुषों का देशहित, जनता के लाभ और विद्यादि शुभ गुणों के प्रसार के निमित्त धन का संकोच, और व्यर्थ मार्ग, विपरीत समय, अनुचित कार्य्यों में धन का उत्कोच।

१९–कहीं काशी आदि स्थानों में मरने से मुक्ति, जिस में न कोई प्रमाण और न युक्ति।

२०–कहीं पुराणों की बे मेल गाथाओं के सुनने सुनाने में मन को लगाना, जिस के अधिक प्रचार से वेदों के स्वरूप को भूल जाना।

२१–कहीं निराधार मूर्ति पूजा का विधान, जिस से सच्ची प्रभु भक्ति की हानि और वैमनस्य का उत्थान।

२२–कहीं वर्ण व्यवस्था के यथार्थ स्वरूप को न जान कर केवल जन्म पर निर्भर होना, जिस से उत्तरोत्तर उपहास से प्रतिष्ठा का खोना। इस के साथ २ आश्रम व्यवस्था का भी शिथिल होना।

२३–कहीं समुद्र यात्रा, विदेश गमन में भीरुपन से धर्म का नाश मानना, जिस से अल्पज्ञता की वृद्धि और ज्ञान का ह्रास होते जाना।

२४–कहीं उचित भोजन व्यवहार में विवाद, और व्यर्थ कच्ची पक्की का संवाद कैसी गहरी चूक है।

२५–कहीं इतिहास, भूगोल, अंक-रेखा-बीज गणित वैज्ञानिक विषयों को न पढ़ना पढ़ाना केवल व्याकरण काव्य दर्शनादि को पा कर उस में भी व्यर्थ झगड़ों को उठाना।

२६–कहीं माला तिलक धारण से ही अपने को कृतार्थ मानना, और इस को ही स्वर्गारोहण की सोपान जानना।

२७—कहीं अद्वैतवाद के सहारे संसार को मिथ्या बताना, फिर इस के ही मोह ममता में फंसते जाना और जगत् को हंसाना।

२८—कहीं साधुओं को धन दे कर धनी बनाना, और फिर स्वयं ही कष्ट उठाना।

२९—कहीं गुरु शिष्य के यथार्थ भाव को न जान कर गुरु मन्त्र द्वारा अनेक भेद भिन्न संप्रदाओं के भेद से मनुष्य समाज का मर्म भेदन, और परस्पर प्रेम का विच्छेदन होते जाना।

३०—कहीं अन्ध विश्वास, मिथ्या भक्ति के आधीन होकर मनुष्यों को ईश्वर के स्थान पर बैठाना, कैसी बेढब भूल है। इत्यादि॥

इन दोषों की वृद्धि से भारतवर्ष को इस अवस्था में आना पड़ा।

यद्यपि इन दोषों का समवाय सर्वत्र तो नहीं पाया जाता है तथापि किसी प्रान्त में कोई दल अपना बल दिखा रहा है, तो स्थानान्तर में दूसरा दल अपना जाल फैला रहा है, अर्थात् न्यूनाधिक भाव से उपरोक्त दोषों की व्याप्ति सर्वत्र देखने में आ रही है। कोई देश या समय हो उसमें भले बुरे सामान्य हर प्रकार के पुरुष विद्यमान होते हैं, भेद केवल इतना ही होगा, कि इनकी न्यूनाधिकता में देश या मनुष्यसमाज की कीर्ति, यश, गौरव, सुख, की मात्रा में वृद्धि और ह्रास होगा। कोई पुरुष भी स्वरूप से अच्छा या बुरा नहीं होता है, एक समय जो जन उपयोगी जान पड़ता है, कालान्तर में वह अनुचित कार्य्य करता हुआ देखा जाता है, अत एव सर्वदा सर्वथा सब को समान जानकर सृष्टि नियम का अपमान करना ठीक प्रतीत

नहीं होता है। इस लिए मनुष्यसमाज को चाहिए कि वह समयानुकूल एक दूसरे का सहायक बने, अनुचित विवाद को जगाकर व्यर्थ कटाक्ष करने के स्वभाव को बढ़ाकर परदोष-दर्शन में दत्तमति होना कथमपि ठीक नहीं है। यदि किसी को अन्य पुरुष का दोष प्रतीत हो, तो उसको एकान्त में प्रेम से समझाना ही उसको सुधारने का उपाय हो सकता है, ऐसा न करके यत्र तत्र उसको दोषी बताना, जनता की दृष्टि से उस को गिराना, बजाए सुधार के उपद्रव को ही उठाना है। इससे दूसरे का हित कभी नहीं हो सकता है और न कभी कोई समझदार इस मार्ग में जाने को स्वीकार ही करता है। मिथ्या विज्ञप्ति और विपरीतज्ञान से संसार में अनेक प्रकार के अनर्थों का उदय होकर मनुष्यसमाज निर्बल बना देता है। परन्तु संप्रति इस देश में यह दोष अपना नग्न स्वरूप दिखा कर हिन्दु जाति में तो बड़ा ही आदर पा रहा है, इस कारण से ही यह दोष दूर होने में नहीं आता है। मेरे मित्र! यदि अपने को बचाना और लुप्तप्राय गौरव को फिर हाथ में लाना है, तो इसको हटाने, दूर भगाने का यत्न करो, यह भूल दुःखों का बीज और पापों का मूल है, प्रसन्नता का विनाशक और मनोमालिन्य का उत्पादक है, अत एव इसको छोड़ो! इससे संबन्ध तोड़ो। यद्यपि समय २ पर महात्माओं का प्रादुर्भाव तो हुआ, और उन्हों ने अपना कर्तव्य जान कर जनता को सन्मार्ग पर लाने और मन्दमार्ग से हटाने का प्रयत्न भी किया, और उनके सदुपदेशों के प्रभाव से प्रभावित होकर जनसमुदाय ने उनको मान भी लिया, परन्तु कुछ समय बीत जाने पर जिस दोष से

बचाने का महानुभावों ने पुरुषार्थ किया था, उस ही दोष से फिर दूषित होने लगा। अन्तःकरण की प्रवृत्ति साध्वी न हुई। संभलने का ध्यान विचारपथ में न आया, अनिष्टात्मिका नीति का साथ न छोड़ा। मेल जोल की रीति से संबन्ध न जोड़ा, ठीक २ ज्ञान की दीप्ति न हुई, मनों से भीति न गई, फिर बात बिगड़ी-रही सही ॥

कभी अदृष्टवशात् शूरवीर प्रतापशाली पुरुषों ने जन्म लेकर अपने बाहुबल और बुद्धि वैभव से समय को अनुकूल पाकर या बनाकर देश को संभाला, उत्साह और साहस ने बढ़ कर कायरता और भीरुपन का दिवाला निकाला। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी उन महानुभावों के देहावसान के साथ ही, विद्युत् रेखा के समान उनका प्रचण्ड तेज और प्रताप की लेखा भी मन्द पड़ गई, पुरुषार्थ सफल होकर विफल हो गया। वे उत्तमाशय तो अपने जीवन संग्राम में यश के भागी होकर परलोक को पधारे, परन्तु इस अभागे देश ने उनके निर्दिष्ट मार्ग का तो अनुसरण न किया प्रत्युत् उनके लगाए हुए अंकुरों को जो बढ़कर देश और मनुष्य समाज के लिए हितकर सिद्ध होते, प्रमाद और असावधानता से रक्षा करने के स्थान में उनको छिन्न भिन्न कर डाला। इतिहास इसका साक्षीभूत प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह इसका अदृष्ट मन्द है या भाग्यहीनता ईश्वर का कोप है या बुद्धिमलीनता, इस का क्या नाम रक्खें, विचार पथ में कुछ नहीं आता है। अनेक वार बाज़ी जीत कर हारना सुअवसर मिलने पर भी अपने को न सुधारना जिन नियमों के आधार पर मनुष्यसमाज का उत्थान होता है, उनको न

विचारना। मार्ग जानकर भूल जाना फिर भी घमंड में फूल जाना। व्यर्थ की उधेड़बुन अनर्थ का ताना बाना। विपरीत चलन, दुर्बल शरीर बेढंगी फबन। मलिन स्थान, गाना बेतार स्वर बेतान—ऐसी व्यवस्था के अवलोकन से यह जाना जाता है, कि यह देश अभी ब्रह्माण्डपति की कृपा का पात्र नहीं बना है॥

अथवा विचारान्तरम्—

असाधुयोगो विजयान्तरायः ॥२१०॥

जो साधन या नियम कार्य्यसिद्धि के हेतु ही नहीं हैं, उन का सहयोग फलावाप्ति या कामयाबी में भारी रुकावट है। प्रतिबन्धक के सद्भाव में किया हुआ पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है, पुनः कर्ता को संभलने के लिए बड़ी ही कठिनता से अवसर मिलता है॥

असाधुयोग—कर्ता का सदोष होना, साधनों की न्यूनता या मन्दता, समय का अपरिज्ञान, स्थान की प्रतिकूलता, सहयोग देने वालों में स्वार्थ बुद्धि इत्यादि।

आगे इस ही विषय का निरूपण किया जावेगा। पाठक ध्यान से देखें॥
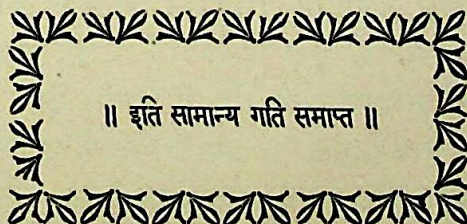
॥ इति सामान्य गति समाप्त ॥

सरल गति

दृष्टान्त मुखेनसुबोधाय सरलगतिः ॥२११॥

दृष्टान्तों के द्वारा सुगम बोध के लिये सरल गति का निरूपण किया जाता है—यद्यपि यह सत्य है कि पशु पक्ष्यादि कभी मनुष्य के समान आलाप नहीं किया करते। तो भी उनके उदाहरणव्याज से मनुष्यसमाज को यदि अपने संभलने का ध्यान हो, तो उन्नति का मार्ग दृष्टिपथ में आने लगता है—

१–प्रथम दृष्टान्तः–कभी एक सिंह जल के न मिलने से तृषा से आतुर था, जल की ढूंढ में इधर उधर भ्रमण करता था, जंगल में एक जलस्थल मिला। प्रसन्नता से उसमें प्रवेश करता हुआ कुछ आगे बढ़ा। उसमें कर्दम अधिक था, सिंह के चारों पग पंक में फंस गए, निकलने का यत्न तो बहुत किया परन्तु निकलने के लिए विवश था। तृषा का खेद तो दूर हुआ, पर क्षुधा का कष्ट सताने लगा। कुछ समय के पश्चात् एक शृगाल निकट से गुजरा उसके दर्शन से उस की आहार लिप्सा अधिक हो गई, सिंह ने उसको प्रेम से अरे भतीजे! मेरी बात सुनते जाना, यह कहकर बुलाया। उसने प्रेम पूर्ण वचन को सुन कर सिंह को कहा। बताओ क्या कहते हो? उसने कहा कि तुम भय मत करो तुम्हारा पिता और मैं परस्पर भ्राता हैं, उसने कहा था कि यदि कहीं मेरा पुत्र तुमको मिले तो अपने वक्षस्थल में उस को लेकर प्यार करना। अत एव मेरे निकट आकर तुम मुझ से मिलो। गीदड़ को भय था उसने कहा कि मैं तेरे समीप

तो नहीं आ सकता हूं यदि कुछ सन्देश कहना है तो कहदो। सिंह ने कहा कि तुम भय मत करो, मेरे समीप आजाओ, तुम मेरे जिगर के टुकड़े हो, मैं किसी प्रकार तुम से धोका नहीं करूंगा। मैं शपथ–कसम खाता हूं कि यदि मैं छल करूं तो उस का फल मेरी सन्तान के आगे आवे। गीदड़ कुछ सरक कर बोला कि मैं इससे अधिक तुम्हारे पास कदापि नहीं आसकता हूं। सिंह ने विचारा कि अब यह धूर्त मेरे पास तो नहीं आयेगा, अब यही हो सकता है कि बल से कूद कर इसके ऊपर गिरना चाहिए। उस सरोवर के तट पर एक वृक्ष जो आंधी से टूट गया था, तेज नोकों से उसका स्कन्ध खड़ा था सिंह गीदड़ को पकड़ने की इच्छा से जो कूदा उसकी ओर न जाकर वृक्ष की नोकों पर जा गिरा विवश होकर वहां ऊपर ही जा लटका। गीदड़ ने उसको विवश जानकर पूछा–कहो छल किया और फल मिला। सिंह ने उससे पूछा कि मित्र! मैंने तुम से ठीक छल तो किया, उस का फल मेरी सन्तान को मिलना चाहिए था मुझे ही कैसे मिला? यदि तुझ को पता है तो कुछ भेद बता। गीदड़ ने कैसा अच्छा उत्तर दिया कि सुन यह फल जो तुमको प्राप्त हुआ है, तेरे पिता ने कसम खाकर छल किया था उसका है, तेरी शपथ का फल तो तेरी सन्तान के आगे शेष है॥

निष्कर्ष–भारत प्रजा ने मिथ्याविश्वास, निन्दितरीति का कब से साथ दिया है, इसका पता लगाना तो कुछ कठिन सा प्रतीत होता है, परन्तु इसका आभास सिंह शपथ के समान है। एक श्रेणि से दूसरी तक उससे तीसरी तक चला ही आता

है, जब तक कोई सन्तति बल से इसका विच्छेद न कर देगी, तब तक आने वाली सन्तान का यथार्थ रूप में सुधार होना मनोरथ मात्र ही है। पैतृक सम्पत्ति के समान विचारसंपत्ति भी अनायास सन्तान तक पहुंचती है. अत एव वह रीति और नीति जो मनुष्यसमाज की विपत्ति को बढ़ाने और सम्पत्ति को घटाने वाली हो, उसका त्याग करना ही शुभ संवाद है॥

२–द्वितीय दृष्टान्त–एक बारासिंगा किसी सरोवर के किनारे जलपान कर रहा था उसने अपनी आकृति का आभास उस जल में जो देखा तो प्रसन्नता से उछल कूद कर पुनः उसको देखने के निमित्त जलाशय के किनारे खड़ा होकर मन में विचार करने लगा, कि मैं इतना सुन्दर हूं कि जिस के सौन्दर्य से जंगल भी शोभायमान हो रहा है, मेरी मनोहर आकृति को देख कर कौन है, जो आह्लाद में न आता हो। इस सब का कारण यह ही प्रतीत होता है कि सर्व संसार के निर्माता परमात्मा ने तो मुझे अपने हाथ से बनाया है। क्रम प्राप्त सींगों का झाड़ कितना शोभायमान मेरे शिर पर लगाया है। अपनी आकृति को सरोवर में बार २ देख कर प्रसन्न होता है। एका एकी जब इस की हलकी और पतली टांगों की ओर ध्यान गया तो शोक में विधाता पर भी कोप करने लगा॥ विचार करता हुआ नेत्रों में आंसू भरता है, मन में कहता है कि मनुष्य हो या ईश्वर भूल ने किसी का भी पीछा नहीं छोड़ा है, इस का अधिकार प्रत्येक कार्य के किसी न किसी अंश में बना ही रहता है। सोचता है कि यदि मेरे शरीर को इतना सुन्दर और पुष्ट बनाना था, और शिर को इस प्रकार मनोरम

शृंगार से सजाना था, तो भला टांगों को इतना दुर्बल अयोग्य बना कर अपनी अज्ञानता का परिचय क्यों दिया ? इसी अवसर में एक चीता आ निकला, बारहसींगा को देख कर उस पर आक्रमण करने लगा । जब तक मैदान था, तब तक बारासींगे ने चीते को पास भी न आने दिया, वह आगे ही बढ़ता गया। दूसरा पीछा करता ही गया। अन्त में एक झाड़ी से निकलते हुए बारह सींगा के सींग एक लता में उलझ गए, फिर कहां सुलझ सकता था। चीते ने आ कर एक पंजा मारा, बे सुध हो कर गिरता हुआ इन शब्दों में संसार को उपदेश सुना गया कि ओ बे समझ! जिस को देख कर मन में दुःखी था, उस ही ने तो बचाया, और जिसे देख कर खुश हुआ था, उस ने मौत के पंजे में फंसाया॥

सारांश—यह है कि भारत प्रजा प्रचलित रसमो रिवाज को जिस से इस को हर समय हानि हो रही है समझाने पर भी उस के छोड़ने में कष्ट मान रही है, इन के रहते हुए इस का जीवन नहीं रहता, और वेदों का सदुपदेश जो इस के लिये बड़ा ही लाभदायक है, उस के ग्रहण करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है, अत एव यह न दुरवस्था से निकलती है और न सुव्यवस्था में आती है ॥

३-तृतीय दृष्टान्त—किसी देश में एक उन्मत्त (पागल) पुरुष निरुद्देश्य भ्रमण करता रहता था, वहां एक नवयुवक उस पागल के पीछे ही घूमता, उस के चलने से चलता, बैठने से बैठ जाता, अर्थात् अधिक समय उस के पीछे ही बिताता था। उस की इन चेष्टाओं को देख कर एक बुद्धिमान् ने कहा कि ओ

नवयुवक ! तुम जरा इधर आओ, वह उस के पास जा कर बोला–कहो आप क्या कहते हैं ? उस समझदार ने कहा कि तुम अपना इलाज कराओ, नवयुवक ने कहा कि मैं कोई बीमार नहीं हूं, उस ने कहा कि अभी तुम को रोग की प्रतीति नहीं होती है, समय आने पर इस का बल बढ़ जाएगा। उस ने पूछा–क्या रोग है ? समझदार ने कहा कि तुम को कुछ पागलपन का असर है, उस ने कहा कि कैसे जानते हो ? दाना ने कहा कि तुम इस पागल के पीछे क्यों भ्रमण करते हो ? नवयुवक ने उत्तर दिया कि मुझे इस की चेष्टायें अच्छी जान पड़ती हैं, उस ने कहा बस इस से ही तो सिद्ध हो रहा है कि तुम्हारे मस्तिष्क में कुछ पागलपन का प्रभाव है । यदि कुछ दिन तुम्हारी ऐसी ही दशा रही तो पूरे पागल हो जाओगे। युवक ने उत्तर दिया कि कुछ भी हो मुझे तो इसकी बोलचाल और गति पसन्द आती है। उस बुद्धिमान् ने उसको हठीला जानकर एक उपाय बताया कि प्रिय ! यदि तुम कभी विपत्ति में फंसो तो यह बात स्मरण रखना कि पागल और बच्चों को पिछली बात याद रहती है। कुछ समय बीत जाने के पश्चात् वह नवयुवक और पागल नगर के बाहर चले गए, वहां पर एक बुलन्द मीनार बना हुआ था, दोनों उसके ऊपर चढ़ गए, ऊपर की वायु लगते ही पागल को दौरा हो गया, अब उसको यह बात सूझी कि मित्र ! तुम यहां से नीचे को कूदो, और साथ ही कहा कि शीघ्रता करो नहीं तो धक्का देता हूं, अब उस नवयुवक को पता लगा कि जीवन कठिन है, और व्यर्थ ही जान गई, परन्तु उस बुद्धिमान्

की बताई हुई बात याद आई, शीघ्र ही उसका अनुष्ठान करने लगा। पागल की पीठ पर हाथ धर कर प्रेम से कहने लगा कि मैं तुम्हारे कहने से ऊपर से तो क्या, नीचे से भी ऊपर को आ सकता हूं। यह सुनकर पागल कहने लगा कि अच्छा नीचे को चलो दोनों नीचे ही आगए। जान बची, परमात्मा को धन्यवाद दिया। समझदार की बात ने सहायता दी॥

तात्पर्य—भारत निवासी पागलपन के संस्कारों का साथ देते २ समय की ऊंची मीनार पर चढ़े हुए हैं। यदि किसी विद्वान् विवेकी पुरुष के हितोपदेश को सुनकर अनुष्ठान करने में यत्न करें, तो छुटकारा पा सकते हैं, अन्यथा नहीं॥

४—चतुर्थ दृष्टान्त-एक कृषक की वाटिका में रात्रि के समय एक जन्तु आकर उसके फलों को खा जाता था। उसको पकड़ने के लिए उसने एक पिंजरे को इस प्रकार का बनाया, कि उसमें कुछ खाद्य पदार्थ धर कर कि यदि उसमें चला जावे तो उस की खिड़की स्वयमेव बन्द हो जावे, वाटिका में धर दिया। वह जानवर तो उस रात्रि को न आया, किन्तु एक सांप उस में जाकर फंस गया। यत्न करने पर भी न निकल सका। सूर्योदय से पूर्व ही एक पुरुष का उस ओर से आगमन हुआ, सांप ने बड़ी ही दीनता से उसको कहा कि मित्र! मुझे इस पिंजरे से निकाल कर प्राणदान दो। उस पुरुष ने देखा कि सांप पिंजरे में फंसा हुआ अपने मुक्त होने के लिये प्रार्थना कर रहा है। मनुष्य ने कहा कि तुम विषधर जन्तु हो, मैंने तुम को निकाला और तुमने मुझे ही काटा, तो पुनः मैं उसका उपाय क्या करूं? सांप ने कहा कि कुछ तो विचार करो, तुम तो मुझ

पर उपकार करोगे और मैं तुमको काटने की इच्छा करूं, ऐसा भला कभी हो सकता है? मनुष्य तो प्रतिज्ञा करके कभी भूल भी जाता है परन्तु हम जानवरों का ऐसा स्वभाव नहीं है। मनुष्य के मन में दया आई। उसने पिंजरे की खिड़की खोल दी। सांप निकल कर यह कहने लगा कि मित्र! वह देखो वाटिका का स्वामी कन्धे पर लाठी उठाये आरहा है, और मैं क्षुधा के कारण शीघ्रता से चल नहीं सकता हूं। उसने मुझे देखकर मार ही डालना है। तुम्हारा किया उपकार अपकार के रूप में बदल जावेगा, ऐसा न होना चाहिए। उसने कहा-अब क्या हो सकता है? सांप बोला कि मुझे अपनी आस्तीन में छिपा कर कुछ दूर आगे छोड़ दो, तुम्हारा द्विगुणित पुण्य होगा। मनुष्य ने उसको आस्तीन में ले लिया, कुछ दूर चलकर उसने सांप से कहा कि अब तुम इस जङ्गलमें चले जाओ एकांत है। यह सुनते ही सांपने उसके बाहु में चक्र लगाया और कहने लगा कि मैं तुमको काटूंगा।

उसकी यह बात सुनकर मनुष्य दुःखी होकर कहने लगा कि तुमने प्रतिज्ञा की थी कि मैं नहीं काटूंगा, अब तुम काटना चाहते हो। उपकार के बदले यह अपकार करते हो? सांप ने कहा कि मनुष्य से सर्वप्राणी दुःखी हैं, जितना यह उपकार करता है उससे कहीं द्विगुण अपकार करता है। जब हमारा शत्रु है, तो हम को समय मिलने पर इस से शत्रुता करनी ही ठीक है। दूसरा एक प्रलोभन मेरे सामने है, जो मुझे काटने के लिये तय्यार करता है, वह यह है कि जब हम किसी प्राणी को काटते हैं, तो कुछ विष के बिन्दु तो उस के शरीर में जाते हैं, और

उस का कुछ अंश हमारे उदर में जाता है, जिस के नशे से बड़ी ही प्रसन्नता होती है, जैसे शराबी को मदिरा पान करने से, तुम बहुत दिनों के पश्चात् मिले हो, अब मैं तुम को नहीं छोड़ सकता हूं ॥

इस बात चीत के पश्चात् मनुष्य ने कहा कि मित्र! किसी से न्याय तो करा लो कि यह तुम्हारा कार्य ठीक है कि नहीं? सांप ने इस को मान लिया। सामने एक ऊंट आ निकला। सांप ने सर्व वृत्तान्त सुना कर प्रश्न किया कि अब मुझे इस को काटना चाहिए या नहीं? ऊंट ने कहा कि इस को काटना ही चाहिए। कारण यह कि मनुष्य सब जानवरों से काम लेता और पुनः उन को सताता है। यदि जानवर न हों तो इस का जीवन नहीं रहता, और यदि मनुष्य न रहे तो सब का जीवन निर्वाह भली प्रकार से होता है। ऊंट कुछ अपनी दुःखमयी कहानी सुनाने लगा कि जब मायी, हाथी, अश्वादि के पश्चात् मुझे बना रहा था तो मैं ने सोचा कि इन सब की पीठें साफ हैं इन पर तो लोग सवारी किया करेंगे, मैं इस कष्ट से बचने के लिये अपनी बे ढंगी पीठ को ही ले कर भाग चला, निर्माता ने कहा भी, कि पीठ ठीक हो लेने दे, परन्तु मैं ने कहा कि मेरी पीठ ऐसी ही अच्छी है, परन्तु इस ने (मनुष्य ने) क्या उपद्रव किया कि एक लकड़ी का यन्त्र बना मेरी पीठ पर धर देता है, और उस पर एक दो के स्थान ८-१० को बैठाता है और पांच २ मन की गोन भी इधर उधर लटका देता है। एक नकेल नाक में डाल कर कभी नीचे से ऊपर को ले जाता, और कभी ऊपर से नीचे को ले जाता है। मैं इस को विधाता का शाप कहूं या

इस की बुद्धिमत्ता, अथवा अपनी मूर्खता कहूं, इस को तो विना सोचे ही काटना ठीक है। न्याय सांप के अनुकूल हुआ मनुष्य व्याकुल था, कि अब क्या किया जावे ? साहस से सांप को कहने लगा कि एक बार तुम ने पूछा है, अब एक बार मुझ को पूछ लेने दे, जो परिणाम निकलेगा ठीक है । सांप ने स्वीकार कर लिया सामने एक पुरुष आया दोनों ने अपना २ वृत्तान्त सुना कर न्याय मांगा। मनुष्य ने कहा कि मैं जब तक मौका न देख लूं तब तक ठीक नहीं कह सकता, वह सब निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचे मनुष्य ने सांप से पूछा क्या तुम पिंजरे में थे या बाहर ? उस ने कहा कि मैं पिंजरे के भीतर था, उस ने कहा कि मुझे बता दो कि तुम इस में किस प्रकार बैठे थे ? सांप आस्तीन से निकल कर पिंजरे में चला गया । पुनः मनुष्य ने पूछा कि पिंजरे की खिड़की बन्द थी या खुली ? उस ने उत्तर दिया कि बन्द थी, उस ने कहा कि खिड़की को बन्द कर दो। सांप विवश हो कर पूछने लगा यह कैसा न्याय किया ? उस ने उत्तर दिया कि जो उपकार करने वालों के साथ अपकार करते हैं, जो नेकी करने वालों के साथ बदी से पेश आते हैं, वह परमात्मा के न्याय से पुनः २ बन्धन में आते हैं ॥

सारांश-जो मनुष्य समाज अनिष्ट रीति और नीति का, मारे आस्तीन के समान, साथ देती आती हो जब तक उस को किसी बुद्धिमान् मनुष्य का उपदेश न मिले, और अपना हित जान कर उस को ग्रहण न करे, तब तक दुःख से मुक्त होना अत्यन्त ही कठिन है, और जो उपकार करने वालों के साथ अपकार करना चाहते हैं, वह समय की गति से भ्रष्ट मति हो

कर सर्पवत् स्वयं ही कष्ट पाते हैं ॥

५–पञ्चम दृष्टान्त–एक वृद्ध पुरुष किसी मार्ग के समीपस्थ पार्श्व भाग में आम्र वृक्ष की एक पंक्ति लगा रहा था, और कुछ दूर से जल ला कर उस का सिंचन कर रहा था। एक नवयुवक जो उस मार्ग में जा रहा था, उस के इस परिश्रम को देख कर कहने लगा कि तुम बे समझ हो, क्या तुम ने कभी यह भी सोचा है कि तुम इस के फलों को खा सकोगे ? तुम वृद्ध, मृत्यु के समीप हो, और इन को दशवर्ष से पूर्व फल नहीं आ सकते। व्यर्थ कष्ट उठाते हो, कितनी दूरी से जल लाते हो तुम ने इस में क्या लाभ सोचा है ? सत्य ही है कि वृद्ध पुरुषों की मति में कुछ भूल काम करने लग जाती है। वृद्ध पुरुष को उस नवयुवक की बात सुन कर कुछ हंसी आई, और उस की ओर सामने मुंह कर के, बोला 'ओ नवयुवक ! यह सब तेरी वार्ता अनुभव से खाली है, क्योंकि मैं इन को लगा कर इन की सेवा इस लिये नहीं कर रहा हूं, कि इन के फलों को मैं ही खाऊं। अन्य के लगाए हुए वृक्षों के फलों को तो मैं ने खाया और आराम पाया, तो क्या अब मेरा कर्त्तव्य नहीं है कि मैं इन को लगा जाऊं, अन्य इन फलों को खावें, और सुख पावें ॥

यह यथार्थ बात सुन कर नवयुवक को लज्जा आई, और अश्रुपूर्ण नेत्र कर के कहने लगा कि सत्य है मैं भूल पर था। वह अनुभवी श्रमी वृद्ध पुरुष कहने लगा कि मित्र ! मनुष्य का कोई भी कार्य परस्पर की सहायता के विना नहीं चलता। परमात्मा ने इस की रचना ऐसी ही की है। मनुष्य जीवन के तीन भाग हैं। एक भाग में तो यह केवल दूसरों से सहायता

पाता है, वह बाल्यपन है। दूसरा भाग, जिस में अपना सहायता दे कर दूसरों का हित करता है, यह युवाऽवस्था है। तृतीय भाग में दूसरों की सहायता अधिक मात्रा में और अपना प्रयोजन अत्यल्प हो जाता है। अब मैं इस तीसरी अवस्था में हूं, इस दृष्टि से यह काम कर रहा हूं। अनिष्ट चिन्ता और स्वार्थ तो किसी अंश में भी उचित नहीं है॥

सारांश–इस से प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन से संसार को यथाशक्ति कुछ लाभ पहुंचावे, और जीवन समाप्ति के साथ कोई भी अच्छी बात सुख की मात्रा में छोड़ जावे, इस ईश्वर की आज्ञा को पालन करता हुआ कोई भी देश दुःखी नहीं हो सकता। भारतवासी अधिक अंश में ईश्वराज्ञा का भंग करते, और परस्पर प्रेम न होने से लड़ते हैं॥

६–षष्ठ दृष्टान्त–सुना जाता है कि किसी राजधानी में एक साधु ने एकान्त में डेरा लगाया। महात्मा जी आकृति से सुन्दर, वार्तालाप में चतुर, त्यागवृत्ति और विद्वान् थे। इस के अतिरिक्त प्रत्यक्ष उन में कोई व्यसन न था। ऐसी अवस्था को सुन कर लोग इधर उधर से आने जाने लगे, और अपने २ प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पाने लगे और ख्याति बढ़ने लगी। कोई भोजन वस्तु ले जाता, और कोई प्रसाद ले कर घर को आता, कोई पुष्प फलादि ले कर विनय करता, और महात्मा जी के चरणों पर कुछ धन धरता, परन्तु उन का स्वभाव था कि खाद्य वस्तु में से किंचित् ले कर सब को बांट देते, और द्रव्य को किसी लकड़ी से हटा देते। यह सब वृत्तान्त तत्रस्थ राजा

ने सुना और उसे महात्मा के दर्शन की लालसा हुई। कुछ दिनों के पश्चात् राजा ने कई प्रकार का पकान बनवा भृत्य वर्ग को वहां ले जाने के लिये आज्ञा दी, और स्वयं मन्त्री दीवान अन्य कई सभ्य पुरुषों के साथ रानी को साथ ले कर महात्मा जी के दर्शन को गया। राजा साहब को आते देख कर महात्मा के बिना सब लोग उठ खड़े हुए, और पुनः यथानुरूप बैठ गये। प्रसाद सब को बटने लगा, और कुछ प्रश्नोत्तर से राजा प्रसन्न हुआ। उस ने यह सुना हुआ था कि वह एक तो कुछ द्रव्य ग्रहण नहीं करते। राजा हो कर साधारण पुरुषों के सदृश १०—२० मुद्रा भेंट करना ठीक नहीं, यह विचार कर एक रजत थाल में १००० सावर्ण राजा ने, और द्वितीय थाल में ५०० अशरफी धर कर रानी ने भेंट की। जनता इस निर्दशन से प्रसन्न हो रही थी। ५–१० मिंट के पश्चात् महात्मा जी ने थालों को उठा कर अशरफियों को अपनी झोली में डाल लिया। इस कौतक से सब आश्चर्यमय हो गए। राजा ने इस दृश्य से कि क्या सुना था और क्या हो गया, मन में विचार कर कहा कि महात्मा जी! हमने तो यह सुना था कि आप द्रव्य ग्रहण नहीं करते। महात्मा जी ने हंस कर उत्तर दिया कि राजन्! मुझे आज तक डेढ़ हज़ार अशरफी किसने दी थी, जो मैंने नहीं ली? लोग अल्प देते थे, इस लिए नहीं लेता था, मुझे इतने की इच्छा थी, आज आपने दी, तो मैंने लेली। यह सुनकर राजा साहिब उठ खड़े हुए, सब सभा विसर्जन हो गई। कोई कहता था कि क्या से क्या हो गया? दूसरा कहता था कि घी खाइये शक्कर से और दुनिया ठगिये मक्कर से। तीसरा

बोला कि भाई लोभ किसी से नहीं जीता जाता। किसी ने कहा उसका द्रव्य के लिए ही सब ढोंग था, अर्थात् जितने मुख उतनी ही बातें, यह बात चरितार्थ हो गई॥

सारांश—मेरे मित्र! अब यदि कोई सच्चा त्यागी भी आजावे तो उसका भी विश्वास नहीं, सत्य है जो इष्ट के परदे में अनिष्ट होता है, वह बड़ा ही हानिकारक होता है। भारतवर्ष में यह खेल बड़ी धकापेल से हो रहा है। समझदार सोसाइटी आर्यसमाज भी इस खेल का खिलाड़ी होने लगा है जो अनुचित ही है॥

७-सप्तम दृष्टान्त—किसी बहुरूपिये ने एक राजा के पास आकर कुछ धन की याचना की। राजा ने उसकी बातों से प्रसन्न होकर कुछ धन दिया, और यह भी कहा कि यदि तुम मुझे भुला दोगे और मैं तुमको न पहचान सकूं तो तुमको पुष्कल धन पारितोषिक रूप में दूंगा। यह बात सुन कर बहुरूपधारी चला गया और अनेक उपाय किए, परन्तु राजा को किसी प्रकार उसका पता मिल ही जाता था, याचक हार गया और विचारने लगा कि किसी प्रकार भी पुरुषार्थ सफल होता दृष्टि में नहीं आता। इसलिए उस ने कुछ काल विराम किया, और मन में सोचता भी रहा। अन्त में उसने एक साधू का वेश धारण किया, और राजधानी के निकटवर्ती ग्राम में आश्रय लिया। उसके बाहर किसी वृक्ष के तले आसन जमा दिया। दुग्धाहार करना, खड़े रहना और स्वयं किसीको न कुछ कहना, और न किसी के पूछने पर कुछ उत्तर ही देना, और आगे अग्नि जलाना। तीन मास के लगभग व्यतीत हो गए, महात्मा जी

की ख्याति बढ़ने लगी, और लोग उसकी महिमा का यश गाने लगे। साधु पूरा है, त्यागी है, परमेश्वर से मिला हुआ है, ऐसा सुनकर लोग इधर-उधर से आने लगे। ऐसी कीर्ति को सुन कर रानी ने राजा साहब को प्रेरणा की कि आपकी राजधानी के समीप इस प्रकार महात्मा तपस्वी वीतराग विराजमान हो, समस्त जन उनके दर्शन करें और हम वञ्चित रहें, यह कितनी भूल है ? साधुओं का दर्शन बड़ा ही पुण्य कर्म है, इस से दूर रहनेवाले को शास्त्र भाग्यहीन बताता है। रानी की प्रेरणा से प्रेरित होकर राजा ने एक दिन जाने के लिए निश्चित कर लिया। यह विज्ञप्ति अतिशीघ्र इधर से उधर घूम गई। राजा कई एक मन्त्री दीवान आदि सभ्य पुरुषोंके साथ महात्मा के दर्शन को पैदल चला, इस दृश्य को देखने के लिए बहुत लोग इधर उधर से जमा हो गये। इन सबको संकेत से निहार कर साधु अपनी निराली अदा से खड़ा रहा। न नेत्र उठाकर देखा और न कुछ मुंह से से कहा। इस लापरवाही को देखकर राजा-रानी दोनों की श्रद्धा बड़ी ही बलवती हो गई, मनोवृत्ति में राजा की विभूति जागती हुई सो गई। संसार के सुखों से चित्त उपराम है, मनुष्य के जीवन का यही परम काम है। यह स्थान किसी भाग्यवान् को मिलता है, यह अनोखा पुष्प किसी विशुद्ध अन्तःकरणरूपी सरोवर में ही खिलता है। संसार-जन इस भाग के भागी कहां ? साधु इन सब बातों को सुनते हुए तटस्थ हैं। लोग मूकसम हैं, कोई अश्रु से अपने मुख को धो रहे हैं, और कई एक अपने अन्तःकरण क्षेत्र में वैराग्य का बीज बो रहे हैं। इस अवसर पर राजा की आज्ञा लेकर रानी ने

अपने गले का हार जिसका मूल्य लगभग दश सहस्र होगा, उठकर बड़े ही विनयभाव से महात्मा जी के हाथों में डाल दिया उसने बेपरवाही के साथ अग्नि की आहुति कर दिया। लोग चकित हैं इस त्यागभाव से प्रेरित होकर रानी और राजा साधु जी के चरणों की ओर झुके। स्पर्श करना चाहते ही थे कि साधु उस स्थान को छोड़ कर उच्चस्वर से कहने लगा कि राजन्! इनाम दो, मैं वही बहुरूपिया हूं, आपको भुला दिया, पारितोषिक का अधिकारी हूं। यह देखकर जनता में खलबली मच गई, जितने मुख उतनी ही बातें होने लगीं। परन्तु सर्व कर्मचारियों के साथ राजा ने मन्द २ हंसते और अपने किए हुए पर पछताते हुए सबके सामने उस से पूछा कि तुम बताओ, हम तुमको इनाम १०० या २०० सौ देंगे तुमने यह क्या बेसमझी की कि दश सहस्र का हार अग्नि में जला दिया, इस समय नहीं तो रात्रि को लेजाते। उसने राजा को कितना सुन्दर उत्तर दिया कि राजन्! यह इनाम तो मेरा हक है, हार भस्म हो गया तो हो जाय। माना कि मैं असल त्यागी नहीं था, पर उसकी नकल तो था। नकल के पास करने से हो सकता है कि कभी असल की प्राप्ति हो जावे। राजा ने इस बुद्धिमत्ता का उत्तर सुन कर उसको बहुत सा धन दिया, लोग उसके शुद्ध भाव की प्रशंसा करने लगे॥

सारांश—मनुष्य को उचित है कि नकल वही करे जो असल के साथ मिलती जुलती हो। यदि हम असली आर्य नहीं हैं, तो उनकी ठीक नकल करना तो सीखलें॥

८—अष्टम दृष्टान्त—एक पुरुष मार्ग में जाता हुआ थक गया।

मन में विचारने लगा कि चलना तो कठिन हो रहा है, यदि कोई अश्वादि किराये पर मिल जावे तो उस पर बैठ कर अपने स्थान को चलें। यत्न करने पर भी कोई प्रवन्ध न हो सका। थोड़ी दूर चलकर क्या देखा कि एक ऊंट अपनी कतार से बिछुड़ा हुआ जंगल के जल वायु आहार से पुष्ट अपनी मस्ती में वन में बैठा हुआ है। पथिक ने विचारा कि यदि इसकी पीठ पर बैठ जायें तो अच्छा हो। यह धीरे २ जाकर उसकी पीठ पर जा बैठा। ऊंट का उठना बैठना बड़ा विचित्र होता है। यदि मनुष्य संभल कर न बैठे तो गिरने का भय ही होता है। ऊंट एकाएकी उठकर इधर उधर को भागने लगा कभी ऊपर को जाता, और कभी नीचे को आता है, और कभी वृक्षों में ले जाता है। गिरने के भय से सहम कर बैठा तो रहा, परन्तु विवश है, करे तो क्या करे। उस ओर से एक मुसाफिर आरहा था, उसने पूछा कि नौजवान! तुम बड़े भयभीत होकर बैठे हो, तुम को कहां जाना है? वह उत्तर देता है कि मित्र! मुझे तो अमुक ग्राम को जाना था। वहां ही मेरा निवास था। अब बेवश हूं, जहां ऊंट ले जावे वहां ही जाना है॥

सारांश—जो शुतुर बेमुहार पर सवार हो जाते हैं उनको प्राप्तव्य स्थान नहीं मिलता है। ठीक इस ही प्रकार जो मनुष्य समाज इन्द्रियों के विषय में मर्यादा को छोड़ कर आसक्त हो जाता है, फिर उसकी मंज़िल दूर ही होती जाती है। सत्य है विषय विष के समान ही हैं, यदि उनका अनुष्ठान विधि से नहीं किया जावे॥

९—नवम दृष्टान्त—किसी नगर में एक राजा ने एक बागीचा

बड़ा ही सुन्दर बनवाया था। उसमें विचित्र चित्रकारी से स्थान का निर्माण किया गया था। उसमें अद्भुत् पुष्प वाटिका का स्थान २ पर निदर्शन था। फलदार वृक्ष बड़ी ही सुरीति से लगाये गए थे। समय २ के फल सुन्दर, सरस, दर्शनीय वहां मिलते थे। यत्रकुत्रचित् जलाशय अपनी निराली शोभा दिखा रहे थे। उसमें जाने आने के मार्ग बड़े ही मनोरम बने हुए थे, जनता के विनोदार्थ उसकी रचना का विधान था, हर समय सबको सुनियम से जाने आने की आज्ञा थी। प्रत्येक फाटक पर सज-धज के एक कर्मचारी खड़ा रहता, जो दर्शनार्थ भ्रमण करने वालों को एक सन्देश देता था, और वह सुन्दर अक्षरों में फाटक के दोनों पार्श्व भाग में लिखा हुआ था कि जाने वाले प्रसन्नता से जा सकते हैं। एक घण्टे के पश्चात् देख कर आ सकते हैं, परन्तु किसी को कोई पुष्प या फल तोड़ने की आज्ञा नहीं है। अनेक पुरुष एक दरवाजे से जाते और दूसरे से निकलते थे, जिधर से जाते थे उनको यह सन्देश दिखा और बता दिया जाता था और जिधर से आते थे वहां आने वालों की पड़ताल की जाती थी। एक समय दो नवयुवक दर्शनेच्छु वहां गए उनको दरवाजे पर वही आदेश समझा दिया कि किसी फल पुष्प को तोड़ने की आज्ञा नहीं है। वह सैर करने के लिए आगे बढ़े। उनमें से एक ने विचारा कि यह पुष्प और यह फल बड़ा ही मनोहर है। यदि इनको तोड़ कर छिपा लें तो कौन देखता है, यह भेद उसने अपने साथी को भी नहीं बताया, उन दोनों को तोड़ कर पाकेट में डाल लिया। आते समय जब फाटक से निकलने लगे तब दरबान ने कहा कि कोई पुष्प या

फल तो नहीं तोड़ा है ? दोनों ने इन्कार किया, उसने कहा कि तलाशी दो। जिसने नहीं तोड़ा था वह प्रसन्नता से आगे बढ़ा और दिखा दिया वह निर्भय था, और जिसने तोड़े थे उसको भय ने सता दिया, मन में सोचता है कि मैंने बुरा काम किया कहां जाऊं। यदि भूमि बिरल दे तो अपने को छिपाऊं। दरबान दूसरे की जांच करता है, यह जीता हुआ भय से मर रहा है, अन्त में क्षमा मांगी। ओ धूर्त ! अधम इन शब्दों के साथ छोड़ दिया ॥

सारांश–जो अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता प्रत्युत् विपरीत चलता है, उसकी ऐसी ही दशा होती है। कर्त्तव्य छोटा हो या बड़ा, उसके पालन करने में उत्थान और उसको त्याग देने या उलटा करने में पतन और अपमान ही होता है। जैसा करो वैसा भरो। इस मार्ग में कोई किसी का साथ नहीं देता है। यह न्याय है, वह ही खाता है जो साथ लाता है। भारतवर्ष किंचित् अपनी दशा पर विचार करे, पुनः देखे कि यह इस नियम से कितनी दूर है, स्वयं जान लेगा कि इसको किसी ने नहीं सताया है, यह केवल इसका ही कसूर है ॥

१०–दशम दृष्टान्त–किसी नगर में एक धनी पुरुष नेत्रविहीन रहता था उसके पास एक पाचक था। कृपणता के कारण वह अपने नौकर को कभी पारितोषिक नहीं देता था। उस भृत्य के मन में लोभ हुआ कि यदि यह किसी प्रकार मर जावे तो बहुत सा धन मेरे हाथ आजावेगा और जीवन सानन्द बीतेगा। इस अनिष्ट कर्म से मन में भय भी था, उधर लोभ भी अपना बल बढ़ा रहा था। एक दिन उस घर में एक छोटा सा सांप

निकला, पाचक ने उसको उठाकर पकती हुई दाल में डाल दिया, और रोटी बनाकर भय के कारण स्वामी से आज्ञा लेकर अल्प समय के लिये कहीं चला गया। भृत्य ने सोचा कि वह स्वयं ही खाकर मर जावेगा। पश्चात् जाकर धन को ले लूंगा। एक घण्टा बीत जाने पर धनी ने सोचा कि उसको तो विलम्ब हो रहा है उसने संकेत से स्वयं ही उठकर भोजन खाने का विचार किया कि चूल्हे पर से जैसे ही दाल के पात्र को उठा कर ढ़कन हटाया तो उष्णावाष्प (जो सर्प के विष से मिली हुई थी) के लगते ही नेत्र खुल गये। वह प्रसन्न हुआ अन्धे को दो आंखें मिल गई, प्रभु का धन्यवाद किया। जब उसने दाल को चमचे से उठा कर देखा तो उसमें एक रस्सी के समान डाला हुआ सर्प प्रतीत हुआ। सब भेद खुल गया कि उसने मेरे मारने का उपाय किया था, इसी भय से वह कहीं चला गया है। रोटी नमक से खाकर आराम से खाट पर लेट गया। कुछ समय के पश्चात् वह नौकर भी बाहर से आया। विपरीत फल को देखकर चालाकी से बात करने लगा। मेरे स्वामिन्! आप मुझे कुछ पारितोषिक दें। मैं ने एक साधु से पूछ कर कैसा उपाय किया है। उसने उत्तर दिया कि धूर्त! धन के लालच से तुम ने मेरे मारने का यत्न किया था। मैं मरा नहीं, मेरे नेत्र खुल गये, यह प्रभु की कृपा है। यदि तू शुद्धभाव से कोई उपचार करता, तब तू इनाम का अधिकारी था। तेरी बदनियत से मुझे लाभ हुआ है, अत एव मैं तुझे क्षमा करता हूं. अन्यथा तू दण्ड पाने के योग्य था॥

सारांश—यह है कि अशुद्ध भाव से यदि कोई कार्य नेक

भी हो जावे, तो उसके लिए लाभकारी नहीं होता है। मनु का यह कथन ठीक ही है कि वेद, त्याग, यज्ञ, नियम, तप यह समस्त उत्तम कर्म जिस मनुष्य का भाव दुष्ट है उसको सिद्धिप्रद नहीं होते हैं ॥

११—एकादश दृष्टान्त—एक उदार धनी, साधुओं का सत्संगी किसी ग्राम में रहता था। उसका एक मित्र जो धनवान् तो था परन्तु साधुसंग से उसको कुछ भी प्रेम नहीं था, वहां आया हुआ था। दोनों सायंकाल के समय घोड़े गाड़ी में बैठकर सैर को गये। कुछ दूर क्या देखा, कि एक साधु लापरवाह, मिट्टी को इधर उधर से इकट्ठा करके अपनी अदा से कुछ बना रहा है। उस गृहस्थ ने गाड़ी को खड़ा कर दिया, और साधु को सम्बोधन करके बोला कि महात्मन्! आप क्या कर रहे हैं? उसने कहा कि मकान बना रहा हूं। और इसमें सब सुख के सामान बना दूंगा। धनी ने पूछा कि क्या अपने लिए ही बना रहे हो, या बेच दोगे? उसने कहा कि यदि कोई ठीक मोल देगा तो बेच दूंगा। उसने कहा कि मुझे दे दो, क्या मोल है? साधु ने उत्तर दिया कि सौ रुपये, सेठ ने उसी समय अपने पास से दे दिये। साधु अपनी अदा से हट गया और वह दोनों आगे बढ़े। दूसरे ने कहा कि तुम ठीक पागल हो कैसे पुरुष से बात करने लगे, और सौ रुपये भी व्यर्थ खो दिये, यह क्या बुद्धिमत्ता की। उसने कहा मेरा तो साधुओं से प्रेम है, इतना ही नहीं यदि वह एक हज़ार रुपया मांगता तो भी मैं दे देता। कई प्रकार विनोदालाप करते हुए घर को आगए, भोजनाहार करने के पश्चात् अल्पकाल शयन किया रात्रि को उस पुरुष ने

जो साधुओं से प्रेम नहीं रखता था, स्वप्न में क्या देखा कि एक बड़े जंगल में, नगर से कुछ दूर एक मनोहर बाग लगा हुआ है, जो अपनी शोभा से अति सुन्दर है और इसके इरद-गिरद चारदीवारी बहुत ही रम्य है। समीप जाने से उसकी बनावट और सजावट ने मन को व्यामोह में डाल दिया कि इसके भीतर जा कर दर्शन करना चाहिए। जब यह आगे को बढ़ा तो दरबान, जो बड़ी चुस्ती के साथ वहां खड़ा था बोला—किधर आ रहे हो, किसी से आज्ञा लिए हो? यह अपनी अमीरी के घमंड में था लज्जित हुआ। उसने पूछा कि किसका बग़ीचा है? उस ने उस सेठ का ही बड़े आदर से नाम लिया, जिसने साधु से ख़रीदा था, और कहा कि कल ही मोल लिया है। जब तक सेठ न आजायगा तब तक किसी का प्रवेश नहीं हो सकता है। इतने में आंख खुल गई, पछता कर कहता है कि यह वही बाग़ है, जो साधु से उसने मोल लिया था, उसके कर्म का यह फल है, उदासीन है, मन ही मन सोचता है कि यदि आज भी वह साधु अपनी उसी अदा से मिले तो कुछ मैं भी मोल लूं। भोजन भी नहीं किया, मन उसी ओर लगा हुआ है, सायंकाल के समय जब चलने लगे तो उसने कहा कि आज भी उसी तरफ़ चलें। उस महात्मा को देखेंगे क्या कर रहा है। दूसरे ने कहा कि मित्र! कल तो ग्लानि थी, आज कैसे साधु से मित्रता हो गई, क्या भेद है? उसी स्थान पर पहुंच कर बड़ा प्रसन्न हुआ, साधु अपनी प्रकृति से उसी काम को कररहा है, जो कल करता था, पूछा महात्मन्! क्या करते हो? कहा मकान बनाता हूं, इसको सब आराम के सामानों से सजाता हूं। उसने कहा कि

इसमें आप रहेंगे कि बेचेंगे? साधु ने कहा कि रहने की तो इच्छा है, यदि कोई लेगा तो मोल भी दे दूंगा। उसने कहा कि मुझे देदो, क्या दाम होगा? साधु ने कहा कि एकलाख रुपये। यह सुनकर होश उड़ गए। कहने लगा कि महाराज कल आप ने इनको सौ रुपए को दिया है, आज उससे दूना लेलो। साधु ने कहा कि अरे लालची! उसने तो अपनी नेक नीयत से विना देखे भाले लिया और मोल दिया। तू तो रात्रि को देख कर आया है, बड़ी बुद्धिमत्ता से सौदा ले रहा है, दाम पूरा दो और लो॥

सरांश-इसकाही नाम है कि नीयत साफ़ और खीसा पुर॥

१२-द्वादश दृष्टान्त-किसी पुरुष ने विनोदार्थ एक तोता पाला हुआ था। बड़ा सुन्दर और अच्छा बोलता था। एक साधु धनी के गृह पर भिक्षा मांगने कभी २ जाता था। एक दिन तोते ने कहा कि भगवन्? मैंने सुना है कि ईश्वर नाम स्मरण से जन्म-मरण का बन्धन कट जाता है, क्या यह सत्य है? साधु ने कहा कि यह सत्य ही है। तोते ने कहा कि क्या कारण है कि मैं प्रतिदिन प्रभु का नाम लेता हूं, मेरा तो यह लोहे का पिंजरा भी नहीं कटता है, कोई उपाय हो तो कृपया बता दो। उसने कहा अच्छा बता दूंगा, यदि उसका सेवन किया तो आज़ाद होजाओगे। दो चार दिन के पश्चात् जब साधु भिक्षा के लिए गया तो तोते ने वही प्रश्न किया। सुनते ही साधु गिर पड़ा। आटा इधर-उधर गिर गया, और वह मूर्छित हो गया। लोगों ने आ कर सम्भाला, मुख में जल डाला, पंखे से वायु की-तब होश में आ गया। भिक्षा ले कर चला गया। तोता बड़ा ही

दुःखी हुआ, सोचता है कि मैं ने क्यों पूछा। महात्मा के चोट लगी आटा गिर गया इस पाप का भागी मैं ही हुआ। कुछ दिन पश्चात् जब साधु पुनः गया तो तोते ने कहा कि भगवन्! अपराध क्षमा हो, आप को चोट भी लगी और मेरे प्रश्न का उत्तर भी न मिला। साधु बोला बस ख़ामोश हो जा। हम ने जो कुछ बताना था बता दिया, इस से आगे कहने की किसी को शक्ति नहीं है। यदि बुद्धि काम देती है तो समझ लो, नहीं तो सफलता नहीं, तोते ने मन में सोचा कि साधु ने क्या उपदेश किया। कोई मार्ग नहीं मिलता है, अन्त में यही ध्यान में आया कि वह बे होश होने का इशारा कर गया है, यही उपाय है, यदि हो सके। तोता अपने स्वभाव को ऐसा ही बनाने लगा। जब अभ्यास बढ़ गया तो एक दिन प्रातः चार बजे दम को खेंच कर शिर नीचे और दुम को ऊपर कर, पिंजरे में पड़ा है। तोता प्रातः बोलता था, लोग सुन कर प्रसन्न होते थे, किसी ने आवाज़ दी कि भाई तेरा तोता आज क्यों नहीं बोलता, क्या कारण है? उस ने जब उठ कर देखा तो तोते को पिंजरे में मरा पाया। इर्द-गिर्द के स्त्री और पुरुष जमा हो गए। बहुत अच्छा बोलता था, प्रातः काल सब को जगाता था, प्रशंसा करते हैं। पिंजरे का ताला खोला, संकल खोली और उठाकर दूर फेंक दिया। गिरते ही तोते की समाधि खुल गई। सावधान होकर, दीवार पर बैठकर मधुर वाणी से बोलने लगा, लोग हैरान हैं। तोते का उपदेश—अपनी मूर्खता के कारण जो बन्धन बीच आजाते हैं। हाथ पांव जब नहीं हिलाते तब आजादी पाते हैं॥

सारांश-इस प्रकृति के बन्धन से पुरुष तब ही मुक्त हो सकता है, जब प्रकृतिजन्य विषयों से सर्वथा अपनी वृत्ति को हटा लेता है ॥

१३-त्रयोदश दृष्टान्त — उपाय और अपाय के यथार्थ ज्ञान से पुरुष विपत्ति से बच सकता है अन्यथा नहीं। एक वृक्ष पर वक बगुला पक्षी निवास करते थे। जब वह बच्चे उत्पन्न करते थे, तब एक सर्प जो उस वृक्ष के तले रहता था, वह वृक्ष पर चढ़ कर उनके बच्चों को खाजाता था, इस बात से पक्षी बड़े ही दुःखी थे। वह निवास छोड़ना नहीं चाहते थे, और उपाय कुछ सूझता नहीं था । अन्त में उन्हों ने एक बैठक की, और उस में सब पक्षियों को बुला कर अपनी विपत्ति को सुनाया। परामर्श तो कई एक ने दिये, परन्तु कोई अनुकूल न हुआ, अन्त में एक नीति पर सब सहमत हो गये । वह यह थी कि सर्प के साथ इस प्रकार हम को विग्रह करना चाहिए, कि सर्प का शत्रु नकुल (नयोला) है उस को किसी उपाय से यहां लाना चाहिए और उस का उपाय यह है कि उस के स्थान को ढूंढ कर वहां मछलियें डालनी चाहिएं। जब उस को मछली खाने की आदत हो जायेगी तब उस को इस व्याज से वृक्ष के नीचे ले आवेंगे, पुनः वह सर्प के साथ युद्ध कर के उस को मार डालेगा, कुछ समय के पश्चात् ऐसा ही हुआ। उस ने सर्प को मार डाला। बगुले अपने को समर्थ देख कर गाने और बजाने लगे, परन्तु जब उन्हों ने फिर बच्चे दिये तो उस न्योले ने वृक्ष पर चढ़ कर उन को खा लिया, तब दुःखी हुए, हतोत्साह हो स्थान को छोड़ गये। उपाय तो ठीक सोचा, परन्तु अपाय पर

ध्यान नहीं दिया। उपाय कार्य सिद्धि का हेतु और अपाय उस को कहते हैं कि पुनः इस उपाय में विपत्ति की सम्भावना तो नहीं है॥

निष्कर्ष–उपाय और अपाय के यथार्थ ज्ञान से ही मनुष्य विपत्ति से बचता है, अन्यथा नहीं। भारतवासियों का इन दोनों में कोई अंग भंग रहता है॥

१४–चतुर्दश दृष्टान्त–एक धोबी के पास एक गधा भार ढोने के लिये, और एक कुत्ता रहता था। मालिक कंजूस था, काम तो लेता था किन्तु खाने के लिये कम देता था। बेचारे दुःखी थे, एक रात्रि को उस के घर में चोर आ गए। वह धोबी तो निद्रा में है, ऐसी अवस्था में गधे ने कुत्ते से कहा कि मेरे मित्र! मालिक की हानि हो रही है, उस को जगाना चाहिए, कुत्ते ने कहा कि ख़ामोश रहो, यह बड़ा कंजूस है, कभी भी पेट भर रोटी नहीं देता है। गधे ने कहा जो कुछ भी हो विपत्ति में इस का साथ देना चाहिए, अन्यथा इस की हानि में हम को और भी अधिक कष्ट होगा। कुत्ते ने कहा मत बोलो, मैं इस की सहायता नहीं करूंगा। इस बात को सुन कर गधे ने कहा कि मित्र! यदि तुम नहीं जगाते तो मैं ही जगाता हूं। उस ने कहा कि तेरी मर्जी। गर्दभ ने ध्वनि करना आरम्भ कर दिया, असमय में शब्द सुन कर धोबी जागा और एक दो लट्ठ जमा दिये कमबख्त सोने नहीं देता है। धोबी जा लेटा, गधे की दुर्दशा देख कर कुत्ता कहने लगा कि मित्र! क्या हाल है, उस ने कहा कि तुम सत्य कहते थे, अच्छा नहीं है। कुत्ते ने कहा कि अब मैं तुम को एक बात का परिचय देता हूं, ध्यान

से देख । वह भौंकने लगा धोबी पुनः उठा, और इधर उधर देखने लगा। चोर ने समझा कि अब मालिक सावधान हो गया है भाग गया और धोबी के माल की रक्षा हो गई । धोबी ने कुत्ते को आन कर प्यार किया और रोटी का टुकड़ा खाने को दिया । प्रातः लोगों को कुत्ते की प्रशंसा सुनाता है । गधे ने कुत्ते से पूछा कि मित्र ! यह तो बता कि मैं भी तो अपने शब्द से मालिक को जगा कर यह ही कहता था कि उठो तुम्हारे गृह में चोर है, संभलो मेरे ऊपर तो दो लट्ठ पड़े बड़ी चोट आई और तुम ने भी यह ही कहा था किन्तु उस ने तुम से प्यार किया और खाने को दिया । कुत्ते ने कहा कि मित्र ! जिस का काम उस ही को सजता, अन्य करे तो दण्डा बजता । सत्य है जो तू कहता था, मैं ने भी वह ही कहा था । मैं इस काम में अधिकारी हूं और तू अनधिकारी है ॥

निष्कर्ष—जो काम अधिकारियों के हाथों में जावेगा वही ठीक होगा अन्यथा बिगड़ जावेगा । धार्मिक कार्यों को संभालने के लिये बड़े पवित्र हाथों की आवश्यकता है ॥

१५—पञ्चदश दृष्टान्त—किसी नगर में एक मनुष्य श्रम जीवी था । उस के पास एक गधा और घोड़ा था, उन पर बोझ लाद कर अपना जीवन निर्वाह करता था । घोड़े और गधे में पारस्परिक प्रेम था, एक दूसरे को सहारा देने के लिये विपत्ति के समय परस्पर कुछ भार को बांट लिया करते थे । किसी कारण से घोड़े और गधे में अनबन हो गई । उस दिन वह पुरुष जङ्गल में लकड़ी लेने के वास्ते गया था, दोनों पर भार लदा हुआ था, मार्ग में गधे को अधिक भार के कारण

कष्ट हो रहा था। उस ने घोड़े से कहा कि मित्र ! मेरा थोड़ा सा भार ले लो तो मैं सुख से स्थान पर पहुंच जाऊं। घोड़े ने इस बात को न सुना और न ध्यान ही दिया। गधा तंग हो गया। उस ने कहा हम दोनों एक स्वामी के पास रहते हैं। पहिले मैं कभी तुम्हारे काम आया और तुम ने मेरी सहायता की आज कल हम रोष में हैं, उसको त्याग कर इस कठिन समय में मेरी सहायता करो। इस दीन वचन को सुनकर भी घोड़ा बे परवाह रहा, अन्त में गधे ने कहा कि मित्र ! अब मैं गिरने वाला हूं अपने जीवन से निराश हूं, घोड़े को इतने पर भी कुछ न सूझा, अब गधा गिर कर मर गया। मालिक को कुछ खेद तो हुआ उस ने गधे का सारा बोझ घोड़े पर लाद दिया और उस की खाल को भी उतार कर उस के ऊपर रख दिया, अब घोड़ा बोझ से लाचार है, रोता है, पश्चात्ताप करता है अपने भावों को इस प्रकार प्रकट करता है कि ओ बे समझ तू ने अपने साथी का थोड़ा सा भार न बांटा, विपत्ति के समय उस का साथ न दिया उस का ही यह प्रतिफल है कि सब भार को उठा कर चल और उस की खाल को भी उठा कर चल। आंसू बहाता हुआ विकलता से आगे बढ़ता है ॥

निष्कर्ष यह है कि जो मनुष्य समाज अपनी अकड़ और अभिमान के कारण आपत्ति में किसी का साथ न देगा, वह इसी प्रकार क्लेश से पीड़ित होगा ॥

१६—षोडश दृष्टान्त—किसी समय का वृत्तान्त है कि तीन बैल ग्राम से निकल कर जंगल में रहने लगे। उद्यान की वायु का सेवन, नदी का जलपान, नूतन तृणाहार से हृष्ट पुष्ट

हो गये । परस्पर में प्रेम था, परस्पर मिल कर बैठते, चलते और खाते पीते थे। एक के सुख में दूसरा सुखी और दुःख में दुःखी था, आनन्द में बहुत समय व्यतीत हो गया । एक दिन कहीं से सिंह आ निकला। उन दीर्घ कायपशुओं को देख कर मन में हर्ष किया कि कुछ समय के लिये मेरा आहार इस जंगल में विद्यमान है। सिंह कुछ आगे बढ़ कर आघात करना ही चाहता था कि इन तीनों ने दृष्टि-कोण को बदल कर बल पूर्वक सिंह का सामना किया, फिर क्या था तीनों ने विचित्र रूप से अपनी पूछों को उठा कर बड़े ही प्रचण्ड वेग से सिंह के साथ धकापेल की कि सिंह हिम्मत हार दूर जा खड़ा हुआ। वह नाम के तीन हैं किन्तु वास्तव में प्रेम ने उन को एक बना दिया। जिस की १२ टांगें, ६ सींग और बड़ा दृढ़तर शरीर है सिंह को भय था कि यदि उछल कूद करता हुआ इन के मध्य में आ गया तो पिस जाऊंगा, कहीं सींग का आघात हो गया प्राणों से जाऊंगा यह विचार कर स्थान को छोड़ गया, कुछ समय बीत जाने पर इन तीनों में किसी कारण वैर विरोध हो गया । अब तीनों का रहन सहन, उठना-बैठना और भोजन आहारादि सब पृथक् हो गया, जिस दृष्टि से सिंह का अवलोकन करते थे, उसी दृष्टि से अब एक दूसरे को देखने लगे। उस समय अकस्मात् सिंह कहीं से पुनः आ निकला। उन को भिन्न २ स्थानों में बैठा देख कर एक के ऊपर हमला किया, यह देख कर दो उल्टे भागे, आज एक को; कल दूसरे को और परसों तीसरे को मार कर खा गया ॥

निष्कर्ष—संगठन में बड़ा बल है इस की कृपा से दुर्बल

भी बलवान् बन जाते हैं। जब तक संगठन था ! सिंह पास न आ सका, उसके बिगड़ते ही एक २ को खागया ॥

१७—सप्तदश दृष्टान्त— किसी समय सिंह, चीता और भेड़िये ने मिल कर एक बारासींगे को शिकार कर लिया, यत्न सब ने बराबर किया, भाग भी सब का तुल्य ही होना चाहिए था। शेर ने उसके तीन टुकड़े कर डाले, अब तक तीनों खुश हैं कि एक २ टुकड़ा सब को मिलेगा, इतने में शेर ने कहा कि देखो यह एक टुकड़ा तो मुझ को चाहिए कारण यह है कि मैं जंगल का राजा हूं, दोनों ने स्वीकार कर लिया, दुबारा शेर ने कहा कि इस दूसरे टुकड़े को भी मैं लूंगा। कारण यह है कि मैंने तुम्हारे साथ मेहनत की है उन्होंने सोचा था कि इस एक में से ही कुछ थोड़ा २ मिल जायगा तो भी अच्छा है। इतने में शेर ने पुनः यह कहा कि यह तीसरा टुकड़ा मेरे सामने धरा है तुम में से कौन ऐसा है जो मेरे सामने से उठा ले, डरते हुए वह दोनों वहां से भाग गए ॥

सारांश— यह है कि सर्वत्र बल ही की महिमा देखने में आती है दुर्बल का तो जीवन ही भार हो जाता है ॥

१८—अष्टादश दृष्टान्त—किसी ग्राम में एक बहुत ही निर्धन मनुष्य रहता था, इधर उधर से याचना करके अपना पालन करता था जिस स्थान में यह रहता था. वह किसी समय से बड़ा खुलासा बना हुआ था। एक रात्रि को कोई चोर धन के लालच से वहां आ गया, वहां क्या धरा था जो उसको मिलता। गरीब का तो यह स्वभाव था कि यदि रात्रि के समय घर में पानी भी रहे तो उसको निद्रा नहीं आती थी।

उसको गिरा कर ही सोता था, ऐसी अवस्था में चोर के हाथ वहां क्या आ सकता था, निराश होकर जाने लगा तो घर के मालिक ने उसको कहा कि मेरे मित्र ! मुझको तो यहां प्रकाश मान दिन के समय भी कुछ नहीं मिलता तू यहां अंधेरी रात में क्या देखता है ॥

सारांश—जहां पढ़े लिखे लोग भी भूल करते हों वहां बेसमझों का तो कथन ही क्या है ॥

१९—एकोनविंशति दृष्टान्त—एक मनुष्य रात्रि के समय मार्ग में जहां दीपक की रोशनी थी, वहां बड़े ही ध्यान से कुछ ढूंढ रहा है। उसको देखकर अनेक पुरुष वहां खड़े हो गए, और कोई उसकी सहायता भी करने लगे। अन्त में किसी ने उससे पूछा कि भाई तू क्या ढूंढता है ? तेरी क्या वस्तु खो गई है ? उसने उत्तर दिया कि दुअन्नी गिर गई है, उसको खोजता हूं। दूसरे ने पूछा कहां गिरी थी ? उसने कहा कि घर के आंगन में गिरी थी, उसने कहा कि यहां कैसे तलाश करते हो ? वह कहने लगा कि वहां अन्धेरा है, यहां ही प्रकाश मिला है, अत एव यहां ही खोज करने लगा हूं। इस बात को सुन सब लोग हंस पड़े ॥

सरांश—भूल से जो काम होते हैं, उपहास के विना उन का अन्य कोई फल नहीं निकलता है ॥

२०—विंशति दृष्टान्त—एक फ़कीर किसी ग्राम के बाहर रहता था, उसका आंगन कुशादह था। रोज मांग कर खा आता, और वहां आकर एक छोटी सी खाट पर लेट जाता था। उस को किसी ने कहा कि यदि आज्ञा दें तो तुम्हारे आंगन में दो

तीन बोरी चूने की गिरा दें, १० दिन के पश्चात् उठा लेंगे, उसने कहा बहुत अच्छा। उसी रात्रि को एक चोर वहां आया, घर में तो कुछ था नहीं जो मिलता, सफेद चूने को आटा जान कर चोर ने सोचा कि एक मन भर आटा ले चलें। उसने अपनी चादर को बिछा कर जब चूने में हाथ डाला तो कहने लगा कि धोखा हुआ, यह आटा नहीं है किन्तु चूना है। फ़कीर उसकी चादर को उठाकर पुनः चारपाई पर जा लेटा। चोर चादर को छोड़ कर भय से भागा इतने में घर वाले ने आवाज दी, चोर है पकड़ो। इधर उधर से लोग आगए और उसको पकड़ लिया, किसी ने थप्पड़ लगाया, किसी ने गाली सुनाई, किसी ने लात चलाई। वह बेचारा मार खाता और हंसता है। लोगों ने सोचा कि पिटने से तो मनुष्य रोता है, उल्टा यह हंस रहा है, यह क्या बात है, इस का कारण पूछना चाहिए। सबको हटा दिया और उससे पूछने लगे कि भाई! तुम मार खाते हो और हंसते हो, इसका क्या कारण है? उसने कहा कि मैं इसके कारण को नहीं बता सकता हूं। लोगों ने बड़ी मिन्नत से पुनः पूछा कि मित्र! कुछ तो कहो हमने तुमको मारा बड़ी भूल की। उसने कहा कि तुमने मुझको क्यों पकड़ा? और किस लिए मारा? लोगों ने कहा कि तुम चोर हो, उसने कहा कि मैं केवल रात्रि को इस घर में आया हूं, मैंने कोई वस्तु नहीं चुराई और जिसको तुम फकीर जानते हो, उसने मेरी चादर चुराली है, अब मैं तुम सब से पूछता हूं कि चोर कौन है? मैं हूं अथवा यह फकीर है?

निष्कर्ष—क्या विचित्र बात है जो दूसरों पर लांछन देता है वही उस उलझन में फंसा हुआ है॥

२१–एकविंशति दृष्टान्त–एक स्त्री अपने पंचवर्षीय शिशु को लेकर (जिसके गले में कुछ सोने का भूषण पड़ा हुआ था) जारही थी, ऊष्णकाल था, मार्ग कुछ ऐसा विकट सामने आया जिसमें छाया नहीं थी, विचारने लगी क्या उपाय करूं, बालक धूप से कष्ट पायेगा, यदि कोई यात्री आजावे तो उसकी सहायता से चलना अच्छा होगा। इतने में एक घोड़े का सवार उस ओर को जाने वाला आगया। उस को देखकर प्रसन्न हुई और प्रार्थना करने लगी कि मेरे भ्रातः इस बालक को घोड़े पर चढ़ा कर इस मार्ग से पार करदे। इतनी मेरी सहायता कर, मैं अभी पीछे आकर बच्चे को संभाल लूंगी। यह सुन कर सवार ने अपने शुद्ध भाव से उत्तर दिया कि माता मैं काम पर जाता हूं, इस लिये रुक भी नहीं सकता हूं। जब इस बालक को लेकर उस ओर आगे बढ़ूं तो कोई पुरुष भूषण के लोभ से बालक को मार दे, अथवा कोई जानवर आकर इस पर आघात करे, या मेरे जाने के समय यह रोने लगे, तो मेरे कार्य में विघ्न पड़ेगा, अत एव मैं इसको नहीं ले सकता हूं। माता ने कहा अच्छा जैसी तुम्हारी इच्छा। १० कदम चलने के पश्चात् सवार की मनोवृत्ति बदली कि इस बच्चे को ले चल, भूषण को उतार लेना और इसको कुछ दूर पर बैठा देना। स्त्री के आते २ तू चार मोल आगे बढ़ जावेगा, आते हुए धन को क्यों छोड़ता है। यह कुविचार जब सवार के मन में काम कर रहा था, तत्काल ही माता के हृदय में भी भाव उत्पन्न होकर स्त्री की मति को फेर रहा था कि बेसमझे ! तू अपने बच्चे को सवार के पास दे रही थी, बच्चे को मार जाता, ज़ेवर को उतार लेता,

तू इसको कहां ढूंढ़ती। संसार तुझको मूर्ख कहता, मेरे हाथ से मेरा ही बालक जाता। प्रभु ! तूने मुझको सम्मति दी, मुझ पर बड़ी कृपा की, मन में ऐसे भावों को लाकर बच्चे के साथ बड़ा प्रेम करती है। ऐसे मनोव्यापार के पश्चात् सवार ने लौट कर कहा कि माता ! लाओ मैं बालक को ले जाता हूं, तुम शीघ्र आना। माता ने कैसा सुन्दर उत्तर दिया, कि बेटा ! जो तुमको समझा गया है कि बच्चे को ले लो, वही मुझ को भी बता गया है कि बच्चे को न देना ॥

निष्कर्ष–मन के कुत्सित भाव दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, अत एव शुद्धभाव से रहना सज्जनों का काम है। ऐसे विपरीत विचारों से मनुष्यसमाज को बड़ी ही हानि पहुंचती है ॥

२२–द्वाविंशति दृष्टान्त–किसी ग्राम में एक रईस था, उसको मादकद्रव्य सेवन करने का स्वभाव था। उसके पास एक घोड़ा बड़ा सुन्दर और तीव्रगामी था। चोर ने उस घोड़े को लेजाने का यत्न किया, घोड़े को खोल कर ले जाना ही चाहता था कि लोग जाग पड़े। चोर को पकड़ कर कुछ मारा पीटा और एक स्तम्भ से बांध दिया। सूर्योदय से कुछ पूर्व सब उठकर चोर को बुरा भला कहने लगे। मादक द्रव्य सेवन करने वालों की प्रकृति नशे के उतार में प्रातःकाल कुछ अच्छी नहीं होती है। चोर ने विनय की कि आपने मुझे दण्ड तो दे ही दिया है अब छोड़ दो। सबकी सम्मति हुई कि इससे यह पूछ लो कि घोड़े को कैसे चुराते हो पुनः छोड़ दो। उसको स्तम्भ से खोल दिया कि बताओ उसने इधर उधर घूम कर कहा कि हम प्रथम घोड़े को देख जाते हैं, उन्हों ने कहा पुनः

क्या करते हो ? उसने कहा कि पुनः घोड़े के मुख में लगाम दे देते हैं। मालिक ने कहा कि ज़बानी न कहो, करके दिखाओ। जाकर लगाम दे दी, पुनः क्या करते हो ? उसने कहा पुनः पिछाड़ी खोल देते हैं, कहा कि खोल कर दिखाओ। उसने पिछाड़ी खोल दी, कहा पुनः क्या करते हो ? उसने कहा कि पुनः शनैः २ बाहर ले जाते हैं, फिर क्या किया जाता है ? उस ने कहा कि पुनः सवार हो जाते हैं, सवार होकर दिखाओ चोर सवार होकर सावधान हो गया। नशे से विकल प्रकृति रईस पूछता है कि फिर क्या करते हो ? उस चोर ने घोड़े की लगाम को खींचा और एड़ी लगाई। जाता हुआ कह गया कि अब इस प्रकार ले जाते हैं। घोड़ा तेज और चोर होशियार था। थोड़ी देर में कहीं से कहीं निकल गया। यह सब पकड़ो २ की आवाज़ लगाते हैं, कौन सुनता है॥

सारांश—बेसमझी से निकल कर समझदार होना तो प्रशंसा है। समझकर बेसमझ होना बड़ी लज्जा और खेद की बात है मुख दिखाने को स्थान नहीं रहता है॥

२३-त्रयोविंशति दृष्टान्त—एक सवार शीघ्रगामी घोड़े पर कार्यवश कहीं जारहा था। घोड़ा प्रति घण्टा १० मील अपने उत्साह से जा रहा है। ४ घण्टे में ४० मील निकल गया। सवार को उचित था कि यदि वह अपने भोजनादि व्यापार से पूर्व घोड़े के दाने घास, पानी और उसकी मालिश का प्रबन्ध करता तो घोड़ा अपने मालिक की इस कृतज्ञता को देखकर शब्द करता हुआ प्रसन्नता से यह कहता कि मुझे खा पी कर तयार होने दे, पुनः ४ घण्टा म ४० मील पहुंचाता हूं, परन्तु सवार

ने ऐसा न करके स्वयं स्नान किया, भोजन मंगवा कर खा लिया। घोड़े के खाने पीने का कोई प्रबन्ध न किया। घोड़ा उदासीन खड़ा है, कुछ बे दिली से शब्द करता हुआ जैसे यह कह रहा है। ओ बेसमझ मेरे उपकार का तूने यही बदला दिया कि मुझ भूखे प्यासें की कुछ भी परवाह न करके तुमको सब बात अपने आराम की सूझी। अच्छा अब मेरी पीठ पर सवार हो तुझ को मंजिल के बीच में ही फेंक दूंगा॥

निष्कर्ष—सत्य है जो किसी के उपकार को भूल जाता है वह कृतघ्न दुःख ही उठाता है॥

२४–चतुर्विंशति दृष्टान्त–किसी नगर में अल्प दूरी पर एक साधु रहता था। एक नवयुवक अपने कार्य से अवकाश पाकर उस महात्मा के पास आया जाया करता था। शिष्य गुरु दोनों का समान प्रेम था। एक दिन साधु ने कहा कि सौम्य! तुझ में बड़ी योग्यता है। संसार का उपकार करने की शक्ति (यदि तू कुछ ध्यान दे तो) हो सकती है। अल्प लाभ के हेतु अधिक का त्याग करना तो अच्छी बात नहीं है। गृह की ममता में फंस कर संसार के उपकार को हाथ से छोड़ना ठीक बात नहीं जान पड़ती है। इस उपदेश के पश्चात् उसने कहा कि महात्मा जी मैं अपने पिता के गृह में अकेला ही हूं। यदि मैं गृह से चला जाऊं तो उनको बड़ा ही कष्ट होगा। यदि उनकी मृत्यु न हो तो मरणासन्न अवश्य ही हो जावेंगे। माता पिता का बड़ा ही स्नेह होता है, कुछ दिन क्लेश पाकर उनके मरने में तो कुछ सन्देह ही नहीं। मेरा विवाह भी अभी हुआ है, यह सुनकर

कि मैंने गृह को छोड़ जंगल का मार्ग ले लिया है, वह तो अपने हाथों से अपना घात कर लेगी। एक मेरे चले जाने से सारा कुटुम्ब दुःखमय हो जावेगा, साधु ने कहा कि तुम अपनी मति के अनुसार सत्य ही कहते हो, परन्तु कोई किसी के पीछे नहीं मरता है सब अपने २ सुख के साथी हैं, इसका नाम तो संसार है। क्षण २ में अपना स्वरूप बदलता है, सब लोग इस बात को नहीं समझते हैं। नवयुवक ने कहा कि मुझे इस की प्रतीति कैसे हो, साधु ने कहा कि जिस नियम को मैं कहूं उसका पालन करो तुम को पता लग जावेगा। नवयुवक अच्छी प्रकृति का था इस विषय को जानने के लिये साधु की आज्ञा में चलना उसने स्वीकार कर लिया। महात्माजी ने उसको प्रणायाम का अभ्यास कराना आरम्भ कर दिया। षट् मास के अन्त में वह एक घण्टे तक श्वास-प्रश्वास और नाड़ी की गति के विना रहने में चतुर हो गया। तब साधु ने कहा कि पुत्र अब तुम रविवार के दिन इस की परीक्षा करलो कि संसार में यथार्थ रूप में कोई किसी का सहायक है या नहीं ? साधु ने कहा कि शनिवार को तू कुछ अपने आप को रोगी सिद्ध करना, भोजन भी न करना, उदासीन सा रहना। रविवार को प्रातः ८ बजे दम खेंच कर लेट जाना। एक घण्टे में सब कुछ तुम को देखने में आ जावेगा, उसने वैसा ही किया। नगर में कोलाहल मच गया, कोई कहता है कि घर बरबाद हो गया, किसी के मुख से निकलता है कि अब उसके माता पिता नहीं बचेंगे, किसी ने कहा कि इस की पत्नी इसके साथ ही जल मरेगी। जितने मुख उतनी ही बातें होने लगी। किसी ने कहा कि उस महात्मा को

(जिसके समीप जाता था उसको) बड़ा कष्ट होगा। एक ने जाकर महात्मा को कहा कि भगवन् आपका शिष्य तो चल बसा, शोक में होकर महात्मा जी उठे, जैसे गृह के समीप पहुंचे, बड़ा ही उत्पात होने लगा। साधु जी ने उस की माता से कहा कि रुदन मत करो, मैं इसको देखता हूं। लोगों को सन्तोष आया, महात्मा जी बोले कि मैंने प्रभुभक्ति बहुत की है, आज ही उस का परिचय देना है, इस बात के सुनते ही सब में जीवन आ गया। महात्मा जी ने कहा कि थोड़ा जल लाओ, उसको लेकर साधु जी ने थोड़ा सा ऊपर को फेंका, और थोड़ा २ चारों दिशाओं की ओर छिड़क दिया। दो तोले के लगभग पात्र में जल शेष रहा जिसको मृतक सम युवक के सिरहाने रख दिया। अब परीक्षा का समय आया, साधु बोला कि इसमें सन्देह नहीं कि यह पुरुष जीवित हो जायगा, परन्तु जो जल पियेगा वह मर जावेगा, कौन पीना चाहता है वह आगे बढ़े इस बात के सुनते ही सब मूर्छित सम होगए। साधु जी ने कहा कि अधिक समय नहीं, आध घण्टा ही समय है। जब कोई न बोला तो उसके पिता से साधु जी ने कहा कि अपने प्राण देकर पुत्र को जीवित करो, उसने उत्तर में कहा कि, अपने प्राण सबसे प्यारे हैं अपने लिये ही सर्व वस्तु में प्यार है, यह नहीं हो सकता। साधु जी ने उसकी माता से कहा कि तुम इस जल को पीलो, इतना रोती थी। उसने उत्तर में कहा कि सब अपने सुखों को रोते हैं, जब मैं ही न रही तो इसके जीवन से मुझ को क्या लाभ है, परमात्मा अन्य सन्तान दे देगा। साधु जी ने उसकी पत्नी से कहा कि देवी! तू इस जल का पान करके अपने सच्चे

हित का परिचय दे। उसने बड़ी उदासीनता से कहा कि मैं तो इनके जीवित रहते संसार का सुख देखना चाहती थी, अब यदि मुझे मृत्यु का ग्रास होना पड़े तो इनका जीना न जीना तुल्य ही है। अब मरने वाला तो मर गया जीता हुआ अपने प्राणों को क्यों दे, अब सब लोग हट गये किसी का साहस आगे बढ़ने का नहीं होता है। बस साधु ने सब से पूछा कि मैं इसको पी लूं। बड़े शोर से सबने कहा कि महाराज साधुओं का जीवन तो उपकार के लिए ही होता है। एक घण्टे तक यह सब बात चीत हुई। साधु ने उस अपने शिष्य को दो चार बार हाथ से शिर और पांव तक स्पर्श किया, और कहा कि उठो २ लड़का उठ बैठा। जो बातें सब के सामने हुई थीं, नगर में फैल गईं। रात्रि के समय लड़के ने साधु से विनय पूर्वक कहा कि भगवन्! आप सत्य कहते थे कि दुनिया स्वार्थ की है। हो सकता है कि यदि कोई माता या पिता पुत्र के वियोग में मर गए हों, स्त्री की कहानी अधिकांश में विख्यात है, परन्तु यह भाग्य सब का नहीं॥

सारांश—जब ऐसी बात है तो मनुष्य को उचित है कि यथार्थ सम्बन्ध का निर्वाह तो ठीक प्रकार से करे। परन्तु किसी के लिए कोई अनिष्ट कर्म न करे, सब अपने स्वार्थ के साथी हैं॥

२५-पञ्चविंशति दृष्टान्त—बन्दरों के पकड़ने का प्रकार पहिले इस प्रकार था और कहीं २ अब भी है कि एक मैदान में जहां बन्दरों का निवास होता है, दाना फैला दिया जाता है और कुछ ऐसे छोटे पात्र (जिनका मुख भी छोटा हो) भूमि

में गाड़ कर उनमें भी चने डाल दिये जाते हैं जब बन्दर वहां आते हैं तो पात्र में अधिक चने को देखकर, उसमें हाथ डालकर मुट्ठी बन्द कर लेते हैं। पकड़ने वाला जब आता है तो वह बंदर (जिस ने पात्र में हाथ डाला है) तड़फता तो है परन्तु भाग नहीं सकता है, उसको यह ज्ञान है कि मेरा हाथ किसी ने भीतर से पकड़ लिया है। इस बेसमझी से पकड़ा जाता है, समझदार हो तो छोड़कर भाग जावे, परन्तु मुट्ठी छोड़नी नहीं आती॥

सारांश–इसी प्रकार मनुष्य अपनी ही भूल से बन्धन में आता है, समझ से काम ले तो मुक्त है॥

२६-षड्विंशति दृष्टान्त–आपने अनेक बार देखा होगा कि बानरी अपने बच्चे को पेट से लगाए है, और कभी २ बच्चा माता को छोड़ कर इधर-उधर भ्रमण करता रहता है। जब उस को भय होता है तो पुनः अपनी माता के समीप जा कर उस के पेट से जा चिपटता है। तब वह उस को एक शाखा से दूसरी शाखा पर और एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता से ले जासकती है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पेट से लग जाना तो बच्चे का काम है, और कूद कर स्थानान्तर में ले जाना बानरी का काम है। यदि वह न लगे तो वह असमर्थ है। हाथों से बच्चों को सम्भालेगी या कूदेगी॥

सारांश–यथार्थ रूप में जो सच्चे महात्मा होते हैं उन का उपदेश जनता के उत्थान का निमित्त तो हो जाता है, यदि उस उपदेश को जान कर अनुष्ठान करने में लग जावें॥

२७–सप्तविंशति दृष्टान्त–किसी ग्राम के बाहर एक नेत्र विहीन साधु रहता था। वह बुद्धिमान् सर्वदा लोगों को हित

का उपदेश करता रहता था किसी समय क्रीड़ा के निमित्त उसी प्रान्त का राजा, मन्त्री और सेवक क्रमशः उसी मार्ग से निकले । प्रथम राजा ने उस से पूछा कि महात्मा जी ! इस ओर से कोई निकला है ? उस ने कहा कि महाराज ! मृगों के दौड़ की आहट तो प्रतीत हुई थी, यह सुन कर राजा आगे को बढ़ा. पीछे से मन्त्री आया उस ने सम्बोधन कर के कहा कि साधु जी ! कोई इस मार्ग से गया है ? उस ने कहा कि दीवान साहिब ! शिकार के पीछे राजा साहिब निकले हैं । आप भी जावें। इस के पश्चात् वह सेवक आया और उस को कहा कि ओ अन्धे ! इस मार्ग से कोई गुज़रा है ? उस ने उत्तर दिया कि राजा और वजीर गए हैं, आप भी गुलाम साहब जावें। जब वह थक कर तीनों इकट्ठे हों, स्थान को लौटने लगे, तो साधु की कुटिया के पास आ कर राजा का यह विचार हुआ कि इस नेत्र हीन पुरुष ने राजा मन्त्री और सेवक को कैसे पहचान लिया, इस से पूछना चाहिये । साधु के समीप तीनों खड़े हो गये और राजा ने पूछा कि महात्मा जी ! आप ने राजा मंत्री और सेवक को कैसे पहचान लिया। उस ने उत्तर दिया कि आप की बातों से ही आप का भेद प्रकट हो गया पहिले पुरुष ने मुझ साधारण व्यक्ति को महात्मा शब्द से संबोधन किया, मैं ने समझा कि यह पुरुष ऊंची श्रेणी का है। दूसरे ने आ कर मुझे साधु जी शब्द से पुकारा । मैं ने जाना कि यह मध्यम श्रेणी का पुरुष है, तीसरे पुरुष ने मुझे अन्धा कह कर सम्बोधन किया। मैं ने समझा कि छोटे क्लास का पुरुष है अत एव मैं ने राजा, मन्त्री और गुलाम नाम से तुलना की।

महाराज ! मनुष्य बोलने से पहचाना जाता है ॥

निष्कर्ष—मनुष्य को सदैव मृदु भाषी होना चाहिए। यह बड़ा ही उत्तम गुण है। इस से दुनिया के बहुत से कार्य सुधर जाते हैं। इस गुण से साधारण पुरुष भी महान् हो जाता है ॥

२८—अष्टाविंशति दृष्टान्त—किसी समय एक राजा बड़ा ही आराम तलब था। उस का यह स्वभाव हो गया था कि बहुत से सुगन्धित पुष्पों की शय्या बना कर उस पर शयन करता था। बहुत समय बीत गया। समझाते भी थे कि राजाओं को सदैव प्रजा की उन्नति में ध्यान देना चाहिए। इतनी सुस्ती-आलस्य और प्रमाद राज कार्यों में अच्छा नहीं है, परन्तु उस के ध्यान में यह बात नहीं आती थी। एक दिन किसी निमित्त से बाहर गये, वहां पर एक सोलह वर्ष के लगभग एक बालक जो पुष्पों को बिछाया करता था उस के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि राजा साहब तो अभी कुछ विलम्ब से आवेंगे। मैं थोड़ी देर इस पर लेट कर (देख लूं कि कैसा आनन्द आता है) शीघ्र ही उठ जाऊंगा, यह विचार कर वह लेट गया। नर्मी और सुगन्धि के कारण लड़के को गहरी नींद आ गई। राजा शीघ्र ही आ गया उस सेवक को सोता हुआ देख कर क्रोध में आ गया। तुरन्त ही एक भृत्य को बुला कर कहा कि इस को बेंत लगाओ, एक बेंत के लगते ही उस के नेत्र खुले परन्तु उस ने रुदन नहीं किया, दूसरे बेंत के लगते ही उस ने हंसना आरम्भ कर दिया, इस विचित्र बात को देख कर वहां मन्त्री आदि अनेक पुरुष आ गए दो चार बेंत लग जाने के पीछे जब वह हंसता ही रहा तो आज्ञा दी कि मत

मारो, किन्तु अद्भुत बात को देख कर कि मार से तो रोना आता है, इस को हंसी कैसे आती है, इस से इस का कारण पूछना चाहिए । सब विधि से खड़े हो गए, उस बालक के मुख पर खुशी देख कर राजा ने पूछा कि मेरे प्यारे तेरी बात मुझे अचम्भे में डाल रही है, तू यह तो बता कि तुझे मर्म भेदी बैंत लगने से हंसी कैसे आ रही है ? उस ने उत्तर दिया कि मैं इस बात को नहीं बता सकता हूं, फिर पूछा उस ने वह ही उत्तर दिया। अन्त में राजा ने सब के साथ मिल कर बड़ी ही दीनता से सब के सामने पूछा कि मैं तुझ पर बड़ा मेहरवान रहा हूं । मैं ने तुझ को बड़े प्रेम से रक्खा है तू इस बात को बता दे । उस ने ठीक समय जान कर यह कहा कि मुझे चोट से पीड़ा न होने का यह कारण है कि मैं ने यह सोचा कि मेरे २० मिनट सोने की तो यह सजा है जिस ने अपनी आयु का बहुत भाग इस पर ही सो कर बिताया है उस को कितनी सज़ा होनी चाहिए। जैसे मैं आप के आगे हूं उस परमेश्वर के आगे आप मेरे समान होंगे । इस के सुनते ही सब शान्त हो गए और उसी दिन से राजा ने अपने स्वभावको बदल लिया ॥

निष्कर्ष--उपदेश का क्रम सदैव बना रहना चाहिए। पता नहीं किस समय किस की बात का किस पर प्रभाव हो जावे ॥

२९-एकोनत्रिंशत् दृष्टान्त-किसी नगर में एक साधु की कुटिया थी। उस महात्मा के पास एक वैश्य का लड़का कार्य से अवकाश पाकर सत्संग के निमित्त जाता रहता था। कारो-बार बढ़ जाने से दो चार दिन उसका जाना बन्द रहा। जब पुनः वह गया तो साधु ने पूछा कि अब तुम कभी २ नहीं आते

हो, इसका क्या कारण है ? उसने कहा कि आजकल कारोबार अधिक है। साधु ने कहा कि रात्रि के समय आया करो, सत्संग का छोड़ना अच्छा नहीं है। उसने कहा कि ठीक है। जब रात्रि के समय वह गया, मार्ग में एक वृक्ष पर उसको भूतों का भय हुआ, कांपता हांपता हुआ साधु की कुटिया पर पहुंच गया परन्तु भयभीत हो रहा था, साधु ने पूछा कि क्या बात है, बहुत डर रहे हो ? उसने कहा कि महात्मा जी ! रास्ते में भूतों ने मुझे बड़ा सताया, जीवन था जो मैं बच गया, अब मैं आगे से नहीं आसकता हूं। उसने कहा ऐसा न करो, हिम्मत न हारो, हम साधु हैं जिस भूत ने तुम को भय दिखाया है, उस को पकड़ कर कैद कर देंगे, यदि तुम कहोगे तो तुम्हारे सामने मार भी देंगे। हम साधु हैं कुछ शक्ति रखते हैं, परन्तु जब तुम कल आओ, तो उस समय अपने हाथों को तवे पर रगड़ कर काले कर लेना, जब तुमको कोई भय दे तो उसके मुख पर दोनों हाथों को मल देना। जिस से उसकी पहचान रहे और मेरा नाम बताना कि अमुक महात्मा का शिष्य हूं। जब वह दूसरी रात्रि को गया तो उसको भय तो हुआ, परन्तु उस ने अपने साहस से गुरू का नाम जपते हुए अपने दोनों हाथों को उसके मुख पर मल दिया, भागता और कुछ हंसता हुआ साधु की कुटिया में जा पहुंचा। महात्मा जी ने पूछा कि बच्चा ! आज भूत मिले थे ? उसने कहा कि महात्मा जी ! आज बड़ा भय हुआ, परन्तु मैंने अपने हाथों को आपकी आज्ञानुसार उसके मुख पर मल दिया है। थोड़ा शान्त होने के पश्चात् जब महात्मा जी ने प्रकाश में उसको दर्पण दिखाया तो उसका ही

मुख काला हो रहा था, वह उसको देखकर चकित हो गया। उसने कहा कि गुरू जी ! यह क्या बात है ? मैंने तो उसके मुख को काला किया था, मेरा मुख कैसे काला हो गया। महात्मा जी ने कहा कि विना तेरे विचारों के वहां अन्य कुछ नहीं था तेरा ही ख्याल तुम को डराता था, इस लिये तेरे हाथ से ही तेरा मुख काला हो गया॥

सारांश-मनुष्य अपने हाथों से बुरी रीत के ताने को तनता है और पुनः उसमें फंस कर दुःख उठाता है, अनेक ही व्यर्थ बातों की कल्पना करता और पुनः उससे डरता है। परलोक की कैसी बेढंगी गाथायें बना कर उसमें उलझ रहा है॥

३०-त्रिंशत् दृष्टान्त-नर्वदा नदी के तट पर एक छोटा सा ज़मींदार वर्दलसिंह जिसकी आयु ५-७ सहस्र की थी, उसने मद्य पानादि दोषों में फंसकर अपनी जायदाद का बहुत सा भाग बरबाद कर दिया था, परन्तु समझाने पर भी वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता था। उसका एक महेन्द्र नाम का पुत्र ५-७ वर्ष का था। वह छोटा सा बालक एक ऐसे स्थान पर जहां वृक्ष की छाया में अनेक लोग बैठे हुए उसके पिता के विषय में कुछ बात चीत कर रहे थे, चुपचाप खड़ा था। उस समय लोगों के मुख से ऐसे शब्द निकले कि वर्दलसिंह मर जाये तो अच्छा हो, अन्यथा वह महेन्द्र के लिए कुछ नहीं छोड़ेगा, उस बालक ने इस बात को सुनकर अपने पिता से आकर जिसने उस समय भी शराब पी हुई थी, कहा कि पिता जी तुम यदि मर जाओ तो अच्छा हो, पुत्र के मुख से ऐसी बात सुनकर कुछ नशा उतर गया, और पूछने लगा कि मैं क्यों

मर जाऊं, बालक ने कहा कि तुम मेरे वास्ते कुछ नहीं छोड़ोगे, फिर उसने कहा कि यह कौन कहता है, बालक बोला सब लोग कहते हैं। ये बात सुन कर कुछ होश में आया, अपनी स्त्री को बुलाकर पुत्र से वही प्रश्न किया, और उसने सब कह सुनाया माता उसको धमकाने लगी वर्दलसिंह ने कहा, इसको कुछ न कहना चाहिए, मुझे अच्छे २ विद्वानों ने समझाया, मुझ पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसका वचन तो मुझे सन्मार्ग पर ला रहा है। मैं नहीं जानता ये बालक बोल रहा है, या इसके द्वारा कोई और उपदेश कर रहा है। पिता ने बच्चे को गोद में लेकर प्यार किया, और कहा पुत्र तुम्हारी सब जायदाद बनाकर तुम्हारे अधिकार में देकर मरूंगा। उसी समय शराब की बोतल फेंक दी, वेश्या को दूर किया और व्यर्थ के पुरुषों के साथ बैठना त्याग दिया। बहुत शीघ्र सुयत्नवान् होकर २२ वर्ष के जीवन में सहस्र प्रतिवर्ष की आय और २२ सहस्र नकद कोष महेन्द्र को देकर अपनी प्रतिज्ञा से मुक्त हुआ, लोगों ने उस की बड़ी प्रशंसा की कि बिगड़ कर सुधरना इसी को कहते हैं॥

सारांश–उपदेश श्रवण का यही काम है कि मनुष्य भूल को छोड़ कर सन्मार्ग में जाकर फल को प्राप्त कर संसार को दिखा दे अन्यथा उपहास ही है॥

३१–एकत्रिंशत् दृष्टान्त–किसी ग्राम में एक कुबा पुरुष रहता था जब वह बाजार में आता तब छोटे २ बालक उस से उपहास करते थे और कोई २ युवा भी क्रीड़ा के रूप में उस से पूछता था कि बाबा तेरा भूमि पर क्या गिर गया है

मुझे बता मैं ढूंढ दूं। उस को तो वह वृद्ध बुद्धिमत्ता से उत्तर देता था, अरे उन्मत्त! मेरी जवानी गिर गई है, मैं उस को ढूंढता हूं, आज नहीं तो कल तुम को भी उस की तलाश करनी होगी, परन्तु लड़कों का उपाय क्या करे। उसको एक दिन बच्चों ने बहुत ही तंग किया, वह थककर मनो मालिन्य वहां ही बैठ गया, शोक करने लगा, क्या करूं कहां जाऊं कैसे इन से पीछा छुड़ाऊं। ऐसी अवस्था में उधर एक महात्मा भी आगए, उसको शोकापन्न देख कर बोले कि वृद्ध! तुम को क्या खेद है, उसने कहा कि भगवन् मैं तो किसी अशुभ कर्म के फल से दुःखवादी रहा हूं, कमर लची हुई है, मैं सीधा खड़ा नहीं हो सकता। जब किसी वस्तु के मोल लेने के निमित्त बाजार आता हूं, तब ये लड़के जो इस समय भी आपके सामने खड़े हैं, इनके हाथों से बेहाल होता हूं, मुझे अपने छुटकारे का कोई उपाय नहीं याद आता। उसकी बात को सुन कर जो लड़के वहां खड़े थे, ताली लगाकर हंसने लगे, वृद्ध ने कहा महात्मन्! ये आपके सामने भी तो चैन नहीं देते। महात्मा ने मन में सोचा कुछ परीक्षा तो करलूं, कहीं इस की प्रकृति में त्रुटि न हो। महात्मा उस से प्रश्न करने लगा और लोग खड़े होकर सुनने लगे, साधु जी ने कहा कि वृद्ध मैं तुमको इन सबके बराबर कर देता हूं, फिर समानता के कारण कोई किसी का उपहास न करेगा किन्तु तुलना दो प्रकार से होती है, एक तो यह कि इस नगर के सब पुरुष कूबे हों, और दूसरी ये कि तुम्हारी कमर सीधी हो जावे, इन दोनों में से तुम किसको चाहते हो, वह वृद्ध बोला कि मेरे समान सब कूबे हो जावें, इस बात को सुन

कर सब हंस पड़े महात्मा ने अपना रास्ता लिया ॥

सारांश—जब मनुष्य में बुद्धि की न्यूनता हो तो वो अनुकूल समय होने पर भी उस से कोई लाभ नहीं उठा सकता, स्वयं दुःखी होकर औरों को दुःख देना तो चाहता है, परन्तु स्वयं सुखी हो कर दूसरों को सुखी नहीं बनाता ॥

३२-द्वात्रिंशत् दृष्टान्त—वर्षाकाल में किसी ग्राम के समीप कई लड़के भैंस चरा रहे थे। नदी के वेग को देखने के लिए तट पर खड़े थे, उस नदी में किसी निमित्त से एक रीछ बहता आरहा था, उसको देखकर लड़कों ने कहा कि किसी का गिरा हुआ काला कम्बल बहता चला आता है, जिस की बाहु में बल हो तो वही ला सकता है। कम्बल के लोभ से एक युवा जो तैराक था नदी में कूद कर उस ओर चला, जैसे उसके समीप गया, रीछ ने झपट कर उसे पकड़ लिया और शीघ्रता से कई स्थानों से उसे काट कर दुर्बल कर दिया और परले किनारे की ओर ले चला। उसके साथ के लड़कों ने कहा कि मित्र! तुम को इस ओर आना चाहिए, परली तरफ कैसे जा रहे हो? यदि कम्बल को लेकर नहीं आ सकते, तो कम्बल छोड़ कर चले आओ। उसने कैसा अच्छा उत्तर दिया कि मैं तो कम्बल को छोड़ता हूं किन्तु मुझे अब कम्बल ही नहीं छोड़ता ॥

निष्कर्ष—जब मनुष्यसमाज को बुरी रस्मोंरिवाज इतना दुर्बल करदें जो उनके छोड़ने में सर्वदा अयोग्य सिद्ध हों, तब उसके विनाश का समय जानना चाहिए ॥

३३—दृष्टान्त—सुना जाता है कि एक हंस नाम का पक्षी होता हैं, वो सुन्दर आकृति और स्वभाव से वि ख्यात है, उसका

निवास एक मनोहर स्थान में था, उसकी प्रवृत्ति तो दूसरे के हित में थी, परन्तु उसके समीप काक पक्षी भी रहते थे, वे उस हंस से सदैव विरोध करते थे और कभी २ अपशब्द भी कह देते थे। उनको कोई उपाय नहीं सूझता था इसको किसी उलझन में डालें। एक दिन कोई पथिक जा रहा था, एक वृक्ष की घनीभूत छाया को देखकर अल्प समय के लिए वहां ठहरा, तीर कमान उसके पास थी, उसको सम्भाल कर उसने सिरहाने रख लिया लेटते ही उसको नींद आ गई। जहां वह लेट रहा था, उसके मुख पर वृक्ष से होकर सूर्य की किरण पड़ती थी, हंस ने यह देख कर वृक्ष पर बैठकर अपने दोनों परों को खोल छतरी के समान उसके मुख पर छाया करदी, वह आराम से सो रहा। उस समय एक काक ने अपने वैर को सफल बनाने के लिए ठीक समय समझा, उसने हंस के ठीक नीचे बैठ कर मुसाफिर के मुख पर बींट कर दी और रफुचक्कर हुआ। मुसाफिर ने जब आंख खोली, तो उस पक्षी को वृक्ष पर बैठा पाया, क्रोध में आकर तीर को खींच मारा और हंस नीचे आगया, तड़प कर मर गया किसी ने कहा अरे! मुसाफिर! तूने भले सुन्दर अच्छे स्वभाव वाले पक्षी को व्यर्थ अपनी बेसमझी से हत कर दिया, जिस व्यापार से तुमको क्रोध आया है वह तो काक की कृति थी, मुसाफिर को इस बात के सुनने से बहुत खेद हुआ, पर क्या हो सकता था॥

सारांश — भले पुरुषों को दुष्ट संग से सदैव बचना ही चाहिए, अन्यथा कार्य हानि ही नहीं प्रत्युत मृत्यु की भी आशंका होती है, इसको ध्यान में रखना चाहिए॥

३४-दृष्टान्त—एक धनी पुरुष किसी नगर में रहता था उसने एक वाटिका जिस में विविध प्रकार के फूल थे लगवाई हुई थी। पुष्प खिलनेके समय एक छोटासा पत्ती जिसका नाम बुलबुल है फूलों पर बैठ खुशी से अपने परों को हिलाता था, जिसके आघात से पुष्पोंके दल भूमिपर गिर जाते थे। एक दिन मालिक ने आकर माली से पूछा कि इन फूलोंको कौन तोड़ देता है? उसने कहा कि एक छोटा सा जानवर इनपर बैठकर क्रीड़ा करता है जिसके कारण फूल गिर जाते हैं। उसने कहा कि उस दुष्ट पत्तीको पकड़ो, माली ने उसे पकड़ने का यत्न किया, दूसरे ही दिन जालको फूलों पर तान दिया जानवर आया, उस में फँस गया। माली ने जाल से निकाल कर पिंजरे में बन्द कर के एक वृत्त की शाखा में लटका दिया। जानवर पिंजरे में बड़ी ही सुन्दरता से बोल रहा है, माली ने समझा कि यह मुझ से कह रहा है कि मनुष्य को परमात्मा ने सर्वोपरि श्रेष्ठ बनाया है, तुम मुझ पर त्तमा करो, मैं फिर तेरी वाटिका में कभी नहीं आऊंगा, मैं ने तेरा अपराध किया है, मनुष्य को प्रभु की आज्ञा है कि समयानुकूल त्तमा दान दे। यह सुन कर माली को दया आई, उस को पिंजरे से निकाल कर मुक्त कर दिया, पत्ती उस वृत्त की शाखा पर बैठ कर फिर बोलने लगा, माली ने दुबारा यह समझा कि यह कह रहा है कि तू ने बड़ा शुभ काम किया है, तू स्वाधीन था, मुझे न छोड़ता मार डालता, या पर तोड़ देता, ये कुछ न कर तू ने मुझे आजाद कर दिया, तेरे मन में प्रेम है तू प्रभु का प्यारा है। तू एक काम कर जिस वृत्त पर मैं बैठा हूं, उस के तले एक गज भर भूमि को खोद तुझे एक घड़ा

अशरफियों का भरा हुआ इस शुभ कार्य के बदले मिलेगा, माली ने जो खोद कर देखा तो ठीक घड़ा भरा हुआ मिला। प्रसन्न हुआ परन्तु तुरंत ही एक शोक ने आ घेरा। घड़ा पड़ा है और माली शिर को नीचे किए हुए चुप चाप खड़ा है। जानवर ने कहा अरे! माली! इतने धन को पा कर भी तेरा मन मुरझा गया, इस का क्या कारण है! माली ने कहा जब तक मेरी शंका दूर न हो तब तक मुझे इस धन से कोई प्रसन्नता नहीं, जानवर ने कहा वो क्या है बताओ, माली ने कहा कि तुम को भूमि के तल में छिपा हुआ सौवर्ण से भरभूर घड़ा तो देख पड़ा, परन्तु फूलों पर बिछा हुआ जाल दृष्टि में न आया इस का क्या कारण, उस ने उत्तर दिया कि माली! हम दूर दर्शी हैं, गुप्त वस्तु का ज्ञान है, तुम ने जो कहा कि प्रत्यक्ष पड़ा जाल नज़र न आया माली! इस का सबब यह है कि जब विपत्ति आती है दुःख का समय होता है, तब आंखों पर पड़दा ही आ जाता है॥

सारांश—जब समझदार हो कर भूल करे, सन्मार्ग मिलने पर भी उल्टा चले तो वहां दैवकोप माना जाता है॥

३५- दृष्टान्त-एक पुरुष ने तोते को पाल कर उस को केवल यही शिक्षा दी थी कि इस में क्या शक। तोता बड़ा सुन्दर था, जो पुरुष उस को देखता, वही खुश हो जाता। वह एक मण्डी में जहां पर भिन्न २ प्रकार की वस्तुएं बिकती थीं ले गया, एक धनी पुरुष ने तोते के सौंदर्य को देख कर उस को मोल लेने की इच्छा की, उस ने बेचने वाले से पूछा कि तोते का क्या दाम है? कहा १००) रुपया। गृहीता ने कहा कुछ न्यून

हो सकता है, या नहीं ? उस ने कहा यदि आप को मेरा विश्वास नहीं तो आप तोते से ही पूछ लें कि यह मोल ठीक है या नहीं। खरीदार ने कहा कि मिट्ठू ! तेरी कीमत सौ रुपया है ? तोते ने उत्तर दिया कि इस में क्या शक है। प्रसन्न हो कर १००) रुपया दिया और पिंजरे को हाथ में ले कर घर का रास्ता लिया। तोते को देख कर सब प्रशंसा करते हैं, परन्तु तोते का जब बोलने का समय आवे, तब यही कह दे कि इस में क्या शक है अन्त में धनी ने निराश हो कर अपनी भूल से पछता कर कहा कि तोते मैं ने बड़ी ही मूर्खता की कि तुम को १००) रुपये में खरीदा, तोते ने उत्तर दिया कि इस में क्या शक ॥

सारांश–जो काम विना सोचे समझे करता है, वह पीछे लज्जित होकर पछताता और दुःखी होता है॥

३६ दृष्टान्त–किसी ने एक सर्प को बांस के पिंजरे में यह विचार कर बन्द कर दिया था कि वह स्वयं ही १०–१२ दिन के पश्चात् मर जायेगा। सर्प बन्धन में क्षुधा से भी बहुत पीड़ित होकर मरणासन्न हो रहा था। एक दिन किसी मूसे ने आकर पिंजरे को काटना आरम्भ कर दिया जैसे उसमें छिद्र हुआ, सांप ने लपक कर मूसे को तो खालिया और उसी छिद्र में से निकल भी गया।

सारांश–जब सुसमय सुदिन आते हैं, तब सब मुशकिलें आसान हो जाती हैं किन्तु पुरुषार्थ करना तो हर हालत में ही अच्छा होता है ॥

३७ दृष्टान्त–किसी नगर में एक निर्धन सपत्नीक याचक रहता था, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना उसका काम था। एक

दिन मांगने के निमित्त किसी ग्राम में गया,वहां उस को किसी ने पांच लड्डू दिये, स्वादु होने के कारण वह सब खागया। घर में आकर उसने अपनी पत्नी से कहा कि मैंने आज लडडू खाये हैं, बड़े ही स्वादु थे। वह यह सुनकर बिगड़ बैठी और दो चार भली बुरी बातें सुना दीं। भिक्षुक ने कहा कि तुम को झगड़ा करना ठीक नहीं है, मैं बनाने भी जानता हूं सामग्री लाकर कल बना दूंगा इतने पर स्त्री को सन्तोष हुआ। दूसरे दिन उसने आटा, गुड़, कुछ घृत लाकर तेरह लड्डू बना दिये। अब फिर दोनों में झगड़ा होने लगा। स्त्री कहती है मैं सात लूंगी कारण यह है कि तुम कल खा आये हो, पुरुष ने कहा कि सात लूंगा। कारण यह है कि मैंने सब सामग्री को लाकर लड्डूओं को बनाया है। एक को आधा करने की अक्ल दोनों की नहीं थी, लड्डू पड़े हुए हैं दोनों नेत्र मून्द कर बैठे हुए हैं। एक मुसाफिर उधर से निकल रहा था, उसने देखा कि लड्डू तो पड़े हैं दोनों के नेत्र बन्द हैं उसने धीरे से बैठ कर दो चार लड्डू तो खा लिये, और कुछ झोली में डालकर गमन किया, जिस एक पर झगड़ा हुआ था वही शेष रह गया। तब एक ने नेत्र खोल दूसरे से कहा कि अच्छा मैं छः लेता हूं तू ही सात लेले, अब वहां कहां सात थे एक ही पड़ा था इस अवस्था को देख अपनी मूर्खता पर रोये, पछताये, दुःखी हुए॥

सारांश—जब परस्पर विवाद हो जाता है, तब सर्व संपत्ति दूसरों की हो जाती है, यह सिद्ध ही है॥

३८ दृष्टान्त—किसी समय एक राजा बड़ा ही प्रजा-वत्सल था, बहुत समय तक प्रजा को महाराज के दर्शन न हुए

थे, इस लिए प्रजाजन राजा के दर्शनार्थ लालायित थे, राजा का दर्शन करना शास्त्र पुण्य कर्म बताता है, अत एव समस्त प्रजा ने विनयपूर्वक दर्शन की इच्छा प्रकट की, प्रजा की इस राजभक्ति को जानकर राजा बड़ा ही प्रसन्न हुआ, और ये विज्ञप्ति निकाल दी कि अमुक मास की प्रथम तिथि को दिन के १२ बजे सब को दर्शन करने की आज्ञा है, और जो उस समय दर्शन करेगा, उसको राजा के समान ही अधिकार होगा। यह सुन कर समस्त नरनारी प्रसन्न हो गए, एक तो राजा का दर्शन, दूसरा अधिकारप्राप्ति सुन कर हर्ष से फूले नहीं समाते थे। जैसे २ समय व्यतीत होता था, लोग परस्पर प्रसन्नता से अनेक प्रकार की बातें सुनते सुनाते थे। राजा बड़ा ही चतुर था उस ने मन में सोचा कि मैं परीक्षा तो करलूं कि किसको दर्शन की सच्ची लिप्सा है। राजा ने ठीक समय से कुछ पहिले आनेवाले सब मार्गों में एक विचित्र प्रदर्शनी को खोल दिया। कहीं अच्छे घोड़े हैं, दूसरे स्थान में पहलवान कुश्ती कर रहे हैं, किसी जगह पुष्पवाटिका बड़ी सुन्दर लगा दी, और कहीं सड़क अनेक प्रकार प्रकाश से सजा दी, कहीं खाने पीने के सामान रक्खे हैं कहीं सजावट से कढ़े हुए बेल बूंटे हरे हैं, कहीं गायक गान करते हैं, उनके स्वर-तान को सुनकर फिर कोई आगे नहीं बढ़ते हैं, कहीं सजे सजाए राज कर्मचारी खड़े हैं, कहीं आने जाने वालों की भीड़ से लोग मार्ग में ही अड़े हैं। वह दिन भी आगया कुछ लोग तो कार्य में फंस गए और कई एक धनोपार्जन के लोभरूपी पङ्क में घुस गए, किसी को वस्तु-दर्शन ने घेर लिया और किसी का रुख भोजन आहार ने फेर लिया, अब

वह समय समीप है प्रदर्शनी में मुग्ध होकर समय की महत्ता को भूल रहे हैं। उन में से एक पुरुष जिस को न प्रदर्शनी का ध्यान है और न उसको सिवाय दर्शन के किसी वस्तु की पहचान है, केवल दर्शन समय का ही ज्ञान है, न मार्ग में किसी को निहारता है, सीधा समय के साथ २ उसी स्थान को पधारता है, जो दर्शन के लिए नियत था, वह समझता है समय को पहचानता है, कि सब व्यापार तो तेरे अधिकार की बात है, समय को मत चूक, यह जान कर आगे ही बढ़ता जाता है, समय पर पहुंचा दर्शन हो गए, कृतकार्य हो गया। फिर फाटक बन्द हो गया। अब समय खोकर थकावट में होकर दर्शनार्थ लोग आए, फाटक खोलो २ कहकर पुकारने लगे। समय १२ बजे का लिखा हुआ था कोई २ बजे आया, कोई ३ बजे, किसी का ४ बजे आना हुआ। असमय में दर्शन किसी को न हुआ, निराश होकर सब को लौट जाना ही पड़ा। इसी प्रकार परमात्मा सब का राजा है समस्त जन उसकी प्रजा है सबको उस के दर्शन की लिप्सा है परन्तु सब के सामने माया जाल फैला हुआ है, जिसने सबको अपने वश में कर लिया, बातें तो सब करते हैं परन्तु लाखों में से कोई जीवनमुक्त सृष्टि की सब वस्तुओं को भुलाकर चित्त से ममता को हटाकर मनुष्य जन्म के यथार्थ उद्देश्य को पूरा करता है, सब इस मार्ग को भूले हुए हैं॥

सारांश—मनुष्य जन्म पाकर ममता को अधिक जगाकर समय को यथार्थ उपयोग में न लाकर पछताते क्लेश पाते हुए शरीर को त्याग करना कहां की बुद्धिमत्ता है। वेद मनुष्य जन्म

को ईश्वरप्राप्ति का द्वार बताता है, इस से लापरवाह न होना चाहिए ॥

३९ दृष्टान्त—किसी चार दीवारी के अन्तर्गत एक पुरुष किसी कारण वश प्रवेश करता हुआ ही अन्धा हो गया, उस में से निकलने का जो मार्ग था, उस से दूर जा पड़ा। अब उस को बाहर आने का कोई उपाय नहीं सूझता जिस ओर जाता है दीवार से चोट खाता है। पुकारता है कोई दयावान् हो तो मुझ को इस से बाहर कर दे, किसी को क्या पड़ी थी, जो अपने काम को छोड़ कर अन्य की विपत्ति पर ध्यान दे, परन्तु परमात्मा की सृष्टि में सब पुरुष समान नहीं होते, यही सृष्टि की विचित्रता है। एक पुरुष जिस को अन्य कष्ट में सहायता करने की प्रकृति थी, उधर आ निकला, उस की दुःखमयी वाणी को सुन कर भीतर गया, और उस से पूछा क्या कहते हो ? उस ने कहा मैं तो नेत्र विहीन हूं कोई इस पर कोट से निकलने का भी उपाय है, उस मुसाफिर ने उस को शान्ति दी और कहा मैं तुम को उपाय बताता हूं विकल मत हो, यह सुन कर वो प्रसन्न हो गया, मुसाफिर उपदेश करता है कि इस दीवार को हाथ लगाओ और आगे बढ़ते जाओ, कुछ दूरी पर एक फाटक आवेगा वहां से बाहर हो जाना, और निकलते ही तेरे दोनों नेत्र खुल जावेंगे। अन्धे ने कहा कि मेरा हाथ पकड़ कर दरवाजे से बाहर कर दो तो आपकी बड़ी ही कृपा होगी। उस ने कहा कि यह स्थान का नियम नहीं है, उपदेश तो कर सकता है, साथ नहीं दे सकता है। जो पूर्वापर विचार हीन इस के अन्दर आता है, वह अन्धा हो जाता है, और जो

निकल जाता है उस की दृष्टि खुल जाती है, यह इस का फल स्वरूप है। मुसाफिर चला गया और वह अन्धा यत्न से चलने लगा, कुछ दूर निकला ही था, हतोत्साह हो कर रोने लगा कि उस ने मुझे धोखा दिया, यदि दरवाजा होता तो अब तक क्या न मिलता । कुछ देर निराश होने के पश्चात् फिर उत्साह से आगे बढ़ने लगा, अब फाटक सन्निकट है फिर हिम्मत हार गया, दोनों हाथ जोड़ कर खूब रोने लगा, सब लोग वञ्चक हैं सब उपहास करने में ही तत्पर है, मैं कर्मफल से तो स्वयं दुःखी था, मेरे साथ उस को उपहास करने का क्या लाभ हुआ, दो कदम पर ही फाटक था भाग्यहीन है दुःख प्रद अदृष्ट शेष है, वही हुआ उठ कर जो फिर चलने का यत्न किया दूसरा हाथ दीवार को लगा फिर पीछे को हटने लगा, यही दशा प्राणि मात्र की है ॥

सारांश—जीवात्मा अज्ञान से अन्धा हुआ एक शरीर से शरीरान्तर में जाता आता रहता है । मनुष्यजन्म मिला अब शास्त्र उपदेश करता है, फाटक समीप है निकल जाओ, परन्तु ये जीव भूल से फिर उलटा ही चला जाता है, जन्ममरण के बन्धन से मुक्त होना तो चाहता है परन्तु ऐसा भाग्य कहां ?॥

४० दृष्टान्त-जन श्रुति है कि किसी समय एक बादशाह का बड़ा ही समझदार वलिराम वजीर न्यायप्रिय पवित्र मन था, उनके उपदेश किसी २ पुस्तको में मिलते हैं। किसी बात पर बादशाह से कुछ अनबन हो गई। वह उनके साथ कुछ अरुचि से बोलता था, वलिराम परमेश्वर से प्यार रखने वाला स्वभाव से ही सत्सङ्गी था, कभी २ सोचता था कि अब इस

व्यवहार को छोड़ कर सब राजाओं का महाराज परमेश्वर की नौकरी करनी चाहिए, यही बात अच्छी है, परन्तु बादशाह को ऐसे योग्य मन्त्री की बड़ी ही आवश्यकता थी, इस लिए उसको कुछ कह भी नहीं सकता था। एक दिन बलिराम जो दरबार में गया तो बादशाह ने आने की आज्ञा न दी। वलिराम ने कुछ देर तक प्रतीक्षा की फिर पूछने पर आज्ञा हुई कि अभी ठहरो। इसके सुनते ही उसने तत्काल ही न सुध बुध की ली और न मङ्गल की ली, सुबह उठकर राह जङ्गल की ली,बेपरवाही से समस्त ऐश्वर्य को छोड़ दुनिया के प्रेम से नाता तोड़, थोड़ी दूर पर वृक्ष छाया में जा लेटा, लोग अचम्भे में हैं। कोई पूछता है कि वलिराम ने ऐसा क्यों किया, किसी ने कहा वो पहले ही से साधुस्वभाव था। दूसरे ने कहा मनुष्य की प्रकृति विचित्र होती है, क्या पता है किस समय किस की प्रकृति किधर को हो जावे। ये विज्ञप्ति अतिशीघ्र नगर में फैल गई दीवान मन्त्री बादशाह को भी भेद ज्ञात हुआ, बादशाह मन में पछताने लगा कि मेरे अनुचित व्यापार से वलीराम ने ऐसा किया शीघ्र चल कर उसको फिर लौटा लाना चाहिये, मन्त्रियों के सहित बादशाह को जाते देख कर अनेक लोग साथ हो लिये, जहां वलीराम आनन्द से लेटा था, वहां पहुंच सब को आते देख कर वलीराम उठ बैठा, शोक मोह शून्य प्रसन्न हृदय से कहा, आओ मित्र बैठो। बादशाह के साथ सब लोग खड़े ही रहे वलीराम को सम्बोधन करके बादशाह कहने लगा कि वलीराम चल कर राज्य कार्य को सम्भालो, इस वेष से जो तूने अख्त्यार किया है क्या लाभ है, उसने कहा अब इच्छा की परिसमाप्ति

है, बादशाह ने कहा कि गद्दी तकिए पर बैठते थे सहस्त्रों मनुष्य आज्ञा में रहते थे, अब इस जंगल में जीवन बिताना किसी के पास न आना, यह कैसी छोटी बात है। उसने कहा बादशाह ज्ञान नेत्र से देखो कि इसमें कितना लाभ है, जो मुझे कल दरबार में जाने की आज्ञा नहीं देता था, आज वह अपने मन्त्रियों के साथ मेरे दरबार में खड़ा है, इस बात के सुनते ही सब मनुष्यों के नेत्रों से आंसू भर आए॥

सारांश—सत्य है 'जो तू उसका होरहे सब जग तेरा हो' ठीक है जो परमेश्वर के समीप हो जाते हैं उनके पास फिर शोक मोह नहीं आते हैं॥

दृष्टान्त ४१—किसी समय की गाथा है कि कोई राजा अपने सेनापति के साथ संग्राम भूमि से लौट रहा था, उस सेना के आगे, एक ऊंट जिस पर एक बड़ा नक्कारा धरा हुआ था चलता था, उसका यह संकेत था, कि यदि कोई मार्ग में रुकावट डाले तो नक्कारे की चोट से सब सेना को सावधान कर देना चाहिए। वह ऊंटवाला एक गांओं में से होकर जा रहा था, इस अवसर में एक वृद्ध पुरुष से एक ५–६ वर्ष का बालक जो उसके पास बैठा था—पूछता है, कि बाबा यह क्या जारहा है, उसने उत्तर दिया कि ऊंट है, बालक ने फिर पूछा कि उसके ऊपर क्या धरा है, वृद्ध ने कहा कि नक्कारा है, यह बजाया जाता है। बालक ने कहा कि इसको कहो एक बार बजा दे, वृद्ध ने कहा कि ऊंट वाले एक चोट नक्कारे पर लगा दो, उसने कहा कि चुप रहो, वृद्ध कहने लगा कि तेरा क्या बिगड़ेगा बालक हठ कर रहा है, ऊंट वाले ने कहा, कि मत बोलो। वृद्ध

ने क्रोध में आकर बड़े जोश से कहा कि धूर्त थोड़ा बजाता नहीं, बालक रो रहा है। ऊंट वाले ने कहा कि यह बजते ही तुम्हारा गाँव लुट जावेगा, मार काट आरम्भ हो जावेगी और होश बिगड़ जावेगी। वृद्ध ने कहा कि मूर्ख क्या बोलता है हमारे राजपूतों के होते हुए किस की हिम्मत हो सकती है कि अंगुली भी उठाकर देखे। बस इसके सुनतेही ऊंट वाले ने रोष में आकर नक्कारे को चोट लगा दी। पैदल और सवार सेना ने ग्राम में पहुंच कर लूट मार करना शुरू कर दिया। कोई रोता है कोई भागता है, कोई खड़ा है और कोई कांपता है किसी पर भय सवार है और कोई यत्न करने में बेकार है। अनेक मारे गए कई चोट से घायल हो गए। इस अवस्था में कोई पता नहीं चलता है कि यह उपद्रव कैसे खड़ा हुआ, कौन किस से पूछे और कौन किस को बतावे, घोर विपत्ति का समय है। इतने में दो नवयुवक जो वास्तव में साहसी और शक्तिशाली थे, इस उपद्रव को शान्त करने में अग्रसर हुए। उन्हों ने शीघ्र ही विचार किया, कि वह जो हाथी पर सवार छत्र धारी आ रहा है, वह सेनापति जान पड़ता है। उसके पास पहुंचने से सफलता की आशा हो सकती है। उपायान्तर कोई नहीं। यह बुद्धि ने रास्ता दिया। नई उमंग, जवानी की सच्ची तरंग, शान्ति के दिलदादा जनता को कष्ट और भय से बचाने पर आमादा हो गए। यह सत्य ही है कि जिस के दिल में वीरता की तरंग है उसकी सदा अन्याय के साथ जंग है। यह दोनों कमर बस्ता हाथों में करवाल लेकर हाथी के निकट जा पूर्ण जोश में आ और बल से उछल कर हाथी के ऊपर सेनापति

के पास जा पहुंचे। जाते ही यह कहा कि हम लड़ने के लिए नहीं आए। यदि आघात करोगे तो तुम भी मारे जाओगे। हम तो पूछने आए हैं कि यह निर्दोष ग्राम क्यों लूटा जा रहा है। इस आपत्ति का क्या कारण है। उसने कहा कि इसका मुझको कुछ ज्ञान नहीं है। इस उपद्रव को देखकर मुझे शोक और ग्लानि है। तत्काल ही हाथों को उठा, अन्य कई संकेतों को दर्शाकर उस आक्रमण को शान्त किया। लोग इधर उधर बहुत एकत्रित हो गए। सेनापति ने सबको संबोधन करके पूछा कि इस ग्राम में लूटमार मचाने का कारण क्या है। सब ने कहा कि हम को ठीक पता नहीं। केवल नक्कारे की ध्वनि को सुन कर (जिसका यह संकेत था कि मार्ग में कोई रुकावट डाल रहा है) हमने हमला कर दिया। ऊंट सवार को बुलाकर पूछा कि तुमने नक्कारे पर चोट क्यों लगाई, उसने कहा कि एक वृद्ध पुरुष ने मुझे अनेक बुरे भले शब्द सुनाकर, विरुद्ध भाव से रोका और कहा कि यदि तुम नक्कारा नहीं बजाओगे तो इसका तुमको अभी फल दूंगा। हम लोग तो लड़ते, भिड़ते, हारे थके आ ही रहे थे, उसकी अनुचित बातों को सुन आवेश में आकर मैंने नक्कारे को बजा दिया। वहां ही सबके सामने उस वृद्ध पुरुष को बुलवाया और उस से पूछा कि वृद्ध! तुमने इस अयुक्त कार्यके लिए क्यों हठ किया, रोता नेत्रों से आंसु बहाता अपने कर्म पर पछताता हुआ मुख से कुछ नहीं कहता है। फिर भय दिखाकर पूछा कि सत्य कहो तब उसने कहा कि मेरा पोता ५-६साल का मेरे पास खड़ा था, वह रोकर कहता था कि इस को बजवा दो। उस को चुप कराने के लिए मैंने इस को

बजाने के लिए कहा और धमकाया तो इसने बजा दिया। इस बात को सुनकर कोई उस बूढ़े की नातजर्बेकारी पर हंसते हैं और कोई अपने दुःख को सामने लाकर रोते हैं। सेनापति ने तब युवकों के उत्साह की प्रशंसा करते हुए उनको पारितोषक दिया और निर्दोष ग्राम को कुछ हर्जाना देकर आगे का मार्ग लिया॥

निष्कर्ष--यह सत्य है कि बुद्धि और उत्साह से कार्य्य बन जाते हैं, बुद्धि की न्यूनता और उत्साह की हीनता से कार्य्य बिगड़ जाते हैं संसार इसकी साक्षी दे रहा है ॥

४२ दृष्टान्त--जनश्रुति है कि एक विदुषी, रूपावती और बलवती कुमारी की यह प्रतिज्ञा थी, कि वह नवयुवक मेरा पाणि ग्रहण कर सकता है, जो गुणों में मेरे समान हो। यह विज्ञप्ति प्रान्त भर में फैली हुई थी। गुणों की तुलना को न देख कर उस के समीप जाने का किसी को साहस नहीं होता था। हठात् यदि कोई जाता तो मात हो कर आता। कुछ समय इसी आन बान में निकल गया उस प्रान्त से कुछ दूर एक नवयुवक, जो सुन्दर सुडौल और विद्वान् था। विवाह की इच्छा से उस के समीप पहुंचा। कन्या उस के दर्शन और कुछ उस से आलाप करने के पश्चात् प्रसन्न हो गई। उस के सौन्दर्य और विद्या विषयक संदेह तो जाता रहा। अब बल वीरता का परिचय देना शेष था। इस को समय से पहले परीक्षा नहीं हो सकती थी। इस लिए गुणाधिक्य समानता से दोनों ने परस्पर पाणि ग्रहण कर लिया। लोग रूप, विद्या, बल और वय को देख कर बड़े ही प्रसन्न थे।

अल्प समय के पश्चात् दोनों को अपने नगर को जाने की इच्छा हुई। स्त्री रथ पर और पुरुष अश्व पर सवार था। एक दिन का मार्ग तो तय कर चुके थे। द्वितीय दिन प्रातः गमन के दो घंटे पश्चात्, एक नवयुवक जो सज धज के साथ, घोड़े पर सवार उस ही कन्या के साथ शादी करने की इच्छा से जा रहा था–सामने आते देखा। उस ने पूछा कि तुम कहां से आ रहे हो, उत्तर दिया कि एक कुमारी कि जिस ने उपरोक्त प्रतिज्ञा की हुई थी, मैं उस के साथ शादी कर के उस को साथ लाया हूं। उस ने कहा कि विद्या और रूप से तुम्हारा परिचय प्रत्यक्ष हो गया। परन्तु वीरता और बहादुरी की परीक्षा कैसे हुई, उस का परिचय तुम को अब देना होगा। प्रथम पुरुष ने कहा कि भाई, अब तो यह कार्य्य हो चुका, पुनः व्यर्थ विवाद को उठाने और कलह को जगाने से कुछ लाभ नहीं, समझदार तो विचार से काम करते हैं। असमय में किसी से नहीं लड़ते हैं संसार का सुधार करना बुद्धिमानों का काम है। जो इस मार्ग को बिगाड़ता है, वह जगत् में बदनाम है। तुम अपना रास्ता पकड़ो, वृथा मार्ग में मत अकड़ो। नियम पूर्वक नरम शब्दों से समझाया–पर उस की समझ में न आया काम वृत्ति से सताए हुए पुरुष के ध्यान में हितोपदेश कब आता है। वह समय की परीक्षा में कब जाता है। उस को तो सर्वथा अपना प्रयोजन ही सिद्ध करना होता है, हर प्रकार समझाया पर कुछ काम न आया। अन्त में निश्चय हुआ कि बिना युद्ध किये छुटकारा नहीं है। उस समय लोग तीरों से लड़ते थे और विवाहित स्त्रियों को परदे में रहने का रिवाज था। रथ मार्ग

के एक पहलु में रोक दिया गया प्रथम पुरुष कुछ हट कर रथ के पिछली ओर और दूसरा पुरुष कुछ हट कर रथ के सामने दोनों एक दूसरे के सन्मुख खड़े हो गए । आने जाने वाले भी इस अपूर्व कौतुक को देखने के लिए निस्तब्ध सम ठहर जाते थे। इस अवसर में एक, दूसरे पर तीरों से वार करने लगे, दोनों इस विद्या में प्रवीण थे, हस्त कौशल्य में अति नवीन थे। एक के छोड़े हुए बाण को दूसरा अपने तीर को छोड़ कर मध्य में ही रोक देता था । दोनों जोश में आ कर तीरों को बड़ी तीव्रता से छोड़ने लगे और अपने विवाद में संसार से संबन्ध तोड़ने लगे । देखने वालों को भय और त्रास हो रहा है कि किस के हाथ से कौन मारा जायेगा। किस का जीवन शेष है, किस की कीर्ति उज्ज्वल चन्द्र के समान अब शेष है। दोनों का नवजीवन है, सांसारिक भोग के अधिकारी हैं, परन्तु क्या करें समय के हाथ से दोनों को लाचारी है । पता नहीं चलता है कि किस को मृत्यु अपने पास शीघ्र ही बुला लेगी, या जीवन शक्ति किस को अपने प्रेम मय हाथों में उठा लेगी । सत्य है समय की गति का ठीक समझ में आना अति ही कठिन है— इस के हाथों से कोई बरबाद और कोई आबाद होता देखा जाता है । कुछ समय तक उन लड़ते हुओं को जान कर उस स्त्री के मन में विचार आया कि इन दोनों की वीरता में तो कोई संदेह नहीं, मैं ने अपने पति के दर्शन तो किये हैं, परन्तु इस पुरुष को तो देख लूं–कैसा है–किस प्रकार का है । इस ध्यान के आते ही एका एकी अपने परदे को उठा दिया, तत्काल उस पुरुष की दृष्टि, उस स्त्री पर पड़ी–दृष्टि भेद होते ही प्रथम

पुरुष के समय को अनुकूल न पाकर एक बाण उस पुरुष के सीने में लगा दिया। वह शीघ्र ही भूमि पर गिर पड़ा। इतने में दोनों पति पत्नी उस के समीप आ गए और लोग भी इधर उधर कुछ फासले से खड़े हो गए अल्प समय के लिए उन दोनों में इस प्रकार वार्तालाप सुना।

प्रथम पुरुष-कहो मित्र! अपने किए का फल पाया, मैं ने बहुत समझाया पर आप के ध्यान में न आया।

द्वितीय पुरुष-मित्र! सब को मृत्यु के मुख में जाना है, कौन बच सकता है, बहुत ही कठोर इस का ताना बाना है। इस समय जो मैं आप के हाथ से मारा गया उस का कारण तो यह एक झलका। तुम्हारी पत्नी का परदे को उठाना और मेरा ध्यान उस तर्फ़ को जाना, इस दृष्टि भेद से मैं अनजान, और तू सावधान हुआ। इतनी बात कह कर वह गुम हो गया और सदैव के लिए सो गया।

निष्कर्ष जो हित की बात को नहीं सुनते हैं-सदा विचार भेद को ही धुनते हैं दुःख का उन पर आघात होता ही रहता है भेद ही खेद का बीज है, इस भेद ने अपना बल बढ़ा कर भारत को सन्मार्ग से भुला दिया है॥

४३ दृष्टान्त-लोगों की ज़बानी एक कहानी-किसी नगर में एक धनी पुरुष रहता था, अधिक सूद लेने की उस की प्रवृत्ति थी, यथा २ उसके धन में वृद्धि होती जाती थी। उतना ही उसमें लोभ बढ़ता जाता था। असामो लोग उससे तंग आकर किसी समय की प्रतीक्षा करते रहते थे। सूद के द्वारा हम लोगों से उसने बहुत ही धन छीन लिया है, दीनता से ऐसे

वचन मुख से कहते थे। किस प्रकार इस से धन लें इसके लिए क्या इसको फल दें। यह बात उनके मन में सदा चक्र लगाती रहती थी। एक समय ऐसा हुआ कि वह धनी पुरुष लेन देन के संबन्ध में किसी ग्राम को जारहा या आरहा था, मार्ग में निर्जन स्थान पाकर उन लोगों ने उसको घेर लिया और कहा कि जो कुछ तुम्हारे पास है सब हमारे अधिकार में दे दो। अन्यथा मारे जाओगे। सेठ के पास धन तो कुछ नहीं था केवल लेन देन के हिसाब की वही थी, वह दिखा कर कहने लगा कि मेरे पास धन नहीं है, उन्हों ने कहा कि तुम्हारा सब धन इसमें ही होता है हम इसको लेकर फाड़ देंगे या जला देंगे। यह सुनकर सेठ को बड़ा खेद हुआ। विचारने लगा कि इसमें ही लेन देन का सब व्यापार है, इसके छिन जाने से तो बड़ी हानि है। वह उनको कहने लगा कि इसमें तुम्हारा लाभ तो कुछ नहीं होगा, हां मेरी हानि अवश्य होगी। तुम ऐसा काम करो कि जिस में तुम्हारा लाभ हो। उन्हों ने कहा कि तुम एक कागज़ इस वही से निकाल कर उस पर यह लिख दो कि दश सहस्र रु० मैंने इनका देना है। मार के भय से सेठ को यह करना ही पड़ा, इस हानि को देख उस के मन में बड़ा ही खेद हुआ। एक तो रु० गया दूसरे मूर्ख बने और लोक में उपहास हुआ। इस बात को ध्यान में लाकर कुछ इसके लिए उपाय सोचने लगा। उपाय सामने आते ही उस पर अमल करने लगा। कुछ उदासीन होकर उनसे आलाप करने लगा। मेरे भाइयो, मेरे मित्रो, तुम मुझे वैरान मत करो, मेरी दुकान में इतना धन कहां है, जो आपको दूं कहां से लाऊंगा। विना

दिए आपको कैसे मुख दिखाऊंगा, झूठ बोलना बड़ा पाप है इसी से ही संसार में संताप है। इस प्रकार की बातें बना कर पेंच में ले ही आया। वे बेचारे ज़बरदस्त होते हुए सूधे और नाम मात्र के पढ़े हुए थे। हिसाब के प्रकार को नहीं जानते थे, कहने लगे कि सेठ तुम क्या चाहते हो, उसने कहा कि इस रु० को कुछ कम कर दो तो अच्छा हो, जिस से तुम्हारा काम भी बन जावे और मैं भी दे सकूं। उन्हों ने इस बात को मान लिया। सेठ ने कहा कि वह कागज़ जो मैंने लिख के तुम को दिया है मुझ को दो, उन्हों ने दे दिया। सेठ ने उनको कहा कि देखो तुम पढ़े लिखे हो, यह मेरा नाम है और यह तुम्हारा, यह दस सहस्र रु० लिखा हुआ है, जो तुमको देना है, यह सुना हाथ जोड़ कर कहने लगा कि यदि तुम कहो तो मैं एक सिफर को हटा दूं, फिर तुम ने आठ दिन के पीछे आकर दुकान से रु० ले आना, वे इस भेद से अपरिचित थे कहने लगे कि सेठ, तुम ऐसा ही कर लो। सौ दो सौ कम ही हो जावेगा तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। सेठ ने बिन्दु को न मिटा कर पीछे से एक के अंक को काट कर कागज़ उनके हाथ में दे दिया, वे खुशी से गांव को और सेठ नगर को चल दिया, और लौट कर कहने लगे कि हम आठ दिन के पश्चात् आवेंगे रु० तैय्यार रखना उसने उत्तर दिया बहुत अच्छा। जब वे रु० लेने गए तो सेठ ने आदर से बैठाया और कहा कहो कैसे आए, उन्हों ने कहा रु० लेने आए हैं और वह कागज़ निकाल कर दिया, सेठ देख कर हंसा और कहने लगा कि यह तो बेमतलब कुछ लिखा हुआ है इससे भी कभी किसी को रु० मिला ? कुछ होश से

काम लो, जाओ, दुकान पर भीड़ मत करो, नहीं तो पुलिस के सुपुर्द कर दिए जाओगे। वे जोश में आकर सहायता के लिए वकील के पास गए कागज़ दिखा कर कहने लगे कि हम ने अमुक सेठ से इतना रु० लेना है। वह देने से इनकार करता है, हम उस पर नालिश करना चाहते हैं। वकील ने देख कर उनसे कहा कि बेसमझो यह रु० नहीं हैं। सब शून्य हैं, इनके अदद नहीं है, बस शर्म में आकर घर को लौट गए ॥

निष्कर्ष—यह सत्य है, आपत्ति आजाने पर भी यदि बुद्धि से काम लिया जावे तो मनुष्य मुसीबत से बच सकता है। जिस मनुष्य के जीवन में एक परमात्मा का स्मरण नहीं है, उसका समस्त ऐश्वर्य सिफरों के समान निष्फल हो जाता है। मित्र, देखो जब अंक ने शून्य जैसी तुच्छ वस्तु को अपने दाएं पहलु में बैठाया तो उसने उस अंक की कीमत को सहस्रों गुणा अधिक कर दिया, इससे शिक्षा ग्रहण करो कि जो छोटों को प्रेम से अपने पास बैठाता है वही अपने गौरव को बढ़ाता है ॥

४४ दृष्टान्त—किसी नगर में एक धनी पुरुष रहता था, उसने अपने पुत्र का विवाह बड़ी धूम धाम से करने का विचार किया। धन के कारण उसका सहयोग देने वाले बहुत ही पुरुष थे। सबने बड़े अच्छे २ वस्त्र बनवाए, सब को उत्साह था, कई प्रकार के विनोद-आनन्द के सामान उपस्थित किए गए थे। अनेक प्रकार की विचित्र भोजन सामग्री साथ लेजाने के लिए तैयार की। कोई घोड़े पर सवार है और कोई सज धज के साथ पैदल तैयार है। कोई अपनी गाड़ी को आगे बढ़ाता है, और कोई पीछे रह जाता है। किसी समय सब ठहर जाते हैं, स्ना-

नादि करके परस्पर मिलकर उत्तमोत्तम स्वादु भोजन खाते हैं। अल्पकाल विश्राम के पश्चात् गाना बजाना आरम्भ हो जाता है, जिस से जनसमाज बड़ा ही आनन्द पाता है। इसी प्रकार विनोद करते हुए २-३ दिन के पश्चात् प्राप्तव्य स्थान पर पहुँच गए नगर निवासी स्वागत करते हैं, और बरात के दर्शन के लिए आगे बढ़ते हैं। सब ही प्रसन्न हैं एक दूसरे से प्रशंसा सुनते करते और सुनाते हैं। मन में सब मग्न हैं, परन्तु किसी को ज्ञान नहीं कि अल्प समय के पश्चात् क्या होने वाला है। इतने में कन्या गृह से संदेश आया कि वर को थोड़े समय के लिए भेजो, जब देखा तो बरात में वर का ही पता नहीं, खोज करने पर भी जब न मिला तो सब की मति मन्द हो गई, खुशी जाती रही मुसीबत दोचन्द हो गई। कोई व्याकुल है, कोई रोता है, कोई विस्मय में है, और कोई सुध बुध को खोता है, हाहाकार मच गया, सबका नक्शा बदसूर्ति से खिंच गया, सब कुछ है, पर कुछ नहीं, वर के विना भी बरात सजती है कहीं॥

सरांश—इसी प्रकार जिस मनुष्य समाज से प्रीति की रीति जाती रहती है वह निस्सार हो जाती है॥

४५ दृष्टान्त—गाथा में प्रवीण पुरुषों का कथन है—कि पुराकाल में एक विद्वान् कई एक विद्याओं में कुशल होने पर भी जलतरण ज्ञान से अपरिचित था, कई एक विद्यार्थियों को पढ़ाता हुआ इस बात को सोचता ही रहता था, कि तैरने का मुझे कैसे ज्ञान हो। ढूंढ़ते हुए एक प्राचीन पुस्तक में तरने का नियम पा गए, पढ़कर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और मन में कहने

लगा कि आज अधूरापन दूर हुआ। विद्यार्थी सब होशियार थे उन से पूछा कि क्या तुम तैरना जानते हो उन्होंने कहा नहीं॥

पं० जी ने कहा कि इधर आओ तुमको सुनाएं पुस्तक को निकाल कर सुनाने लगे उसमें लिखा था, कि जिस पुरुष को गहरे जल में आगे को बढ़ना हो तो सीने का ज़ोर आगे को करे और हाथों से जल को पीछे फेंके—और यदि पीछे को हटना हो तो सीने का बल पीछे को करे और जल को उलटा फेंके—यदि जल के नीचे जाना हो तो शक्ति नीचे को करे और जल को ऊपर फेंके नीचे जाएगा—और यदि नीचे से ऊपर को जाना हो तो ताकत ऊपर करे और हाथों से जल नीचे को फेंके एक स्थान पर ही ठहरने के लिए बल को समानाङ्ग में काम लाना होगा। सब को सुनाकर पुनः उनसे सुन भी लिया सब ने मिल कर खुशी से यह सम्मति की कि अनध्याय के दिन नदी पर जो यहां से दो मील दूर है, वहां चलकर सब स्नान करें, निश्चय हो गया और कुछ खाने का सामान साथ ले लिया। नदी पर जहां लोगों के स्नान का स्थान था, लज्जा वशात् वहां से कुछ हट कर स्नानार्थ गए, सबने कपड़े उतार कर लंगोट खेंच लिए, गुरू जी ने फिर पूछा कि तैरने के नियमों का ध्यान है सब ने कहा कि हां जी! यह कहकर सब नदी में कूद पड़े जल कुछ गहरा था सब गोते खाने लगे कुछ लोग समीप स्नान कर रहे थे उन्होंने उनको बेतरीके हाथ पाओं मारते देख समझ लिया कि यह डूब रहे हैं, उन्होंने शीघ्र आनकर हिम्मत से उन सबको बचा तो लिया, सब नदी के बाहर होके बैठे लोग इधर उधर

बहुत से जमा हो गए, लज्जासे शिर ऊंचा नहीं करते हैं। किसी को हंसी आती है और उनकी मुसीबत को देखकर किसी की प्रकृति घबराती है। किसी ने कहा मृत्यु बुला लाई थी बच गए प्रभु को धन्यवाद है। ऐसी बातें होने के पश्चात् दो सभ्य पुरुषों ने उन से पूछा कि क्या तुम तैरना जानते थे? सब ने कहा कि नहीं, फिर गहरे जल में क्यों गिरे? सब लोगों ने कहा कि गुरु जी तुमने इन सब को व्यर्थ मार डाला था, बच गए प्रभु कृपा है। तुम ने ऐसा क्यों किया? उसने उत्तर दिया कि कल ही एक ग्रन्थ में तैरने की विद्या के नियमों को देखा था, गहरे जल में कूदने का यही कारण हुआ। लोग बेसमझी पर हंसे और कहने लगे कि विना अभ्यास किए केवल जान लेने से यह काम हल नहीं होता है॥

निष्कर्ष — जो जनसमाज कर्तव्य शून्य होकर केवल बातें बनाता है वह समय के चक्र में बरबाद हो जाता है॥

४६ दृष्टान्त—परस्परा से सुना जाता है कि एक राजा को परमात्मा के दर्शनों की सच्ची जिज्ञासा थी। जो कोई पुरुष इस विचार से कि मैं राजा की इस विषय में सहायता करूं, जाता—वह उसकी सच्चे हृदय से सेवा और यथासमय सत्संग भी करता था। अन्य श्रोतागण भी उस समय उपस्थित हो जाते। बहुत समय तक इस बात की चर्चा चलती रही। परन्तु राजा के अन्तःकरण में न तो शान्ति हुई और न भ्रम ही दूर हुआ। वे लोग राजा को कई प्रकार प्रलोभनों से धैर्य्य को बंधाते (यथा—राजन्! आपके अन्तःकरण में उपदेश का बीज तो रोपण हो चुका है, समय आने पर फल लायेगा और कोई

यह कहता कि महाराज! हमारे उपदेश करने और आपकी जिज्ञासा में तो कोई सन्देह नहीं पर कोई मन्द अदृष्ट बाधक हो रहा है इत्यादि) इन वचनों से राजा को शान्ति नहीं होती। कहीं पण्डित, कहीं साधु, कहीं फ़क़ीर, आर्फ़ आदि आराम से समय को बिता रहे और सत्कार पारहे हैं। राजा उनसे कभी कभी मिलकर बातचीत तो करता परन्तु उदासीन रहता। कहां जाऊं? किस से पूछूं? यह भ्रम किस प्रकार दूर हो? यह भेद कैसे खुले? यह उलझन कैसे सुलझे? इस प्रकार के विचार राजा के मन में अहर्निश उठते रहते थे। इसी अवसर में एक सच्चा महात्मा, स्वार्थ रहित और सन्मार्ग प्रदर्शक राजा की ख्याति को सुनकर उधर जा निकला। राजा उसके दर्शन से बड़ा ही प्रसन्न हुआ और मन में समझ गया कि अब कुछ सफलता की प्रतीति होती है। महात्मा को सत्कार से बैठाया और अपने मन का हाल कह सुनाया। साधु जी ने कहा कि राजन्! यदि तुम मेरी बात को मानोगे तो मैं एक सप्ताह के पश्चात् रविवार को इसका उत्तर दूंगा। कुछ दिन प्रतीक्षा में बीते, महात्मा ने शनिवार को यह आज्ञा दी कि कल को वन में जाकर सब भोजन करेंगे। आज्ञा पाते ही सर्व प्रकार का प्रबन्ध होने लगा। प्रातः रविवार को सब नियत स्थान पर जा पहुंचे। आहारादि से निवृत्त होकर, सब परस्पर मिल कर बैठे और राजा ने जिज्ञासा की। महात्मा जी ने कहा कि राजन् मेरा कहना मानोगे? उत्तर मिला कि जो आज्ञा हो स्वीकार है। यह वचन सुनकर सब चकित हैं कि क्या उपदेश होगा, किस प्रकार का संदेश होगा। सब इस प्रतीक्षा में हैं कि

देखें, महात्मा जी मुख से क्या शब्द कहते हैं। साधु जी की आज्ञा हुई कि राजन्, इन सब को कि जो आपको समझाने के लिये उपस्थित रहते और आनन्द करते हैं पृथक् २ एक वृक्ष के साथ बांध दो, आज्ञा पाते ही ऐसा किया गया। इस व्यवहार को देखकर कोई हंस रहा है, कोई भय से भागने के लिये कमर कस रहा है, कोई टकटकी लगाये खड़ा है, कोई आगे क्या होता है, इस विचार में पड़ा है। कोई इस अपमान को देखकर खेद मान रहा है, इसमें भी कुछ भेद है, कोई यह जान रहा है इत्यादि भिन्न २ प्रकार की बातें हो रही हैं। महात्मा ने उच्च स्वर से कहा—शान्त हो जाओ। सब चुप होगए, जैसे सुनसान में सो गये। राजा ने कहा कि भगवन्, अब क्या आज्ञा है? महात्मा जी बोले कि आपको एक वृक्ष से बांधना है। राजा जिज्ञासु था, ऐसा ही किया गया। तत्पश्चात् महात्मा ने राजा को आज्ञा दी कि राजन्, आप पण्डित जी से कहो कि वह तुम्हारे बन्धन को छुड़ा दे। राजा ने ऐसा ही किया और सुनकर पण्डित जी का उत्तर यह हुआ कि महाराज, आपको प्रत्यक्ष है कि मैं स्वयं बंधा हुआ हूं। फिर आपको बन्धन से कैसे छुड़ा सकता हूं। दूसरे तथा तीसरे से पूछने पर भी उत्तर एक ही मिला। अल्प समय के पश्चात् सबको खोल दिया गया। शान्त होकर बैठे। तब महात्मा ने कहा कि राजन्, इसी प्रकार समझ लो कि स्वयमेव बंधा हुआ किसी को भी आज़ाद नहीं करा सकता है। सोया हुआ सोने वाले को नहीं जगा सकता है।

सारांश—परमात्मा सब का अन्तरात्मा, सर्वज्ञ और

मुक्तस्वरूप है। उसका प्रेम ही मुमुक्षु जीवात्मा को बन्धन से निकाल कर, स्वतन्त्र कर सकता है। उपायान्तर कोई नहीं। तेरा ही पुरुषार्थ इस मार्ग में तेरा सहायक है। अन्य सब निमित्त मात्र हैं। शुद्ध हृदय तेरे में ब्रह्म का निवास है–उस को कहां ढूंढे प्यारे वह तो तेरे पास है। राजा को शान्ति हुई और महात्मा ने अपना मार्ग लिया।

४७ दृष्टान्त–कहानी है, कि किसी नगर में १० नवयुवक बेकारी के कारण दुःखी थे, उन्हों ने परस्पर मिल कर विचार किया, कि कहीं विदेश जा कर धनोपार्जन करना चाहिए जिस से समय अच्छा व्यतीत हो और नीरसता जाती रहे। यह सोच कर सब ने यात्रा की, परन्तु भोजन की वस्तु किसी के पास कुछ नहीं, और द्रव्य का भी अभाव है, देवाधीन यथा तथा कुछ दिन बीते, उत्साह से आगे ही बढ़ते गए, हिम्मत नहीं हारे॥

प्रातः किसी ग्राम से निकलते समय एक पुरुष मिला, और उस ने उन से पूछा, कि कहां जा रहे हो और क्या कार्य्य करते हो, उन्हों ने सब वृत्तान्त कहा, वह सुन कर सब को अपने गृह पर ले गया और भोजनादि से उन का सत्कार किया, कुछ आराम करने के पश्चात् वह उन से आलाप करने लगा। तुम्हारे पास निर्वाहार्थ कुछ द्रव्य नहीं है, अत एव यदि तुम को स्वीकार हो तो मैं तुम्हारा भोजन वस्त्रादि का सब प्रबन्ध कर दूं, परन्तु शर्त यह है कि जो कुछ हम सब को प्राप्त हो या उपार्जन करें, उस में से आधा तो मेरा और तुम सब का होगा, यह सुन कर सब इस बात पर राज़ी हो गए, उस ने फिर पूछा

सच्चे हो पक्के हो, सब ने जी हां यह उत्तर दिया ॥

सब मिल कर प्रसन्न चित्त आगे बढ़ते गए, इस आशा में कि किसी बड़े नगर में जा कर कुछ कार्य्य करेंगे, जाते जाते सामने दो मार्ग देखे, किधर को जाना चाहिये, इस विचार में ही थे कि सामने से एक साधु आ निकला, उन्हों ने पूछा कि महात्मन् हम किस मार्ग से जाएं, साधु ने उत्तर दिया इस से जाओ, उस रास्ते से जाना ठीक नहीं, बड़ा ही भयंकर है, यदि जाओगे, तो बच कर नहीं आओगे । उन्हों ने हंस कर कहा, कि महात्मा जी हमारे पास लाठी धनुष वाण के होते हुए कौन है जो हमारा सामना करे साधु ने कहा कि मैं देख रहा हूं कि तुम बड़े चतुर और होशियार हो, परन्तु जिस डाकू ने मार्ग को रोका हुआ है, उस का सामना करने की तुम्हारी शक्ति नहीं यह निश्चय है, उन्हों ने साधु की बात पर ध्यान न दिया, और उसी मार्ग में गति की । एक दिन का मार्ग तय कर चुके थे, दूसरे दिन प्रातः ८ बजे के लग भग उन्हों ने मार्ग में एक अशर्फ़ियों का ढेर पड़ा देखा, उसे पा कर सब प्रसन्न हुए और साधु की बेसमझी पर हंसने लगे, सब ने मिल कर विचार किया कि अब धन बहुत सा मिल गया है, इस को बांट, अपने २ घरों को लौट चलना ठीक है ॥

उस पुरुष ने जो सब को भोजनादि देता था यह कहा कि इस में से आधा मेरा है और आधा तुम सब का है, ये ही परस्पर प्रतिज्ञा है । कुछ पुरुषों ने इस को ठीक माना, और शेष ने लोभ वश इस को विपरीत जाना, वे कहने लगे कि एक मास भर तुम्हारा भोजन किया है उस का मूल्य ले सकते हो अधिक

नहीं मिलेगा, इस पर विवाद खड़ा हो गया और दो दल हो गए।

शान्ति का कोई उपाय न सूझा, तीरों से लड़ने लगे, थोड़े ही समय ६ पुरुषों की मृत्यु हो गई, दो बच गए, तब उन्हों ने विचारा कि अब लड़ने का काम नहीं, आधा मेरा और आधा तुम्हारा इस प्रकार निपटारा हुआ परन्तु इस अवस्था में भी उन की मनोवृत्ति में लोभ अपना कार्य कर ही रहा है। लड़ते हुए थक गए थे, और भूख प्यास का भी कष्ट सामने था, दोनों ने विचार किया, कि एक ग्राम से जो कुछ दो मील की दूरी पर था जा कर भोजन ले आवे और दूसरा स्नान को जावे, यह निश्चय हो गया। एक के मन में यह आया कि जब यह भोजन ले कर आवेगा, इस को असावधान पा कर एक तीर लगा दूंगा फिर यह सब द्रव्य मेरा ही है, दूसरे के अन्तःकरण में यह समाया कि मैं तो भोजन खा लेता हूं और उस के भोजन में विष मिला कर ले जाना चाहिए, वह उस को खा कर मर जावेगा फिर सब धन मेरे हो हाथ आवेगा॥

भय के कारण लोग उस मार्ग में नहीं आते जाते थे, इस लिए न कोई आया और न किसी ने समझाया, जिस से यह उपद्रव शान्त होता। एक भोजन की प्रतीक्षा में है और दूसरा ला रहा है, अब वह समीप आया, भोजन को नियत स्थान पर रखने लगा, उस को अचेत पा कर एक तीर खैंच मारा वह लगते ही गिर कर मर गया। अब उस ने समझा सब बला टली, अब भोजन खा फिर इस को उठा कर अपना मार्ग लेना चाहिए, भोजन करने के पश्चात् वह भी बे होश हो कर मर

गया, लोभ ने उन को सच्चाई से दूर कर के थोड़े ही समय में सब को मिटा दिया ॥

निष्कर्ष—यह सत्य है कि लोभ सर्व अनर्थों का मूल है, इस के बढ़ जाने से मनुष्य समाज नष्ट भ्रष्ट हो जाता है, अत एव इस का मिक़दार से बढ़ना किसी दशा में भी अच्छा नहीं महाभारत का द्ध इस के ही कारण से हुआ।

४८ दृष्टान्त—किसी समय की यह तथ्य वार्ता है कि कुरुक्षेत्र प्रान्त में एक साधु इधर-उधर भ्रमण करता रहता था उसने भिक्षावृति से शनैः २ बीस मुद्रा जोड़ ली थीं। उस समय द्रव्य की तो न्यूनता और आहारादि सामग्रि पुष्कल होती थीं। जब कभी साधु को दो चार आना प्राप्त होता तो उसमें मिलाता रहता, यह उसका स्वभाव था, और कभी कभी एकान्त स्थान में उन रुपयों को गिन कर बड़ा प्रसन्न होता। एक दिन किसी जाट ने उसका यह व्यापार देखकर मन में विचार किया, कि इस साधु से यह द्रव्य किसी उपाय से लेना चाहिए, उसने अपनी स्त्री को सब वृत्त समझा दिया ताकि समय पर उसका अनुष्ठान करे ॥

दूसरे दिन जाट ने साधु के पास जाकर प्रणाम किया, और हाथ जोड़ कर कहा कि भगवन् कल आप अपने चरणों से दास के ही गृह को पवित्र करें और जिस भोजन पर रुचि हो बता दें। साधु ने प्रसन्न होकर कहा कि भक्त खीर खाने की इच्छा है, जाट ने कहा कि सत्य वचन महाराज, आप की कृपा से २० सेर दूध होता है। साधु आनन्द में मग्न होकर मन में विचार ही रहा था कि भक्त श्रद्धालु है भोजन के पश्चात् कुछ

दक्षिणा भी अवश्य देगा, इतने में जाटने आकर कहा कि भगवन् पधारिए, साधु जी साथ २ हो लिए और मुख में कुछ जपते भी जाते हैं। गृह में लेजाकर सत्कार पूर्वक बैठाया और भोजन आगे धर दिया और हाथ जोड़कर कहा कि महाराज भोजन पाओ, साधु जी खाते २ धीमे शब्दों में अपने भक्त की प्रशंसा भी करते जाते हैं। भोजन करा देने के पश्चात् जाट और जाटनी पूर्वनिश्चित किये हुये मन्त्र का जाप करने लगे, जाट ने कहा कि एक रुपया लाओ महात्मा जी को भेंट दें स्त्री ने कहा कि मैंने उस ताक़ पर जहां महात्मा जी बैठकर भोजन कर रहे थे, बटुआ रख दिया था उस में से ले लो। अभी तक साधु जी बड़े ही प्रसन्न हैं कि जो मन में सोचा था वही हुआ भक्त भक्त ही है पर इसको क्या मालूम कि आगे क्या होने वाला है। जाट ने इधर उधर हाथ मारकर कहा कि यहां तो नहीं है, स्त्री ने उत्तर दिया कि मैंने तो आपके आने से पूर्व ही वहां धर दिया था, इस आलाप से साधु जी को कुछ चिन्ता होने लगी। अब जाट व्यङ्ग भाव से बोला, कि साधु जी एक मुद्रा तो हमने देनी ही थी सब बटुआ को छिपा लेना अच्छी बात नहीं। ताक़ तो बटुए को खा ही नहीं गया है फिर और किसने लिया, आप तलाशी दें यह काम साधुओंका नहीं जो आपने किया है। मार के आगे भूत भागे, कपड़े उतारे बटुआ निकला वह ले लिया, धक्के देकर बाहर किया। अब साधु रोता हुआ यह कहता जाता था कि रोटी खिलाकर मेरे रुपये छीन लिये, एक ने सुनकर यह कहा कि साधु तो अब बने हो साधु भी कभी धन रखते हैं, दूसरे ने कहा उलटे काम का फल उलटा ही होता है, तीसरे

ने कहा कि महाराज जब कुछ धन जुड़ जावे तो फिर इसी ग्राम में आजाना, साधु को इस प्रकार उपहास की बातों के सुनने से वैराग्य उत्पन्न हो गया और फिर द्रव्य का मोह त्याग दिया ॥

सारांश—यह सत्य ही है-कि धनहीनता से जो गृहस्थी की दुर्दशा होती है धन के होने से साधु की वैसी ही दुर्गति होती है, धन की लिप्सा-याचना फिर रक्षा में सर्वथा कष्ट ही है, अत एव साधु को त्याग ही शोभा देता है ॥

४९ दृष्टान्त—जनश्रुति है कि एक पुरुष जिसको सरकारी कर्मचारी बेगार में पकड़ कर ले जाते थे, वह कार्य्यवशात् किसी ग्राम को जा रहा था, जाते हुए उसने मार्ग में एक वृक्ष के तले जहां आते जाते मुसाफिर कुछ विश्राम करते थे विराम किया । आगे एक मील की दूरी तक कोई वृक्ष नहीं था । उसने दृष्टि उठाकर जो देखा, तो एक पुरुष भार उठाए चला आरहा है, मन में विचार करने लगा, कि इस पुरुष ने यदि मुझको पहले देखा होगा, तो बोझा उठाने के लिए यहां से ही पकड़ लेगा मेरे कार्य की हानि होगी और उसका पता नहीं कहां जावेगा । उसने विपत्ति से बचने के लिए यह उपाय सोचा कि इस वृक्ष पर चढ़ कर अपने को छिपाना चाहिए, जब वह यहां से निकल जावेगा, तब वृक्ष से उतर कर चलना चाहिये, ऐसा ही किया । उस मनुष्य का बोझ कुछ ढीला हो रहा था वह वृक्ष की छाया में बैठ कर अपने सामान को खैंच कर ठीक बांध कर चलने को तैयार ही था कि वह वृक्ष पर से बोला कि बिस्तरे को बड़ी अच्छी तरह से बांधा है, अब इसको उठाएगा

कौन, यह सुनकर उसने कहा कि तुम उठाओगे, धूर्त ! छिप कर बैठ गया है मार खाने की नीयत है शीघ्र उतरो मैंने तो तुमको कई बार बेगार में पकड़ा है, उतरा और रोता धोता बोझ को उठाकर चला।

निष्कर्ष—मनुष्य की प्रकृति जैसी बन जाती है, फिर उस से पीछा छुड़ाना कठिन ही होता है, अत एव अच्छे स्वभाव को धारण करो आराम पाओगे।

५० दृष्टान्त—कहानी है,—किसी वाटिका में भ्रमरों का निवास था, पुष्पों के इरद गिरद खुश होकर चक्र लगाते रहना उनका स्वभाव होता है। एक दिन आन्धी के धक्कों से वे अपने अपने स्थानों से पृथक् होगए, उनमें से कई एक उपाहत और अनेकों के अंग भंग होगए विपत्ति के समय जिसको जिधर का मार्ग मिला उस ओर को चल दिया। उनमें से एक भ्रमर, भूंडों के झुंड में (जिनका आकार भ्रमर के ही समान होता है पर वे मलिन स्थान में रहते हैं, (जा फंसा और उनको ही सजातीय जानकर अपना जीवन निर्वाह करने लगा अल्प ही समय में उसके निज के संस्कार दबकर विजातीय स्वभाव का उदयहोने लगा, जिससे आहार रहन सहन सब का परिवर्तन होगया। एक दिन कुछ भ्रमरों का समूह उस ही मार्ग से निकला, उनको अपने सजातीय के इस व्यवहार पर कि वह अनुचित स्थान पर,जो उसके योग्य नहीं रहता है, बड़ी ग्लानि हुई और उसको वहां से हटाकर अपने स्थान में ले जाने के लिए दो भ्रमरों को नियुक्त कर दिया। उन्हों ने वहां जाकर उसके साथ सहचार किया और उसको प्रेम से समझाने लगे, कहो मित्र ? रम्य-

वाटिकाओं को त्याग कर इस मन्द मलिन स्थान में कब से रहने लगे, उसने उत्तर दिया कि मैं यहां का ही निवासी हूं और यह सब मेरे भाई बन्धु हैं, उन्हों ने कहा कि तुम्हारा स्थान तो रम्य वाटिकाएं जहां अनेक प्रकार के पुष्प खिले हुए सुगन्धि देते हैं वह है यह नहीं, उसने कहा कि वाह अच्छे आप ख़ब समझाने लगे, मुझ से मेरे घर बार को छुड़ाकर बहकाने लगे, मैं ठीक समझता हूं तुम्हारे धोखे में नहीं आऊंगा। वह दोनों उसकी इस बेढंगी चाल पर कुछ हंसते और बहुत शोक करते हैं। उन्हों ने फिर कहा कि मित्र ! तुम इनके बाह्य आकार को समान देखकर अपना सजातीय मानते हो, इनकी प्रकृति से तुम्हारी प्रकृति निराली है, देखो विचार करो, तुम्हारे और हमारे स्वभाव में कोई भेद नहीं है। इन बातों से कुछ प्रभावित होकर कहने लगा, कि अच्छा चलो मैं तुम्हारे साथ चलता हूं। चलते समय उसने विचार किया कि कम से कम एक दिन की खुराक़ तो साथ ले चलनी चाहिए, संभव है यह न दें और मैं क्षुधा से कष्ट पाऊं उसके यह समझ कर एक गोली मलिन वस्तु की नासिका के आगे दबा ली और उनके साथ हो लिया, थोड़े ही समय में उन्हों ने एक वाटिका में जा निवास किया, अनेक भ्रमर उनके स्वागत के लिए आ उपस्थित हुए और प्रेम से पूछने लगे कि मित्र ! देखो भ्रमरों की गुंजार को और फूलों की बहार कैसा मनोहर स्थान है, किस प्रकार पुष्पों से सुगन्ध का उत्थान है। उसने कहा कि स्थान तो मनोरम है परन्तु सुगन्ध का पता नहीं, मुझे प्रतीत नहीं होती मैं तुम्हारी इस बात पर विश्वास नहीं करता हूं इस पर सब हंसने लगे और

एक ने बल पूर्वक कहा कि तू कोई वस्तु वहां से अपने साथ तो नहीं लाया है, यह सुनकर लज्जित हुआ और कहने लगा कि मैं चलते समय अपने साथ एक दिन की खुराक़ लाया था कि कहीं मार्ग में क्षुधा का कष्ट न हो। यह सुन कर सब ने कहा कि ओ धूर्त, अरे मूर्ख इसको फैंक, कहां पवित्र स्थान में मलिन वस्तु को ले आया। शर्म खाकर लज्जा में आकर उसने उसको त्याग दिया, इस दोष के दूर होते ही झूम २ कर झूमने लगा, पुष्पों के इधर उधर चक्र लगाता और आनन्द पाता है॥

सारांश—भ्रमर ने जब तक मलिन वस्तु का त्याग न किया तब तक वाटिका में होने पर भी सुगन्धि ने उसका साथ न दिया। ठीक इसी प्रकार परमात्मा सबके साथ है परन्तु जब तक मन अपवित्र है तब तक प्रभु का साक्षात्कार नहीं होता, अपवित्र और पवित्र का परस्पर सहयोग नहीं होता यह सत्य है गल्प नहीं॥

५१ दृष्टान्त—शास्त्रीय आख्यायिका है, कि एक सर्प इस प्रकार का होता है, कि जिसके मस्तिष्क पर प्रकाश युक्त मणि होती है पाया जाता है। इस कथन का आधार शास्त्र ही है, कभी किसी ने इस को देखा है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता है। उस मणि का नाम चिन्ता कान्त नाम है, उससे जो प्रार्थना की जाती है वह पूरी हो जाती है यह उसका स्वभाव बताया जाता है॥

अब इसकी विधि पर ध्यान दें कि यह मणि शान्तिप्रद किस प्रकार है, केवल बुद्धि की सहायता दरकार है। एक सर्प जो कुछ कम समझ है, रात्रि के समय मणि से प्रार्थना करता

है कि मुझको मेरा आहार मिलजावे जिस से क्षुधा का कष्ट दूर हो, तत्काल ही उसका आहार उसके सामने आता, और वह उसको खाकर तृप्त हो जाता है, पुनः मणि को लेकर गमन करता है प्रतिदिन उसका यही व्यापार है। एक दूसरा सर्प जो पहले की अपेक्षा बुद्धिमान् है पूर्वोक्त सर्व प्रक्रिया को कर के उसके साथ १५ दिन की तृप्ति भी मांग लेता है यह एक पक्ष भर शान्त रहता है। एक तीसरा सर्प जो शुद्ध बुद्धि रखता है, वह विचारता है कि प्रतिदिन या १५ दिन की तृप्ति के बिखेड़े का निबेड़ा ही करना ठीक है, उसने एक दिन मणि को सामने धर कर विनय पूर्वक उससे शान्ति की याचना की यह सदैव के लिए नित्यतृप्त नितान्त शान्त एकान्त प्रसन्न हो जाता है॥

निष्कर्ष—सत्य ही है जब बुद्धि मार्ग दर्शावे, तब प्राप्तव्य स्थान हाथ आवे। संसार में आकर उच्चतम मनुष्य जन्म को पाकर भी, विचार भेद से कोई सांसारिक विषयाभिलाषी, दूसरा स्वर्गसुख-हिताशी, तीसरा आप्त काम विरक्त मुक्त नित्यानन्द भोग भागी बन जाता है। केवल मनुष्य बुद्धि के व्यापार का भेद है॥

५२ दृष्टान्त—आख्यायिका है, कि किसी नगर में एक धनी-पुरुष अदृष्टवशात् दुरवस्था को प्राप्त हो चुका था, परन्तु उसमें कुलीनता का चिन्ह शील स्वभाव विद्यमान था। समस्त कुटम्ब का परस्पर प्रेम, और एक दूसरे की आज्ञा का पालन करना अपना मुख्य कर्तव्य माना हुआ था, वे इस कारण आहारादि सामग्री के ठीक न होने पर भी प्रसन्न रहते थे। एक दिन गृहस्वामी ने सबको बैठा कर परस्पर विचार किया,

कि अपने नगर में ऐसी मन्द-अवस्था में रहना अच्छा नहीं जान पड़ता है, अत एव देशान्तर में जाकर अपनी अवस्था को सुधारना ही चाहिए, पुरुषार्थ को सर्वकार्य सिद्धि का हेतु शास्त्र बता रहा है, इसलिए उत्साह से काम करना हम सब का कर्तव्य है, सबने सहर्ष स्वीकार किया। एक दिन शुभ समय जानकर के जो समान प्राप्त था उसको लेकर जंगलका मार्ग लिया, दो-तीन दिन बाद वहां अब शेष कुछ खाने को नहीं है, अदृष्ट के भरोसे आगे को बढ़े प्रातः दश बजे के समय एक वृक्ष के तले डेरा किया। शान्त भाव से बैठकर उस पुरुष ने अपनी कन्या को आज्ञा दी, कि भोजन बनाने के लिए इस स्थान को ठीक कर दो उसने शीघ्र हो उस काम को पूरा किया, एक पुत्र को कहा कि तुम जाकर पात्रों में जल भर लाओ, वह यह सुनते ही शीघ्र उठकर जल भर लाया दूसरे लड़के को कहा कि वृक्षों पर से सूखी लकड़ी तोड़कर लाओ, उसने जाकर अल्प समय में ही लकड़ियों को लाकर चौके में धर दिया, फिर स्त्री से कहा कि तुम जाकर वहां बैठो और अग्नि जलाओ, उसने वैसाही किया, इस विपत्ति के समय में भी सब प्रसन्न हैं, जैसे अल्प समय में ही विधाता उनके कष्ट को दूर ही करने वाला है। उस वृक्ष पर एक पक्षी बैठा था. उस ने, इनकी विचित्र रचना और अद्भुत संगठन को देख कर हर्ष के साथ संबोधन कर के पूछा, कि मित्र! तुम्हारे पास खानेकी वस्तु तो है ही नहीं. यह सब उद्योग तुम्हारा व्यर्थ जान पड़ता है, मैं पूछता हूं कि तुम क्या खाओगे। उस ने उत्तर दिया, कि तुम को पकड़ कर खाएंगे, पक्षी ने कहा कि मैं तो उड़ने वाला हूं मेरे पीछे आप कहां कहां जाएंगे, पुरुष

ने कहा कि आज्ञा के पाते ही ये सब तुम को पकड़ लाएंगे। पक्षी को भय हुआ, कि यह उद्योगशील मेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे, कभी न कभी पकड़ ही लेंगे। ऐसा विचार कर के पक्षी ने उन से कहा, कि तुम मेरा पीछा छोड़ दो, मैं तुम को बहुत सा धन बता देता हूं, उस ने कहा ठीक है। पक्षी ने कहा कि इस ही वृक्ष के नीचे बहुत सा द्रव्य है, इस को निकाल लो, जब सावधान हो कर उन्हों ने खोदा, तो बहुत सी सुवर्ण मुद्रा प्राप्त हुईं। परमात्मा का धन्यवाद कर के जब गृह को लौटने लगे, तो पक्षी ने कहा, कि इस भेद को किसी पर प्रकट न करना। वे सब अपने नगर में जा कर आनन्द से अपना समय बिताने लगे, लोग इस वृक्ष का भेद तो लेना चाहते थे, परन्तु वह किसी से कुछ नहीं कहता था। एक दिन उस की स्त्री ने किसी के पूछने पर स्त्री स्वभाव वश, सब वृत्तान्त जो उस के सामने आया था कह दिया। उस ने सुन कर अपने गृह वालों से कहा, सब ने अनायास धन-प्राप्ति का सुगम साधन जान कर वहां की ही यात्रा की। एक दो दिन के पश्चात् उस ही वृक्ष के तले सब ने आसन जा लगाया, परन्तु गृह लोगों में परस्पर प्रेम की मात्रा न्यून थी, आज्ञा पालन करने का स्वभाव कम था, तथापि जो कुछ सुना था, उस को अमल में लाने लगे, पुरुष ने कन्या को कहा, कि उठ कर भोजन के लिए स्थान को साफ़ कर दो, उस ने उत्तर दिया कि खाने को कुछ भी नहीं स्थान से क्या बनेगा, बड़ बड़ करती हुई काम करने लगी—एक लड़के से कहा कि जा कर जल भर लाओ, उस ने कहा कि भूख भोजन से टलती है, जल से क्या काम है, पानी लाओ

जल भर लाओ सब व्यर्थ बात है, यह बक बक करता हुआ पानी को लेने चला–दूसरे लड़के से कहा कि तुम जा कर सूखी लकड़ी तोड़ कर ले आवो, उस ने कहा कि भूख से मर रहा हूं मुझ से नहीं टूटती, यह कह कर तड़ तड़ करता हुआ लकड़ी लेने गया–जब सब चीज़ जमा हो गई तो पुरुष ने स्त्री से कहा कि चौके में बैठ कर अग्नि को जला दो–उस ने उत्तर दिया, कि न आटा न दाल अग्नि जलाओ पानी लाओ, व्यर्थ सब को बे-हाल कर रखा है, इस प्रकार खट पट करती हुई वहां जा बैठी। पहले की तरह उस जानवर ने फिर पूछा कि तुम्हारे पास खाने की कोई वस्तु नहीं है, क्या खाओगे उस ने कहा कि तुम को पकड़ कर मार खाएंगे, पक्षी ने कहा कि मेरे पकड़ने वाले पहले यहां आए थे उन के प्रेम और इतफ़ाक़ को देख कर मुझे भय हुआ, उन को बहुत सा धन बताया और मैं ने अपना पीछा छुड़ाया। तुम्हारा परस्पर प्रेम नहीं, संसार में इस के विना भी कोई सुख पाता है। कहीं जाओ शीघ्र हटो नहीं तो मार खाओगे, फिर पछताओगे। अपना सा मुख ले कर लज्जित हो कर घर को लौटे॥

निष्कर्ष–प्रेम से सब कार्य्यं बिगड़े हुए भी बन जाते हैं, इस के विना संसार में लोग अनेक प्रकार से दुःख उठाते हैं, यह सत्य ही है गल्प नहीं॥
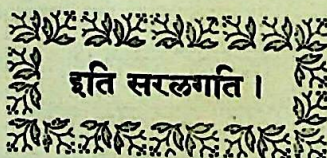
मान्यमतिः

१. पवित्र, विचित्र, ज्येष्ठ और सर्वश्रेष्ठ परमात्मा को पहचानो और उसकी ही उपासना करो।

२. प्रतिदिन उपासना के अनन्तर उस से उस को ही मांगो नान्यत्।

३. परमात्मा सदा सब को प्राप्त है। सदोष अन्तः करण में उस की प्रतीति नहीं।

४. शुद्ध मन से अल्प समय भी परमेश्वर का स्मरण सर्व सांसारिक सुखों से अच्छा है।

५. जो उस उपास्य का उपासक हो जाता है फिर समस्त संसार उसको अपनाता है।

६. परमेश्वर के स्मरण से मृत्यु मर जाता, और आत्मा संसार सागर से तर जाता है।

७. वह तेरे पास है, तू उसको बाहर ढूंढ़ता है, इस ही भूल ने तुझे भुलाया है।

८. परमात्मा के ध्यान से लोक और परलोक दोनों का सुधार हो जाता है।

९. परमात्मा का जिन को ज्ञान है, उनको सर्वदैव परहित चिन्ता का ध्यान है।

१०. जिस एक के जानने से सब जाना जाता है, वह यह ही एक तत्त्व है।

११. गुप्त भेद सफलता की 'कुञ्जी' है, विद्यमान भेद खेद की

पुञ्जी है, अतः दिल का भेद जिगर को भी मत दो।

१२. जो उपदेश दूसरों को सुनाते हो, उस को प्रथम अपने जीवन में लाओ।

१३. कहने की अपेक्षा कर के दिखाना अति उत्तम होता है।

१४. जिस बात को तू अपने लिए पसन्द नहीं करता है, उस को दूसरों के लिए पसन्द मत कर।

१५. जिस बात से व्यर्थ चिन्ता हो, उस को शीघ्र त्याग देना ही ठीक है।

१६. सच्चे मित्र की प्राप्ति से संसार के सर्व कार्य सुगम होते हैं।

१७. ज्ञान पूर्वक दूसरे का सुधार करना ही सच्ची मित्रता है।

१८. जब दो दिल एक हो जाते हैं, तब कठिन से कठिन काम को सरल बना लेते हैं।

१९. जो प्रतिज्ञा के पालन में तत्पर है, वह ही पुरुष सत् पर है।

२०. प्रतिज्ञा भंग करने से मनुष्य का विश्वास जाता रहता है।

२१. परस्परके विवादसे मनुष्य समाज स्वाधीनता खो देता है।

२२. यदि उपकार करने की सामर्थ्य नहीं रखता है, तो अपकार मत कर।

२३. किसी के सामने किसी की निन्दा न कर क्योंकि निन्दा करना दोष है।

२४. लोभी पुरुष भलाई से दूर हो जाता है, उस से कोई प्रेम नहीं करता है।

२५. जो शुभ कार्य करना चाहता है, उस को अपने हाथ से कर पीछे की आशा झूठ है।

२६ उदारता उत्तम गुण है, उसको हाथ से न छोड़ ॥

२७. मनुष्य शुभ कार्य में जितना देता है, अन्त में उस ही को साथ लेता है।

२८. अन्याय का जो साथ देता है, वह अन्त में रोता है।

२९. पक्षपात छोड़ कर आचरण करना उन्नति का मार्ग है।

३०. अभिमानी पुरुष न्याय-प्रिय नहीं होता है।

३१. सम्पत्ति में परमेश्वर का धन्यवाद, और विपत्ति में सन्तोष करने से अन्तःकरण पवित्र होता है।

३२. उदार पुरुष की संगति मनुष्यप्रकृति को सरल बनाती है।

३३. कृपणता की आदत बुरी है, लोग प्रातः समय उसका नाम लेने में भी संकोच करते हैं।

३४. व्यर्थ व्यय उदारता में और मितव्यय कृपणता में नहीं गिना जाता है।

३५. मित्र की परीक्षा विपत्ति के समय ही होती है।

३६. ज्ञान के तुल्य कोई वस्तु संसार में पवित्र नहीं, वास्तव में यही सबका मित्र है।

३७. अज्ञान से बढ़कर मनुष्य का कोई अन्य शत्रु नहीं है, यह सर्व सम्पत्ति का नाशक है।

३८. विपत्ति में जो साथ नहीं देते हैं, वह सम्पत्ति में पादचुम्बन करते हैं।

३९. अच्छे सत्संग से मनुष्य अच्छा, और कुसंग से बुरा बन जाता है।

४०. मनुष्य दूसरों से कष्ट नहीं पाता है, प्रत्युत् अपने ही विकर्म से सताया जाता है।

४१. जैसा करेगा वैसा भरेगा, चक्की में जैसा दाना डालेगा वैसा आटा मिलेगा।
४२. मेल से प्रत्येक कार्य में शक्ति आती है, बेमेल से वह दूर हो जाती है।
४३. यथार्थ में मनुष्य वही है जिस का मन पवित्र और भाव शुद्ध है।
४४. दुनिया की ममता बढ़ जाने से परमेश्वर को भूल जाता है।
४५. जिस से कोई अपराध नहीं हुआ, वह पुरुष संसार में नहीं मिलता है।
४६. मनुष्य अपने दोष पर ध्यान नहीं देता है, इस लिये परकीय दोष को देखता है।
४७. विना सोचे जो कार्य करता है, वह पीछे पछताता है।
४८. बांट कर खाना प्रभु भक्ति और अकेले खाना कम्बख्ती है।
४९. मनुष्य जिस काम को उत्साह से करता है, वह पूरा हो ही जाता है।
५०. पवित्र मन से अनिष्ट चिंता नहीं हो सकती है।
५१. जिस काम को आज करना है, उस को कल पर छोड़ना भूल है।
५२. माता पिता की सेवा करना सन्तान का मुख्य कर्तव्य है।
५३. बड़ों की इज़्ज़त बराबर वालों से मुहब्बत और छोटों पर दया करने में बड़ा ही लाभ है।
५४. बुद्धिमान् से अधिक आलाप न कर के, उस को बात को सुन, यह अच्छा काम है।
५५. वस्त्र, शरीर और स्थान को स्वच्छ रखने से मन प्रसन्न

रहता है।

५६. गुरु और आचार्य का मान करने से ही विद्या की प्राप्ति होती है।

५७. यथार्थ में गुरु वही है जो शिष्य की उन्नति में अपनी प्रसन्नता को देखता है।

५८. मनुष्य के दिल का हाल जानने के लिए उस का चेहरा, और आचार्य का स्वभाव पहचानने के लिये उस का शिष्य-वर्ग दर्पण का काम देता है।

५९. बुद्धिमान् अन्ध परंपरा में नहीं जाते, प्रत्युत् उस का सुधार करते हैं।

६०. पूर्वापर विचार कर जो कार्य करता है, वह आराम पाता है, और जो इस से उलटा चलता वह दुःख उठाता है।

६१. तन्दुरस्ती के नियमों को ध्यान में ला कर उस के पालन करने में यत्न करना चाहिए, यह अत्युत्तम वस्तु है।

६२. लगातार सुयत्न करने से सब काम सुधर जाते हैं, और सुधरे हुए बिगड़ने नहीं पाते हैं।

६३. दूसरों का उपकार करना ही अपना उपकार करना है।

६४. जिस मनुष्य को प्रतिष्ठा की इच्छा हो, वह औरों की प्रतिष्ठा करे।

६५. चलते समय इधर उधर मत देखो, सीधी दृष्टि रक्खो।

६६. जिसने अन्तर्विकारोंको जीत लिया, वही सच्चा विजयी है।

६७. बाहर के शत्रुओं का हमला धनादि पर होता है, और क्रोधादि धर्म पर आघात करते हैं।

६८. अमानत में ख्यानत करना पाप है, जो करता है वह अपना

शत्रु आप है।

६९. संसार में समझ से कार्य करो अंत में कोई किसी का साथी नहीं।

७०. लोकहित के लिये मनुष्य धन को अथवा समय को दे।

७१. लोभ के कारण धन को और लाभ के कारण समय को नहीं देता है।

७२. लोक परलोक दोनों का सुधार सज्जन समागम से होता है।

७३. काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार बढ़ जाने से मनुष्य के विचार अपवित्र हो जाते हैं।

७४. काम की दीप्ति से मनुष्य की दृष्टि में दोष उत्पन्न हो जाता है।

७५. क्रोध की अधिकता से मनुष्य हिताहित को भूल जाता है।

७६. लोभ की वृद्धि से मनुष्य प्रत्येक पाप को कर पाता है।

७७. मोह के बढ़ जाने से मनुष्य अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है।

७८. अहंकार परमेश्वर प्राप्ति में विघ्नकारी है।

७९. सेवाभाव मनुष्य को ऊंचा उठाता और उस को सर्व प्रिय बनाता है।

८०. संसार को जितना बढ़ाओ उतना बढ़ जाता, और घटाने से घट जाता है।

८१. समस्त संसार परिवर्त्तन स्वभाव है, इस में अधिक दिल की लगावट से दुःख ही होता है।

८२. मृत्यु अनिवार्य अवश्यम्भावी और हटाने से हटती और

भूल जाने से भूलती नहीं, फिर भी मनुष्य उस से डरता है यह ही आश्चर्य है।

८३. जोश वा होश और होश वा जोश से मनुष्य समर्थ बनता है। होश बेजोश और जोश बेहोश से दुःख बढ़ जाता है।

८४. शरीर दुर्बल होता जाता है, और तृष्णा बलवती होती जाती है, क्या विचित्र बात है।

८५. युवावस्था में जो संभल जाते हैं, वही संसार को बनाते हैं।

८६. जवानी का उत्साह, और वृद्धों का अनुभव, जहां यह दोनों नहीं फिर उस समाज का सुधार होना कठिन है।

८७. उसी जाति का चमकता है सितारा, सदाचार जिस को सदा हो प्यारा।

८८. स्वाधीनता परस्पर के मेल में है, शक्ति की वृद्धि मेल के खेल में है।

८९. दुःख में साथी होना सर्वोपरि काम है।

९०. मर्द वही कहलाता है जिस के दिल में दर्द है।

९१. जिस को अपने बाहुबल पर भरोसा है, वह दूसरों के हाथों की ओर नहीं देखता है।

९२. आने वाली सन्तान के सुधार में देश का उद्धार होता है।

९३. समय की परीक्षा का जिस को ज्ञान है वही पुरुष महान् है।

९४. ऐश्वर्य में परमात्मा को भूल जाना, परिश्रम करने में हिचकचाना, सेवा भाव में सुस्ती को लाना, व्यर्थ बातों में समय का जाना, बात २ में रोष को दिखाना दारिद्र्यता के चिह्न हैं।

९५. सूर्योदय तक सोना, उद्योगी न होना, असमय में खेत को

बोना, मलिन वस्त्रों को न धोना, यह नियम ऐश्वर्य के नाशक हैं।

बढ़ कर बातें करना, मन्द कर्मों से न डरना, अल्पलोभ के कारण परस्पर लड़ना, एक ने दूसरे को गिराने के लिये मध्य में पड़ना यह नियम उन्नति में बाधक हैं।

९७. मनुष्य को भूल जाने का तो स्वभाव है, परन्तु उस का सुधार न करना भारी कुत्सित भाव है।

९८. गिर जाना तो किसी अनिष्ट कर्म का फल है, परन्तु गिर कर न संभलना भारी पाप है।

९९. जो प्रमाद में फंस कर पुनः संभल जाते हैं, वह मेघ से युक्त हुए चन्द्र के समान प्रकाश में आते हैं।

१०० दूसरे को धोखा देना पाप है, किसी के धोखे में आना मूर्खता है, दोनों से बचना चाहिए।

१०१. जो किसी की सामने आ कर प्रशंसा करता है, वह चालाक, और जो अपनी प्रशंसा सुन कर खुश होता है वह बे समझ है, दोनों का त्याग देना ही ठीक है॥